

ॐ ३ म

अथर्ववेद

-हिन्दी भाष्य-

८ मण्डल

ॐ ओ३म् ॐ

अथर्ववेद भाष्यभूमिका ॥

—:०:०:०:०:०:०:०:—

१--ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधिपतिष्ठति ।

स्व १' र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवस्थ (अधिपतिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) मुझ (यस्य, जिसका (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सबसे बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमात्मन् ! आप भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं । हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आपको हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।

तथा यामथ मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥२॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(आग्ने) हे सर्वव्यापक प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) भारणावली बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने वाले, (मेधाविनः) दृढ़ बुद्धि वाले

(ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तथा) उस (मेघया) अचल बुद्धि से (साम्) मुझको (अद्य) आज (मेघावितम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आपके अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक, विवेकी, परोपकारी ऋषि महारमाओं की होती है, जिससे हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उनका प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥३॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे (विद्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा गुण (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काय तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखने रहें ॥

हे परमरक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिससे हम अपने कर्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सबके आनन्द में आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही हे प्रकाशमय, ज्ञानस्वरूप, सर्वान्तर्गामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रमन्नचित्त रहें ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वदुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥१॥

ऋ० १० । ६० । ६, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १६ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वदुतः) सबके ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये। (तस्मात्) उससे (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये,

योग (तस्मात्) उगमे ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

यस्माद्दृचो अपातंक्षन् यजुर्वस्मादपाकपन । सामानि यस्य लोमान्-
न्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदे सः । २॥

अथर्व० का० १० सू० ७ । म० २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुण प्रकाशक मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कसा, अर्थात् कसौटी पर रक्खा (सामानि) मोक्ष विषयायें (यस्य) जिसके (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्वं अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतमःस्वित्) कौन सा है । [इसका उत्तर] तम् उसको (स्कम्भम्) जंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह ॥

इससे सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वभौमिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं ।

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया । यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं । संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिनकी अथार्थ प्राप्ति और भ्रम्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति निर्भर है । इन चारों वेदों को ही त्रयी विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं, जिनका अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के सब उपकार करना है ।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । १॥

अथर्ववेद—का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा)

राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है। (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के गथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुँच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वन्दे ॥ वैशे० द० ६।१।१ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तत्संग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्
सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ॥

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ मनु० २।१६६ ॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों,] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहाँ [इस जन्म में] कहा जाता है ॥१॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं अव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ मनु० १२।९७ ॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास] और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥२॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२।१०० ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥३॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ मनु० १२।१०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥४॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है । जर्मनी, इंगलिश देश आदि विदेशों में वेदों की चर्चा फैल रही है । वेदों के भिन्न २ भागों के अनुवाद भी अंग्रेजी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहाँ के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं । भट्ट शिक्पथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेजी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है । महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेदविषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है उनके रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं ।

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२—ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ॥

३—यजुर्वेदभाष्य ।

४—सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है । उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वार्ज्जिरा (अथर्वार्ज्जिरसः) और ब्रह्मवेद हैं । इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं । (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है । अथर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान, अर्थात् अथर्व निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक, परब्रह्म है उसका ज्ञान अथर्ववेद है । (२) छन्द, इसका अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उसमें आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है । (३) अथर्वार्ज्जिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उसमें अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अर्ज्जिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं । (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिसमें

ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्मजानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डबल्यू० डी० व्हिटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10. Critical Notes on Atharva Samhita With the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं। श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो बम्बई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में हैं और उसके चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इससे बड़े २ घनी विद्वान् ही उसको देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है।

४—अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १—सायणाभाष्य सहित बम्बई गवर्नमेंट मुद्रापित, २—पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३—अजमेर वैदिक ग्रन्थालय मुद्रित। हमने तीन संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है।

अथर्ववेद (ये त्रिपुष्पाः परिपुष्पन्ति...) इस मन्त्र से लेकर [पुनः-
र्यं तदश्विना कृतं वा.....] इस मन्त्र तक है। इसमें २० काण्ड ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,१७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं। यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चर्कों में वर्णित है।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद है।

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान।

उक्त पुस्तक में मन्त्र अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र भेद

काण्ड ८।

सूक्त १०। पर्याय १।	म० १ से ७=७ =	१३	—६
" " ३।	म० १८ से २१=४ =	८	—४
" " ४।	म० २२ से २५=४ =	१६	—१२

५१ म० २६ से २६ = ४ = १६ — १२

योग १६ ५३ — ३४

काण्ड ६

सूक्त ६ । पर्याय ४ । म० ४० से ४४ = ५ = १० — ५

५१ म० ४५ से ४८ = ४ = १० — ६

योग ६ २० — ११

काण्ड १६ ।

सूक्त ३८ । म० १ से २ = २ = ३ — १

४० । म० १ से १० = १० = ६ + १

५४ । म० ५, ६ = २ = १ (म० ५) + १

५५ । म० १ से ७ = ७ = ६ + १

५७ । म० १ से ६ = ६ = ५ + १

योग २७ २४ + ३

काण्ड २० ।

सूक्त ६६ । म० १—२३ = २३ = २४ — १

सूक्त १३१ । म० १—२३ = २३ = २० + ३

योग ४६ ४४ + ४

महा योग १०१ १४१ — ४०

यद्य मिला कर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं,
(हृदयात् ते परिं क्लोभ्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वोभ्याम् । यक्ष्मं
मत्सनाभ्यां प्लीहो यवनस्ते विवृंहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र

अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ६६ का मन्त्र १६ उग में नहीं है । अन्य ३६
मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इनका
पूरा पाठ तो मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । उग गणना से इस पुस्तक के समग्र
मन्त्र ५,६७७—४० = ५,६३७ होते हैं ॥

(आ)—वैदिक ग्रन्थालय के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बम्बई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्याय है जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूत्र ४ पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूत्र ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४६ तक आ चुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्रों के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्य में एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट शिफ् फिय के अंग्रेजी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है । इस बात को छोड़कर जेष मन्त्रसंख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ।।

५—सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५६ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक ग्रन्थालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।।

काण्ड जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक ग्रन्थालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
९	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३६	६	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६—अनुवाक ।

सूक्त और मंत्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इससे अनुवाकों की गणना को यहाँ नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७--सायण भाष्य असंपूर्ण है

अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके प्रतिरिक्त और कोई भाष्य प्रतीत नहीं होता। इस पुस्तक में केवल दस काण्डों में कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है—काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक], ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] [इतना भाष्य नहीं है—काण्ड ५, ८ [सूक्त ७-७५], ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २०, (सूक्त ३८-१४३)] ।

८--अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बम्बई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८०५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८६८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता, मूल, पण्डित गेयकलान कृष्णदास संशोधित—बम्बई, सन् १८६३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता मूल वैदिक यंत्रालय, अजमेर, सन् १८५८ विजयोप [सन् १८०१ ईसवी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, प्रथमो अनुवाद, भट्ट सिफ् फिथ भाट्टिक कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८६५, वेष्टन २ सन् १८६६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महोदर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्रीमददयानन्द मररवती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, पण्डित तुलसीराम कृत सामवेद भाष्य, वास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, गर राजा राधाकांत देव ब्रह्मसूत्र कृत अष्टकलाद्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुए हैं, इसलिए उन ग्रन्थकारों महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यंत्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान में भाष्य का काम यह रखा है ।

१—देवता, छन्द, उद्देश ।

२—मूलमंत्र—स्वरसहित ।

३—पदपाठ—स्वरसहित ।

४—सामान्य भावार्थ ।

५—भाषार्थ ।

६—आवश्यक टिपाणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण ।

७—शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया—व्याकरण, निधण्टु, नित्कत, पर्याय आदि । सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दी है ।

१—ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्होंने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निर० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिसके गुणों का वर्णन मंत्र में प्रधानता से हो [निर० ७ । १] मिताक्षर वाक्य छन्द कहते हैं जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हमने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका । [टिपाणी—द्वितीय आवृत्ति में अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका सम्पादित पं० रामगोपाल शास्त्री लाहौर मुद्रित संवत् १९७६ वि०, सन् १९२२ ई० से ऋषि भी लिख दिये हैं—श्लो० दा० त्रिवेदी, भाद्रपद संवत् १९८२ ।]

१०—निवेदन ।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुत्रपार्थी बनें । भारतीय और अन्यदेशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्पमूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूँ, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक विज्ञान वेदों के सत्यार्थ और सत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

५२ गुरुकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।

भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६६ वि०,

१ सितम्बर १९१२ ।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

जन्म, कार्तिकगुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,

(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)

जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मझराक,

जिला अलीगढ़ ।।

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १		२६	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
		३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
१	४	३१	४	२२	५	१२	९	७	७	३७	१२
२	४	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
३	९	३३	४	२४	८	१४	९	९	१०	३९	१०
४	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
५	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२		
६	४			२७	७	१७	९	१२	७	४०	३२४
७	७	३५	१५३	२८	५	१८	९	१३	७	काण्ड ५	
८	४	काण्ड २		२९	७	१९	८	१४	९		
९	४	१	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	१	९
१०	४	२	५	३१	५	२१	१०	१६	९	२	९
११	६	३	५	३२	६	२२	९	१७	८	३	११
१२	४	४	६	३३	७	२३	९	१८	८	४	१०
१३	४	५	६	३४	५	२४	७	१९	८	५	९
१४	४	५	७	३५	५	२५	९	२०	९	६	१४
१५	४	६	५	३६	८	२६	९	२१	७	७	१०
१६	४	७	५			२७	९	२२	७	८	९
१७	४	८	५	३६	२०७	२८	९	२३	७	९	८
१८	४	९	५	काण्ड ३		२९	८	२४	७	१०	८
१९	४	१०	८	१	९	३०	७	२५	७	११	११
२०	४	११	५	२	९	३१	११	२६	७	१२	११
२१	४	१२	८	३	९	काण्ड ४		२७	७	१३	११
२२	४	१३	५	४	७	२८	२३	२८	७	१४	१३
२३	४	१४	६	५	८	काण्ड ४		२९	७	१५	११
२४	४	१५	६	५	८			३०	८	१६	११
२५	४	१६	५	६	८	१	७	३१	७	१७	१०
२६	४	१७	७	७	७	२	८	३२	७	१८	१५
२७	४	१८	५	८	८	३	७	३३	८	१९	१५
२८	४	१९	५	९	८	४	८	३४	८	२०	१२

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	४	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	३	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४३	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	काण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	२
३२	१७	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	२
३३	१७	२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	२
३४	१७	२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	२
३५	१७	३०	३	६०	३	९०	३	१२०	४	६	२
३६	१७	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	२
३७	१७	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	२
३८	१७	३३	३	६३	३	९३	३	१२३	५	९	२
३९	१७	३४	३	६४	३	९४	३	१२४	५	१०	२
४०	१७	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	५	११	२
४१	१७	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	५	१२	२
४२	१७	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	५	१३	२
४३	१७	३८	३	६८	३	९८	३	१२८	५	१४	२
४४	१७	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	५	१५	२
४५	१७	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	५	१६	२
४६	१७	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	५	१७	२
४७	१७	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
४८	१७	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	२
४९	१७	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	५	२०	२
५०	१७	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	५	२१	२

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२२	२	१२	२	८२	६	११२	२	३	३१	२	३१
२३	१	५३	७	८३	४	११३	२	४	२४	३	५६
२४	१	५४	२	८४	३	११४	२	५	३८	४	२६
२५	२	५५	१	८५	१	११५	४	६(१)	१७	५	२६
२६	८	५६	८	८६	१	११६	२	(२)	१३	६	२२
२७	१	५७	२	८७	१	११७	१	(३)	२	७	२७
२८	१	५८	२	८८	१	११८	१	(४)	१०	८	३४
२९	२	५९	१	८९	४	११९	१२५६	(५)	१०	९	२६
३०	१	६०	७	९०	३	काण्ड ८		(६)	१४	१०	२७
३१	१	६१	२	९१	१			७	२६	१०	३१३
३२	१	६२	१	९२	१	१	२१	८	२२	काण्ड १२	
३३	१	६३	१	९३	१	२	२८	९	२२		
३४	१	६४	२	९४	१	३	२६	१०	२८	१	६३
३५	३	६५	३	९५	३	४	२५	१०	३१३	२	५५
३६	१	६६	१	९६	१	५	२२	काण्ड १०		३	६०
३७	१	६७	१	९७	८	६	२६			४	५३
३८	५	६८	३	९८	१	७	२८	१	३२	५	७३
३९	१	६९	१	९९	१	८	२४	२	३३	५	३०४
४०	२	७०	५	१००	१	९	२६	३	२५	काण्ड १३	
४१	२	७१	१	१०१	१	१०(१)	१३	४	२६		
४२	२	७२	३	१०२	१	(२)	१०	५	५०	१	६०
४३	१	७३	११	१०३	१	(३)	८	६	३५	२	४६
४४	१	७४	४	१०४	१	(४)	१६	७	४५	३	२६
४५	२	७५	२	१०५	१	(५)	१६	८	४७	४	५६
४६	३	७६	६	१०६	१	(६)	४	९	२७	४	१०८
४७	२	७७	३	१०७	१	१०	२६३	१०	३४	काण्ड १४	
४८	२	७८	२	१०८	२	काण्ड ९		१०	३५०		
४९	१	७९	४	१०९	७			काण्ड ११		१	६४
५०	९	८०	४	११०	३	१	२४			२	७५
५१	१	८१	६	१११	२	२	२५	१	३७	२	१३६

अथर्ववेद सूत्र मन्त्र चक्र

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र
काण्ड १५		काण्ड १७		१६	११	४६	१०	३	३	३३	३
१	८	१	३०	२०	४	५०	७	४	३	३४	१०
२	२८			२१	१	५१	२	५	७	३५	१०
३	११	१	३०	२२	२१	५२	५	६	८	३६	११
४	१८			२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
५	१६	काण्ड १८		२४	३०	५४	५	८	३	३८	६
६	२६			२५	८	५५	६	९	४	३९	५
७	५	१	६१	२६	१	५६	१०	१०	२	४०	१०
८	३	२	६०	२७	४	५७	५	११	११	४१	१०
९	३	३	७३	२८	१५	५८	३	१२	७	४२	१०
१०	११	४	८६	२९	१५	५९	३	१३	४	४३	१०
११	११	४—२८३		३०	१०	६०	२	१४	४	४४	१०
१२	११			३१	८	६१	१	१५	६	४५	१०
१३	१४	काण्ड १९		३२	५	६२	१	१६	१०	४६	१०
१४	२४	१	३	३३	१४	६३	१	१७	१०	४७	१०
१५	६	२	५	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	१०
१६	७	३	४	३५	५	६५	१	१९	७	४९	१०
१७	१०	४	४	३६	१०	६६	१	२०	७	५०	१०
१८	५	५	१	३७	५	६७	८	२१	११	५१	४
१९	२२	६	१६	३८	६	६८	१	२२	६	५२	१०
		७	५	३९	६	६९	४	२३	६	५३	१०
काण्ड १६		८	७	४०	६	७०	१	२४	८	५४	१०
१	१३	९	७	४१	१०	७१	१	२५	७	५५	१०
२	६	१०	१०	४२	४	७२	१	२६	६	५६	१०
३	६	११	६	४३	३	७३	३	२७	६	५७	१०
४	७	१२	१	४४	४	७४	४	२८	४	५८	१०
५	१०	१३	११	४५	८	७५	४	२९	४	५९	१०
६	११	१४	१	४६	१०	७६	१०	३०	५	६०	१०
७	१३	१५	६	४७	१०	७७	१०	३१	५	६१	१०
८	२३	१६	२	४८	७	७८	७	३२	५	६२	१०
९	४	१७	१०	४९	६	७९	७	३३	३	६३	१०
१०	१०	१८	१०	५०	६	८०	६	३४	३	६४	१०

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	६	७७	८	६१	१२	१०५	५	११६	३	१३३	६
६४	८	७८	१०	६२	२१	१०६	७	१२०	२	१३४	८
६५	३	७९	११	६३	८	१०७	१५	१२१	७	१३५	१०
६६	३	८०	१२	६४	११	१०८	३	१२२	३	१३६	१६
६७	७	८१	१३	६५	४	१०९	३	१२३	७	१३७	१४
६८	१२	८२	१४	६६	२४	११०	३	१२४	६	१३८	३
६९	१२	८३	१५	६७	३	१११	३	१२५	७	१३९	५
७०	२०	८४	१६	६८	५	११२	३	१२६	२३	१४०	५
७१	१६	८५	४	६९	५	११३	२	१२७	१४	१४१	५
७२	३	८६	१	७०	३	११४	५	१२८	१६	१४२	६
७३	८	८७	७	७१	३	११५	३	१२९	२०	१४३	८
७४	७	८८	८	७२	३	११६	२	१३०	२०		
७५	८	८९	११	७३	३	११७	३	१३१	२०		
७६	८	९०	१३	७४	४	११८	४	१३२	१६	१४४	१५८

योग चक्र

काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मंत्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	८	१०५
२	३६	२०७	७	११८	२५६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२६०	८	१०	२६३	१३	४	१०८	१८	४	२५३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३९	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	८५८
५	१७३	१२६०	५	२६०	१६६६	५	३६	११६४	५	२२६	१८२७

सहायोग, काण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५, ६७७ ॥

१—सूक्त विवरण काण्ड १ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	य त्रिपस्ताः परिषन्ति	वावस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विद्मा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विद्मा शरस्य पितरं	पञ्चम्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्तध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	"	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवीरभिष्टय	"	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति
७	स्तुवानमान आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
८	इदं हविर्पातुवानान्	अग्नि, सोम	तथा	" "
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्पत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वरुण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
११	वपत् ते पूयन्तोस्मन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप् पङ्क्ति
१२	जरायुजः प्रथम उत्स्रिपः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्म ज्ञा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वचं प्रादिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप्
१५	सं संखन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽनावास्यां रावि	अग्नि आदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप्
१७	अमूर्षा यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निलक्ष्मं लज्जाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती
१९	मा नो विदन् वि व्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति
२०	अदारसुद् भवतु देव	सोम, म त्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप्
२१	स्वस्तिदा विद्या पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदपतां	सूर्य	रोग का नाश	"
२३	तक्तं जातास्योवधे	ओषधि	रोग नाश	"
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति
२५	यदग्निरापो अदहत	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप्
२६	आरे इतावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	असुः परि पुदाक्वत्	प्रजापति	"	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
२८	उप प्रागाद्देवो अग्नी	अग्नि	"	अनुष्टुप् ॥
२९	अभी वर्तेन मरिणा	ब्रह्मरुद्रादयः	राजतिलक	"
३०	विश्वे देवा वसवो	विश्वे देवा	"	त्रिष्टुप्
३१	आत्मानामाशापानस्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३२	इदं जनासो विदध	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुनयः	आपः	तन्मात्रायै	त्रिष्टुप्
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुन्=सता	विद्याप्राप्ति	अनुष्टुप्
३५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्णं आदि	त्रिष्टुप्

२-अथर्ववेद, क सूड १ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ।

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त, मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त मंत्र	यजुर्वेद अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वाचिक, उत्तराचिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४।१	१।२३।१६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४।२	१।२३।१७		
३	असौ देवीरुपह्वग	४।३	१।२३।१८		
४	अश्वन्तरुमृत	४।४	१।२३।१९	६।६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५।१	१०।६।१	११।५०-५२	उ०६।३।१०
६	यो वः शिवतमो	५।२	१०।६।२	तथा	
७	तस्मा अरं मसाम वो	५।३	१०।६।३	२६।१४-१६	
८	ईजाना वायोरणा	५।४	१०।६।४		
९	सं नो देवीरभिष्टय	६।१	१०।६।५	३६।१२	पू०१।३।१२
१०	अप्सु मे सोमो	६।२	१।२३।२०		
११	आपः पूणीत भेषजं	६।३	१०।६।७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१६।३, ४	६।७५।१६		उ०६।३।५
१३	वि महन्ममं यच्छ	२०।३	१०।१५२।५		
१४	शास इत्या महां असि	२०।४	१०।१५२।६		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१।१	१०।१५२।७		
१६	वि न इन्द्र मूषो जहि	२१।२	१०।१५२।८		उ०६।३।७
१७	वि रक्षो वि मूषो जहि	२१।३	१०।१५२।९		
१८	अपेन्द्र द्विपतो मनो	२१।४	१०।१५२।५		
१९	जुकेधु ते हरिमाणं	२२।४	१।५०।१२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२६।१	१०।१७४।१		
२१	अभिवृत्त्य सपत्नानभि	२६।२	१०।१७४।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२६।३	१०।१७४।३		
२३	उदसौ सुवो अगादुदिदं	२६।४	१०।१५६।१		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२६।५	१०।१७४।४		
२५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	३५।१	—	३४।५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	३५।२	—	३४।५१	

१ सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	वेनस्तत् पश्यन्	ब्रह्मा	ब्रह्मप्राप्त	त्रिष्टुप्
२	दिव्यो गन्धर्वो	गन्धर्व अप्सरा	ईश्वर सर्वशक्ति- मान्	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
३	अदो यद्वधावत्य	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
४	दीर्घमुत्थाय बृहते	जङ्गल	आयुवृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
५	इन्द्र जुषस्व प्र बृहा	इन्द्र	उन्नीति प्रगल्भ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
६	समारत्वाग्नि ऋतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
७	अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
८	उदगाता भगवती	ब्रह्मा	गौरव	अनुष्टुप्
९	दशवृद्धं मुञ्चेम	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१०	क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्मा	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
११	दृष्याद्विपरि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
१२	धावापृथिवी उवं	विश्वेदेवाः	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	आयुदो अग्ने जरसं	ब्रह्मचारी	समावर्तनवस्त्र	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१४	निःसालां वृष्णं	अनन्तभी	निर्वन्तला का नाश	अनुष्टुप्
१५	यथा चोश्व पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
१६	प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति, गायत्री
१७	ओजोऽस्योवा मे	ईश्वर	आयुवृद्धि	आदि
१८	अतुष्यक्षयणमासि	ईश्वर	अनु ते रक्षा	त्रिष्टुप् उष्णिक्
१९	अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	साम्नी, बृहती
२०	वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	" "	त्रिष्टुप् जगती
२१	सूर्यं यत्ते तपस्तेन	सूर्य	" "	" "
२२	चन्द्रं यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	" "	" "
२३	आपो यद् वस्तपस्तेन	आपः (जल)	" "	" "
२४	शेरभक शेरग	ईश्वर	कुलंस्कारादित्याग	" "
२५	शं नो देवी पृश्नि	पृश्निपर्णी	अपुश्रो का नाश	त्रिष्टुप् आदि
२६	एह यन्तु पश्यथो	त्वष्टा सवि- ता वा	भेल करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
२७	नेच्छन्तु प्राज्ञं जयाति	श्रीपथि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	
२८	तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढ़ाना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२६	पाविष्यस्य रस देवा	बृहस्पति इन्द्र	उन्नात करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३०	यवेदं भूम्या अधि	अश्विनो	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही वषत्	इन्द्र	वोध नाश	अनुष्टुप्
३२	उशन्नादित्यः किमीन्	साक्षित्य	तथा शरीर रक्षा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	पत्नीभ्यां ते नागिकाभ्यां	आत्मा	शरीर रक्षा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति
३४	य ईणे पशुपतिः पशूनां	पशुपति	इश से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसु	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ वो अग्ने गुमति	अग्नि	विवाह संस्कार	त्रिष्टुप् आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद पूर्वाचिक उतराचिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यत् इत्यादि	११-२	—	३०८, १	उ० ३ १२२
३	स नः पिता जनिता	११	१०८२१३	१७२७	
४	परि विष्ठा भुवनान्या	११५	—	३२१०	
५-७	इन्द्र जुगत्व प्र ब्रह्मा-इत्यादि	५११-३	—	—	
८-१०	इन्द्रस्यनु प्राबोचं-इत्यादि	५१५-७	११३२११-३	—	
११-१३	समास्तवान्-इत्यादि	६११-३	—	२७११-३	
१४-१५	क्षत्रेसाग्ने स्वेन-इत्यादि	६१४-५	—	२७१५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२१६	६१५२१२	—	
१८-१९	ओजोऽज्योजो-इत्यादि	१७११-७	—	१६१६	
२०-२६	अस्त्रीभ्यां ते इत्यादि	३३११-७	१०१६३११-६	—	

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्निर्नः शशून्	अग्नि आदि	युद्ध विद्या	त्रिष्टुप् आदि
२	अग्निर्नो दूतः	अग्नि आदि	सेनापति कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३	अचिद्वत् स्वपा	इन्द्र	राजा, प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
४	आत्वा गन् राष्ट्रं	इन्द्र	राज तिलक	त्रिष्टुप्
५	आयमगन्तारं	पर्यामणि	तेज, बल धन	त्रिष्टुप् आदि
६	पुमान्पुनः परि	अश्वत्थ	उत्साह बढ़ाना	अनुष्टुप्
७	हरिणस्य रघुव्यदो	हरिणआदि	रोग नाश	अनुष्टुप्
८	आ यातु मित्र	प्रजापति	प्रीति उत्पन्न करना	त्रिष्टुप् आदि
९	कर्षफस्य विणफस्य	प्रजापति	विघ्न शांति	अनुष्टुप्
१०	प्रथमा ह व्युवास सा	रात्रि	पुष्टि बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
११	मुञ्चामि त्वा हविषा	राजयक्ष्मघ्न	रोग नाश	त्रिष्टुप् आदि
१२	इहैव भूवां नि मितोमि	शाला	शाला निर्माण	त्रिष्टुप् आदि
१३	यददः सप्तप्रयती	श्रापः	जल के गुरू	अनुष्टुप् आदि
१४	सं वो गोष्ठेन	गात्रः	गोरक्षा	अनुष्टुप् आदि
१५	इन्द्रमहं वणिञ्चं	इन्द्र	व्यापार लाभ	त्रिष्टुप् आदि
१६	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	भगउपाआदि	प्रभाती गीत	त्रिष्टुप् आदि
१७	सीरा मुञ्जन्ति	कृषीबल	खेती विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	इमां खनाम्योषधिं	सपत्नीवाघन	अविद्या नाश	अनुष्टुप् आदि
१९	संशितं म इव ब्रह्म	पुरोहित	युद्ध विद्या	अनुष्टुप् आदि
२०	अयं ते योनिर	अग्नि आदि	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् आदि
२१	ये अग्नयो अप्सव	अग्नि आदि	परमेश्वर गुरू	त्रिष्टुप् आदि
२२	हस्तिवर्चसं प्रथतां	विश्वेदेवाः	कीर्ति पाता	त्रिष्टुप् आदि
२३	येन वेहद् बभूविष	माता	वीर संतान	अनुष्टुप् आदि
२४	पयस्वतीरोपधयः	प्रजापति	धान्य बहना	अनुष्टुप् आदि
२५	उत्तुवस्त्वोन् तुदन्	काम	अविद्या नाश	अनुष्टुप्
२६	वे श्रेण्यां स्प शान्थां	मन्त्रोक्त	मारु गीत	जगती वा त्रिष्टुप्
२७	प्राचीदिगग्निरक्षिपति	मन्त्रोक्त	सेना का ब्रूह	त्रिष्टुप् आदि
२८	एकैकयैवा सृष्टया	यमिनी	उत्तम नियम	जगती आदि
२९	यद् राजानो विभज	अवि	परमेश्वर भक्ति	अनुष्टुप् आदि
३०	सहृदयं सांमनस्य	प्रजापति	परस्पर मेज	अनुष्टुप् आदि
३१	वि देवा जरसावृतन्	प्रजापति	आयु बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड ३ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण या कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद, पूर्वाचिक उत्तराचिक इत्यादि
१	अमीषां चित्तानि	२१५	१०१०३१२२	१७१४४	उ० ६१३१५
२	असौ या सेना भरतः	२१६		१७१४७	
३	सा नः पयस्वती	१०११	४१५७१७		
४	पूर्यां दर्वो परापत	१०१७		३१४६	
५-८	मुञ्चामि त्वा हविषा	११११-४	१०१६१११-४		
६	इध्मेनाग्न इच्छमानो	१५१३	३११८१३		
१०	इमामग्ने शरणि	१५१४	११३१११६		
११-१७	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्र	१६११-७	७१४१११-७	३४१३४-४०	
१८	सीरायुञ्जन्ति	१७११	१०११०११४	१२१६७	
१९	युनक्ता सीरा वि	१७१२	१०११०११३	१२१६८	
२०	लाङ्गलं पवीरवत्	१७१३		१२१७१	
२१	इन्द्रः सीता नि	१७१४	४१५७१७		
२२	शूनं सुफाला वि	१७१५	४१५७१८	१२१६९	
२३-२५	शूनं वाहा शूनं नर	१७१६-८	४१५७१४-६		
२६	धृतेन सीता मधुना	१७१६		१२१७०	
२७-३२	इमां क्षनाम्योषधि	१८११-६	१०११४१११-६		
३३	उद्धर्षन्तां मधवन्	१८१६	१०११०३११०	१७१४२	
३४	प्रेतां जयता नर	१८१७	१०११०३११३	१७१४६	
३५	अवसृष्टा परा पत	१८१८	६१७५११६	१७१४५	
३६	अयं ते योनिर्	२०११	३१२६११०	३११४, १२१५२	
३७-३८	अग्ने अच्छा वदेह नः	२०१२-३	१०११४१११-२	६१२८, २६	
३९	सोमं राजानमवसे	२०१४	१०११४११३	६१२६	
४०	त्वं नो अग्ने अग्निभिर्	२०१५	१०११४११६		
४१	इन्द्रवायु उमाविह	२०१६	१०११४११४	३३१८६	
४२	अयंमर्गा बृहस्पति	२०१७	१०११४११५	६१२७	
४३	वाजस्य गुरस्ये	२०१८		१८१३०	
४४	क इदं कस्मा अदात्	२६१७		७१४८	
४५	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	३११५	१०११७११		

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ४॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ब्रह्म जज्ञानम्	वेनः	ब्रह्म का विचार	त्रिष्टुप्
२	य यात्मदा बलदा	प्रजापति	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
३	उदितस्त्वयः	इन्द्र	यन् नाश	पथ्यागङ्ग वित इ०
४	यां त्वा गन्धर्वो	वृषा, इन्द्र	गन्धर्व बल	अनुष्टुप्
५	सहस्रशृङ्गो	इन्द्र	बन्धुओं को मुक्ताना	अनुष्टुप् पथ्यागं०
६	बाह्याणो जज्ञे	विष	विष दूर करना	अनुष्टुप् इत्यादि
७	वारिदं वारयानं	विष	विष नाश	अनुष्टुप्
८	भूतो भूतेषु	भूतानामपिपति	राजतिलक यज्ञ	त्रिष्टुप् इत्यादि
९	एहि जीवम्	आञ्जन	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् इत्यादि
१०	वाताग्नातो	शङ्ख	विष्णुओं को हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
११	अनड्वान् दाधार	अनड्वान्	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२	रोहण्यमि रोह	धाता	रोष मिटाना	अनुष्टुप् आदि
१३	उत देवा अवहितं	आत्मा	स्वास्थ्य रक्षा	अनुष्टुप्
१४	अवोह्यग्नेर	अग्नि	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
१५	समुत्पतन्तु प्रदिशो	पर्जन्य	वृष्टि प्रार्थना	जगती इत्यादि
१६	बृहन्नेषामधिष्ठाता	वरुण	वरुण की सर्वव्यापकता	अनुष्टुप् इत्यादि
१७	ईशानां त्वा भेषजा	अपामार्ग	राजा का लक्षण	अनुष्टुप्
१८	समं ज्योतिः सूर्येण	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप्
१९	उतो अस्पृशन्मुक्	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप् इत्यादि
२०	आ पश्यति प्रति	ब्रह्मः	ब्रह्म की उपासना	अनुष्टुप्
२१	आ गावो अग्नन्	गावः	विद्या के गुरु	त्रिष्टुप् जगती
२२	इममिन्द्र वर्धय	इन्द्र	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
२३	अग्ने मन्वे	अग्नि	कष्ट हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	इन्द्रस्य मन्महे	इन्द्र	पूर्ण सुख	जगती अनुष्टुप्
२५	वायोः सवितुर्	पवनसवितारी	पवन और सूर्य	अनुष्टुप् इत्यादि
२६	मन्वे वा आवापृथि-	मर्यापृथिवी	सूर्य और पृथिवी	अनुष्टुप् इत्यादि
२७	मरुतां मन्वे	मरुतः	पवन के गुरु	अनुष्टुप् इत्यादि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२८	भवा शवीं मन्वे वाग्	भवाशवीं	परमेश्वर के गुण	यनुष्टुप् इत्यादि
२९	मन्वे वा मित्रा	मित्र, वरुण	पुरुषार्थ	यनुष्टुप् इत्यादि
३०	अहं रुद्रेभिः	राष्ट्री	परमेश्वर के गुण	त्रिष्टुप् जगती
३१	त्वया भव्यो सरथ	मनु	संधाम में जय	त्रिष्टुप् जगती
३२	यस्ते मनोऽवि-	मनु	संधाम में जय	त्रिष्टुप्
३३	अप नःशोशुचद	अग्नि	सर्व रक्षा	गायत्री
३४	ब्रह्मास्य शीर्षे	आदित्य	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्, इत्यादि
३५	समीपन प्रथमजा	आदित्य	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्, जगती
३६	तान्मन्त्रोजाः	अग्नि	राज धर्म	यनुष्टुप्
३७	त्वया पूर्वमथवां	आविधि, इत्यादि	मन्त्रवै आदि	यनुष्टुप् इत्यादि
३८	उदिभन्तुं संजय	अप्सरा	परमेश्वर के गुण	यनुष्टुप् इत्यादि
३९	पृथिव्याममये	समि इत्यादि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् जगती इत्यादि
४०	य पुरस्ताज् जुह्वति	जातवेदाः	अनुनास	त्रिष्टुप् इत्यादि



२-अथर्ववेद, काण्ड ४ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ४) पुस्तक मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त मंत्र	यजुर्वेद अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं	१।१		१३।३	पू०४।३।६
२	य आत्मदा बलदा	२।१	१०।१२१।२,३	२५।१३,११	
३	यः प्राणतो निमिपतो	२।२	१०।१२१।३,२	२५।११,१२	
४	यं क्रन्दसी अश्वतश्च यस्यासी पन्था	२।३	१०।१२१।६	{ ३२।७ ३२।६	
५	यस्य विश्वे हिम	२।५	१०।१२१।४	२५।१२	
६	आपो अग्रे विश्व	२।६	१०।१२१।७, ८	२७।२५, २६	
७	हिरण्यगर्भं समः	२।७	१०।१२१।१	१३।४, २५।१०	
८	आपो वत्सं जनयन्तीः	२।८	१०।१२१।७	२७।२५	
९	सहस्रशृङ्गो वृषभो	५।१	७।५५।७		
१०	प्राणैश्चयास्तला	५।२	७।५५।८		
११	य आस्ते यश्वरति	५।५	७।५५।६		
१२	स्वप्नु भाता त्वय्यु	५।६	७।५५।५		
१३	सनेयमश्वं गां	६।७	१०।६७।४	१२।७८	
१४-१८	उत देवा अग्रहितं	१३।१-५	१०।१३७।१-५		
१६	अयं मे हस्तो भगवान्	१३।६	१०।६० १२		
२०	हस्ताभ्यां दणशाला-	१३।७	१०।१३७।७		
२१	अजो ह्यनेर	१४।१		१३।५१	
२२	अमश्वमग्निं नाक	१४।२		१७।६५	
२३-२५	पुत्रान् पुत्रिणा अह-	१४।३-५		१७।६७-६९	
२६	अवाकित	१५।११	५।८३।६		
२७	अपोनिपिञ्चन्	१५।१२	७।८३।६		
२८	नवत्सरं अशयाना	१५।१३	५।१०३।१		
२९	महन्तं कोशमुद-	१५।१६	५।८३ ८		
३०-३६	या गावो अगमन्नुत	२१।१-७	६।८८।१-७		
३७	मा वस्तेन	२१।७		१।१	
३८	परि वा रुद्रस्य	२१।७		१६।५०	
३९-४६	अहं रुद्रेभिर्	३०।१-८	१०।१२५।१-८		
४७-५२	त्वया भर्गो	३१।१-७	१०।८४।१-७		
५३-५६	यस्ते भर्गो	३२।१-७	१०।८३।१-७		
६०-६७	अप नः शोमुचदध	३३।१-८	१०।६७।१-८		
६५	विश्वानि देव	३६।१०		४०।१६	

नोटः—अथर्ववेद के चार काण्ड तक ही तालिका छपे हुए हैं जो हमने भी छाप दिये हैं। अगले काण्डों के तालिका छपे हुए नहीं मिले, अतः हमने भी नहीं छापे।

✽ ओ३म् ✽

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:०:०:०:०:०:०:—

प्रथमं काण्डम् ॥

—:०:०:—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

—:०:०:०:०:०:०:—

सुवत्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्वेत्ता । अनुष्टुप्छन्दा,
८४४ अक्षराणि ॥

बुद्धिर्दध्नुःशेषः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिषप्ताः पंरियन्ति विश्वा रूपाणि विश्रतः ।

वाचस्पतिर्वेत्ता तेषां तन्वीं अथ दधातु मे ॥१॥

साग्व्य भाषाणः—(ये) जो पदाव (त्रि-सप्ताः) १—सबके संतारक, रक्षाक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्वा, २—रक्षाधीन जगत् [यद्वा—तीन से सम्बद्ध ३—तीनों काय भूत, भविष्यत् और वर्तमान । ४—तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भुवोक । ५—तीनों, गुण, रूप, रज और तम । ६—ईश्वर, जीव, और प्रकृति । यद्वा, तीन और सात=दस । ७—चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की ओर एक नीचे की दिशा । ८—पांच ज्ञान इन्द्रियाँ, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, श्रुति, नासिका और पांच कर्म इन्द्रियाँ, अर्थात् वाक् हाथ, पाँव, पायु, वपस्व । यद्वा, तीन गुणित

सात=इक्कीस । ६—महाभूत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रियाँ ५+कर्म इन्द्रियाँ ५+अन्तःकरण १ इत्यादि के सम्बन्ध में [वर्त्तमान] होकर, (विश्वा=विद्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (विभ्रतः) धारण करते हुए (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं । (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उनके (तन्वः) शरीर के (बला = बलानि) बल को (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे ॥१॥

भाषार्थः—आशय यह है कि तूण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सबका तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेदवाणी के स्वामी सिवगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और उस अन्तर्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ यो० द० १ । २६ ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोऽप्यते नि रमय मय्येवास्तु भवि श्रुतम् ॥२॥

भाषार्थः—(वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) या । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुण के रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (भवि) भुक्तमें (वसमान) (श्रुतम्) वेदविज्ञान (भवि) भुक्तमें (एव) ही (अस्तु) रहे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को सुदृढ़ करके सदा सुख भोगे ॥२॥

टिप्पणी—भगवान् यास्क मुनि ने 'वाचस्पति' का अर्थ 'वाचःपाता वा पालयिता वा'—सर्पात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है—निर० १० । १७ । और निर० १० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है :

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोऽप्यते निरामय मय्येव तन्वं १' मय्य ॥१॥

हे वाणी के स्वामी तू बारम्बार आ, हे धन वा अन्न के रक्षक !
प्रकाशमय मन के साथ मुझमें ही मेरे शरीर को नियमपूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये 'यज्जाघेतो दूरमुदेति वयम्'
इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १—६ भी हृदयस्थ करने चाहिये ॥

इहैवाभि वि तनूभे आत्नी इव ज्यया ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

भाषार्थः—(इह) इसके ऊपर (एव) ही (अभि) चारों ओर से (वि तनु) वृक्षके प्रकार फैल, (इव) जैसे (ज्ये) दोनों (आत्नी) अनुप कोटियों (ज्यया) जय के साधन, चित्ता के साथ [तन जाती है] । (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नि यच्छतु) नियम में रखे, (मयि) मुझमें [वर्त्तमान] (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझमें (एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

भाषार्थः—जैसे संग्राम में शूरवीर अनुप की दोनों कोटियों को डोरी में बँधाकर वाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपायुक्त दोनों हाथों की [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुक्त ब्रह्मचारी पर फैलाकर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम सुखदायक ब्रह्मविद्या का वान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥

भगवान् यास्क के अनुसार—निष्कत ६ । १७ में 'ज्या' शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा बाणों की छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उपहृतो वाचस्पतिरुपास्मान वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥४॥

भाषार्थः—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहृतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हमको (उपह्वयताम्) समीप बुलावे । (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (सं गमेमहि) हम मिले रहें । (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा वि राधिषि) मैं अलग न हो जाऊँ ॥४॥

भाषार्थः—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर प्रभवास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिससे प्रीतिपूर्वक आचार्य की बढ़ायी ब्रह्मविद्या उनके हृदय में स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे ॥४॥

टिप्पणी—इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक

भाचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्नपूर्वक विद्याभ्यास करें जिससे वह शास्त्र उनके हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥

सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८५४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।

विद्वो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥१॥

भाषार्थः—(शरस्य) शत्रु नाशक [वाणधारी] दूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पलम्भम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार से पोषण करने वाले [परमेश्वर] को (विद्य) हम जानते हैं । (अस्य) इस दूर की (मातरम्) माननीया माता, (पृथिवीम्) विस्वात वा विस्तीर्ण पृथिवी का (भूरिवर्षसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भाँति (विद्य उ) हम जानते ही हैं ॥१॥

भाषार्थः—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके शीर पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करते हैं, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का चारण और पोषण नियमपूर्वक करता है । जितेन्द्रिय दूरबीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मानकर्ता जानकर (भूरिधाया) अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्षाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥१॥

ज्यां के परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।

वीर्ध्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्थ कृधि । २॥

भाषार्थः—[हे इन्द्र] (ज्याके) जग के लिये (नः) हमको (परि) सर्वथा (नम) दू भुक्त, (तन्वम्) [हमारे] शरीर को (अश्मानम्) पत्थर सा [नुष्टु] (कृधि) बनावे । (वीर्धु) दू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अपः) [अपहृत्] हटाकर (वरीधः) बहुत दूर (या कृधि) कर दे ॥२॥

अर्थः, (ज्याके) दोनों जग के साधनों [मेघ और भूमि] को (नः परि) हमारी शीर (नम) दू भुक्त । यह अर्थ प्रयुक्त करो ॥

भाषार्थः—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ॥२॥

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चित्ता ! (नः) हम-
को (परि) छोड़ कर (नम) भुक्त । हमारी समझ में वह असंगत है, सम्पूर्ण सूक्त का
देवता इन्द्र है ।

वृक्षं यद् गावंः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यभुम् ।

शरमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥

भाषार्थः—(यत्) जब (वृक्षम्) वनस्पति से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुई
(गावः) चित्ते की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुए (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति
वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वत्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) बाणधारी
पूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें । [तब] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ।
[वा, हे वायु !] (शरम्) बाण और (विद्युम्) वज्र को (शरमत्) हमसे (यावय)
तू अलग रख ॥३॥

भाषार्थः—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर
संग्राम होता हो, बुद्धिमान् वनस्पति सेनापति ऐसा साहस करे कि सब थोड़ा
लोग उसकी बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने
प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके
आनन्द भोगे ॥३॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृक्ष) का अर्थ [वनस्पति] इस-
लिये है कि उससे शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चित्ता इसलिये है कि
उससे बाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजन्म ।

एवा रोगं चास्त्राव चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥४॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (तेजन्म) प्रकाश (द्यां च) सूर्यलोक (च) और
(पृथिवीम्) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है । (एव) वैसे ही
(मुञ्जः) गोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च)
और (आस्त्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित
होवे ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी बलेशों में (मुञ्जः)
हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी
होते हैं । अथवा जैसे सदैव (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और

भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्याप्रकाश से ब्रह्म-
चारी के अज्ञान का नाश करता है ॥४॥

सायण भाष्य में 'तेजनम्' नपुंसक लिङ्ग को 'तेजनः,' पुल्लिङ्ग मानकर
विष्णुः, अर्थात् वास प्रथं किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पञ्ज्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-८
अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृण्यम् ।

तेनां ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते निषेचनं

बहिष्ठं अस्तु बालिति ॥१॥

भावार्थः—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक
पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [पर-
मेश्वर] को (विद्य) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर
के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूँ, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा
(निषेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (बाल्) बारी (बहि) बाहिर
(अस्तु) होवे, (इति) वस यही ॥१॥

भावार्थः—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी
मेघ अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शत-
वृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और
आत्मबल बढ़ा कर संसार में वृद्धि करता है ॥१॥

इस मन्त्र के पूर्वाधि के लिये १ । २ । १ । देखो ॥

विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृण्यम् ।

तेनां ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते निषेचनं

बहिष्ठं अस्तु बालिति ॥२॥

भावार्थः—(शरस्य) शत्रु नाशक शूर [वा बाणधारी] के (पितरम्) रक्षक
पिता, (मित्रम्) सबके चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृण्यम्) सैकड़ों

सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्य) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से.....॥२॥

भाषार्थः—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥२॥

सायण भाष्य में “मित्र” शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्वा शरस्य पितरं वरुणं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ ' शं करं पृथिव्यां तं निषेचनं

वहिष्टं अस्तु बालिति ॥३॥

भाषार्थः—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाणधारी] धूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकने वाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्य) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से.....॥३॥

भाषार्थः—आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है—इत्यादि ॥३॥

‘वरुण’ मध्यस्थान देवता—नि० १० । ३ में है । इससे वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु ‘पञ्चम्य’ शब्द मं० १ में आ चुका है, इससे यहाँ पर वृष्टि का आधार और सबका ढकने वाला आकाश अर्थ है । सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्वा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ ' शं करं पृथिव्यां तं निषेचनं

वहिष्टं अस्तु बालिति ॥४॥

भाषार्थः—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा वाणधारी] धूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्य) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से.....॥४॥

भाषार्थः—(चन्द्र) आनन्द देने वाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है । उस चन्द्रमा का भी आल्लादक वह परमेश्वर है, ऐसे ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥४॥

विद्वा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृण्यम् ।

तेनां ते तन्वे ३ ' शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

वहिष्टं अस्तु बालिति ॥५॥

भाषार्थः—(शरस्य) णत्रुनाशक [बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृण्यम्) सैकड़ों [सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूँ और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निषेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) बेरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥५॥

भाषार्थः—‘सूर्य’ आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता तथा वृष्टि आदि उपकार करता एवं बड़ा तेजस्वी है । वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है । उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥५॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रुतम् ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां वहिर्बालिति सर्वकम् ॥६॥

भाषार्थः—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पाश्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छुटता है] । (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) बेरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही बस है ॥६॥

भाषार्थः—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उसके निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥६॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में ‘संश्रुतम्’ के स्थान में ‘संश्रितम्’ मानकर ‘सम वस्थितम्’ [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

प्र तं भिनद्मि मेहनं वत्रै वेशन्त्या इव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां वहिर्बालिति सर्वकम् ॥७॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वारा को (प्रभिनधि) मैं छोले देता हूँ,

(इव) जैसे (वेशमयाः) भील का पानी (अश्रमं) बन्ध को [खोल देता है] (एव),
वैसे ही—म० ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थः—जैसे सदैव लोह शलाका से रोगी के रुके हुए मूत्र को
भील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु
को निकाल देवे ॥७॥

त्रिषितं ते वस्तिविलं समुद्रस्योदधेरिव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्वालितं सर्वकम् ॥८॥

भाषार्थः—(ते) तेरा (वस्तिविलम्) मूत्र मार्ग (त्रिषितम्) खोल दिया
गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग] (एव) वैसे
ही..... म० ६ ॥८॥

भाषार्थः—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका परापतद्वंसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्वालितं सर्वकम् ॥९॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (धन्वनः अग्नि) धनुस् से (अथसृष्टा) छुटा हुआ
(इषुका) बाण (परा-प्रपतत्) गीघ्र चला गया हो । (एव) वैसे ही (ते) तेरा
(मूत्रम्) मूत्र का (बाल्) बारी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे
(इति सर्वकम्) यही वस है ॥९॥

भाषार्थः—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥९॥

सूक्तम् ४ ॥

१—४ । सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । १—३ गावत्री, ४ वद्वक्तिः,
५ × ५ अक्षराणि ॥

परस्परपकारोपदेशः—परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बय्यो यन्त्वध्वभिर्जामय्यो अध्वरीयताम् ।

पृञ्चतीर्षधुना पयः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन
करनेवाली, बहिर् [वा कुलस्त्रियां] (अधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः)
मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने वाले यजमानों के (अध्वजिः) सम्पादों
से (यन्ति) चलती हैं ॥१॥

भाषार्थः—जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं, वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥१॥

अमृ० या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२॥

भाषार्थः—(अमृः) वह (याः) जो [मातायें और बहिनें] (उप = उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माताओं और बहिनों] के साथ (सूर्येः) सूर्य का प्रकाश है । (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥२॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में दो बातों का बणन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों को फैलाना ॥२॥

१—जो तररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्यरूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य श्रद्धासे सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वे तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख को कृष्टि करते हैं ॥

२—जो 'अमृ' इत्यादि स्त्रीलिंग शब्दों का सम्बन्ध मन्त्र ३ के 'आपः' शब्द से माना जावे तो यह भाषार्थ है कि पहिले जब मूर्तिमान् पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्यमण्डल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है । इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरूपं ह्वये यत्र गावः पिवन्ति नः ।

सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥३॥

भाषार्थः—(यत्र) जिस जल में से (गावः) गायों की किरणें [वा गीयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वं) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिवन्ति) पान करती हैं । (देवीः) वह उत्तम गुण वाले (यवः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है। अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हमको परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥३॥

अप्स्व १ 'न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो

गावो भवथ वाजिनी ॥४॥

भाषार्थः—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (निषजन्) भूय जीतने वाला भेषज है, (उत) और (अवान्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो ! तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौयो, तुम (वाजिनोः = ०-गवः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥४॥

भाषार्थः—जल से रोग निवारक और पुष्टिघटक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुए घास आदि से गौएँ और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १।२३।१६ में है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—

सोऽमिध्याय शरीरात् स्वात् सिद्धिर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवाप्तजत् ॥ मनु० १।८ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए पहिले (अपः) 'जल' को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—४ । सिद्धिर्हीन ऋषिः । आपो नेवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः— बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि घ्रा मयोभुवस्ता नं ऊर्जे दधातन ।

महे रणांय चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थः—(आपः) हे जलो । [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि) निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हमको (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये (महे) बड़े बड़े (रणांय) संग्राम वा रक्षण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥१॥

भाषार्थः—जैसे जल खान, पान, खेती, बाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥१॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ६ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२,

तथा ३६ । १४—१६ सामवेद उत्तराचिक प्रपा० ६ अर्धप्र० २ सू० १० ॥

यो वंः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरं ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहाँ [संसार में] (नः) हमको (तस्य) उसका (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोग ॥२॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपों जनयथा च नः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरं) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुँचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आवः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगों] (नः) हमको (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥३॥

भाषार्थः—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नोका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार

जल के समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥२॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् । अपो यांचामि भेषजम् ॥४॥

भाषार्थः—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतने वाले औषध को (यांचामि) मांगता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण है, सो जल के समान गुणो महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥४॥

यह मन्त्र ऋ० १० । १ । ५ में है ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ सिन्धुद्वीपोऽथर्वकृतिर्द्विः । आतो देवताः । १-३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो देवीरभिष्टुं आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्तवन्तु नः ॥१॥

भाषार्थः—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आवः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टुं) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (अम्) सुखदायक (भवन्तु) हों । और (नः) हमारे (अम्) रोग की हानि के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब और से (स्तवन्तु) वर्षा करें ॥१॥

भाषार्थः—दृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥१॥

मन्त्र १, य० ३६ । १२ मन्त्र १—ऋ० १० । १ । ४, ६, ७ ।

तथा मन्त्र २, ३ ऋ० १ । २३ । २०, २१ में हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशंसुवम् ॥२॥

भाषार्थः—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोमलता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापनशील जलों में (विश्वानि) सब (भेषजा = ०—नि)

श्रीषधीं को, (च) और (विश्वशम्भुषम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [विजुली वा पाचनशक्ति] को (अश्वधीम्) बताया है ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा श्रीषधीं को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य श्रीषधि है। यह सब पदार्थ जैसे जल द्वारा श्रीषधीं, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, विजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥२॥

आपः पृष्णीन मेषजं वरुथं तन्ये ३ ' मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥

भाषार्थः—(आपः) है व्यापनशील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (सन्ये) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरुथम्) कवचरूप (भेषजम्) भक्ष निवारक श्रीषध को (पृष्णीत) पूर्ण करो ॥३॥

भाषार्थः—जैसे यद्ध में चोढ़ा की रक्षा भिलमसे होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सबका जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥३॥

शं न आपो धन्वन्त्या ३ ' : शम् सन्त्वनूप्याः । शं नः खनित्रिमा आपः शम् याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥४॥

भाषार्थः—(नः) हमारे लिये (धन्वन्त्याः) निर्बल देश के (आपः) जल (शम्) सुखदायक, (उ) और (अनूप्याः) जलवाने देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होंगे । (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होंगे, (उ) और (माः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुखदायी होंगे, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हमको (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होंगे ॥४॥

भाषार्थः—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है, वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥४॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्तम् ७ ॥

१—७ ॥ चातन ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १४, ६, ७ अनुष्टुप् ८४, ५
त्रिष्टुप् ११४ अक्षरानि ॥

सेनापते लज्जणानि—सेनापति के लज्जाए ॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्विभूविंश ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! [प्रणि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुए (यातुधानम्) पीड़ा देन हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले पुत्रों को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् । (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्यो) चोर वा डाकू का (हन्ता) हनन कर्ता (विभूविंश) हुआ था ॥१॥

भाषार्थः—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी पुत्रों [चुगलखोरों] और डाकूओं और चोरों को आधीन करता है तो सत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्य में शान्ति फैलती है ॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भयवान् या एक मुनि ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुए अलो, सूक्त = चुगलखोर किया है—
निरु० ६।११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तन् वशिन ।

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान वि लापय ॥२॥

भाषार्थः—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊँचे पदवाले ! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! (तनुवशिन) शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन् ! तू (तौलस्य) तौल से पाये हुए (आज्यस्य) घृत का (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुःखदायी राजसों से (वि लापय) विलाप करा ॥२॥

भाषार्थः—जैसे अग्नि अनुवादि के तौल वा परिमाण से दिये हुए वृत्तादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा प्रानन्द युक्त रहती है ॥२॥

वि लपन्तु यातुधानां अत्रिणो ये किमीदिनः ।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्षतम् ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करनेवाले लुपरे [हैं], [वे] (वि लपन्तु) विलाप करें । (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम सामग्री को (प्रति हर्षतम्) अङ्गीकार करो ॥३॥

भावार्थः—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचण्ड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतबने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥३॥

अग्निः पूर्वं आ रंभतां मेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य ॥४॥

भाषार्थः—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरंभताम्) [अनुषों] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रवज भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (अनुदतु) निकाल देवे । (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हैं—(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥४॥

भावार्थः—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥४॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।

त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आ यन्तु प्रब्रवाणा उपेदम् ॥५॥

भाषार्थः—(जातवेद) हे ज्ञान देने हारे वा धन वाले राजा । (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने हारे ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःखदायी राक्षसों को (प्रब्रूहि) बता दे । (त्वया) तुझ-से (परितप्ताः) जलाये हुये (ते सर्वे) वह सब (प्रब्रूवाणाः) जय बोलते हुए (पुरस्तात्) [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥५॥

भाषार्थः—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्याप्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रखे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रखे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥५॥

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकाथीय जज्ञिषे ।

दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे जन वाचन देने वाले राजन् ! (आ रंभस्व) [वैश्यों को] पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अथीय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है । (अग्ने) हे अग्ने [सन्तापते] (न) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःखदायियों से (वि लापय) विलाप करा ॥६॥

भाषार्थः—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर सन्देश पहुँचाता है वैसे ही बिजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जानकर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥६॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धा इहा बह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥७॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उपबद्धान्) दृढ़ बांधे हुए (यातुधानान्) दुःखदायी राक्षसों को (इहा) यहां पर (आ बह) ले आ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इनके (शीर्षाणि) शस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट डाले ॥७॥

भाषार्थः—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥७॥

इसी प्रकार सब मनुष्य अष्टात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ, मोह आदि को शत्रु, तथा गृहस्थिति में गृहाति को सेनापति एवं विघ्नों को वैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।

य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥

भाषार्थः—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राक्षसों को (आ वहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (इह) यहाँ (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥१॥

भाषार्थः—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टों को पकड़ते हैं, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अङ्गीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥१॥

'स्त्री' शब्द का अर्थ संग्रह करने वाली या स्तुति योग्य, और 'पुमान्' का अर्थ रक्षक या पुरुषार्थी है ॥

अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति हयत ।

बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ अगमत्) आया है, (इदम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हयत) तुम सब स्वागत करो । (बृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन् ! [दूसरे बैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्तमान हो,] (अग्नीषोमा=०—मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा ! तुम दोनों [अन्यवैरियों को] (वि) अनेक भाँति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥२॥

भाषार्थः—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें । प्रतापी राजा दूसरे बैरी को शम दम आदि से अपने अधीन रखे । और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (मौ) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥२॥

यातुधानस्य सोमय जहि प्रजा नयस्व च ।

नि स्तुवानस्य पातय परमक्षुतावरम् ॥३॥

भाषार्थः—(सोमय) हे अमृत पीने वाले [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने वाले पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) ले आ । (निःस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुए [शत्रु का] (परम्) उत्तम (हृदय)

की (उत्त) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आँत्र को (वातय) निकाल दे ॥३॥

भाषार्थः—(सोमप) अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे । मिन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी शत्रु को नष्ट भ्रष्ट कर दे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और बाह्यरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़ दे ॥३॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहां सतामस्त्रिणां जातवेदः ।

तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो ज्वं पां शततर्ह्यग्ने ॥४॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले । (अग्ने) अग्नि [अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहाँ पर (गुहा) गुहा में (सताम्) वर्तमान (एवाम्) इन (अत्रिणाम्) उदर पोषकों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन] से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एवाम्) इनकी (शततर्ह्यम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥४॥

भाषार्थः—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों की खोज करे और उनको यथानीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रक्खे ॥४॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । १, २ विश्वेदेवा देवताः, ३, ४ अग्निर्व्यवता । त्रिष्टुप् छन्दः ११×४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिव्यत्योपदेशः—प्रब सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।

इममादित्या उत्त विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(वसवः) प्राणियों के बसाने वाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अथर्वा] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुभये] (वसु) धन को (धारयन्तु) धारण करें । (आदित्याः) प्रकाशवाले [बड़े मित्रान् सूर्योत्पुनव] (उत्त च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) पदबहार जाननेहारे महत्त्मा (इमम्)

इसको [मुभको] (उत्तरस्मिन्) अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें ॥१॥

भाषार्थः—चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं । अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु और अग्नि के समान उत्तम गुण वाले और दूसरे सूरवीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और घरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥१॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।

सपत्ना अस्मद्धरे भवन्तुत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे व्यवहार जानने हारे महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे । (सपत्नाः) सब बेरी (अस्मत्) हमसे (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें । (उत्तमम्) अति ऊँचे (नाकम्) मुख में (एनम्) इसको [मुभको] (अधि) ऊपर (रोहय = ०—धत्) तुम चढ़ाओ ॥२॥

भाषार्थः—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगें ॥२॥

येनेन्द्राय समभरः पयोस्त्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।

तेन त्वमग्न इह वर्धयेम संजातानां श्रेष्ठ्य आ धेद्वेमम् ॥३॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयोसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भर रक्खा है । (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे [मुभके] (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (संजातानाम्) मुख्य जन्म वाले पुरुषों में (अष्टष्ठे) अष्ट पद पर (एनम्) इसको [मुभको] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है । मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥३॥

‘अग्नि’ शब्द ईश्वरवाची है, इसमें यह प्रमाण है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु० १२ । १२३ ॥

इसको कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एवाम्) इनके [अपने लोगों के] दिये (यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती (उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आ बदे) प्रहण करता हूँ । (सपत्नाः) वैंरी लोग (अस्मत्) हमसे (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्तमम्) अति ऊँचे (नाकम्) सुन्न में (एनम्) इसको [मुझे] (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥४॥

भावार्थः—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्ष वालों के किये हुए उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

सूक्तम् १० ॥

१—४ ॥ अयर्वा अग्निः । वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् ॥

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।

ततस्परि ब्रह्मणा शाश्वदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥१॥

भावार्थः—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राण-दाता [वा प्रजावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (वि राजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य (हि) ही है । (ततः) इसलिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा (शाश्वतानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोध से (इमम्) इसको [अपने को] (उत् नयामि) लुढ़ाता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रखें ॥१॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषिं द्रुग्धम् ।

सहस्रमन्यान् प्रसुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भाषार्थः—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले राजा । (ते) तुभ्य (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (उग्र) हे प्रचंड । तू (विश्वम्) सम्पूर्ण (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि) सदा जानता है । [मैं] (सहस्रम्) सहस्र (अन्यान्) दूसरे जीवों को (साकम्) एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूँ, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरवः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहै ॥२॥

भाषार्थः—सर्वज्ञ परमेश्वर के महाक्रोध से भय मान कर मनुष्य पातकों से बचें और सबके साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥२॥

यदुक्त्वानृतं जिह्वा वृजिनं बहु ।

राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणाद्दम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे आत्मा ।] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्वा) जिह्वा से (उक्त्व) तू बोला है । (अहम्) मैं (त्वा) तुभ्यको (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मों का ग्यायी, (वरुणात्) सबमें श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की ग्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥३॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।

सजातानुग्रहा वद ब्रह्म चार्प चिकीहि नः ॥४॥

भाषार्थः—[हे आत्मा ।] (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सव नरों के हितकारक वा सबके नायक परमेश्वर से (त्वा) तुभ्यको (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर ।] (सजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (ब्रह्म) इस विषय में (आ ब्रह्म) उपदेश कर

(च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तु जान ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥४॥

सूक्तम् ११ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ६+१०+६+११=३६, २, ३ अनुष्टुप् ८×४, ४ ६ पंक्ति ८×५ ॥

सृष्टिविद्यावर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वर्षद् ते पृषन्स्मिन्सुतावर्षमा होता कृणोतु वेधाः ।

सिन्धतां नार्घुन्मजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१॥

भाषार्थः—(पृषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वर्षद्) यह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतवर्ष) सन्तान के जन्म को (अवर्षा) व्यापकारी, (होता) दाता, (वेधाः) सबका रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (सूत-प्रजाता) पूरे गर्भवाली (नारी) नर का हित करने वाली स्त्री (सिन्धताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इनके सब अङ्ग (उ) ओ (सूतवर्ष) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहताम्) कोपन हो जावें ॥१॥

भाषार्थः—प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोभ परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रखे जिससे बालक सुखपूर्वक उत्पन्न होवे ॥१॥

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।

देवा गर्भे समैरयन् तं व्यूऽर्ण्वन्तु सूतवे ॥२॥

भाषार्थः—(दिवः) आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु

आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरण्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूष्णं बन्तु) प्रस्तुत करें ॥२॥

भाषार्थः—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है, मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥२॥

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है। यजुर्वेद १४।२० में यह देवता कहे हैं—

अग्निर्देवता । वातो देवता । सूर्यो देवता । चन्द्रमा देवता ।
वसवो देवता । रुद्रो देवता । आदित्या देवता । मरुतो देवता ।
विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिर्देवता । इन्द्रो देवता । वरुणो देवता ॥

अग्नि १, वायु २, सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अग्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूरवीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद वचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२, यह सब देवता उत्तम गुण वाले हैं ॥

सूषा व्यूऽर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।

अथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥३॥

भाषार्थः—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यूर्णोतु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हृदय प्रस्तुत करते हैं। (सूषणे) हे जन्म देने वाली माता ! (त्वम्) तू (अवय) प्रसन्न हो। (बिष्कले) हे बीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [बालक को] उत्पन्न कर ॥३॥

भाषार्थः—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रखें। माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है। प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रखें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें ॥३॥

नेवं मांसे न पीवंसि नेवं मज्जस्वाहतम् ।

अवेतु पृग्निं शेवलं शुनै जराय्वत्तवेऽव जरायुं पद्यताम् ॥४॥

भाषार्थः—[वह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवंसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मींग में (आहतम्) बंधी हुई है । (पृग्निं) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेजी वा भिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) भावे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥४॥

भाषार्थः—जरायु एक भिल्ली होती है जिसे जेली वा जेरी कहते हैं और जिसमें बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उसमें से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे । यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाती है और सार रहित होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे सेवार नामक घास जलाशय में । शरीर में उसके रह जाने से रोग हो जाता है । इससे उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिससे प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे ॥४॥

वि तै भिनदमि मेहनं वि योनिं वि ग्वीनिके ।

वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणावं जरायुं पद्यताम् ॥५॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (ग्वीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष करके (भिनदमि) [मलसे] अलग करती हूँ (च) और (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) श्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा) जरायु से (वि वि) अलग अलग [करती हूँ], (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥५॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में धात्री [धात्री] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता को उत्साहित करती है, अर्थात् धात्री बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता के अंगों को आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होने पर माता और सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रखे और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिससे दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥५॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायुं पद्यताम् ॥६॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (यातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलते हैं। (एव) वैसे ही (दशमास्य) हे दश महीने वाले [गर्भ के बालक !] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (ध्रुव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥६॥

भाषार्थः—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा जेली कुछ उसके साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥६॥

ऋग्वेद में यह मन्त्र इस प्रकार है—

यथा यातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।

एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ ऋ० ५ । ७८ । ८ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है—

अष्टमे मासि याते च अग्नियोमः प्रवर्त्तते ।

मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥१॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥२॥

आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवम महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥१॥ गर्भ में वास करने के कारण उसको वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥२॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः

सूक्तम् १२ ॥

१ - ४ ॥ भृग्वंरिरा ऋषिः । बृषा देवता । १, २ ईश्वरमुखाः, ३, ४, रोग-निवृत्तिः । १ - ३ श्रिष्टुप् ११ × ४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वर गुणः, ३, ४ रोगनिवृत्तिः—१, २ ईश्वर के गुण और ३, ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उल्लियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्वऽ ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥१॥

भाषार्थः—(जरायुजः) मिल्ली से [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहले से वर्तमान, (उल्लियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वातभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघरूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृष्ट्या) बरसा के साथ (एति) चलता रहता है । (सः) वह (ऋजुगोः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को] मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (मृडाति) सुख देवे, (यः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥१॥

भाषार्थः—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही 'उल्लियः' प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघरूप परमेश्वर 'वातभ्रजा' सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालज्ञ और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हम सदा आनन्द देवे ॥१॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताम्रे भूतस्य जातः पतिरेकं आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं धामुतेमां कस्मै देवाय इविषा विधेम ॥य० १३।४॥

'हिरण्यगर्भ' तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था । उसने इस पृथिवी और प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समृद्धस्य पांसुरे ॥ ऋ० १ । २२ । १७ ॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्] में अनेक अनेक प्रकार से

पग को बढ़ाया, उसने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं से युक्त [संसार] में जमाया ॥

सायणभाष्य में (वातभ्रजाः) के स्थान में (वातव्रजाः) शब्द है, और अर्थ "वायु समान शीघ्रगामी" है ॥

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।

अङ्गान्त्समङ्गान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥२॥

भाषार्थः—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (शिश्रियाणम्) टहरे हुए (स्वा) तुम्हको (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उसके] (अङ्गान्) पृथक् पृथक् चिह्नों को और (समङ्गान्) मिले हुए चिह्नों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराध्, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥२॥

भाषार्थः—वह (वृषा—म० १) परमात्मा हमारे और सब व्यष्टि और समष्टि रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाशस्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥२॥

मुञ्च शीर्षिक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।

यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां पर्वतांश्च ॥३॥

भाषार्थः—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षिक्त्याः) शिर की पीड़ा से (उत) और [उस खांसी से] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खांसी ने (अस्य) इस पुरुष के (परुषः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है । (यः) जो खांसी (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्म) सूखी [होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सचताम्) संबन्ध वाली होवे ॥३॥

भाषार्थः—खांसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का घर हांसी और रोग का घर खांसी" । जैसे सदैव्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक की पीड़ा और खांसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जानकर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से

मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है । इसी प्रकार राजप्रबन्ध और गृहप्रबन्ध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥३॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।

शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३ ' मम ॥४॥

भावार्थः—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के [शरीर के] लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥४॥

भावार्थः—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं । मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रखे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥४॥

सूक्तम् १३ ॥

१—४ ॥ भृग्वगिरा ऋषिः । प्रजापतिदेवता । १, २ अनुष्टुप्, ३, ४ जगती । १२×४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥

भावार्थः—[हे परमेश्वर ।] (ते) तुम्ह (विद्युते) कौंधा लेती हुई, बिजुली समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुम्ह (स्तनयित्नवे) गड़गड़ाते हुए, बादल समान को (नमः) नमस्कार होवे । (ते) तुम्ह (अश्मने) पाषाण समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दूडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू डका देता है ॥१॥

भावार्थः—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधि-दैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इसलिये सब मनुष्य उसके कोप से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।

मृडयां नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥२॥

भाषार्थः—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझको (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को (समूहसि) संयुक्त करता है । (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये (मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) प्रदान कर ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है । सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥२॥

प्रवतो नपान् नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृष्णः ।

विद्य ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥३॥

भाषार्थः—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्) तुझको (एव) अत्रत्य (नमः) नमस्कार (एस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र समान को (च) और (तपुषे) तप्ताने वाले तोप आदि अस्त्र समान को (नमः) नमस्कार (कृष्णः) हम करते हैं । (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊंचे (धाम) धाम [निवास] को (गुहा—गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक गम्य स्थान में] (विद्य) हम जानते हैं । (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में (नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥३॥

भाषार्थः—उस भक्त रक्षक, दुष्ट नाशक परमात्मा का (परमधाम) महत्त्व सबके हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है । जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है । विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥३॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इधुं कृण्वाना असनाय धृष्णम् ।

सा नो मृद विदधे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

भाषार्थः—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ [परमे-

श्वर] को (असनाय) नाश के लिये (धूष्णम्) बहुत दृढ़ (धूष्म्) शक्ति अर्थात् बरछी (कुष्मान्ना) बनाकर (असृजन्त) माना है। (सा) सो तू (विद्वे) यज्ञ में (गुणाना) उपदेश करती हुई (नः) हमको (मृज) सुख दे, (देवि) हे देवि [विष्णु बरछी] (सस्ये ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का घन्यवाद देते हैं ॥४॥

यजुर्वेद में लिखा है—

यामिषुं गिरिशन्त हस्तं विभर्ष्यस्तेवे ।

शिवां गिरित्र तां कुं मा हिथ्यसीः पुरुषं जगत् ॥य० १६। ३॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बरछी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है। हे वेद द्वारा रक्षा करने वाले ! उसको मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ भृग्वगिरा ऋषिः । वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८x४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृणास्ताम् ॥१॥

भाषार्थः—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अग्ने] ऐश्वर्य को धीर (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैंने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अयि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥१॥

भाषार्थः—यह वर का वचन है। विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुणवती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है। वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की सेवा और शिक्षा से दृढचित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध

करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेत्र जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥१॥

मन्त्राः २ —४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा तं राजन् कन्यां वधूर्नि धूयतां यम ।

सा मातुर्वध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥२॥

भाषार्थः—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि) नियम से (धूयताम्) व्यवहार करे । (सा) यह (मातुः) [तेरी] माता के (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (वध्यताम्) नियम से बंधी रहे ॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सबको प्रसन्न रखे और सुख भोगे ॥२॥

मनु महाराज ने कहा है—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

त्रिविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥मनु० २। २४०॥

स्तुति योग्य स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सबसे यत्नपूर्वक लेनी चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेऽपि ॥मनु० ५। १४७॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा वृद्धी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे ॥

एषा तं कुलपा राजन् तामुं ते परि दद्वसि ।

ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः समोप्यात् ॥३॥

भाषार्थः—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने वाली है, (ताम्) उसको (ज) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (दद्वसि) हम दान करते हैं । यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता

आदिकों में (आसातं) निवास करे, और (आ शीष्णं) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुँच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥३॥

भाषार्थः—फिर बधू पक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुए कन्यादान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥३॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

भाषार्थः—(असितस्य) जो नू बध्वन रक्षित, (कश्यपस्य) [संम] रत्न पीने हारा (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेदज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूँ । (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियाँ [वा बहिने] (अन्तःकोशम्) मञ्जूवा वा पिटारे को [बांधती] है ॥४॥

भाषार्थः—इस मन्त्र के अनुसार बधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियाँ विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥४॥

सूक्तम् १५ ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्वेत्ता । १ पूर्वार्थोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्थः स्त्रिष्टुप्, २ पूर्वार्थो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उद्देश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।

इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्ये ण हविषा जुहोमि ॥५॥

भाषार्थः—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन धौट (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल [बहें] (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्) इस (मे) मेरे (यजम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्राव्येण) बहुत आर्द्रभाव [कीनता] से भरी हुई (हविषा) भक्ति के साथ [उनको] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्र यात्रा को, विमान आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथायोग्य व्यवहार से पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रखें, और विज्ञानपूर्वक

सब पदार्थों से उपकार लेवें । और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रखें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक बर्ताव करें ॥१॥

इहैव हवमा यात म इह संस्त्रावणा उत्तेमं वर्धयता गिरः ।

इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥

भाषार्थः—(संस्त्रावणाः) हे बहुत आर्द्र भाव वाले [बड़े कोमल स्वभाव वाले] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो । (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आ यात) तुम पहुंचो, (उत्त) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इससे मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥२॥

टिप्पणी पशु शब्द जीव वाची है, यथा अथर्ववेद में आया है—

य ईक्षं पशुपतिः पशूनां चतुष्टयदामुत यो द्विपदाम् ॥ अ० २।३४।१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी दोपाये और जो दोपाये (पशूनाम्) जीवों का (ईक्षं=ईष्टे) राजा है ॥१॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सद्मक्षिताः ।

तेभिर्भं सर्वैः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रायामसि ॥३॥

भाषार्थः—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अक्षिताः) प्रक्षय (उत्सासः) सोते (सद्म) सर्वदा (संस्रवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्त्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्त्रायामसि) हम व्यय करें ॥३॥

भाषार्थः—जैसे पर्वतो पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियें बनती हैं जा ग्रीष्म ऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर प्रक्षय धन बढ़ावें । और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥३॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥४॥

भाषार्थः—(सर्पिषः) घृत की (च) घोर (क्षीरस्य) दूध की (च) घोर (उदकस्य) जल की (ये) जो धारयें (संस्रवन्ति) मिलकर बह जतली है । (तैः सर्वैः) उन सब (संस्त्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥४॥

भाषार्थः—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥४॥

सूक्तम् १६ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । १ अग्निः, २ वरुणानोन्दाः, ३-४ सोमं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

यै मावास्यां ३ रात्रिमुदस्थुर्नाजमन्त्रिणः ।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥१॥

भाषार्थः—(ये) वे जो (अन्त्रिणः) उदर पोषक [राज लोग] (अमावास्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने वाली रात्रि की (नाजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं । (सः) वह (तुरीयः) चैवयान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने वाला (अग्निः) अग्नि [अग्नि सद्गुण तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा करे ॥१॥

भाषार्थः—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥१॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं म इन्द्रः प्रार्यच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥२॥

भाषार्थः—(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अग्नि) अधिकार पूर्वक (ग्राह) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, बिजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) सजीव रह कर (प्रवति) रक्षा करता है। (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझको (प्र—अयच्छत्) दिया है, (अंग) हे भाई (तत्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़ा-नाशक है ॥२॥

भाषार्थः—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिल कर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं, वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक आनन्द पाते हैं ॥१॥

टिप्पणी—‘सीस’ शब्द का धात्वर्थ—पिञ् वाधना—विषप् × थो नाश करना—कप्रत्यय बन्धन का काटने वाला है। लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं। सायण भाष्य में ‘सीस’ का अर्थ ‘‘नदी के फेन आदि रूप द्रव्य’’ और शिफुफिय साहिब ने lead सीसा धातुविशेष किया है ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः ।

अनेन विश्वां ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥३॥

भाषार्थः—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है और (इदम्) यह (अत्रिणः) उदर पोषक खाउओं को (बाधते) हटाता है। (अनेन) इससे (विश्वा = विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं जीतता हूँ (या = यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने वाली [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥३॥

भाषार्थः—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्लेशों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥३॥

अगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ यो० पा० २ । १६ ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्चं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

भाषार्थः—(यदि) जो (नः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्) घोड़े को और (यदि) जो (पूरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारता है (तम् त्वा) उस तुझको (सीसेन) बाधन काटने द्वारा सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधते हैं (यथा) जिससे तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करनेहारा न होवे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाले क्लेशों को यत्नपूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥४॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । हिरा देवता । १-३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः ॥

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासनानाशः—नाडीछेदन [फस्द खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमृर्वा यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।

अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥१॥

भाषार्थः—(अमृः) वे (पाः) जो (योषितः) सेवायोग्य वा सेवा करने वाली [मथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोह में ढकी हुई (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चन्ती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहनों के समान, (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें ॥१॥

भाषार्थः—इस सूक्त में सिरा छेदन, अर्थात् नाडी [फस्द] खोलने का

वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने वाली और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्यराज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सफल होते हैं ॥१॥

तिष्ठान्वरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादि धमनिर्मही ॥२॥

भाषार्थः—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ) ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥२॥

भाषार्थः—१—चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२—मनुष्य अपने चित्त की वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्नपूर्वक सिद्ध करे ॥१॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥

भाषार्थः—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अंत की [अवशिष्ट नाड़ियां] (साकम्) एक साथ (अरंसत) भीड़ा करने लगी हैं ॥३॥

भाषार्थः—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेंबटा करने लगें ॥३॥

२—मनुष्य अपनी अनन्त वित्तवृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावे ॥३॥

परिं वः सिकतावती धनूर्ध्वहृत्य क्रमीत् ।

तिष्ठते लयता सु कम् ॥४॥

भाषार्थः—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] बालू आदि से भरी हुई (बृहती) बड़ी (धनूः) पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है । (तिष्ठते) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) कुल से (इत्यतः) चलो ॥४॥

भाषार्थः—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं । इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण बालू से वा बालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे, चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो ॥

२—मनुष्य कुमारगामिनी मनोवृत्तियों को रोक कर यत्नपूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥४॥

सूक्तम् १८ ॥

१—४ ॥ इक्षिणोवा ऋषिः ॥ सविता देवता । १, ४ ॥ अनुष्टुप्, २, ३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाभ्यं १ 'निरराति सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अराति नयामसि ॥१॥

भाषार्थः—(ललाभ्यम्=०—भोग) [धर्म से] रुचि हटाने वाली निर्लक्ष्म्यम्=०—क्षमीम् अलक्ष्म [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निःसुवामसि=०—मः) हम निकाल देंगे । (अथ) और (या--तानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उनको (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजा के लिये (अरातिम्) मुल न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०—मः) हम लावें ॥१॥

भाषार्थः—राजा अपने और प्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्षणों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥१॥

सायण भाष्य में 'लक्ष्म्यम्' के स्थान में 'लक्ष्मम्' पाठ है ॥१॥

निररंणि सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तोर्वरुणो मित्रो अयमा ।

निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौमगाय ॥२॥

भाषार्थः—(सविता) [सबका चलाने हारा] सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी] (वरुणः) सबके चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव] (मित्रः) जेष्टा देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अयमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्यायकारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पथो) दोनों पक्षों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः साविषत्) निकाल देवे । (रराणा) दानशीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (निः=निः साविषत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौमगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है ॥२॥

भाषार्थः—पन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हितबुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सबका ऐश्वर्य बढ़ावे ॥२॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में 'अरणिम्' के स्थान में 'अरणीम्' है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे 'साविषत्' के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में 'साविषत्' पद है, वही पाठ हमने रक्खा है । गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि 'साविषत्' शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व० ६।१।३ में, ७।७७।७ में और ८।१५।४ में 'सविता साविषत्' पाठ है वही 'सविता साविषत्' यहाँ भी शुद्ध है ॥

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केजेषु प्रतिचक्षणे वा ।

सर्वं तद् वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सुदयतु ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] । (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में और (नन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केजेषु) केजों में (वा) अथवा (प्रतिचक्षणे) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है । (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सबको (वाचा) वाणी से [विज्ञावल से] (अप) हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं । (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वत्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (सुदयतु) प्रगोकार करे ॥३॥

भाषार्थः—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्संग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥३॥

रिश्यंपदीं वृषंदतीं गोषेधां विधमामुत ।

विलीढ्यं ललाम्यं १ ' ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

भावार्थः—(रिश्यंपदीम्) हरिण के समान [बिना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषंदतीम्) बैल के समान दांत चबाना, (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधमाम्) बिगड़ी भाषी [धौकनी] के समान श्वास किया, (ललाम्यम्=०—मोम्) रुचि नाश करने वाली (विलीढ्यम् ०—डिम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि=०—म) हम नाश करें ॥४॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सत्सङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्यजन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥४॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में 'रिश्यंपदीम्' के स्थान में 'ऋष्यंपदीम्' पाठ है । और जो 'विलीढ्यम्, ललाम्यम्' पदों का अपुंसक लिङ्ग माना है वह असुद्ध है क्योंकि मन्त्र में 'ताः' स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १६ ॥

१ - ४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता जयभ्यायो । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पंक्तिः ॥

जयभ्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनीं विदन् ।

आराच्छंरव्यां अस्मद् विपूचीरिन्द्र पातय ॥१॥

भावार्थः—(विव्याधिनः) अत्यन्त वैश्वेन हारेण नः (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुंचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुंचें । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विपूचीः) तब और फैले हुए (आराच्छाः) वारण समूहों को (अस्मत्) हमसे (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

भावार्थः—सर्वरक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आ सकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार अपने किसी के लगें ॥१॥

विष्वञ्चो अस्मच्छर्वः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

दैवीर्मनुष्येष्वो ममामित्रान् वि विध्यत ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो वाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये) जो (आस्याः) छोड़े जायेंगे, (विष्वञ्चः) [वे] सब और फैले हुये (शरवः) वाण (अस्मत्) हमसे [दूर] (पतन्तु) गिरें । (दैवीः मनुष्येष्वः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य वाणों ! [वाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (वि विध्यत) छेद डालो ॥२॥

भाषार्थः—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चले वे सेना के न लगे और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवीः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वाष्पेय [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शत्रुओं को निरन्तर छेद डालें ॥२॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को असम्य है ॥

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।

रुद्रः शरव्यं यैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो (नः) हमारी (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा (यः) जो (निष्ट्यः) वरुणसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रूताने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) वाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे वैरियों को (वि विध्यतु) छेद डाले ॥३॥

भाषार्थः—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ में कुछ भेद से है ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यच्च द्विपन् छपाति नः ।

देवास्तं सर्वे भूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥४॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपक्षी और (यः) जो (असपत्नः)

प्रकट प्रतिपक्षी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोते] । (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (धर्म) कवचरूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥४॥

भाषार्थः—छानबीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपक्षियों और अनिष्टचिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें । वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्मबल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥४॥

मन्व का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ में है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । सोमो मयतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदोरसद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः ।

या नो विदभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥१॥

भाषार्थः—(देव) है प्रकाशमय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर । [वह शत्रु] (अवारसत्) डर का न पहुँचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुँचने वाला (भवतु) होवे, (मस्तः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओं ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो । (अभिभाः) सम्मुख चमकती हुई, आपत्ति (मः) हम पर (या विदद्) न आ पड़े, और (मो = मा ड) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजिना) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः) हम पर (मा विदद्) न आ पड़े ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रखें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें, जिससे प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥१॥

मरुत् देवताओं के बिजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये—ऋग्वेद में वर्णन है—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमदभिरश्वपणैः ।

आ वर्षिष्ठ्या न इषा वर्यो न पतता सुमायाः ॥ ऋ० १ । ८८ । १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ ! (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले, (स्वर्कः) अच्छी ज्वाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये], (ऋष्टिमद्भिः) दोधारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आ घात) तुम आओ, और (मुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः नः) पक्षियों के समान (आ पतत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अद्य सेन्यो वधो घायूनामुदीरते ।

युवं तं मित्रावरुणावस्मद् यावयतं परि ॥२॥

भाषार्थः—(अद्य) आज (अघायूनाम्) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की (सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते) उठ रहा है । (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] प्राण और अपान (युवम्) तुम दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा (यावयतम्) अलग रखो ॥२॥

भावार्थः—‘मित्रावरुणौ’ का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [प० २।३] प्राण और अपान किया है । जो वायु शरीर के भीतर जाता है वहाँ प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है । जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

१—स्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥२॥

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय ।

वि महच्छर्मं यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥३॥

भाषार्थः—(वरुण) हे सर्वेश्वर, परमेश्वर ! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्मं) शरणा को (वि) अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥३॥

भावार्थः—जो सेनापति ईश्वर पर विद्वास करके अपनी सेना को

प्रयत्न पूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उनमें वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥३॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ का दूसरा आधा है, वहाँ 'महत्' के स्थान में 'मन्योः' शब्द है ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तुतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥४॥

भाषार्थः—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्रसहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तुतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है । (यस्य) जिसका (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥४॥

भाषार्थः—वह परमात्मा (वरुण) सर्वशक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८x४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेश—राजनीति और शान्ति स्थापना का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वृशी ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥१॥

भाषार्थः—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अश्वकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पीने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य मन्त्रोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ॥

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उसको अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥१॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १०। १५२ मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना बढ़ाकर लानेहारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) रोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुंचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (गमय) पहुंचा दे ॥२॥

भाषार्थः—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुए बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्दीगृह में डाल दे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥२॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हन् रुज ।

वि मनुषिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्यामिदासतः ॥३॥

भाषार्थः—(रक्षः = रक्षाति) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) संवधा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हन्) दोनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मनुषम्) कोप को (वि = वि रुज) भंग कर दे ॥३॥

भाषार्थः—१, राजा को पुरुषार्थी हो कर शत्रुओं का नाश करके और प्रजा में शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥३॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्ञासतो वधम् ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (द्विषतः) वैरी के (मनः) मन को (अप = अपहृत्य) तोड़कर, और (जिज्ञासतः) [हमारी] आयु की हानि चाहने हारे शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप = अपहृत्य) छिन्न भिन्न करके

(महत् क्षमं) [अपना] विस्तीर्णं शरणं (वि यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावत्) फेंक दे ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवे ॥४॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेष्टः—रोग नाश के लिये उपदेष्टा ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन स्वा परिदध्मसि ॥१॥

भावार्थः—(ते) तेरे (हृद्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उदयताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुए लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (स्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हव पुष्ट करते हैं ॥१॥

भावार्थः—प्रातः और सायंकाल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सद्बन्ध वायु सेवन और ओषधि सेवन करावें, जिससे वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उसका रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥१॥

१—(गोः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुँचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है—निरु० २।१४॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है—

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ मनु० २।१०१॥

प्रातः काल की सन्ध्या में सावित्री को जपता हुआ सूर्यदर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

परिं त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वायं दध्मसि ।

यथायमरूपा असदथो अहरितो भुवत् ॥२॥

भाषार्थः—(रोहितं) लाल (वर्णं) रंगों के साथ (त्वा) तुम्हको (दीर्घायुत्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परिं) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं । (यथा) जिससे (अयम्) यह (अरूपाः) नोगे (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥२॥

भाषार्थः—सदैव और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर-संचार से उसका शरीर रक्त वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥२॥

या रोहिणीर्दिवत्या ३ ' गावो या उत रोहिणीः ।

रूपंरूपं वयोवयस्तमिष्ट्वा परिं दध्मसि ॥३॥

भाषार्थः—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओषधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं । (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुम्हको (रूपम् रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयः वयः) सब प्रकार के बल के लिये (परिं दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥३॥

भाषार्थः—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सदैव रोगी को सुपरीक्षित औषधों और

यथायोग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करे ॥३॥

सुकैषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हरिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥४॥

भाषार्थः—(सुकैषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) मुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हरिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥४॥

भाषार्थः—सदैव बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य औषधि और लेप आदि से, तथा भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम औषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥४॥

यह मात्र ऋ० १ । ५० । १२ में कुछ भेद से है वहां (सुकैषु) के स्थान में [सुकैषु] है । और सायण भाष्य में भी [सुकैषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकैषु) पाठ है वही हमने लिया है । सायणाचार्य ने [शुक] का अर्थ सोता पक्षी और (रोपणाका) का [काण्डशुक] नाम हरिद्रव पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हरिद्रव) का अर्थ [गोत्री-तनक नाम हरिद्रव पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । औषधिवेदता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्वि च ।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥१॥

भाषार्थः—(औषधे) हे उध्मता रखने हारी, औषधि तू (नक्तंजाता) रात्रि में उत्पन्न हुई (अस्ति) है, जो तू (रामे) रमण करने हारी (कृष्णे) बिस्म को सींचने हारी, (च) और (असिक्वि) निर्वन्ध [पूर्ण सार वाली] है । (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (हयम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का विगाड़ने हारा कुठ

आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंग दे ॥१॥

भाषार्थः—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित औषधों से रोगों की निवृत्ति करे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई औषधि से यह आशय है कि औषधें, गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्त्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—औषधि आदि मूर्तिमान् पदार्थ पाँच तत्त्वों से बने हैं तो भी उनके भिन्न २ आकार और १ भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥१॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आ त्वा स्वं विंशतां वर्णः परां शुक्लानि पातय ॥२॥

भाषार्थः—[हे औषधि !] (इतः) इस [पुरुष] से (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले कृष्ट आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत चिह्न को (निर्नाशय) निरन्तर नाश कर दे । (स्वः वर्णः) [रोग का] अपना रंग (त्वाम्) तुझमें [औषधि में] (आ विंशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिह्नों को (परां पातय) दूर गिरा दे ॥२॥

भाषार्थः—सद्वैद्य को उत्तम औषधि से रोगी के शरीर का बिगाड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्वक सुन्दर रुखिर और मनोहर हो जाता है ॥२॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥३॥

भाषार्थः—(औषधे) हे औषधि (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्वन्ध वा अलंघ्य है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्वन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्वन्ध [सारवाली] है, (इतः) इस [पुरुष] से (पृषत्) [विकृत] चिह्न को (निर्नाशय) सर्वथा नाश करदे ॥३॥

भाषाणः—सर्वत्र विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥३॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनशम् ॥४॥

भाषार्थः—“दूष्या कृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्मं त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा (अहम्) अनीनशम्-इत्यन्वयः” । (दूष्या) दुष्ट किंवा से (कृतस्य) उत्पन्न हुए, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुए (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुए (किलासस्य) रूढ़ बिगाड़ने हारे, कुष्ठ आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्मं) चिह्न (त्वचि) त्वचा पर है [उसको] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैंने नाश कर दिया है ॥४॥

भाषार्थः—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खण्डन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनूज) शरीर से उत्पन्न हुए बाहरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वैदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥४॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सर्वत्र रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उभी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आन्तरिक विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ओषधिवेदता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप्, २ पंक्तिः,
८ × ५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तपांसिथ ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

भाषार्थः—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर

श्वर (प्रथमः) सबका आदि (जातः) प्रसिद्ध है। (तस्य) उस [परमेश्वर] के (वित्तम्) पित्त [बल] को, [हे ओषधि !] (त्वम्) तूने (आसित्य) पाया था। (तत्) उस (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुई (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [ज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्) रूपवान् (चक्रे) किया था ॥१॥

भाषार्थः—सृष्टि से पहिले वर्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से ओषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है। वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधाजिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरान्त प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा हो जाता है ॥१॥

टिप्पणी—(असुर) शब्द के लिये अ० १।१०।१ और (आसुरी) के लिये अ० ७।३६।१। देखो। हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है, ऐसा अ० १।२३।१ में आया है। ऋग्वेद में कहा है—

तमं आसीत् तमसा गूढमग्रैऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्

॥ ऋ० १०।१२९।३ ॥

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था। और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिह्नरहित समुद्र था।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥२॥

भाषार्थः—(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महारोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु] को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को नाश करने वाली (चक्रे) बनाया। [उसने] [ईश्वर माया ने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपम्) सुन्दर रूख वाली (अकरत्) बना दिया ॥२॥

भाषार्थः—(आसुरी) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुए जिससे पृथिवी पर समृद्धि और क्षुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥२॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥३॥

भाषार्थः—(ओषधे) हे उष्णता रखने वाले अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण वा स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है । (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने वाली है, (सा=सा त्वम्) सो तू (इवम्) इस [ग्रं] को (सरूपम्) सुन्दर रूपयुक्त (कृधि) कर ॥३॥

भाषार्थः—(ओषधि) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिससे शरीर में उष्णता रहती है, उस की (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य है जिन के गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं । ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य के संयोग से सब पुष्टिदायक और रोगनाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जानकर नियमपूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और दीर्घवान् बनावें ॥३॥

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अद्युदभृता ।

इदमूषु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥४॥

भाषार्थः—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने वाली तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उदभृता) उखाड़ी गई है । (इवम् उ) इस [कर्म] को (सु) भली भाँति से (प्र साधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥४॥

भाषार्थः—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम ओषधों से रोग को निवृत्त कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटाकर कार्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥४॥

सूक्तम् २५ ॥

१—४ ॥ भृशंगिरा ऋषिः । अग्निर्वेत्ता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ प्रश्नराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः— ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यद्ग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकुण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।

तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जिस [सामर्थ्य] से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके (अपः) व्यापनशील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखने वाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकुण्वन्) किया है । (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सबसे ऊँचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परिवृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥१॥

भाषार्थः—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग विभोग से अनुकूल करके सृष्टि को धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभू सबका अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड देता है उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुए हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥१॥

यद्यर्चिर्यदि वासिं शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम् ।

हू दुर्नामांसि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥२॥

भाषार्थः—(यधि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषि) त्रंग अंग की गति में है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (वेष) देने वाले ! (हू दुः) दवाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परिवृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥२॥

भाषार्थः—वह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दवाने की कल में दबावे । उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुए पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥२॥

सायण भाष्य में 'ह्रूडुः' के स्थान में रूडुः' पढ़ कर 'रोहकः' उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।

ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृद्धिं त्वमन् ॥३॥

भाषार्थः—(यदि) चाहे तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे (अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले (वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है (सः) सो तू, (त्वमन्) है जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परिवृद्धिं) छोड़ दे ॥३॥

भावार्थः—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य की ताप वा जल से उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध आचरण का फल है, इसलिये मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़कर सुखी रहें ॥३॥

नमः शीताय त्वमने नमो रूराय शोचिवे कृणोमि ।

यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु त्वमने ॥४॥

भाषार्थः—(शीताय) शीत (त्वमने) जीवन को कष्ट देने हारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिवे) ताप के ज्वर को [ज्वररूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूँ । (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा ज्वर और (उभयद्युः) दो अन्तरा ज्वर (अभि एति) चढ़ता है, (तस्मै) [उस ज्वर रूप को शीत] (तृतीयकाय) तिसरी (त्वमने) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उसके क्रोध से भय मान कर हम छोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥४॥

सूक्तम् २६ ॥

१—४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे ३ १ ऽसावस्मदंस्तु हेतिर्देवासो असत् ।

आरे अश्मा यमस्येथ ॥१॥

भाषार्थः—(देवासः) हे विजयी शूरवीरो ! (असौ) वह (हेतिः) सांग वा बरखी (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (अस्तु) रहे (यन्) जिसे (अस्येथ) तुम फेंकते हो ॥१॥

भाषार्थः—युद्ध कुशल सेनापति लोग चक्रव्यूह, पदमव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह, सूचीव्यूह, आदि से अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥१॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः । सविता चित्रराधाः ॥२॥

भाषार्थः—(असौ) वह (रातिः) दानशील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सबका सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र होवे ॥२॥

भाषार्थः—राजा अपनी प्रजा, सेना, और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महाप्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सबका हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥२॥

यूयं नः प्रवतो नपान् मरुतः सूर्यैस्त्वचसः । शर्मं यच्छाथ सप्रथः ॥३॥

भाषार्थः—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नपान्) न गिराने हारे राजन् ! और (सूर्यैस्त्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे शूरवीर महात्माओ ! (यूयम्) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथ) बहुत विस्तीर्ण (शर्मं) सुख वा शर, (यच्छाथ) दान करो ॥३॥

भाषार्थः—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्म घुरन्धर शूरवीर मन्त्री आदि मिल कर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रखें ॥३॥

टिप्पणी—छत्रमेर वैदिक यन्त्रालय और बम्बई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में 'सप्रथाः' पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का 'सप्रथः' पाठ शुद्ध जान कर हमने यहाँ पर लिया है ॥

सुपूदतं मृडतं मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥४॥

भाषार्थः—(सुपूदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुली करो, [हे राजन् !] तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय) सुल दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥४॥

भाषार्थः—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुँचाते रहें ॥४॥

सूक्तम् २७ ॥

१—४ ॥ स्वस्त्वयनकामोऽयर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्वेवता । १ पंक्तिः ८×५,
२—४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्वं स्त्रिषप्ता निर्जरायवः । तासां जरायुभिर्वय-
मक्ष्या ३ ' वषि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः ॥१॥

भाषार्थः—(अमूः) वह (त्रिषप्ताः) तीन [ऊँचे, मध्यम और नीचे] स्थान में खड़ी हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की भिल्ली] से निकली हुई (पृदाक्वः) सर्पिणी [वा बाधिनी] रूप शत्रु सेनायें (पारे) उप पार [वर्तमान] हैं । (तासाम्) उनकी (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान] (अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की (अक्ष्यौ) दोनों आँखों को (वयम्) हम (अवि व्ययामसि) ढके देते हैं ॥१॥

भाषार्थः—जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाधिन माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब यद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हलचल मचा दे कि शत्रु की दोनों आँखें हृदय की और मस्तक की मुद जावें और वह ध्वराकर हारमान लेवे ॥१॥

सायणभाष्य में 'निर्जरायवः' के स्थान में 'निर्जरा इव' शब्द है ॥

विपूव्येतु कृन्तती पिनाकमिव विभ्रंती ।

विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥२॥

भाषार्थः—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (विभ्रतो) उठाये हुए (कुन्ततो) काटती हुई [हमारी सेना] (विषूची) सब घोर फैल कर (एतु) चले। और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर छाई हुई [शत्रु सेना] का (भनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर भयट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥२॥

सायण भाष्य में 'पुनर्भुवाः' के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः ।

वेणोरद्गां इवामितोऽसमृद्धा अघायवः ॥३॥

भाषार्थः—(न) न तो (बहवः) बहुत से शत्रु (समशकन्) समर्थ हुए (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुत्रों के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [होवें] ॥३॥

भाषार्थः—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वे एकत्र न हो सकें और न सता सकें, जैसे नीरस सूखे बांस आदितृण का भोजन पुष्टि-दायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें। इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥३॥

सायणभाष्य में (बाधृषुः) के स्थान में [दाधृषुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहंतं पृणतो गृहान् ।

इन्द्राण्यै तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥४॥

भाषार्थः—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (बहन्तम्) पहुंचाओ। (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता = अजिता) बिना जीती और (अमुषिता) बिना लुटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥४॥

भाषार्थः—१—महाप्रतापी सूरवीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥४॥

(इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये ॥ ऋ० १ । २२ । १२ ॥)

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद्भयानन्द भाष्य में है ॥४॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ । चातन ऋषिः । अग्निर्वेदता । १—३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्ध प्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।

दहन्नपं द्याविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥१॥

भाषार्थः—(रक्षोहा) राक्षसों का मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (वेवः) विजयी (अग्निः) अग्निरूप सेनापति (द्व्याविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहम्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र = अगात्) आ पहुंचा है ॥१॥

भाषार्थः—जब सेनापति अग्निरूप होकर शतघ्नी [तोप] भुगुण्डी [बन्दूक], धनुष वाण तलवार आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥१॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।

प्रतीचीः कृष्णवर्तने संदह यातुधान्यः ॥२॥

भाषार्थः—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी राक्षसों और (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रति वह) जला दे । (कृष्णवर्तने) हे धुँपां धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सम्मुख धावा करती हुई (यातुधान्यः = ०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् वह) चारों ओर से भस्म कर देवे ॥२॥

भाषार्थः—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुंआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥२॥

सायण भाष्य में 'कुष्णवर्तने' के स्थान में 'कुष्णवर्त्मने' पद और उसका अर्थ 'हे कुष्णवर्त्मन्' है ॥

या शशाप शपनेन याघं मूर्मादधे ।

या रसस्य हरणाय जातमारेभे लोकमेत्तु सा ॥३॥

भाषार्थः—(या) जिस (शत्रुसेना) ने (शपनेन) शाप (कुवचन) से (शशाप) कोसा है और (या) जिसने (अघम्) दुःख की (मूर्म) मूत्र को (आदधे) आकर जमाया है । और (या) जिसने (रसस्य) रस (बलावि) के (हरणाय) हरण के लिए (जातम्) (हमारे) समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह (शत्रुसेना) (लोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खा लेवे ॥३॥

भाषार्थः—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हित-कारियों का ही नाश कर दें ॥३॥

सायण भाष्य में 'आदधे' के स्थान में 'आददे' पाठ है ॥

पुत्रमेत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् । अधामिथो विकेश्यो ३ ।
वि घ्नतां यातुधान्यो ३ । वि वृहन्तामराग्यः । ४॥

भाषार्थः—(यातुधानीः = ०—नी) दुःखदायिनी (शत्रुसेना) (पुत्रम्) (अपने) पुत्र को, (स्वसारम्) भली भाँति काम पूरा करने हारी वह्नि को (उत) और (नप्त्यम् = नप्त्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे । (अघ) और (विकेश्यः) केश बिखेरे हुए वह सब (सेनायें) (मिथः) आपस में (विघ्नताम्) मर मिटें और (अराग्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातुधान्यः) दुःख पहुँचाने हारी (शत्रु प्रजायें) (वितृहन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥४॥

भाषार्थः—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रु सेना में हलचल मचावे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हठ दुराग्रह करके कर आदि न दें उनको दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥४॥

सायण भाष्य में 'यातुधानी' विसर्जनीय रहित व्याख्यात है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २६ ॥

१—६ ॥ वसिष्ठ ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्व्यवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिए उपदेश ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥१॥

भाषार्थः—(येन) जिस (अभिर्वर्तेन) विजय करने वाले (मणिना) मणि से (प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से) (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष (अभि) सर्वथा (अवृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद वा ब्रह्मा (वेदवेत्ता) के रक्षण परमेश्वर ! (अस्मान्) हम लोगों को (राष्ट्राय) राज्य भोगने के लिए (अभि) सब ओर से (वर्धय) तु बढ़ा ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार हमसे पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥१॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद, मंडल १० सूक्त १७४ म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं । जैसे 'मणिना' के स्थान में 'हविषा' पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥२॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्माणस्पते] (सपत्नान्), [हमारे] प्रतिपक्षियों को और (याः) जो (नः) हमारी (धरातयः) कर न देने वाली प्रजायें हैं [उनको] (अभि) सर्वथा (अभिबृष्य) जीतकर (पूतम्यन्तम्) सेना चड़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हमसे (दुरस्थिति) दुष्ट आचरण करे, (अभि) सर्वथा (अभि तिष्ठ) तू दबा ले ॥२॥

भाषार्थः—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा करके अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथायोग्य दंड देकर वश में रखे ॥२॥

टिप्पणी—'धरातयः' शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी प्रदानशील प्रजा किपा है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥३॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने वाले, सूर्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी (अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बढ़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बढ़ाई की है] (यथा) क्योंकि तू (अभिबर्तः) [शत्रुओं का] दवाने वाला (असंसि) है ॥३॥

भाषार्थः—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुए आत्मबल से शूरवीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शांति फैलाते हैं ॥३॥

अभीवर्तो अमिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय महीं वध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवै ॥४॥

भाषार्थः—(अभिबर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराते वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य], रत्न आदि राज्य चिह्न (मह्यम्) मुझ पर (राष्ट्राय) राज्य की वृद्धि के लिए और (सपत्नेभ्यः) वैरियों को (पराभुवै) दवाने के लिए (वध्यताम्) बांधा जावे ॥४॥

भाषार्थः—राज्यलक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके प्रपना सामर्थ्य बढ़ावे और राजसभा में राजसिंहासन

पर विराजे कि जिससे शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥४॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

भाषार्थः—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इवम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत् = उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिससे कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का भारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (असपत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूँ ॥५॥

भाषार्थः—राजा राज सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करे कि जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राजघोषणा [ढढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न अराजकता फैलावे ॥५॥

इस मन्त्र का पूर्वाधिं ऋ० १० । १५६ । १ का पूर्वाधिं है वहां 'वचः' के स्थान में 'भगः' है ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराण्डो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

भाषार्थः—(यथा) जिससे कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं (अभिराण्डः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च) और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूँ ॥६॥

भाषार्थः—राजा सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥६॥

सूक्तम् ३० ॥

१-४ ॥ आपुष्यकामोऽप्यर्षा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षते ममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् ।

मेम सनाभिरुत वान्यनाभिर्यमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥१॥

भाषार्थः—(वसवः) हे श्रेष्ठ (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महात्माओं। (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः) हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के विषय में (जागृत) जागते रहो । (सनाभिः) अपने बन्धु का (उत वा) अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (वधः) वध का यत्न है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुंच सके ॥१॥

भाषार्थः—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय मन्त्री और युद्धमन्त्री आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥१॥

ये वां देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ।

सर्वेभ्यो दः परि ददाम्येतं स्वस्त्येन जरसे वहाथ ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विजयी देवताओं ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को (शृणुत) सुनो (सर्वेभ्यः वा) तुम सब को मैं (एतम्) इसे [अपने को] (परि ददामि) सौंपता हूं, (एनम्) इस पुरुष के लिए [मेरे लिए] (स्वस्ति) कल्याण और मंगल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुंचाओ ॥२॥

भाषार्थः—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील बृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्मसर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥२॥

टिप्पणी—‘जरसे’ शब्द का अर्थ “स्तुति के लिए” निघंटु ३। १४ निघ० १०। ८ और सायणभाष्य ऋग्वेद १। २। २ के प्रमाण से किया है। यहां पर सायणभाष्य में “इरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम्” बुढ़ापे के लिए, “बुढ़ापे के आने तक” जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुतियोग्य रखने का उपदेश है। देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रां सुहादः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व १ : स्वायाः ।

अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गं तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं, वहां पर स्वर्ग में विना लंगड़े हुए और अंगों से विना टेढ़े हुए हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें ।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ तथा ऋग्वेद १ । ८६ । ८

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाग्धैः संस्तुमिर्व्यशेम हि देवहितं यदायुः ॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आंखों से हम शुभ देखते रहें । दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुए हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है ॥

ये देवा दिवि ष्टये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वस्व १ 'न्तः ।

ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्युन् ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में '(ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्य-लोक में (ओषधीषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (असु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो, (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त (आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्युन्) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥३॥

भाषार्थः—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायु विद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी, वूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गवां कर सुफल करें ॥३॥

टिप्पणी—'पशु' शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

य ईशं पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है । 'अप्सु' व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्भयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७ । २३ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादंश्च देवाः । येषां वः पञ्चं प्रदिशो विभक्तास्तान् वों अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥४॥

भाषार्थः—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतावः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने वाले [वा प्रकाश वाले] हैं । और (येषाम् वः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशाएँ] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुई हैं (तान् वः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़कर दान करते हों और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुनकर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥४॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने भगवद्गीता में कहा हैः—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽन्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ गीता. ४।३१॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं । यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उस का परलोक कहां से हो ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१ - ४ अह्ना ऋषिः । प्रजापतिर्वेत्ता । १, २ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्टान् उधेतिः, ११ × ३ + ८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और ज्ञानार्थ के लिये उपदेश ॥

आशांनामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतैभ्यः ।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥१॥

भाषार्थः—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशांनाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य पुरुषों [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थों] के लिये (अमृतैभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अध्यक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करें ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये। इनके ही पाने से मनुष्य की सब आशाओं वा कामनाओं पूर्ण होती हैं ॥१॥

य आशांनामाशापालाश्चत्वार स्थनं देवाः ।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहंसो अंहसः ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओं। (ये) जो तुम (आशांनाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार] (आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थनं) वर्तमान हो, (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसो-अंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारों पदार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] को प्राप्त करके सब क्लेशों का नाश करना चाहिये ॥२॥

अस्त्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशांनामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वंक्षत ॥३॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर!] (अस्त्रामः) अम रहित मैं (स्त्वा) तुम्हें (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूँ, (अश्लोणः) लंगड़ा न होता द्वपा मैं (स्त्वा) तुम्हें (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि) स्वीकार करता हूँ। (यः) जो (आशांनाम्) सब दिशाओं में (आशापालः) आशाओं का पालन करने वाला, (तुरीयः) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाश-

मय है, (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह) यहाँ पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (प्राप्तव्यम्) पहुँचावे ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [अथवा, धर्म, अर्थ, और काम की सिद्धि से पाये हुए चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ हो जाते हैं ॥३॥

सायणभाष्य में 'अश्रामः' के स्थान में 'अश्रामः' और 'अश्लोणः' के स्थान में 'अश्लोणः' पाठ है ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेत् सूर्यम् ॥४॥

भाषार्थः—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द [होवे] । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेत्) हम देखते रहें ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाशमान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥४॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म वेवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्मं वदिष्यति ।

न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणान्ति वीरुधः ॥१॥

भाषार्थः—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महद्) पूजनीय (ब्रह्म) परब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न (दिवि) सूर्यलोक में

है (येन) जिसके सहारे से (वीरुषः) यह उगती हुई जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥१॥

भाषार्थः—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा सूर्य्य आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियमपूर्वक प्राणदाता है। ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥१॥

केनोपनिषद् में वर्णन है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम
पूर्वेषां ये नस्तद् विचक्षिरे ॥ केन० उ० १ । ३ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं, न पहिचानते हैं, कैसे वह इस जगत् का अनुशासन करता है। वह जाने हुए से भिन्न है और न जाने हुए से ऊपर है। ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्होंने ने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

और भी केनोपनिषद् का वचन है—

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केन० उ० १ । ८ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है। जिस करके प्राण चलाया जाता है। उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिस के पास वे बंठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम् श्रान्तसदांमिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देने वाले आकाश रूप परमेश्वर में (आस्थानम्) इनका [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम्) ठहराव है (श्रान्तसदांमिव) जैसे थक कर बैठे हुए यात्रियों का पड़ाव। (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भाषार्थः—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है। इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप विचार से निश्चित करते हैं जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि,

अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह ब्रह्म अत्यधिक अनन्त और अगम्य जान पड़ता है इससे वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥२॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

आर्द्र तद्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥३॥

भाषार्थः—(रोदसी=सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि ! (रेजमाने) कांपते हुए तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतक्षतम्) उत्पन्न किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अद्य) आज (सर्वदा) सदा से (समुद्रस्य) सींचने वाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥३॥

भाषार्थः—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को (कंपमान) वश में रखके, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥३॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पदपाठ और उसका अर्थ [हे आवापृथिवी] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहाँ (रोदसी) एकवचन और केवल सूर्यवाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान है । फिर (भूमि, च) का भी अर्थ [भूमि और ब्रूलोक] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वमन्याममीवार तदन्यस्यामधि श्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥४॥

भाषार्थः—(विश्वम्) उस सर्वव्यापक [रस ने] (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] को (अभि) चारों ओर से (वार = ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधि श्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सबके जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले, वा सबमें विद्यमान ब्रह्म] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ॥४॥

भाषार्थः—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है । इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् की उपकारी होता है । विद्वान् लोग इसी प्रकार

जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥४॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिष्णा ॥ यजु० ३।५ ॥

सबका आधार, सबमें व्यापक, सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—४ ॥ शंतातिष्ठ विः । आगो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ततन्मात्राविचारः—सूक्त तन्मात्राओं का विचार ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥१॥

भाषार्थः—[जो](हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली (शुचयः) निर्मल स्वभाव वाली और (पावकाः) बुद्धि की जताने वाली हैं (यासु) जिनमें (सविता) चलाने हारा वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिनमें (अग्निः) [पाथिव] अग्नि (जात) उत्पन्न हुई । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [विजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होंवें ॥१॥

भाषार्थः—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और विजुली, इन तीन तेज-धारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥१॥

१—(आपः) = व्यापक तन्मात्रायें—श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७।२५ ॥

२—(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ तथा ६ एवं सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

यासां राजा वरुणो याति श्रय्यं सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥२॥

भाषार्थः—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्म वाले जीवों के (सत्यान्ते) सत्य और असत्य को (अवपश्यन्) देखता हुआ (पाति) चलता है। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [विजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (वाहिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्राये] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने वाली और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) हों ॥२॥

भाषार्थः—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक (वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवों के पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल देता है। इन गुणों से उपकार लेकर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥२॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।

या अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (विवि) व्यवहार के योग्य आकाश में (यासाम्) जिनका (भक्षम्) भोजन (कृण्वन्ति) करते हैं और (याः) जो [तन्मात्राये] (अन्तरिक्षे) सबके मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा) अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्तमान हैं। और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [विजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (वाहिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्राये] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने वाली और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) हों ॥३॥

भाषार्थः—अपरिमित तन्मात्राये ईश्वरकृत परस्पर आकर्षण से संसार के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का कारण हैं। (देवाः) विद्वान् लोग इनके सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक उपकार करके सुख पाते हैं ॥३॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।

घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥४॥

भाषार्थः—(आपः) हे तन्मात्राओ ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझको (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) रूप से (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम पास से छूओ। (याः) जो (आपः) तन्मात्राये (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि

जतने वाली है, (साः) वह [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (वाम्) शुभ करने वाली और (स्थोनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥४॥

भाषार्थः—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उससे हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्रायों के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उनके लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥४॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ अथर्वा ऋषिः । वीरव् [लता] वेवता । मधुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुमधुं जाता मधुना त्वा खनामसि ।

मधोरधि मजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥१॥

भाषार्थः—(इयम्) यह तू (वीरुत्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) भान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) भान के साथ (त्वा) तुम्हको (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा) सो तू (नः) हमको (मधुमनः) उत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥१॥

भाषार्थः—मधु शब्द [मन जानना—उ, न=घ] का अर्थ ज्ञान है। घात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥१॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु [शहद] से उत्पन्न हुई है, (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुम्हको (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है, (सा) सो तू (नः) हमको (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥१॥

भाषार्थः—मधु शब्द उसी धातु [मन जानना] से सिद्ध होकर [शहद] के रस का वाचक है। इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहद की बेल वा प्रेमलता माना है। (मधु) शहद वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार (मधुना) प्रेम रस के साथ [खोदने] अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक

विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥१॥

जिह्वाया अग्रे मधुं मे जिह्वामूले मधूलकम् ।

ममेदह कतावसो मम चित्तमुपायंसि ॥२॥

भाषार्थः—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे) तिर्रे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा की मूल में (मधूलकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । (मम) मेरे (कतौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँच करती है ॥२॥

भाषार्थः—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन और परीक्षण से प्रेम-पूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उनके हृदय में धर करके सुख का वरदान देती है ॥२॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥३॥

भाषार्थः—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रस में भरा हुआ और (मे) मेरा (परायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रस में भरा हुआ होवे । (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूँ और मैं (मधुसन्दृशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूँ ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में (मधुमान्) ज्ञानवान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा (मधुसन्दृशः) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मों होकर उपकार करते हैं ॥३॥

मधौरस्मि मधुतरो मधुघान्मधुमत्तरः ।

मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥४॥

भाषार्थः—(मयोः) मधुर रस से, मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) हूँ,

(मधुघात्) लड्डू [वा मूलहटी ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊँ । (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझसे ही (किल) निश्चय करके (वनाः) प्रेम कर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [धनुराग करते हैं] ॥४॥

भाषार्थः—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ट मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है । जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्नपूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उससे अनुराग करती है ॥४॥

मनु महाराज ने कहा है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ मनु० ४।२०॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परिं त्वा परित्तुनेक्षुणांगामविद्विषे ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्त्रापंगा असः ॥५॥

भाषार्थः—(परित्तुना) बहुत फैली हुई (दक्षुणा) लालसा के साथ [अथवा, ऊख जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) बँर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझको (परि) सब ओर से (अपाम्) घेरे पाया है । (यथा) जिससे तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझसे (अपंगाः) बिछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे ॥५॥

भाषार्थः—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिए प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उसको अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥५॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २।३०।१ और ६।८।१—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदावधनन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।

तत् तं बध्नाम्यायुषे वर्षेसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि को (दाक्षायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही, (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबध्नन्) बाँधा है । (तत्) उसको (आयुषे) लाभ के लिये, (अचंसे) यश के लिये, (बलाय) बल के लिये और (शतशारवाय) सौ शरद् शत्रुओं वाले (वीर्यापुत्राय) बिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बाँधता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूरवीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ३४ म० ५२ में है ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये ३ 'तत् ।

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

भाषार्थः—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करने वाले राक्षस और (न) न (पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथम उत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है । (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्) बल की गति बढ़ाने वाले (हिरण्यम्) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को (बिभर्ति) धारण करता है, (सः) वह (जीवेषु) सब जीवों में (आयुः) अपनी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है ॥२॥

भाषार्थः—जो पुरुष (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटाकर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फँसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ३४ म० ५१ में है ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि । इन्द्रं इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो विमरद्विरण्यम् ॥३॥

भाषार्थः—(अपां) प्राणों वा प्रजाओं के (तेजः) तेज, (ज्योतिः) कान्ति,

(श्रोजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को (उत्त) और भी (वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अणि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं, (इष) जैसे (इग्ने) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिह्न, [बड़े ऐश्वर्य वाले] होते हैं। [इसलिये] (वक्ष्यामः) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष (सत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (विभरत्) धारण करे ॥३॥

भावार्थः—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी, विक्रमी, तेजस्वी, गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥३॥

समानां मासामृतुभिर्द्ध्वा वयं संवत्सरस्य पर्यसा पिपर्मि ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामह्णीयमानाः ॥४॥

भावार्थः—(वयम्) हम लोग (स्वा) तुम्हको [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मासाम्) महीनों की (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पर्यसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि=पिपर्मः) पूर्ण करते हैं (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष (अह्णीयमानाः) संकोच न करते हुए (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥४॥

भावार्थः—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्ष का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं, तथा वायु के समान वेग वाले, एवं अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा उस पुरुषार्थी मनुष्य के रुदा शुभचिन्तक होते हैं ॥४॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥



* ओ३म् *

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:ॐ:ॐ:ॐ:ॐ:—

द्वितीयं काण्डम् ॥

—: ॐ :—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

—ॐ:ॐ:ॐ:ॐ:—

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १—५ ब्रह्म देवता । त्रिवृत्पृष्ठम् ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म के मिलने का उपदेश ॥

वे नस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।

इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत त्राः ॥१॥

भाषार्थः—(वेनः) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहायाम्) गुफा के भीतर [वर्तमान है], और (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकरूपम्) एक रूप [निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्तमान है । (इदम्) इस परम ऐश्वर्य के कारण [ब्रह्मज्ञान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य ने (जायमानाः) उत्पन्न होती हुई अनेक रचनाओं से (अबुहत्) दुहा है, और (स्वर्विदः) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (त्राः) वरणीय विद्वानों ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूषत) स्तुति की है ॥१॥

भाषार्थः—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड उसके भीतर समा रहा है। धीरे ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओं से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुए उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं ॥१॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ५ ।

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।

तस्मिन्निदं च सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥१॥

(वेनः) पण्डित जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) वर्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को (पश्यत् = ०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म में (विद्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है (च) और (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्) मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (सः) वह (विभूः) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओं में [वस्त्र में सुत के समान] (ओतः) ताना किये हुए (च) और (प्रोतः) बाना किये हुए हैं ॥१॥

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितृष्पितासत् ॥२॥

भाषार्थः—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) विद्या का धारण करने वाला पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊँचे (धाम) पद का (प्रबोचद्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा = गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] में (त्रीणि) तीनों (पदानि) पद (निहिता = ०—तानि) ठहरे हुए हैं, (यः) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश में तीन पद, अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनों अवस्थायें, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमान्, तीनों काल, अथवा

सत्त्व, रज और तम, तीनों गुण वर्तमान हैं। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओं का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है। वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियों में महाविज्ञानी होता है ॥२॥

१—यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—

२—मनु महाराज ने कहा है—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ मनु० २।१५३॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनिलोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते हैं ॥१॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥३॥

भाषार्थः—(सः) वही [ईश्वर] (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक (उत) और (सः) वही (बन्धु) बांधव है, वह (विश्वा = विदेवानि) सब (धामानि) पदों [प्रवस्थाओं] और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है (यः) जो [परमेश्वर] (एकः) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुणवाले पदार्थों का (नामधः) नाम रखने वाला है (संप्रश्नम्) यथाविधि पूछने योग्य (तम्) उसको (सर्वा = सर्वाणि) सब (भुवना = ०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर संसार का माता, पिता, बन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण संस्कार करता है, जैसे [सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। विद्वान् लोग सत्संग करके उस जगदीश्वर को पाते और आनन्द भोगते हैं ॥३॥

नामधः के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद में [नामधाः] है ।

२—यह मन्त्र ऋ० १०।५२।३। तथा य० १७।२७। में कुछ भेद से है ।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।

वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे ३' पो अग्निः ॥४॥

भाषार्थः—(सद्यः) अभी (द्यावापृथिवी = ०—पृथ्वी) सूर्य और पृथिवीलोक में (परि = परीत्य) घूमता हुआ (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं (अतस्य) सत्य नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप = उपातिष्ठे)

में प्राप्त होता हूं, (इव) जैसे [श्रोतागण] (वक्तरि) वक्ता में [वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते हैं] । (भुवनेष्ठाः) सम्पूर्ण जगत् में स्थित (एषः) यह परमेश्वर (धास्युः) पोषण करने वाला और (ननु) अवश्य करके (एषः) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥४॥

भावार्थः—तत्त्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्य रूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा में ग्रहण करते हैं। वही ईश्वर वेदरूप सत्य नियम की सृष्टि के पहिले प्रकट करता और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्व करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥४॥

पातंजल योगदर्शन में वर्णन है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ पाद ३ सूत्र २५ ॥

सूर्य में संयम से लोकों का ज्ञान [योगी को] होता है। अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोकों का सम्बन्ध और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेता है ॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं वित्तं दृशे कम् ।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावधैरयन्त ॥५॥

भावार्थः—(विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोकों में (परि = परीत्य) घूम कर (अतस्य) सत्य नियम के (वित्तम्) सब और फैले हुए (तन्तुम्) फैले वाले [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मैं [वाणी] आया हूं । (यत्र) जिस [परमात्मा] में (देवाः) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशानाः) भोगते हुए (समाने) साधारण (योत्रौ) आदि कारण ब्रह्म में [प्रविष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुँचे हैं ॥५॥

भावार्थः—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यतः समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान में व्यापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते हैं, और यह अनुभव करते हैं कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता में लय करके आत्मा की परम उन्नति करते हैं, अर्थात्

जो स्वार्थ छोड़ कर आत्मसमर्पण करते हैं वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते हैं ॥५॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है ।

स नो वन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नधैरयन्त ॥१॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओं और (भुवनानि) लोकों को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियों और सब भुवनों के स्वामी] में तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुए ऊपर पहुँचे हैं ॥

सूक्तम् २ ॥

१-५ ॥ गन्धर्वाकारा देवताः । १-३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरः सर्वशक्तिमानित्युपदिश्यते—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है इसका उपदेश ।

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विश्वीडथः ।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि तं सधस्थम् ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो तू (दिव्यः) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्वः) गन्धर्व [भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्मांड का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी, (विष्णु) सब प्रजाओं [वा मनुष्यों] में (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (ईडथः) स्तुति योग्य है । (तम्) उस (त्वा) तुझसे, (विष्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर ! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) मैं मिलता हूँ, (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥१॥

भाषार्थः—वीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की सत्ता को अपने में और प्रत्येक पदार्थ में वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके अभिमान छोड़ कर आत्मबल बढ़ाते हुए आनन्द भोगते हैं ॥१॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये—ऋग्वेद म० ६ सू० ८३ म० ४ ।

गन्धर्व इत्या पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः ।

गुण्याति रिपुं निधया निधातिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमांशत ॥१॥

(गन्धर्वः) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्या) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्) दिव्य गुणवालों के (जनिमानि) जन्मों अर्थात् कुलों की (पाति) चौकसी रखता है। (निष्ठापतिः) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) वैरी को (गुम्भाति) पकड़ता है, (सुकृत्तमाः) बड़े बड़े सुकृती पुण्यात्मा लोगों ने (मधुनः) मधुर रस के (भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है ॥

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।

मृदाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२॥

भावायः—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (स्पृष्टः) स्पर्श किये हुए, (यजतः) पूजनीय, (सूर्यत्वक्) सूर्य को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (वेद्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरसः) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृदात्) [सबको] आनन्द देवे, (यः) जो (गन्धर्वः) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य है ॥२॥

भावायः—वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमें सामर्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्वसेवनीय परमेश्वर को उपासना से सब को आनन्द मिलता है ॥२॥

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० म० ३१। १८ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमेसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१॥

भावायः—(अहम्) मैं (तमेसः) अश्वकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्, पूजनीय वा सबसे बड़े (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हूँ। (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जानकर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अस्मिन्ति) लांघ जाता है, (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) चलने के लिए (यः) नहीं (विद्यते) विद्यमान है ॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है। ऋग्वेद म० १०। सू० १६०। ३

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमेकल्पयत् ।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथा-पूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत्) बनाया है ।

अनवद्याभिः समुं जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।

समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥३॥

भाषार्थः—(गन्धर्वः) गन्धर्व [म० १] (आभिः) इन (अनवद्याभिः) निर्दोष [अप्सरारक्षो]के साथ (उ) अवश्य (संजग्मे) सञ्जति वाला था, और (अप्सरसु) अप्सराओं में [सब प्राणियों, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल में व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियों में] (अपि) निःसन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था । (आसाम्) इन [अप्सरारक्षो] का (सवनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में [वा समुद्र रूप गंभीर स्थान में] (मे) मुक्तको (आहुः) वे बताते हैं, (यतः) जिस स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च) और (परा = परायन्ति) दूर चली जाती हैं ॥३॥

भाषार्थः—(गन्धर्वः) भूमि आदि लोकों और वेदवाणी का धारक (अप्सरारक्षो) अर्थात् सब प्राणियों और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थों में वर्त्तमान अपनी शक्तियों के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियां अति विस्तीर्ण आकाश में वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरों में परमाणुओं की संयोग दशा में दृश्य, और उनकी वियोग दशा में अदृश्य हो जाती है ॥३॥

टिप्पणी—(गन्धर्वः) और (अप्सरसः) शब्दों के लिए यजुर्वेद अ० १८ म० ३८-४३, छद्म मन्त्र देखें । वहाँ (अप्सरसः) शब्द है जो (अप्सराः) शब्द का पर्याय-वाची है ।

ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयो ऽप्सरसो मुदो नाम ।

स नेऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४॥

(ऋताषाट्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्निः) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वः) सूर्य, पृथिवी और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है । (तस्य) उसकी [गन्धर्व की बनाई] (मुदः) आनन्द देने वाली (ओषधयः) औषधियां [अन्नादि वस्तुयें] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरसः) अप्सरायें अर्थात् आकाश वा प्राणों, वा जल में चलने वाली वा

उत्तम रूप वाली सामग्री हैं। (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे लिए (इक्ष्म) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे। (तस्यै) उस परमेश्वर को (स्वाहा) सुन्दर वाणी और (वाद्) आवाहन, और (ताभ्यः) उन सामग्रियों के लिए (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥

यह मन्त्र ३८ वां है। इसी प्रकार अग्न्य पांच मन्त्रों में (गन्धर्वः) शब्द (सूर्यः चन्द्रमाः, वातः, गजः, मनः) शब्दों के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणाः, ऋक्सामानि) शब्दों के साथ क्रम से आए हैं।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥४॥

भाषार्थः—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] में [रहने वाली], (विद्युत् = ०—ति) बिजुली में [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में [रहने वाली] (याः) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के घनों के वा सब निवासस्थानों [लोकों] के स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेदवाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवीः = हे देव्यः !) हे देवियो ! [दिव्य अर्थात् अद्भुत गुण वालीयो !] (ता) उन (वः) तुमको (नम) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—यहां शक्तियों से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सराएं [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तियां] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण हैं। उन शक्तियों अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बड़े छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारों को विचार कर उपकारी बन कर आनन्द भोगते हैं ॥४॥

याः कलन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सरारभ्योऽकरं नमः । ५॥

भाषार्थः—(याः) जो (कलन्दाः) आवाहन करने वाली (तमिषीचयः) इच्छा की सींचने [पूरा करने] वाली, (अक्षकामाः) अवहारों में कामना करानेवाली, (मनो-मुहः) मन की आश्चर्य में करने वाली हैं। (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्व की पत्नी [परमेश्वर की रक्षा में रहने वाली] (अप्सरारभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में रहने वाली ईश्वर शक्तियों] को मैं (नमः) नमस्कार (अकरम्) किया है ॥५॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में भी अप्सराओं अर्थात् शक्तियों से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टों पर गरजता और शिष्टों का आवाहन करता, अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मों में प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड़ और चेतन नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते हैं ॥१॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—६ ॥ भेषजं वेधता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेशः—शारीरिक और मानसिकरोग की निवृत्ति के लिए उपदेश ।

अदो यद्वधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।

तत् तै कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥१॥

भाषार्थः—(अवः) वह (यत्) जो संगति योग्य ब्रह्म (अवत्कम्) नित्य चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अवधावति) नीचे की दौड़ता आता है । [हे औषध !] (तत्) उस [ब्रह्म] को (तै) तेरे लिए (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं बनाता हूँ, (यथा) जिससे कि (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असंसि) तू हो जाये ॥१॥

भाषार्थः—हिम वाले पर्वतों से नदियां ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रहती और अग्नि आदि औषधों को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण करती हैं, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय में व्यापक हो रहा है। सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति करके सदा उपकारी बनें और आनन्द भोगें ॥१॥

आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।

तेषामसि त्वमुत्तममेनास्त्रावमरौगणम् ॥२॥

भाषार्थः—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक प्रकार से (या = यानि) जो (ते) तेरी [बनाई] (शतम्) सौ [असंख्य] (भेषजानि) अथ निवर्तक औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम पुण्य वाला, (अनास्त्रावम्) वड़े बलेशों का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥२॥

भाषार्थः—संसार की सब ओषधियों में क्लेशनाशक और रोग-निवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही ओषधियों का ओषधि परब्रह्म है ॥२॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमनीनशत् ॥३॥

भाषार्थः—(असुराः) बुद्धिमान् पुरुष (इवम्) इस (अरुस्त्राणम्) ग्रहण [स्फोर = फोड़े] को पका कर भर देने वाला, (महत्) उत्तम ओषध को (नीचैः) नीचे नीचे (खनन्ति) खोदते जाते हैं । (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश की (भेषजम्) ओषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥३॥

भाषार्थः—जैसे सदैव बड़े बड़े परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम ओषधों को लाकर रोगों की निवृत्ति करके प्राणियों को स्वस्थ करते हैं, वैसे ही विज्ञानियों ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ही मानसिक और शारीरिक रोगों की ओषधि उत्पन्न कर दी है ॥३॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (अनीनशत्) के स्थान में [अशीशमत्] पाठ है ॥

उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमशीशमत् ॥४॥

भाषार्थः—(उपजीकाः) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] में से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्धरन्ति) ऊपर निकालते हैं । (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) ओषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर का 'सहारा रखने वाले पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर को पाते हैं । और उस आदिकारण की महिमा को साक्षात् करके अपने सब क्लेशों का नाश करके आनन्द भोगते हैं ॥४॥

अरुस्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युदभृतम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद्दु रोगमनीनशत् ॥५॥

भाषार्थः—(इवम्) यह (अरुस्त्राणम्) फोड़े को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [ओषध] (पृथिव्याः) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भूतम्) निकाल कर लाया

गया है। (तत्) वही (ज्ञान) (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोषम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥५॥

भाषार्थः—महाक्लेश नाशक ब्रह्मज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोकों के प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान है, मनुष्य उसको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करे, और रोगों की निवृत्ति करके स्वस्थचित्त होकर आनन्दित रहे ॥५॥

शं नो भवन्त्वाप ओषधयः शिवाः । इन्द्रस्य वज्रो अपे हन्तु
रक्षसं आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥६॥

भाषार्थः—(आपः) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली वा ताप नाश करने वाली अग्नादि औषधियाँ (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक और (शिवा) मंगल दायक (भवन्तु) हों। (इन्द्रस्य) परमेश्वर्य वाले पुरुष का (वज्रः) वज्र (रक्षसः) राक्षस का (अपहन्तु) हनन कर डाले (रक्षसाम्) राक्षसों के (विसृष्टाः) छोड़े हुए (इषवः) बाण (आराद्) दूर (पतन्तु) गिरें ॥६॥

भाषार्थः—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहें, जिससे जल, अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा में आरोग्यता बढ़ावें, और जैसे राजा चोर, डाकू आदि दुष्टों को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावें और सदा आनन्द भोगें, ऐसे ही हम अपने दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ॥६॥

टिप्पणी—प्रजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की संहिता में 'अपः' पाठ है। और सायणभाष्य और पं० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक में 'आपः' पाठ है। हमने भी 'आपः' ही लिया है ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—६ ॥ जङ्घिगञो वेवता । १—पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ११२ × = २२, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप् ८ × २ = १६, २ —६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्याऽपुः वर्धयेत्—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढ़ावे ।

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षभाणाः सदैव ।

मणि विष्कम्भदूषणं जङ्घिडं विभृमो वयम् ॥१॥

भाषार्थः—(दीर्घायुत्वाय) बड़ी आयु के लिये और (बृहते) बड़े (रणाय) रण में (जीत) वा रमण के लिये (अरिष्यन्तो) [किसी को] न सताते हुए और (सदा एव) सदा ही, (दक्षभाणाः) वृद्ध करते हुए (वयम्) हम लोग (विष्कम्भदूष-

णम्) विघ्न निवारक और (मणिम्) प्रशंसनीय (जंगिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [श्रीषध वा परमेश्वर] को (बिभृमः) हम धारण करें ॥१॥

भाषार्थः—जगत् में कीर्तिमान् होना ही आयु का बढ़ाना है। मनुष्यों को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थों के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और रोग रूप विघ्नों को हटा कर सत्पुरुषों की वृद्धि में अपनी और संसार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥१॥

१—सायणभाष्य में (दक्षमाणाः) के स्थान में (रक्षमाणाः) पद है।

२—सायणाचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिश्चिनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परिणः पातु विश्वतः ॥२॥

भाषार्थः—(सहस्रवीर्यः) सहस्रों सामर्थ्य वाला, (जंगिड) शरीर भक्षक रोगों का निगलने वाला (मणिः) मणिरूप अति श्रेष्ठ श्रीषध वा परमेश्वर (नः) हमको (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) हिंसा से (विष्कन्धात्) विघ्न से, और (अभिश्चिनात्) महा शोक से, (विश्वतः) सब प्रजा और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वरक्षक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतावें, किन्तु सुरक्षित होकर आनन्द प्राप्त करें ॥२॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः ।

अयं नो विश्वमेषजो जङ्गिडः पातुर्वहसः ॥३॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (विश्वमेषजः) सर्वापध (जङ्गिड) पापों वा रोगों का भक्षक [परमेश्वर वा श्रीषध] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्रिणः) खाउओं वा रोगों को (बाधते) रोकता है (अयम्) यही (नः) हमको (अहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥३॥

भाषार्थः—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर में विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओं को हटाकर अटल सुख भोगते हैं ॥३॥

देवैर्दत्तेन मणिनां जङ्घिडेन मयोभुवां ।

विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे संहामहे ॥४॥

भाषार्थः—(देवैः) विद्वानों के (दत्तेन) दिये हुए [उपदेश किये हुए] (मणिना) मणि [पति श्रेष्ठ] (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे (जङ्घिडेन) रोगों के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्) विघ्न और (सर्वा = सर्वाणि) सब (रक्षांसि) राक्षसों को (व्यायामे) संग्राम में (संहामहे) हम दबावें ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से दुःख नाशक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यों का सेवन करके विघ्नकारी दुष्ट जीवों पापों और रोगों को हटाकर सदा आनन्द में रहें ॥४॥

शृणश्च मा जङ्घिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।

अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥

भाषार्थः—(च) निश्चय करके (शृणः) आत्मदान वा उद्योग (च) और (जङ्घिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनों, (मा) मुझको (विष्कन्धात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) रक्षावें । (अभ्यः) एक (अरण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अभ्यः) दूसरा (कृष्याः) कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्यः) रसों अर्थात् पराक्रमों वा आनन्दों के लिये (आभृतः) लाया जाता है ॥५॥

भाषार्थः—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी पुरुष अपनी और सबकी रक्षा कर सकते हैं । वही योगी जन तपश्चर्या, विद्याभ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यानशक्ति] और परमेश्वर में श्रद्धा प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते हैं ॥५॥

कृत्यादृषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।

अथो सहस्वाज्जङ्घिडः प्रण आपूँषि तारिषत् ॥६॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय पदार्थ (कृत्यादृषिः) पीड़ा देने हारी विरुद्ध क्रियाओं में दोष लगाने वाला (अथो) और भी (अरातिदूषिः) अमान-गीलों [कङ्कसों] में दोष लगाने वाला है । (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महा-बली (जङ्घिडः) रोगभक्षक परमेश्वर वा औषध (नः) हमारे (आपूँषि) जीवनों को (तारिषत्) बड़ी बात करे ॥६॥

भावार्थः—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग में चलते और सत्य पुरुषार्थों में आत्मदान अर्थात् ध्यान नहीं करते, वे ईश्वरीय नियम से महादुःख उठाते हैं। सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणों के अनुभव से अपने जीवन को बढ़ाते हैं, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते हैं ॥६॥

सुक्तम् ॥ ५ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो वैवता । १—३ अनुष्टुप्, ४—७ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः सदैवोन्नतिप्रयत्नं कुर्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे ॥

इन्द्रं जुषस्व प्रवहा याहि शूर हरिभ्याम् ।

पिबो सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चार्मुदाय ॥१॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वहा) आगे बढ़, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ । (चकानः) मनोहर स्वभाव वाला (मदाय) हर्ष के लिये (चकानः) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहाँ पर (मतेः) बुद्धिमान् पुरुष के (सुतस्य) निचोड़ के (मधोः) मधुर रस का (पिब) पानकर ॥१॥

भावार्थः—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे, और सब के (हरिभ्याम्) दिन और रात अर्थात् समय को यद्वा प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन को परोपकार में लगावे और बुद्धिमानों के ज्ञान के सारांश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तराधिक प्रपाठक ३, अर्धप्रपाठक १ तुष्ट २२ वें कुल्ल भेद से है ॥

इन्द्रं जठरं नृण्यो न पूजस्व मधोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्वं १ नोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (नृण्यः) नवीन [बहुत तुष्टित] के (न) समान, (दिवः) स्वर्ग के (न) सदृश (मधोः) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पूजस्व) तृप्त कर । (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड़ [तत्त्व] के (सुवाचः) सुवच

वाणियों से युक्त (नवाः) आनन्द (स्वर्) स्वर्ग में (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझ को (उप श्रुगुः) उपस्थित हुए हैं ॥२॥

भावार्थः—राजा विद्वानों के साथ संभाषण करके बड़ी प्रीति से नीति का सारांश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे ॥२॥

इस मन्त्र में तीनों 'न' सदृशतावाची हैं, और मन्त्र ३ में दोनों 'न' हैं ।

इन्द्रस्तुरापाणिमो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।

विभेदं वलं भृगुर्न संसहे शत्रून् मदं सोमस्य ॥३॥

भाषार्थः—(यतीः) यति [यत्नशील] पुरुष के (न) समान (यः) जिस (तुरापाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्रः) सब के प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डाकू को (जघान) नाश किया था । (भृगुः) ज्ञान में परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (वलम्) हिंसक दैत्य को (विभेद) तोड़ फोड़ डाला और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदं) मद में (शत्रून्) शत्रुओं को (संसहे) हराया था ॥३॥

भावार्थः—महा प्रतापी राजा बड़े बड़े यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरों का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओं और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते हैं ॥३॥

यतीः पद के स्थान में सामवेद में उपरोक्त स्थल पर 'यतिः' पद है ॥

आ त्वां विशन्तु सुतासं इन्द्र पृणस्वं कुक्षी विद्वि शक्र धियेहा नः ।

श्रुधी हवंगिरीं मे जुषस्वेन्द्रं स्वयुग्भिर्मत्स्ये ह महे रणांय ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (सुतासः) यह निबोड़े हुए रस (त्वा) तुझमें (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करें, (कुक्षी) दोनों कुक्षियों को (पृणस्व) तू भर, और (विद्वि=विध) शासन कर, (शक्र) हे शक्तिमान् (धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि से (नः) हमारे पास (आनन्दि—एहि) आ । (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन् ! (मे) मेरी (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भिः) अपनी युक्तियों से (इह) यहां पर (महे) बड़े (रणांय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथानियम (मत्स्ये) हूषित हो ॥४॥

भावार्थः—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओं के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओं को जीतकर आनन्द भोगे ॥४॥

सायणभाष्य में 'विड्' के स्थान में ('वृड्' वर्धय) है ॥

इन्द्रस्य तु प्रा वीचं वीर्याणि यानि चकारं प्रथमानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्तर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥५॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (तु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूँ (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणी के अति श्रेष्ठ कर्मों को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुष ने (चकार) किया था, [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा, बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उसने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अपः) [उस दुष्ट के] कर्म का (तर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघों के समान [सन्धकार से छाये हुए] अथवा पहाड़ों के समान [दृढ़ स्वभाववाले] दुराचारियों को, अथवा पहाड़ों में गुप्त (वक्षणाः) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओं को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्न भिन्न कर दिया ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्वकालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीतिकुशल पुरुषों का यशकीर्तन इतिहास द्वारा करें, और उनका अनुकरण करके कुरीतियों के त्याग और सुरीतियों के प्रचार से आनन्द भोगें ॥५॥

मन्त्र ५ एवं ७ क्रमशः ऋग्वेद मं० १ सू० ३२ मं० १—३ में आये हैं ॥

यहाँ 'प्रा' के स्थान पर ऋग्वेद में 'प्र' है ।

ईसाइयों की नवीन धर्म पुस्तक "New Testament" मत्ती पर्व १२ वाक्य ३४ में "सांप"—बुरे पुरुष के लिये आया है । "हे सांपों के वंश ! तुम बुरे हो के अच्छी बातें बर्णित कर सकते हो क्योंकि जो मन में भरा है उसी को मुँह से बोलता है" ॥

अहन्नहि पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततक्ष ।

वाश्वा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पवते) बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] में, अथवा पहाड़ पर (शिश्रियाणम्) ठहरे हुए (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिंसक वा प्रकाश रोकने वाले] का (अहन्) बध क्रिया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वयम्) ताप वा पीड़ा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया । (वाश्वाः) रंभाती हुई (धेनवः इव) गोमों के

समान, (स्यम्बमानाः) वेग से बहते हुए (अश्वजः) प्रकट (आपः) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्) समुद्र में [राजा के पास] (अथ) उतर कर (जम्मुः) पहुँच गये ॥६॥

भाषार्थः—पूर्वज विदेकी राजाओं ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओं को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुई गौएं बछड़ों के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र में दौड़ कर जाते हैं। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहें ॥६॥

मनु महाराज ने भी कहा है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥७॥१८॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते हुएों में जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपि बत्सुतस्य ।

आ सायकं मधवां दत्त वज्रमहर्षेन प्रथमजामहीनाम् ॥७॥

भाषार्थः—(वृषायमाणः) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुए पुरुष ने (सुतस्य) उत्पन्न संसार के (त्रिकद्रुकेषु) तीन आवाहनों [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उत्पत्ति के विधानों] के निमित्तों में (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिबत्) पान किया [आत्मा में वृद्ध किया]। (मधवा) उस पूर्वनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले बाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आग्रहत्) लिया और (अहीनाम्) बड़े घातकों [प्रकाश नाशक] मेष वा सर्प रूप असुरों के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इव [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित दुष्ट] को (अहन्) मार डाला ॥

भाषार्थः—इस सूक्त के ५-७ तीन मन्त्रों में (इन्द्र) का (अहि) को मार कर उत्पत्ति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ में (त्रिकद्रुकेषु) पद तीन आवाहनों का द्योतक है। इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धर्मवान्, शूर वीर पुरुषों ने जितेन्द्रिय वशिष्ठ होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्होंने ही संसार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक

और सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्तिमान् हुए, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जिज्ञेन्द्रिय होकर संसार में उन्नति करके कीर्ति पाकर अमर हों और आनन्द भोगें ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्वेवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मण मनुष्यः प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी और तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वान्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिश्वत्सः ॥१॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (समाः) अनुकूल (ऋतवः) ऋतुयें (संवत्सराः) वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग, और (यानि) जो (सत्या = सत्थानि तानि) सत्य कर्म हैं [वे सब] (त्वा) तुझ को (वर्धयन्तु) बढ़ावें । (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) भलक से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वः) सब (चत्सः) चारों (प्रविशः) सहादिशाओं को (आभाहि) प्रकाशमान कर ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य बड़े प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावें, ऋषि आप्त पुरुषों से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, और सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहें । इस प्रकार संसार में उन्नति करें और कीर्तिमान् होकर प्रसन्नचित्त रहें ॥१॥

१ से ५ तक के मन्त्र यजु० अ० २७ मन्त्र १, २, ५, ६ में आये हैं । और वहां इनके ऋषि अग्नि माने हैं ॥

सं चैध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुञ्चं तिष्ठ महते सौभगाय ।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥२॥

भाषार्थः—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (सम्) भले प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) [इस समाज] को (प्र = वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (उत् = तिष्ठ) उठकर खड़ा हो । (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तारः) पास बैठने वाले [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावें, (ते) तेरे [समीपवर्ती] (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशसः = यशसाः) यशस्वी (सन्तु) हों, और (अग्न्ये) दूसरे (मा = मा सन्तु) न हों ॥२॥

भावार्थः—राजा को योग्य है कि ब्रह्मण्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्ध विद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओं में निपुण होकर अपने सभासदा को निपुण करे, और विद्वानों का सत्कार तथा अविद्वानों का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥२॥

यजुर्वेद में (वर्धय, इमम्) के स्थान में [बोधय एनम्] और (ते, रिषन्, उपसत्तारः) के स्थान में [च, रिषत् उपसत्ता] पाठ है ॥

स्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिष्यो अग्ने संवरणे भवा नः ।

सपत्नहाग्रै अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यम्युच्छन् ॥३॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन् ! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) वेद-वेत्ता विद्वान् लोग (स्वा) तुझ को (वृणते) चुनते हैं, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में (शिष्यः) मंगलकारी (भव) हो । (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सपत्नहा) वीर्यों का नाश करने वाला और (अभिमातिजित्) अभिमानियों का जीतने वाला (भव) हो और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर 'वा घन पर' वा घर अर्थात् अधिकार में (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥३॥

भावार्थः—वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावें कि जा सघ दोषों और दुष्टों को मिटाकर अपने अधिकार को सावधान होकर चलावे जिसमें सब राजा और प्रजा आनन्द युक्त रहें ॥३॥

यजुर्वेद में (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान में [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥३॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।

सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय वर्ग वा धन के साथ (सं रभस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधाः) मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर । और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालों के बीच (मध्यमेष्ठाः) पंचों में बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियों के बीच में (विहव्यः) विशेष करके धावाहन योग्य होकर (इह) यहाँ पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो ॥४॥

भावार्थः—नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रखे, और हित-कारियों के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रखे, जिससे सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े ॥४॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५ में ऐसा पाठ है—

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सत्थं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेयं यतस्व ।

सजातानां मध्यमस्था ऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन् ! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायुः = सु—आयुः) सुन्दर जीवन (सम् रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर । (अग्ने) हे तेजस्विन् ! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रों के धारण करने में (यतस्व) यत्न कर । (सजातानाम्) समान अवस्था वालों में (मध्यमस्थाः) मध्यस्थ (एधि) हो, (अग्ने) हे न्याय प्रकाशक ! (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (विहव्यः+सत्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहाँ पर (दीदिहि) प्रकाशित हो ॥

अति निहो अति सृधोऽत्यचिंत्तीरति द्विषः ।

विश्वा ह्यग्ने दुरिता तं त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयि दाः ॥५॥

भावार्थः—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! [(अति) अत्यन्त (निहः) जन्तुनाशक शूर होकर । अथवा] (निहः) नीच गति वालों को (अति = अतीत्य) लांचकर, (सृधः) हिसकों को (अति) लांचकर, (अचिंत्तोः) पापबुद्धि प्रकाशों को (अति) लांचकर, और (द्विषः) द्वेष करने वालों का (अति) तिरस्कार करके, (स्थम्) तू (हि) ही (विश्वः = विश्वानि) सब (दुरिता = —तानि) संकटों को (तत्) पारकर, (अथ)

और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (वाः) दे ॥५॥

भावार्थः—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों ॥५॥

इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७ । ६ । में ऐसा है ।

अति निहो अतिस्त्रिधोऽत्यचिंत्तिमत्यरातिमग्ने ।

विश्वा हंग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यंश्चसहवीराथरयि दाः ॥

(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (अति निहः) अत्यन्त दूर होकर (स्त्रिधः) दुष्टों को (अति) हटाकर, (अचिंत्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (अरातिम्) कंजूस-पन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरितानि) सब विघ्नों को (सहस्व) दबा दे, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीरों से युक्त सेना और (रयिम्) धन (वाः) दे ॥

१—(सूधः) के स्थान पर सायण भाष्य में (स्रधः) पद है ॥

सुक्तम् ७ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो वेद्यता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अद्यद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

भावार्थः—(अद्यद्विष्टा) पाप में द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देवजाता) विद्वानों में प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [प्रोषधि के समान फली हुई ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है । उसने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [कुवचनों] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आपः) जल (मलम्) मल को ॥१॥

भावार्थः—जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलिन वस्त्र आदि गूढ़ होते हैं, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्म-ज्ञान द्वारा पापों से छूट कर गूढ़ात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारों को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते हैं ॥१॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तर्नो अधस्पदम् ॥२॥

भाषार्थः—(च) और (यः) जो (साधनः) वैरियों का किया हुआ (शपथः) शप [क्रोधवचन], (च) और (यः) जो (जाम्याः) कुल स्त्री का (शपथः) शप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युतः) क्रोध से (यत्) जो कुछ (शपात्) शप दे, [क्रोध वचन कहे] (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥२॥

भाषार्थः—यदि हमसे कोई वेदविरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियां, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हों, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शप-मोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगें ॥२॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥३॥

भाषार्थः—त्रो (मूलम्) मूल [तत्त्वज्ञान] (विदः) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्याः अग्निः) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है । [हे ईश्वर ।] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखा वाले [तत्त्व-ज्ञान] के द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥३॥

भाषार्थः—सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल में जाता, और सब छोटे बड़े लोक परस्पर आकर्षण और धारण रखते हैं । इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमों को देख कर सब प्रजागण राज नियमों में चल कर परस्पर उपकार करें ॥३॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम् ।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिधुरभिमांतयः ॥४॥

भाषार्थः—(माम्) मेरी (परि = परितः) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजां) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] की (परि) सब प्रकार और (नः) हमारा (यद्) जो (धनम्) धन है [उसकी भी] (परि) सब प्रकार (पाहि) तू रक्षा कर । (अरातिः)

कोई भदानी, कंजूस, पुरुष (नः) हमें (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातयः) अभिमानी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) न दबावें ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षा करके दुष्टों को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहें ॥४॥

शुप्तारमेऽपि शुपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥५॥

भाषार्थः—(शपथः) [हमारा] क्रोधवचन (शुप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो और (यः) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है (तेन) उस [मित्र] के साथ (नः) हमारा (सह = सहवासः) सहवास हो । (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हर्दिः) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्टी)। पसलियों की (अपि) ही (शृणीमसि = ०-नः) हम तोड़ डालें ॥५॥

भाषार्थः—राजा को उचित है कि निन्दकों पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषों का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हों उनको भी दण्ड देता रहे ॥५॥

‘चक्षुर्मन्त्रस्य’ समासान्त पद को पदपाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने ‘मन्त्रस्य चक्षुः’ दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है । यह समस्त पद (दुर्हर्दिः) पद का विशेषण है । इसका प्रयोग अ० १६ । ४५ । १ । में इस प्रकार है ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ अ० १९ । ४५ । १॥

(अञ्जन) हे आंखें खोल देने वाले ! तू आंख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलियां ही (शृण) तोड़ दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ऋग्वेदता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३, ५ पंक्तिः १ः

पौरुषमुपदिश्यते—पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामश्वं पाशमुत्तमम् ॥१॥

भाषार्थः—(भगवती) = ० त्वी) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [ग्रन्थकार से] लुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (उदगाताम्) उदय

हुए हैं । वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि+मुच्यताम्) छुड़ा दें ॥१॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्रमा संसार में उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के ग्रन्थकार का नाश करके प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बड़े मानसिक, शारीरिक और वांशिक रोगों तथा दोषों को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हों ॥१॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥२॥

भाषार्थः—(इयम्) यह (रात्रौ) रात (अप+उच्छतु) नष्ट हो जावे, (अभि—कृत्वरीः = ०—त्वयः) कतरने वाली वा हिंसाशील [कुवासनायें] (अप+उच्छन्तु) निकल जावें । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥२॥

भाषार्थः—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होता, और जैसे ओषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यों को अपने और अपने वंश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश में आनन्दित रहना चाहिये ॥२॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाश्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥३॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर ।] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रोः) पोषण करने वाले, (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डोंडा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाश्या) पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥३॥

भाषार्थः—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और ओषधों के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषों की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥४॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर ।] (लाङ्गलेभ्यः) हलों [की दृढ़ता] के लिये (नमः ते = नमस्ते) तुम्हें नमस्कार है और (ईषायुगेभ्यः) हरस [हल की लम्बी लकड़ी] और जूषों [की दृढ़ता] के लिये (नमः) नमस्कार है । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥४॥

भाषार्थः—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ़ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमों को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्तःकरण की दृढ़ता करके उपकारी बनें और सदा आनन्द भोगें ॥४॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्योः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥५॥

भाषार्थः—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) डबडबाती हुई आंखों वालों (रोगों से पीड़ित दीनों) के लिये (नमः) अन्न हो, और (सन्देश्येभ्यः) यथार्थ दानशीलों के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वाधी के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥५॥

भाषार्थः—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करें कि दीन दुःखियों का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करें । और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी प्रकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥५॥

टिप्पणी—(सन्देश्येभ्यः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (सन्देशेभ्यः) की व्याख्या है जो कि मन्त्रविरुद्ध होने से अशुद्ध है ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप् २--५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्—मनुष्य अपने आप को ऊंचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षंसो ग्राह्या अधि येन जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥१॥

भाषार्थः—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानों के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओं में सेवनीय परमेश्वर ! (हमम्) इस पुरुष को (रक्षसः) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] से (अधि) सर्वथा (मुञ्च = मोचय) छुड़ा दे, (या) जिस [पीड़ा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु, सब जोड़ों में) (जग्राह) पकड़ लिया है । (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय, सत्पुरुषों के पति [रक्षक] (एनम्) इस [पुरुष] को (जीवानाम्) जीवधारियों के (लोकम्) संसार में (उन्नय) ऊँचा उठा ॥१॥

भाषार्थः—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषों के रक्षक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों और विघ्नों को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥१॥

१—सायणभाष्य में 'दशवृक्ष' पद का अर्थ "पलाश, उदुम्बर आदि दश वृक्षों के खंडों से बनाई हुई मणि" किया है ॥

२—ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद में आया है—

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥ अ० ३। ११। १॥

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा ने (जग्राह) पकड़ लिया है (इन्द्राग्नि) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्या) उस [पीड़ा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥

आगादुद्गादयं जीवानां व्रातमप्यंगात् ।

अभूद्व पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) यह [प्राणी] (आ+अगात्) आया है, (उत् अगात्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितों (पुरुषाणाम्) के (व्रातम्) समूह में (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है । यह (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) श्रेष्ठतम ऐश्वर्यावान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥२॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते हैं, इससे मनुष्य संसार में जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करें, और पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी हों ॥२॥

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अंगन् ।

शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥३॥

भाषार्थः—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीतीः) अध्ययन योग्य शास्त्रों को (अधि+अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुराः) प्राणियों के पुरों वा नगरों को (अधि+अगन्) जान लिया है । (हि) क्योंकि (अस्य) इस (पुरुष) के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषजः) वैद्य, (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुधः) औषध हैं ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, मनुष्यों में निवास, विद्वानों के सत्संग, और पदार्थों के गुणों का बोध करने से संसार में उन्नति करते हैं ॥३॥

देवास्तै चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।

चीति ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥४॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्माणः) ब्रह्म-ज्ञानियों ने (उत) और (वीरुधः) औषधियों ने (चीतिम् = चितिम्) ज्ञान (अविदन्) प्राप्त किया है । (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [सूर्य, चन्द्र, वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चेतन्यता को (भूम्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वान् वेदवेत्ताओं के उपदेश से, तथा अन्न आदि औषधियों, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थों में ईश्वरीय अटल नियमों से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके ईश्वर की महिमा के ध्यान में निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते हैं ॥४॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृण्वद् भिषजा शुचिः ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (सः) वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (सः) वह (एव) ही (सुभिषक्तमः) बड़ा भगरी वैद्य है । (सः) वह (एव) ही (शुचिः) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) औषधों को (कृण्वद्) करेगा ॥५॥

भाषार्थः—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण करके आनन्द देता है ॥१॥

टिप्पणी—‘भिषजा शुचिः’ ‘वैद्यरूप से पवित्रात्मा’ के स्थान में (भिषजां शुचिः) ‘वैद्यों में पवित्रात्मा’ ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है। लिपि प्रमाद से अनुस्वार नहीं लगा। नीचे के प्रयोगों को विचारिये ॥

१—ऋग्वेद में ऐसा पाठ है—

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ऋ. २।३३।४॥

मैं तुम्ह को (भिषजाम्) वैद्यों में महावैद्य सुनता हूँ ॥

२—अथर्ववेद में ऐसा है—

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ अ० ६।२४।२॥

(भिषजाम्) वैद्यों में अति पूजनीय वैद्य (आपः) परमेश्वर उन सब दुःखों को हटावे ॥

३—यजुर्वेद में ऐसा पाठ है—

सुत्रामांश्च सवितारं वरुणं भिषजां पतिं च स्वाहा ॥ य० २१।४०॥

बड़े रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ (भिषजाम्) वैद्यों के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है ॥

सूक्तम् १० ॥

१-८ ॥ ब्रह्म वेदता । १ पिष्टृप् २-७ प्रथम-द्वितीय-पंचम-षष्ठपावास्त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थी च जगती छन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेशः—मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् ब्रह्मो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते व्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] (त्वा) तुम्ह को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामात्री दग्धता आदि] से, (जामिशंसात्) भक्षशुशील मूर्खों के सताने से, (ब्रह्मः) ब्रह्म [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले व्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुम्हको (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ । (ते)

तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०—ध्वी) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥ १॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियों और मूर्खों के दुष्ट आचरणों से पृथक् रहे और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे, किन्तु सुशीलता के कारण संसार के सब पदार्थ आनन्दकारी हों ॥ १॥

शं तै अग्निः सहाद्विरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः । एवाहं त्वां
क्षेत्रियाग्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे
स्ताम् ॥ २॥

भाषार्थः—(ते) तेरे लिये (अग्निः) अग्नि (अद्भिः सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (सोमः) अमृत [ऐश्वर्य] (औषधीभिः सह) घन्न आदि औषधियों के साथ (शम्) सुखदायक हो । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से... [मन्त्र १] ॥ २॥

भाषार्थः—मनुष्य को विज्ञानपूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, खान, पान आदि पदार्थों का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २॥

शं ते वातौ अन्तरिक्षे वयौ धाच्छं तै भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियाग्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य
पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे
स्ताम् ॥ ३॥

भाषार्थः—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य में दीखने वाले आकाश में वर्तमान (शम्) सुखदायक (वातः) पवन (वयः) अन्न वा यौवन [शारीरिक बल] को (घात = धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) महादिशायें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवें । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से [मन्त्र २] ॥ ३॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण

वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानों को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ॥३॥

(वयोधात् = वयःधात्) इन दो पदों के स्थान पर संहिता और पदपाठ के विरुद्ध सायणभाष्य में [वयोधाः] एक पद मानकर [वयसां पक्षिणं धाता धारयिता वयसाम् अन्तेन पोषयिता वा वातः] व्याख्या की है ॥

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं
त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

भाषार्थः—(सूर्यः) चलने वा चलाने वाला सूर्यलोक (इमाः) इन (याः) जिन (देवीः) दिव्यशुण्वाली (वातपत्नीः) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) महादिशाओं को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से..... [मन्त्र २] ॥४॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोकों को धारण करता और वायु मण्डल पतन हो जाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥४॥

तासु त्वान्तर्जस्यादधामि प्र यक्ष्मं एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं
त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागमं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥५॥

भाषार्थः—(तासु) उन [दिशाओं] में (त्वा) तुझको (अरसि) स्तुति के (अन्तः) मध्य में (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हूँ, (यक्ष्मः) राज रोग [क्षयी आदि] और (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचैः) ओषधियों मुंह हँकर (अ+एतु) चली जावे । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से.... [मन्त्र २] ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है, इसलिये पुरुष पुरुषार्थ करके सब विघ्नों को हटावे और कीर्तिमान् होकर सदा आनन्द भोगे और अमर होवे ॥५॥

टिप्पणी—हमारे विचार में यहाँ 'जरसू' पद का अर्थ निषण्णु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्ति है; [बुढ़ापे का अर्थ वेमेल है।] अथर्ववेद १।३०।२। की टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६।२४ भी विचारिये।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम
शरदः शतथं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ य० ३६।२४॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षुः) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओं का हितकारी (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सम्मुख होकर (उच्चरत्) ऊँचा चढ़ रहा है। [ऐसा ध्यान करते हुए] (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहें, (शतम् शरवः) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जीते रहें, (शतम् शरवः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहें, (शतम् शरवः) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहें, (शतम् शरवः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हम रहें, (च) और (शतात् शरवः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक अर्थात् हम सर्वथा पुष्टांग रहें और कभी अङ्गहीन और घनहीन न हों ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्रह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्भृत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य
पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिषे ते द्यावापृथिवी उभे
स्ताम् ॥६॥

भाषार्थः—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से, और (अवद्यात्) अकथनीय निन्दनीय कर्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, और (द्रुहः) द्रोह [प्रतिष्ठ चिन्तन] से (च) और (ग्रह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा के (पाशात्) पाश वा बन्ध से (उत्+अमुक्थाः) तू छूट चुका है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से... [मन्त्र २] ॥६॥

भाषार्थः—जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगों को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है ऐसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥६॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं त्वां

क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥७॥

भाषार्थः—(भरातिम्) कंजूसी वा बैर को (ग्रहाः = ग्रहासीः) तूने त्याग दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (प्रविदः) तूने पाया है, (प्रवि) और भी (मुकृतस्य) मुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभू) तू वर्तमान हुआ है । (एव) ऐसे ही (ग्रहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से... [मन्त्र २] ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य बैर छोड़ कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥७॥

पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये—

भैरवादिषु बलानि ।

मित्रता आदिकों में (संयम से) अनेक बल होते हैं ॥

टिप्पणी—‘अभूः’ के स्थान पर साधारणभाष्य में ‘अभूत्’ माना है ॥

सूर्यमृतं तमसो ब्रह्मा अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं
त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥८॥

भाषार्थः—(देवाः) [ईश्वर के] दिव्य सामर्थ्यों ने (ऋतम्) चलने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (तमसः) अन्धकार को (ग्राह्याः) पकड़ से और (एनसः प्रवि) कष्ट से (मुञ्चन्तः) छुड़ा कर (निः+असृजन्) उत्पन्न किया है । (एव) ऐसे ही (ग्रहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] से (जामिशंसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से (द्रुहः) द्रोह [पनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले व्यायाधीश के (पाशात्) दण्ड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ० व्यो) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥८॥

भाषार्थः—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार से छूट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य

अपने सब विघ्नों का नाश करके आत्मिक बल बढ़ा कर संसार में उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥८॥

सूक्तम् ११ ॥

१—५ ॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २—५ प्रथमद्वितीयपादौ द्व्यष्टका, तृतीयचतुर्थौ च द्व्यष्टका गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेशः—पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दृष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥१॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] तू (दृष्याः) दूषित किया का (दूषिः) खण्डनकर्ता (असि) है, और (हेत्या) बरछी का (हेतिः) बरछी (असि) है, (मेन्याः) वज्र का (मेनि) वज्र (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ी शक्ति दी है । जो पुरुष उन शक्तियों को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालों के सत्संग से काम में लाते हैं वे निविघ्न होकर अन्य पुरुषों से अधिक उपकारी होकर आनन्द भोगते हैं ॥१॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥२॥

भाषार्थः—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसरः) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है और (प्रत्यभिचरणः) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥२॥

भावार्थः—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह संकटों को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है । मन्त्र १ देखिये ॥२॥

प्रति तममि चर यो३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥३॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभि-
चर) चढ़ाई कर (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) वर करता है, और (यम्)
जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर
वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से
(अति = अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥३॥

भाषार्थः—जो छली कपटी धर्मात्माओं से अप्रीति करें और जिन
दुष्कर्मियों से धर्मात्मा लोग घृणा करते हों, राजा उन दुष्टों को वश में
करके दण्ड देवे ॥३॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगों को हटा कर सत्य
धर्म में प्रवृत्त हों और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करें ॥३॥

सूरिरंसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥४॥

भाषार्थः—हे राजन् ! तू (सूरिः) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधाः) अन्न वा
तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपानः) हमारे शरीरों का रक्षक (असि)
है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर,
(समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे
बढ़ा ॥४॥

भाषार्थः—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा
रक्षा और उन्नति करे ॥४॥

शुक्रौसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमतिं समं क्राम ॥५॥

भाषार्थः—(शुक्रः) तू वीर्यवान् (असि) है (भ्राजः) प्रकाशमान (असि) है,
(स्वः) तू स्वर्ग [मुखधाम] (असि) है, (ज्योतिः) [सूर्यादि के समान] तेजः स्वरूप
(असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त
कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद
आगे बढ़ा ॥५॥

भाषार्थः—राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और ऐश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥५॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ ॥ विश्वेदेवा देवताः । १—६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप्छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सबकी रक्षा के लिये उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उर्वेक्षं स्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।

उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥१॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—१थी) सूर्य और पृथिवी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य में धाँखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, संसार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (उरुगामः) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती अन्तःकरण [ये सब जो देव हैं] (ते) वे सब (इह) यहाँ पर [इस जन्म में] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुए पर (तप्यन्ताम्) ऐश्वर्य वाले हों ॥१॥

भाषार्थः—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥१॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो महामुक्थानि शंसति ।

पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञियाः) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) वह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाजः) पुष्टिकारक अन्न एवं बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (महाम्) मुझ को (उक्थानि) वेद वचनों का (शंसति) उपदेश करता है । (सः) वह मनुष्य (दुरिते) बड़े कठिन (पाशे) फाँस में (बद्धः) बंधा हुआ (नि+युज्यताम्) धाँसा में रहे, (यः) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [समार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥२॥

भाषार्थः—विद्वानों को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये । वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियों को क्लेश और सुकर्मियों को आनन्द देता है ।

उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिये प्रकाशित की है ॥२॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यच्चां हृदा शोचता जोहवीमि ।

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥३॥

भाषार्थः—(सोमः) हे ऐश्वर्य के रक्षक [वा अमृत पीने वाले वा अमृत की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन् ! परमेश्वर ! (इदम्) इस [वचन] को (शृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जोह-वीमि) आवाहन करता रहता हूँ । (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते हैं वैसे ही] मैं (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालूँ (य) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) [सन्मार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥३॥

भाषार्थः—जैसे प्रजा गण दुष्टों से पीड़ित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते हैं, वैसे ही बलवान् राजा उस परम पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टों से छुटकारा पावे ॥३॥

अशीतिभिस्तिष्ठभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।

इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥४॥

भाषार्थः—(तिष्ठभिः) तीन (अशीतिभिः) व्याप्तियों [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभिः = ०—र्ग) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले (आदित्येभिः = ०—त्ये) सर्वथा दीप्यमान, (वसुभिः) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गि-रोभिः) जानी पुरुषों के साथ (पितृणाम्) रक्षक पितामहों [पिता के समान उपकारियों] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (नः) हमें (अवतुः) तृप्त करें, (दैव्येन) विद्वानों के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमृत्म्) उस [दुष्ट] को (आ = बडे) में पकड़ता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराकमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानों की सम्मति और सहाय और बड़े-बड़े पुरुषों के पुण्य कर्मों के अनुकरण, तथा दुष्टों को दण्ड दान से प्रज्ञा में शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥४॥

आवापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रंभध्वम् ।

अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमाछेत्वपकामस्य कर्ता ॥५॥

भाषार्थः—(आवापृथिवी = ०—ध्वो) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु = अनुलक्ष्य) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (दीधीयाम्) दोनों प्रकाशित हों, (विश्वे) हे सब (देवासः = ०—वाः) उत्तम गुण वाले महात्माओं ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बनो । (अङ्गिरसः) हे जानी पुरुषो ! (वितरः) हे रखक पिताओं ! (सोम्यासः = ०—म्याः) हे सोम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो ! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ = ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिए कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें और बड़े २ उपकारी विद्वानों के सत्संग से डाकू उचक्के आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्त रखे ॥५॥

अतीव॒ यो मरुतो॒ मन्यते॒ नो ब्रह्म॑ वा॒ यो निन्दिषत्॒ क्रियमाणम्॑ ।

तपू॒षि तस्मै॑ वृजि॒नानि॑ सन्तु ब्रह्म॒द्विपं॑ धौर॒भिस्त॑पाति ॥६॥

भाषार्थः—(मरुतः) हे शत्रुओं को मारते वाले शूरो ! (यः) जो [दुष्ट पुरुष] (नः) हम पर (अतीव = अतीत्य एव) हाथ बढ़ा कर (मन्यते = मानयते) मान करे, (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुए (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषत्) निन्दा करे, (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपू॒षि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हों । (धौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिस्त॑पाति) सब प्रकार से भन्ताप दे ॥६॥

भाषार्थः—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे, उसे शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की स्थाय व्यवस्था से भी कष्ट भोगता है ॥६॥

यद् मन्त्रं कुछ भेद सं ऋग्वेद ६ । ५२ । २ में है ॥

स॒न्त प्रा॒णान॒ष्टौ म॒न्यस्ता॑स्ते॒ वृश्चा॑म॒ ब्रह्म॑णा ।

अ॒या य॒मस्य॑ सा॒द॒नम॒ग्निद्व॑तो अ॒रंकृतः॑ ॥७॥

भाषार्थः—[हे दुष्ट जीव] (हे) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सन्त) रात (प्राणान्) प्राणों को और (अष्टौ) आठ (मन्यः = मन्याः) नाड़ियों को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मैं तोड़ता हूँ । तू (अग्निद्वतः) अग्नि को द्वत बनाता हुआ

श्रीर (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी वा मृत्यु के (सावनम् = सवनम्) घर में (अग्रा) आ पहुँचा है ॥७॥

भाषार्थः—सात प्राण अर्थात् दो आँख, दो नथनें, दो कान और एक मुख एवं आठ प्रधान नाड़ियाँ वा अवयव अर्थात् दो दो दोनों भुजाओं और दोनों टाँगों के हैं। तात्पर्य यह है कि दण्ड के द्वारा शत्रु के अंगों को छेद कर अनेक क्लेशों के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि फिर अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावें ॥७॥

टिप्पणी—लिपि प्रमाद से 'मन्याः' के स्थान में 'मन्यः' पद जान पड़ता है।

अथर्ववेद १०।२।६ में देखिये—

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णौ विमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य महानि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

(कः) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि = ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनों कान, (नासिके) दो नथनें, (चक्षणी) दो आँखें, और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (महानि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दो पाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसु वागपि गच्छतु ॥८॥

भाषार्थः—[हे दुराचारी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धेः) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीड़ा देने वाली अग्नि में (आ + दधामि) डाले देता हूँ। (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर में (वेवेष्ट्वः) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (अमुम्) [अपने] प्राण [अंग] में (गच्छतु) जावे ॥८॥

भाषार्थः—दुराचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि में जल कर कण्ट पाता है ॥८॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५। ब्रह्मचारी वेदता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचाग्रिणः समावर्तने वस्त्रादिधारणोपदेशः—ब्रह्मचारी के समावर्तन, बिद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिये उपदेश।

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षितादिमम् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर । तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणानः) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीकः) प्रकाश-स्वरूप और (घृतपृष्ठः) प्रकाश (वा सार तत्त्व) से सींचने वाला है । (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! (अग्नि के समान) (मधु) मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रों को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥१॥

भाषार्थः—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न संस्कार, शिल्प प्रयोग आदि में उपयोगी होता है वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पदार्थों के दान से मनुष्यों पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यों को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परिं धत्त धत्त नो वर्चसे मं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।

बृहस्पतिः प्रायच्छद् वासं एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥२॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिए (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि-+धत्त) वस्त्र पहनाओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त) पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बड़ा (आयुः) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम् = जरा-मृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमरपन, अथवा स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु (कृणुत) करो । (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [विद्वानों] के रक्षण [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवा) धारण करने के लिए (प्र-+अय-च्छत्) दान किया है ॥२॥

भाषार्थः—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके, तब विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिये उसकी योग्यता का सत्कार करें, और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलंकृत करके उसका मान बढ़ावें, जिससे विद्या का प्रचार और आपस में प्रीति अधिक होवे ॥

जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नों से अलंकृत होकर पुरुषों में दर्शनीय होता है, वैसे ही मनुष्य शरीर का चोला पाकर सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥२॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १६। २४। ३। में भी है।

परीदं वासों अधिथाः स्वस्तयेऽभृगृष्टीनामभिश्चस्तिपा उं ।

शतं च जीवं शरदः पुरुची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

भावार्थः—[हे ब्रह्मचारिन् !] (इवम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढ़ाने के लिए (परि+अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम) ग्रहण्य गौओं की (अभिश्चस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (उं) अवश्य (अभूः) तू हुआ है। (च) निश्चय करके (पुरुचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप+सं+व्ययस्व) अपने सब ओर धारण कर ॥३॥

भावार्थः—विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दें कि यह उसकी विद्या का सम्मान इस लिये किया गया है कि संसार में गौ आदि उपकारी पदार्थों और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करे ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १६। २४। ६ में है ॥

एह्यर्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।

कृष्वन्तु विश्वे देवा आयुंष्टे शरदः शतम् ॥४॥

भावार्थः—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि=आ+इहि) तू आ, (अर्मानम्) हल शिला पर (आ+तिष्ठ) चढ़, (ते) तेरा (तनूः) तन [शरीर] (अश्मा) शिला (शिला जैसा दृढ़) (भवतु) होवे। (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयुः) आयु को (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (कृष्वन्तु) [दीर्घ] करें ॥४॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी को शिक्षा दें कि वह यथानियम पथ्य सेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौष्ट्य करके अपने शरीर को दृढ़ और स्वस्थ रखे, और विद्वानों के मेल और उत्तम पदार्थों के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर संसार में उपकार करे ॥४॥

अथर्व० १। २। २। में आया है “अर्मानं तन्वं कृषि” शरीर को पत्थर सा दृढ़ बना” ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं१ हरांमस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनुं जायन्तां बहवः सुजातम् ॥५॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्) प्रधानता के धारण योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम लाते हैं [धारण कराते हैं] (तम्) उस (श्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (अवशु) रक्षा करें, और (तम्) उस (सुवृषा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्धमानम्) बढ़ते हुए, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (श्वा) तेरे (अनु) पीछे (बहवः) बहुत से (भ्रातरः) भाई (आयन्ताम्) प्रकट हों ॥१॥

भाषार्थः—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानों में बड़ा मान पावे, तब वह उत्तम गुणों की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान उसके दूसरे भ्रातृगण संसार में यश प्राप्त करें ॥१॥

टिप्पणी—इस सूक्त में 'वासः' पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है। यथा मन्त्र २ देखिए ॥

सुवृषतम् ॥ १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्बुभिक्षता वा वेवता । अनुष्टुप्पञ्चमः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यैः प्रयत्नेन नाशनीया—निर्धनता का मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करना चाहिये ॥

निः सालां धृष्टं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।

सर्वाश्चण्डस्य नृप्यो नाशयामः सदान्वाः ॥१॥

भाषार्थः—(निः सासाम्) बिना सास=घर वाली, (धृष्टम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाणी को (जिघत्स्वम्) खा लेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वाः) इन सब (नृप्यः = नृप्रीः) सन्तानों, (सदान्वाः) सदा चिराने वाली यद्वा दानवों, दुष्टकर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (नाशयामः) हम मिटा दें ॥१॥

भाषार्थः—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ाएँ क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न माने दे, और सदा सुखी रहे ॥१॥

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन है—

अ॒रा॒यि॒ का॒णे॒ वि॒कटे॒ गि॒रिं॒ गच्छ॒ सदा॒न्वे ।

शि॒रि॒म्बि॒ठस्य॒ सत्त्व॑भि॒स्तेभि॑ष्ट्वा चा॒तया॑मसि ॥१०॥१५५॥१॥

(अ॒रा॒यि) हे भ॒दानशील [कं॒सू॒सिनि] । (का॒णे) हे कानी ! (वि॒कटे) हे लंगड़ी ! (सदा॒न्वे = सदा॒ नोनु॒वे शब्द॑कारिके) सदा चि॒रुलाने॑ वाली ! (गि॒रि॒म्) पहाड़ की (गच्छ) चली जा । (शि॒रि॒म्बि॒ठस्य) मेघ के (तेभिः) उन (सत्त्वभिः) जलों से (त्वा) तुम्हें (चा॒तया॑मसि) हम मिटाये देते हैं । ।

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० में है । उससे और निरुक्त टीकाकार देवराज यज्वा के आधार पर यहाँ अर्थ किया है ॥

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जाम॒सि॒ निर॑क्षा॒न्निरु॑पान॒सात् ।

निर्वो॑ म॒गु॒न्या द॒हित॑रो गृ॒हेभ्य॑श्चा॒तया॑महे ॥२॥

भाषार्थः—(वः) तुमको (गो॒ष्ठात्) [अ॒पनी] गोठ अर्थात् वाचनालय वा घोशाला से (नि॒र्+प्र॒जाम॑सि) हम निकाले देते हैं, (अ॒क्षात्) व्यवहार से (नि॒र्) निकाले, (उ॒पान॑सात्) अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से (नि॒र्) निकाले देते हैं । (म॒गु॒न्याः) हे ज्ञान की मिथ्या करने वाली (कु॒वास॑ना वा निघ्न॑नता) की (द॒हित॑रः) पुत्रियो ! [पु॒त्री स॒मान॑ उत्पन्न पीड़ाग्रो] (वः) तुम को (गृ॒हेभ्यः) [ग्रामे] घरों से (नि॒र्) निकालकर (चा॒तया॑महे) हम नाश करते हैं ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने में ऐसा प्रवन्ध करे कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओं, व्यापार और अन्न आदि में हानि न हो किन्तु सब पदार्थों के यथावत् संग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥२॥

टिप्पणी—गोठ 'गोष्ठ' शब्द राजस्वान में बातचीत के स्थान अर्थ में लिया जाता है ।

अ॒सौ यो अ॒ध॒राद॑ गृ॒हस्तत्र॑ सन्त॒वरा॒य्यः ।

तत्र॑ से॒दि॒न्यु॑च्यतु॒ सर्वा॑श्च यातु॒धान्यः॑ ॥३॥

भाषार्थः—(अ॒सौ) वह (यः) जो (गृ॒हः) घर (अ॒ध॒रात्) नीचे की ओर है, (तत्र॑) वहाँ पर (अ॒रा॒य्यः) निघ्न॑नता वाली [विप॑त्तियां] (सन्तु) रहें । (तत्र॑) वहाँ ही (से॒दिः) महामारी आदि क्लेश (नि॒+उ॒च्य॑तु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वाः) सब (यातु॒धा॒न्यः) पीड़ा देने वाली क्रियायें भी ॥३॥

भाषार्थः—जैसे राजा चोर आदि दुष्टों को पकड़ कर कारागार में

रखता है, ऐसे ही मनुष्यों को प्रयत्नपूर्वक निर्वन्तता, दुर्भिक्षता, और दुःख-
दायी रोगों को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥३॥

भूतपतिर्निरञ्जत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।

गृहस्थं बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणार्धिं तिष्ठतु ॥४॥

भाषार्थः—(भूतपतिः) न्याय, सत्य वा प्राणियों का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्वन्तता की पीड़ाओं] को (इतः) यहां से (निर + भजतु) निकाल देवे । (इन्द्रः) बही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्थ) [हमारे] घर की (बुध्ने) जड़ में (आसीनाः) बैठी हुई, ताः) उन [पीड़ाओं] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े आदि] से (अधि + तिष्ठतु) वश में करे ॥४॥

भाषार्थः—क्लेशों के भीतरी कारणों को भली भाँति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषों को सचेत करके क्लेशों से बचावें और आनन्द में रखें ॥४॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।

यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५॥

भाषार्थः [हे पीड़ाओं !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वंश सम्बन्धी रोगों की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिताः) अन्य पुरुषों को प्रेषित (रथ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्यः) चोर आदिकों से (जाताः) प्रकट हुई (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओं !] (इतः) यहां से (नश्यत) हट जाओ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्यों को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खण्डन से अथवा माता पिता आदि के कुसंस्कार से शारीरिक वा आध्यात्मिक और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीड़ायें प्राप्त होती हैं । मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशों का नाश करके आनन्द से रहें ॥५॥

परि धामान्यासामाशुर्गाण्डाभिवासरन् ।

अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

भाषार्थः—[वे विद्वन्] (आसाम्) इन [पीड़ाओं] के (धामानि) घरों को

(परि) सब प्रकार (असरन्) पहुँच गए हैं । (आशुः इव) जैसे शीघ्रगामी घोड़ा (गाष्ठाम्) अपने गमन स्थान [यान] पर । (वः) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) संग्रामों को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है, (सवान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओं ।] (इतः) यहाँ से (नश्यत) चंपत हो जाओ ॥६॥

भाषार्थः—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे कि घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने यान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आई हुई विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ॥६॥

‘असरन्’ के स्थान पर सायणभाष्य में ‘असरम्’ और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन में निर्भय रहे ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा विभेः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(पृथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) दोनों (न) न (रिष्यतः) दुःख देते हैं, और (न) न (विभीतः) डरते हैं । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण । तू (मा विभेः) मत डर ॥१॥

भाषार्थः—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़ कर और सुकर्मों को कर के सदा निर्भय और सुखी रहता है ॥१॥

यथा द्यौश्च रात्री च न विभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा विभेः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(द्यौः) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनों (न) न (रिष्यतः) दुःख देते हैं और (न) न (विभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण । तू (मा विभेः) मत डर ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं ॥२॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिप्यतः ।

एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्र दोनों (न) न (रिप्यतः) दुःख देते हैं और (न) न (विभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ? तू (मा विभेः) मत डर ॥३॥

भाषार्थः—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेदविहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न विभीतो न रिप्यतः ।

एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनों (न) न (रिप्यतः) दुःख देते और (न) नहीं (विभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा विभेः) मत डर ॥४॥

भाषार्थः—जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वराज्ञा पालन में निर्भय होकर आनन्द उठावे ॥४॥

यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिप्यतः ।

एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च) और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिप्यतः) दुःख देते, और (न) न (विभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा विभेः) मत डर ॥५॥

भाषार्थः—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं । मनुष्य विधि और निषेध के

यथावत् रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चलें और अचल आनन्द भोगें ॥५॥

यजुर्वेद में वर्णन है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥ य० १९।७७॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये । (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा असीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया ।

यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिष्यतः ।

एवा में प्राण मा विभेः ॥६॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने द्वारा] काल (न) न (रिष्यतः) दुःख देते और (न) न (विभीतः) डरते हैं (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण । तू (मा विभेः) मत डर ॥६॥

भाषार्थः—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुए हैं और आगे होंगे । इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं ॥६॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा वेवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्युष्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४—५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेशः—आत्म रक्षा के लिये उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मां पातं स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः) मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर बाली [आशीर्वाद] हो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने

वाली स्वास की स्वस्थता स्थापित करें और बलवान् रह कर चिरंजीवी हों ॥१॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—११) हे आकाश और पृथिवी ! दोनों (उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो (स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥२॥

भाषार्थः—सब दिशाओं में मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढ़ानी चाहिये ॥२॥

सूर्यं चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥३॥

भाषार्थः—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र में ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति संसार में स्थिर रखनी चाहिये ॥३॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥४॥

भाषार्थः—(वैश्वानर) हे सबको चलाने वाले (अग्ने) अग्नि ! (विश्वैः) सब (देवैः) इन्द्रियों [वा विद्वानों] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भाषार्थः—शरीर में अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर में अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियों को पुष्ट करें और उत्तम पुरुषों के सत्संग से स्वस्थ और सुखी रहें ॥४॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरंसा पाहि स्वाहा ॥५॥

भाषार्थः—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरंसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥५॥

भाषार्थः—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यों और शक्तियों का उपयोग करें और

अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर सदा बलवान् रहकर
(विश्वम्भर) सर्वपोषक बनें और आनन्द भोगें ॥१॥

सूक्तम् १७ ॥

१—७॥ ईश्वरो देवता ॥ १—६ आसुरी त्रिष्टप्, ७ आनुयुष्णिक् ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिए उपदेश ॥

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥१॥

भावार्थः—[हे ईश्वर] तू (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (दा = दद्याः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥१॥

भावार्थः—(ओजः) बल और प्रकाश का नाम है। वैद्यक में रसादि सात धातुओं से उत्पन्न, आठवें धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और ज्ञानेन्द्रियों की नीरोगता को (ओजः) कहते हैं। जैसे (ओजः) हमारे शरीरों के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यों को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥१॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्रायः मिलता है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि । बलमसि
बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि । मन्युरसि मन्युं मयि
धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ य० १९।९ ॥

तू तेज है, मुझे तेज धारण कर—इत्यादि ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥२॥

भावार्थः—[हे परमात्मा ।] तू (सहः) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सहः) आत्मिक पराक्रम (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥२॥

भावार्थः—अनन्त ब्रह्माण्डों का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है। ऐसा सोचकर विद्यादि उपायों से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ावें ॥२॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर में सब देवता, मनुष्य आदि समाजों का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढ़ा कर सामाजिक बल बढ़ावे ॥३॥

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥४॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (आयुः) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयुः) आयु (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भाषार्थः—ईश्वर ने हमें अन्न, बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बड़ा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढ़ावें ॥४॥

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥५॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥५॥

भाषार्थः—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी ढेर सुनता और संकटों को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरों के दुखों का निवारण करें और वेदादि शास्त्रों का श्रवण करें ॥५॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥६॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर] तू (चक्षुः) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षुः) दर्शन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भाषार्थः—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १०।६०।१ में भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्षः) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चंगी रखे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी और न्यायकारी होवे ॥६॥

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥७॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥७॥

भाषार्थः—परमेश्वर की अथर्व ० १६।६।१। में (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओं की शक्ति वाला कहा है। मनुष्य उसकी अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यों में (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतुः) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्यकर्ता होवे ॥७॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः—१८ अक्षराणि ॥

शत्रुघ्नो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते—शत्रुघ्नों से रक्षा करनी चाहिये इसका उपदेश ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—(भ्रातृव्यक्षयणम्) बैरियों की नाशन शक्ति (असि) तू है, (मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) बैरियों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥१॥

भाषार्थः—(भ्रातृव्य) वह छली पुरुष है जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे। परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियों का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषों का नाश कर के सुख से रहें ॥१॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुघ्नों की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुघ्नों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥२॥

भाषार्थः—जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगे ॥२॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाशशक्ति (अस्ति) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥३॥

भाषार्थः—ईश्वर सर्वशक्तिमान् और महाधनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावे ॥३॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥४॥

भाषार्थः—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मांस खाने वालों की नाश शक्ति (अस्ति) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मांस खाने वालों के मिटाने का बल (दाः) दे । (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावे तथा हिसक सिंह सर्पादि जीवों का भी नाश करें ॥४॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (सदान्वाक्षयणम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (अस्ति) है, (मे) मुझे (सदान्वाचातनम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥५॥

भाषार्थः—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महादुःखी होकर आर्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं । परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान करके, मनुष्य प्रयत्नपूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें ॥५॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्वैवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्षराणि, ५ साम्नी जपती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिए उपदेश ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॑ द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यो) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अग्रिय करता है [घबवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अग्रिय करते हैं ॥१॥

भावार्थः—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती है, और कुप्रयोग से शारीरिक और बाह्य अग्नि दुःखदायी होती, और वही अग्नि सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियों को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे समझना चाहिये ॥१॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुणवान् को प्राप्त करके निखर उठते हैं, परन्तु वही निर्गुणी को पाकर दोष हो जाते हैं ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ ह्रस्तेन॒ तं प्रति॑ ह्र॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॑ द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (ह्रः) नाश शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति ह्र) नाश कर दे (यो) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ के समान ॥२॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं मत्प॑र्च॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒ यं वयं॑ द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चं) प्रदीप्त हो, (यो) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ ॥३॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

अग्ने॒ यत्ते॑ शोचिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॑ द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधनशक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (यो) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

अग्ने॒ यत्ते॑ तेजस्तेन॒ तमतेजसं॑ कृणु॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॑ द्विष्मः ॥५॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यो) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥५॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २० ॥

१—५ ॥ वायुर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगतीछन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिए उपदेश ॥

वायो॒ यत्ते॑ तपस्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒ यं वयं॑ द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व ।] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यो) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥१॥

भाषार्थः—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द बढ़ाता है । सू० १६ म० १ देखें ॥१॥

वायो॒ यत्ते॑ हरस्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि॒ यं वयं॑ द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे, (यो) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चं यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] पर (अर्चं) प्रदीप्त हो (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

वायो यत्तं शोचिस्तेन तं प्रति शोचं यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचं) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥५॥

भाषार्थः—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥५॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिए उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तपं यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य [आदित्य मण्डल ।] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उससे (तम्) प्रति उस [दोष] पर (तपं) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥१॥

भाषार्थः—सूर्यं सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी और सु प्रयोग से सुखदायी होता है ॥१॥

सूर्ये यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य [सूर्य मण्डल] ! (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

सूर्ये यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] पर (अर्चं) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

सूर्ये यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे.....मन्त्र १॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

सूर्ये यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥५॥

भाषार्थः—(सूर्यं) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उन [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) प्रश्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥५॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २२ ॥

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिए उपदेश ॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्रमण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [बोध] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥१॥

भाषार्थः—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावतः अपनी किरणों से अनिष्टों को हटाकर अन्न आदि औषधियों को पुष्ट करके प्राणियों को आनन्द देता है । परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोड़े आदि पशु रोगी हो जाते हैं । इस कुप्रयोग का त्याग करके सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥१॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [बोध] का (प्रति हर) नाश कर डाल, (य) जो (अस्मान्) हमसे.....मन्त्र १॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [बोध] पर (अर्चं) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो ३ 'स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [बोध] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे (यः) जो (अस्मान्) हमसे.....मन्त्र १॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

चन्द्र॒ यत्ते तेज॒स्तेन॒ तमतेज॒सं कृणु॒ यो ३' स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॒ द्विष्मः॑ ॥५॥

भाषार्थः—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्रलोक ।] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥५॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २३ ॥

१-५ ॥ आपो देवताः । १-४ साम्नी जगती, ५ स्वराद् साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग त्याग के लिए उपदेश ॥

आपो॒ यद् व॒स्तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒त यो ३' स्मान् द्वेष्टि॒
यं वयं॒ द्विष्मः॑ ॥१॥

भाषार्थः—(आपः) हे जल [बल पदार्थ !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तपः) प्रताप है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥१॥

भाषार्थः—वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुःख का कारण होता है ऐसे ही राजा सामाजिक नियमों के विरोधी दुष्टों का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥१॥

आपो॒ यद् वो॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒त यो ३' स्मान् द्वेष्टि॒
य वयं॒ द्विष्मः॑ ॥२॥

भाषार्थः—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत) नाश कर डालो, (यः) जो (अस्मान्) हमसे...म० १॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो ३ स्मान् द्वेष्टि

य वयं द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थः—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हमसे ...म० १॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

आपो यद् वं शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो ३ स्मान् द्वेष्टि

य वयं द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थः—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारी (शोचिः) शोषन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध कर दो, (वः) जो (अस्मान्) हमसे ...मन्त्र १॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो ३ स्मान् द्वेष्टि

यं वयं द्विष्मः ॥५॥

भाषार्थः—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तेजः) तेज है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत) कर दो (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) अप्रिय करे (अथवा) (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥५॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ ईश्वरो वेधता । पूर्वार्धाः—१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् २३; ३, ४ निष्पुत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७ भुरिक् साम्नी बृहतीछन्दः, १६; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती १८ अक्षराणि ॥

म०—१-४ । कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः—म० १-४ कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनानां के नाश का उपदेश ॥

शेरंमक शेरंम पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

भाषार्थः—(शेरभक्त) धरे वधकपन में मन लगाने वाले ! (शेरभ) धरे रंघ में भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिनः) धरे लुतरे लोगों ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिसके [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस (पुरुष) को (अस्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुमको (प्राहेतु = प्राहेधीतु) भेजा है, (तम्) उसको (अस्त) खाओ, (स्वा = स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियाँ (अस्त) खाओ ॥१॥

भाषार्थः—जैसे नीतिनिपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दुःखदायी हो और उसके मनुष्य उसकी कुनीतियों को जान कर उसका ही नाश कर दें, और वह लोग आपस में विरोध करके परस्पर मार डालें । इसी प्रकार (आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्वलता और दोषों और उनसे उत्पन्न दुष्ट फलों को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हें एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे ॥१॥

सायणभाष्य में 'स्ता' पद के स्थान में 'सा' पद है और उसका अर्थ 'तस्य शत्रोः यद्वा सा हेतिः' ऐसा किया है, हमारी समझ में बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रों में पु'ल्लिङ्ग शब्दों का, और पिछले पांच मन्त्रों में स्त्रीलिङ्ग का सम्बोधन है ॥

शेष्टं धक् शेष्टं पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेतु तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥२॥

भाषार्थः—(शेष्टधक्) धरे वधकपन में बड़ने वाले ! (शेष्टव) धरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट !] और (किमीदिनः) धरे लुतरे लोगों ! (वः) तुम्हारी (य तवः) पीड़ायें और (हेतिः) (चोट) ... मन्त्र १॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

ओकानुओक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेतु तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

भाषार्थः—(ओक) धरे चोर ! (अनुओक) धरे चोरों के साथी ! (किमी-

बिनऽ) अरे तुम लुतरे लोगो ! (बः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे...मन्त्र १॥ ३॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किंभीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

भावार्थः—(सर्प) अरे सांप [कूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे सांपों के साथी ! (किंभीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (बः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे...मन्त्र १॥ ४॥

भावार्थः—मन्त्र १ के समान ॥४॥

जृणि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किंभीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

भावार्थः—(जृणि) अरी जूड़ी [जाड़े के ज्वर] ! (किंभीदिनीः = ०—न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ !] (बः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे...मन्त्र १॥ ५॥

भावार्थः—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओं और उनके कारण को जानकर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय होकर संसार का उपकार करके भ्रान्तिदित होता है ॥५॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किंभीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

भावार्थः—(उपब्दे) अरी चिदारले वाली ! और (किंभीदिनीः = ०—न्यः) अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (बः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे...मन्त्र १॥ ६॥

भावार्थः—कुवासनाओं और कुचिन्ताओं से मनुष्य [कठोरवादी हो जाता है ॥६॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किंभीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥

भाषार्थः—(अर्जुनि) अरे कुटिनी [दूती !] (किमीदिनीः = न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाग्रो] (यः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें..... मन्त्र ५॥ ७॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में कुवासनाग्रों को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥७॥

भरुजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहेत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

भाषार्थः—(भरुजि—भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदङ्गी, लोमड़ी !] (किमीदिनीः = ०—न्यः) अरी तुम लुतरी [कुवामनाग्रो !] (यः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिसकी [साधिनी] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (यः) तुम को (प्राहेत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियाँ (अत्त) खाओ ॥८॥

भाषार्थः—(भरुजी वा भरुजी) गीदङ्गी को कहते हैं । जैसे गीदङ्गी छल कपट करके पीड़ा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाग्रों के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है । कुवासनाग्रों के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये—म० ५ देखो ॥८॥

टिप्पणी—‘भरुजि’ पद के स्थान में सायणभाष्य में ‘भरुचि’ पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१—५ ॥ पृथिनपर्णी देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

शत्रुनाशाद्योपदेशः—शत्रुओं के नाश के लिए उपदेश ॥

शं नो देवी पृथिनपर्णेशं निर्ऋत्या अकः ।

उग्रा हि कण्वजम्भनी ताम्रभक्षि सहस्वतीम् ॥१॥

भाषार्थः—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृथिनपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली शीवधि रूप परमेश्वर शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियों के] लिए (शम्) सुख, और (निर्ऋत्यं) दुःखदायिनी

अलक्ष्मी, महामारी आदि पीड़ा के लिये (अशम्) दुःख (अकः—अकार्षोत्) किया है। (हि) क्योंकि वह शक्ति (उग्र) प्रचंड और (कष्वजम्भनी) पाप का नाश करने वाली है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्रतीम्) बलवती को (अभक्षि) मैंने भजा वा पूजा है ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर ने सूर्य आदि बड़े बड़ लोकों को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि औषधियाँ अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती हैं, वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि में सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते हैं। परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियों को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनों को दुःख देता है। उस दयालु और प्रचंड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगें ॥१॥

टिप्पणी—‘पृश्नि’ शब्द का अर्थ सूर्य है—निरु० २। २४। और पृथिवी छोटा और विचित्र भी है, और ‘पर्ण’ का अर्थ पालन, और पत्ते हैं। सायणाचार्य ने ‘पृश्निपर्णी’ का अर्थ चित्रपर्णी औषधि लिखा है। शब्दकल्पद्रुमकोष में वर्णन है कि ‘पृश्निपर्णी’ छोटे पत्ते वाली लताविशेष है, उसे बंगला में “चाकुलिया” और नागरी में “चकरोत्” कहते हैं, इसके गुण कटुत्व, और अतिसार, कास, वातरोग, उष्ण, उन्माद, व्रण, और दाहनाशक हैं ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।

तयाहं दुर्गाम्नां शिरौ वृश्चामि शकुनेरिव ॥२॥

भावार्थः—(सहमाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली औषधि रूप परमेश्वरी शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुई है। (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मैं (दुर्गाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषों के (शिरः) शिर को (वृश्चामि) तोड़ डालूँ, (इव) जैसे (शकुनेः) पक्षी के [शिर को तोड़ डालते हैं] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर अपने शत्रुओं और दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ॥२॥

टिप्पणी—‘दुर्गाम्’ शब्द का शब्दकल्पद्रुम कोष में ‘अर्घं’ अर्थात् बवासीर रोग अर्थ भी लिखा है ॥

अ॒राय॑म॒सृक्पा॒वानं॑ यश्च॒ स्फा॒ति जि॒ही॑र्षति ।

ग॒र्भा॒दं क॒ण्वं॑ नाश॒य पृ॒श्नि॒प॒र्णि सह॑स्व च ॥३॥

भाषार्थः—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (यः) जो [रोग] (स्फातिम्) बढ़वार को (जिहीर्षति) छीनना चाहे, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति का नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [रोग] को (सहस्व) जीत ले (च) और (नाशय) मिटा दे ॥३॥

भाषार्थः—जिन आलस्यादि दोषों और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मों से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलीन होकर वंशच्छेद करें, ऐसे दोषों को हम सर्वथा त्यागें, और उस [पृश्निपर्णी] सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक अखण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥३॥

गि॒रि॒मे॒नो॑ आ वेंश॒य क॒ण्वान् जी॒वित॒योप॑नान् ।

तांस्त्वं दे॒वि पृ॒श्नि॒प॒र्ण्यग्नि॒रि॒वानु॑दह॒न्नि॒हि ॥४॥

भाषार्थः—(देवि) हे दिव्य गुरु वाली (पृश्निपर्णि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वर शक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (कण्वान्) पाप रोगों को (गिरिम्) पहाड़ [अगम्य स्थान] में (आ वेंशय) गाड़ दे । और (त्वम्) तू (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्निःइव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुँच ॥४॥

भाषार्थः—जिन (कण्वान्) आत्मदोषों से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पड़े और विघ्न में फँसकर अपकीर्ति मिले, उन दुःखदायी दोषों को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥४॥

टिप्पणी—पातञ्जल योगदर्शन, पाद १ सूत्र ३० में इन विघ्नों का वर्णन किया है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-

लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(संशय) द्विविधा, ४—

(प्रमाद) भूल, ५—(भ्रालस्य) ढीलापन, ६—(अविरति) जंजाल में फँस जाना, ७—(भ्रान्तिदर्शन, भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्धभूमिकत्व) ठिकाने का न पाना, और ९—(अनवस्थितत्वादि) अदृढ़ता, (चित्तविक्षेपाः) चित्त की हलचलें हैं, और (ते अन्तरायाः) वे विघ्न हैं ॥

पराच एनान् प्र णुद् कण्वान् जीवितयोपनान् ।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादौ अजीगमम् ॥५॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगों को (पराचः) ओंधेमुख (प्र णुद्) ढकेल दे । (यत्र) जहाँ (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते हैं, (तत्=तत्र) वहाँ (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] को (अजीगमम्) मैंने पहुँचा दिया है ॥५॥

भाषार्थः—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अंधेरे कारागार में डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और पथ्य पदार्थों के सेवन से भ्रालस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करें ॥५॥

सूक्तम् २६ ॥

१—५ ॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १—२ त्रिष्टुप्, ३—५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेशः—मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्धेपां सहचारं जुजोषं ।

त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥१॥

भाषार्थः—(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह) यहाँ (आ यन्तु) आ जायें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं । (धेयाम्) जिनके (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोषं) शृङ्गीकार किया है । (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (धेयाम्) जिनके (रूपधेयानि) रूपों [शारीरिक रूपों और मानसिक स्वभावों] को (वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) [गोठ, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रखे ॥१॥

भाषार्थः—इस सूक्त में (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है । 'पशु' व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले हैं—” निरु ० ११ ।

२६। अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि। जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुए गौ आदि पशुओं को प्रेम के साथ बाड़े में लाकर बाँधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितों और सम्बन्धियों को, जो वायु लगने अर्थात् कुसंस्कार पाने से भटक गये हों, उन्हें उपकार और प्रीति की दृष्टि से एकत्र करके सभा में नियमबद्ध करे ॥१॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ में प्रायः वेद में आया है, जैसे—

त्वमींशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ॥

अ० २। २८। ३ ॥

तू पृथिवी के पशुओं [प्राणियों] का राजा है जो उत्पन्न हुए हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥ अ० २। ३४। १ ॥

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओं का स्वामी है ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।

सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥२॥

भाषार्थः—(पशवः) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्) इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् संवन्तु) आ आकर मिलें और वह (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी [गोपाल वा सभापति] (प्रजानन्) पहचान पहचान कर [उनको] (आ नयतु) ले आवे (सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप] (एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे। (अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुषः) इन आवे हुएों को (नियच्छ) नियम में बांध कर रख ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सार्यकाल में गौ आदि मिल कर अपने गो वाले के पास आते हैं, और (बृहस्पति) बड़े उपकारी गौ आदि का रक्षक उनको ढूँढ़ २ कर लाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उनको अन्न तृण आदि देकर प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बांध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभापति अपने संगठित सभासदों को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उनका आदर सत्कार करके नियम में रखे ॥२॥

‘अनुमते’ पद के स्थान में सायण भाष्य में ‘अनुगते’ व्याख्यात है ॥

सं संस्त्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पुरुषाः ।

संधान्यस्य या स्फातिः संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

भाषार्थः—(पशवः) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वाः) घोड़े (सम्) मिल कर, (उ) और (पुरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्त्रवन्तु) चले । और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम् = सम् स्त्रवन्तु) मिल कर चले (संस्त्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करूँ ॥३॥

भावार्थः—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ मिल कर रहें एवं प्रयत्नपूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करें, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान तथा भरण पोषण की यथोचित सुधि रखे ॥३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

भाषार्थः—(गवाम्) गौओं का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यों पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मैं सींचता हूँ, और [उन मनुष्यों के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) वृत से (सम्) यथानियम [सींचता हूँ] (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (संसिक्ताः) अच्छे प्रकार सिंचे रहें, [इसलिए] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति में (गावः) गौएँ (ध्रुवाः) स्थायी [रहें] ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्न से गौओं की रक्षा करके उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषों के शारीरिक धातुओं को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढ़ा कर शूरवीर बनावें । इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदों को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते हैं, वही नीतिनिपुण संसार की वृद्धि करते हैं ॥४॥

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से “दूधों तथा ओषधियों से” इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ ह॒रामि ग॒र्वा क्षी॒रमा॒होर्षं धान्यं १' रस॑म् ।

आहृ॑ता अ॒स्माकं वी॒रा आ प॒त्नीरि॒दम॑स्त॒कम् ॥५॥

भावार्थः—(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मैं प्राप्त करूँ, [क्योंकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैंने पाया है । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष (आहृताः) लाये गये हैं, और (पत्नीः=पत्न्यः) पत्नियाँ भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर में (आ=आहृताः) लाई गई हैं ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यों को सदा गौओं की रक्षा करनी चाहिये, जिससे सब स्त्री पुरुष दूध घी का सेवन करके हृष्ट पुष्ट होकर शूरवीर रहें और घरों में सब प्रकार की सम्पत्ति बढ़ती जावे ॥५॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २७ ॥

१-७ ॥ १-६ औषधिदेवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप्छन्दः ॥

बुद्ध्या विवादः कर्तव्य इत्युपदिश्यते—बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छ॒त्रः प्राशं॑ ज॒याति॒ सह॑मानाभि॒भूर॑सि ।

प्राशं॑ प्र॒तिप्रा॑शो ज॒ह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥१॥

भावार्थः—(शत्रुः) वैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुष्क] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभूः) प्रबल (असि) है । (प्राशम्) [मुष्क] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिकूलवादियों को (जहि) मिटादे, (औषधे) हे ताप को पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली औषध के समान बुद्धि उन सबको] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥१॥

भावार्थः—इस सूक्त में ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है। ओषधि का अर्थ निरु० ६। २७ में किया है “ओषधियं ओषत्, दाह वा ताप को पी लेती हैं अथवा ताप में इन को पीते हैं, अथवा ये दोष को पी लेती हैं”।

मन्त्र का आशय जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित ओषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते हैं, ऐसे ही मनुष्य के बुद्धिपूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहिरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥१॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥२॥

भावार्थः—(सुपर्णः) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड़, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुम्ह को (अनु=अन्विष्य) ढूँढ़ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् [पुरुष] ने (त्वा) तुम्ह को (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥२॥

भावार्थः—(सुपर्णः) गिद्ध, मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी में से खोद कर खा जाता है। इसी प्रकार दूरदर्शी, परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथायोग्य उसका प्रयोग करते हैं और सदा जय पाते हैं ॥२॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुम्हको (बाही) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है। (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) महाप्रतापी महा बली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओं के विरोधी अधर्मियों का नाश करते आये हैं, करते हैं और करेंगे ॥३॥

सायणभाष्य में "स्तरीतवे" के स्थान में "तरीतवे" है ।

पाटामिन्द्रो व्यांशनादसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुई [ओषधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिए (वि) विविध प्रकार से (आशनात्) भोजन किया है । (प्राशम्) मुक्त वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥४॥

भावार्थः—जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और बित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही ऐश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओं का नाश करके शान्तिलाभ करते हैं ॥४॥

तीनों संहिताओं के 'पाटाम्' पद के स्थान पर सायणभाष्य में 'पाठाम्' है, और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है । शब्दकल्पद्रुम कोष में लिखा है कि 'पाठा' लता विशेष है, आकनादि भावा नाम है । उसके गुण तिक्तता गुह्यता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि है ।

तयाहं शत्रून्तसाक्ष इन्द्रः सालावृर्का इव ।

प्रशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥५॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) बेरियों को (साक्षे) हरा दूँ, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली [गृह पति] (सालावृर्कान् इव) जैसे घर के भेड़ियों, कुत्ते, बिलाव आदिकों को (प्राशम्) मुक्त वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥५॥

भावार्थः—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्द लाभ करें ॥५॥

रुद्र जलापभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान् कृण्वोषधे ॥६॥

भाषार्थः—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलापभेषज) हे

सुखदायक औषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियों वा निवास स्थानों के प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य में कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (औषधे) हे ताप को पीने वाली [औषधि रूप बुद्धि ! उन सब को !] (अरसान्) फोका (कृणु) कर दे ॥६॥

भाषार्थः—जैसे उपकारी चतुर सदृश सुपरीक्षित औषधियों से संसार में उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥६॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।

अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥७॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जहि) मिटा दे, (यः) जो (नः) हमको (अभि-दासति) दबावे । (नः) हमसे (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों के साथ (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूहि) कवन कर, और (प्राशि) विवाद में (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥७॥

भाषार्थः—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जितता और मिथ्यावादी को हराता है । वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारों को दबाकर और सुविचारों को प्रबल करके आनन्द भोगें । ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ्य वाले हाते हैं । ॥७॥

‘प्राशि’ पद के स्थान पर सायणभाष्य में ‘प्राशम्’ है ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्वैवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धताम्यं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।

मातेवं पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहंसः ॥१॥

भाषार्थः—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्) बढ़े, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यवः) मृत्यु हैं, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषुः) न मारें । (प्रमनाः) प्रसन्न मन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद में [पालती है वैसे ही] (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, वा बड़ा स्नेही

परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र सम्बन्धी (ग्रंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने में बितावे, और प्रयत्न करे कि उसकी मृत्यु निन्दनीय कामों में कभी न हो और न उसके मित्रों में फूट पड़े और न वे दुष्कर्मी हों। और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रों को सता सके। जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद में बालक निर्भय क्रीड़ा करता है, वैसे ही वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओं के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥१॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।

तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥२॥

भाषार्थः—(मित्रः) सर्व प्रेरक, काम में लगाने वाला दिन का समय (वा) और (रिशादाः) अम का भक्षण करने वाला (वरुणः) रात्रि का समय (संविदानौ) दोनों मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम् = जरा—अमृत्युं जरा—मृत्युं वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (तत्) इसलिये (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओं को (विद्वान्) जानने वाला (अग्निः) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा = विश्वानि) सब (जनिमा = ०—मानि) जन्म विधानों को (विवक्ति) बतलावे ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन में लगे रहते हैं, वे ही अन्त में यशस्वी होते हैं, और सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर उनके हृदय में सब उत्तम उत्तम व्यवस्थाओं और नियमों को प्रकट करता जाता है ॥२॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अयानो मेमं मित्रा वधिपुर्मो अमित्राः ॥३॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओं [जीवों] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हो चुके हैं (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्राः) उत्पन्न होंगे। (इमम्) इस पुरुष को (प्राणः) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो = मा + उ) और न (अयानः) अपान [भीतर आने वाला प्रवास]। (इमम्) इस पुरुष को

(मित्राः) मित्र (मा वधित्रः) न मारें, (मो=मा+उ) और न (अमित्राः) अमित्र [विरोधी अर्थात् वैरी लोग] ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उसका स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें ॥३॥

द्यौष्ट्वां पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।

यथा जीवा अदितेरूपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥४॥

भावार्थः—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (द्यौः) सूर्य लोक और (माता) माता [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (संविदाने) दोनों मिले हुए, (त्वा) तुझको (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (यथा) जिससे (अदितेः) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपितः) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक (जीवाः) जीता रहे ॥४॥

भावार्थः—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रखे कि सूर्य का तेज और आकर्षण आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें, जैसे माता पिता सन्तानों पर प्रीति रखते हैं, जिससे वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे ॥४॥

इममेग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् ।

मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदंष्ट्रिथासन् ॥५॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्नि तत्त्व ! (वरुण) हे जल तत्त्व ! (राजन्) हे बड़ी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढ़ाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेतः) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा। (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर। (विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिससे [यह पुरुष] (जरदंष्ट्रिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्त्वों को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रखे, जिससे शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही और यशस्वी होवें ॥१॥

टिप्पणी—बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ में 'मित्रराजन्' एक पद है । परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तकों में 'मित्र राजन्' दो पद हैं वही हमने लिये हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थो देवो त्रिष्टुप्; अन्ये पावास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इसका उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो ३' बलं ।

आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः ॥१॥

भावार्थः—(देवाः) हे व्यवहारकुशल महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्यापक, (सूर्यः) लोकों में चलने वाला, वा लोकों का चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [ब्रह्माण्डों] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्तमान (भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्वः) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल में (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (वर्चः) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्मवर्चस्] (आ) सब ओर से (धात्=घत्तात्) देवे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष में (अग्नि) जो बिजुली आदि रूप से सब शरीरों में बड़ा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बड़े बड़े लोकों को अपने आकर्षण आदि में रखता है, इनके विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढ़ावे और पृथिवी आदि पदार्थों के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरंजीवी बने ॥१॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरश्चिनिधेः ॥

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

भावार्थः—(जातवेदः) हे प्राणियों को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर !

[वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयुः) आयु (धेहि) दे, (त्वष्टः) हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इसको (प्रजाम्) प्रजा जन (अधि-निधेहि) अधिक अधिक संग्रह कर । (सवितः) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इसको (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टता (आसुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयम्) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥२॥

भावार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणों को विचार कर मनुष्य को (जातवदाः) अपने लोगों को जानने वाला, (त्वष्टा) विश्वकर्मा, सब कामों में कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढ़ा कर और संसार में कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगनी चाहिये ॥२॥

२— अग्नि के प्रभाव से शरीर में चेष्टा होती है, और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इन को अनुकूल रखता है वह प्रजावान् धनवान् और आयुष्मान् होता है ॥२॥

आशीर्णं ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।

जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृष्वानो अन्यानधरान्सपत्नान् ॥३॥

भाषार्थः—(नः) हमारे लिये (आशीः) आशीर्वाद [हो] (सचेतसौ) हे समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनों] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम्=०= जस्त्वम्) उत्तम प्रजायें, (दक्षम्) बल, (उत्त) और (द्रविणम्) धन (धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा) [आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतों को (कृष्वानः) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वा भिन्न भिन्न] (सपत्नान्) विपक्षियों को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति=जीता रहे—मन्त्र २ से] ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति मन्त्र २ से है । माता पिता प्रयत्न करें कि उनके पुत्र पुत्री सब सन्तान् बड़े अन्नवान्, बलवान् और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी वर्ण और जितेन्द्रिय होकर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करें ॥३॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुज्जिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।

एष वा द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

भाषार्थः—(एषः) यह [जीव] (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्तः) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्टः) शिक्षा किया हुआ, और (मरुज्जिः) शूर वीर महात्माओं करके (प्रहितः) भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी होकर, (नः) हम लोगों में (आ अगन्—अगमत्) आया है। (द्यावापृथिवी =०—व्यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) मोद में [यह जीव] (मा क्षुधत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिक्षा दी है, विद्वानों ने उत्तम विद्याओं का अभ्यास कराया है, इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन करके संसार में प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥४॥

ऊर्जैस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।

ऊर्जैस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥५॥

भाषार्थः—(ऊर्जस्वती=०—व्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता] दोनों ! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती=०—व्यौ) हे दूध वाली तुम दोनों ! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल (धत्तम्) दान करो। (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै) इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण वाले (मरुतः) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आपः) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधुः] [दिया है] ॥५॥

भाषार्थः—माता पिता संतानों को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करें कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहें। सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ खान पानादि देकर बड़ा उपकार कर रहे हैं। उस से सबको लाभ उठाना चाहिये ॥५॥

शिवाग्निं हृदयं तर्पयाम्यभीषो मौदिषीष्टाः सुवर्चः ।

सवासिनीं पिबतां मन्थमे तमश्विनौ रूपं परिधाय मायाम् ॥६॥

भाषार्थः—[हे जीव !] (शिवाभिः) मङ्गल करने वाली [विद्याओं वा शक्तियों] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय का (तर्पयामि) मैं तृप्त करता हूँ, तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषोष्ठाः) हर्ष प्राप्त कर (सवासिनौ) मिलकर निवास करने वाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अश्विनोः) माता पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिबताम्) पान करें ॥६॥

भाषार्थः—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैंने तुझे अनेक विद्यायें और शक्तियाँ दी हैं तुम दोनों स्त्री पुरुषो ! माता पिता रूप से संसार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्द रस को भोगो ॥६॥

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा तं एषा ।

तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद् भिषजंस्ते अक्रन् ॥७॥

भाषार्थः—(विद्धः) सेवा किये हुए (इन्द्रः) परमेश्वर ने (एताम्) इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रे) पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है । (सा एषः) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तया) उस [अमृत] से (स्वम्) तू (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरदः) बहुत शरद् ऋतुओं तक (जीव) जीता रह, (आ) और [सा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे । (भिषजः) वैद्यां ने (ते) तेरे लिए [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥७॥

भाषार्थः—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उसकी कभी हानि नहीं होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम में लाता है उतना ही वह बढ़ता जाता है और सुखदायक होता है । उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है । बुद्धिमानों ने बुद्धि को महोषधि बताया है ॥७॥

‘ऊर्जाम्’ पद के स्थान पर सायणभाष्य में ‘ऊर्जम्’ व्याख्यात है ।

सुक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशायोपदेशः—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातों मथायति । एवा मध्नामि ते
मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है । (एव) वैसे ही (ते) तेरे (मनः) मन को (मध्नामि) मैं चलाता हूँ, (यथा) जिससे तू (माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (असः) होवे, और (यथा) जिससे तू (मत्) मुझ से (अपगाः) वियोग करने वाली (न) न (असः) होवे ॥१॥

भाषार्थः—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को हूँडे, और कन्या भी अपने सदृश घर हूँडे । इस प्रकार विवाह होने से वियोग न होकर आपस में प्रेम बढ़ता और आनन्द मिलता है ॥१॥

‘भूम्याः’ पद के स्थान पर सायणभाष्य में ‘भूम्याम्’ पद व्याख्यात है ।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग “यथा मां—मन्नापगा असः” अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-३ में भी है ।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

सं वां भगासो अग्नत सं चित्तानि समु व्रता । २॥

भाषार्थः—(च) और (अश्विना=०—नौ) हे कार्य में व्याप्ति वाले माता और पिता, तुम दोनों, (इत्) ही (कामिना=०—नौ) कामना वाले दोनों [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर वक्षथः) आगे बढ़ाओ । (वाम्) तुम दोनों के (भगासः=भगाः) सब ऐश्वर्य (सम् अग्नत) [हम को] मिल गये हैं, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम=सम्+अग्नत) मिल गये हैं, (उ) और भी (व्रता=व्रतानि) नियम और कर्म (सम्+अग्नत) मिल गये हैं ॥२॥

भाषार्थः—वर और कन्या माता पिता आदि बड़ों की भी सम्मति प्राप्त करें । उनके अनुग्रह से दोनों ने विद्या धन और सुवर्ण आदि धन, तथा परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है । यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम में आनन्दवर्धक है ॥२॥

यत् सु०णां विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।

तत्र मे गच्छताद्धवै शल्य इव कुल्मलं यथा ॥३॥

भाषार्थः—(यत्=यत्र) जहाँ (सुपर्णाः) बड़ी पंक्ति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूरदर्शी पुरुष] (विवक्षवः) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवाः) रोगरहित स्वस्थ पुरुष (विवक्षवः) बोलने वाले हों, (तत्र) उस स्थान में [वह वर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या की] (हवम्) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्) पावे, (शल्यः इव) जैसे बाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुलमलम्) अपने दण्ड में [पहुँचती है] ॥३॥

भाषार्थः—जहाँ विद्वान् पुरुषों में रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियों में रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हों, और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहाँ पर उन दोनों के विवाह की बातचीत पहुँचे और ऐसी दृढ़ हो जावे जैसे बाण की कील, बाण की दंडी में पक्की जम जाती है ॥३॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।

कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥४॥

भाषार्थः—[हे वर !] (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय में] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हा और (यत्) जो कुछ [प्रीतिभाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय में स्थित हो] (औषधे) हे ताप नाशक [औषधि रूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्वसुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओं [कन्या] के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥४॥

भाषार्थः—वर हादिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हादिक प्रीति रखे। इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढ़ेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा। (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिए आदरार्थ है, और मन्त्र में जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिए भी समझना चाहिये ॥४॥

एयमगन् पतिं कामा जनिकामोऽहमागमम् ।

अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥५॥

भाषार्थः—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ—अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकामः) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मैं (आ+अगमम्) आया हूँ। (अहम्) मैं (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूँ। (यथा) जैसे (कनिक्रदद्) हीसता हुआ (अश्वः) घोड़ा ॥५॥

भाषार्थः—जैसे बलवान् घोड़ा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम में प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥५॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ दोषों का भी नाश करे ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।

तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वान् इव ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमेः) क्रिमि [कीड़े] की [तर्हणी] नाश करने वाली है, (तया) उससे (क्रिमीन्) सब क्रिमियों को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालूँ, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनों का [पीसते हैं] ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर अपनी अटूट न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दुराचारी को दंड देता है इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषों को नाश करे । क्योंकि छोटे छोटों से ही बड़े बड़े दोष उत्पन्न होकर अन्त में बड़ी हानि पहुंचाते हैं । जैसे कि शिर वा उदर में छोटे २ कीड़े उत्पन्न होकर बड़ी व्याकुलता और रोग के कारण होते हैं ॥१॥

इस सूक्त में क्रिमियों के उदाहरण से क्षुद्र दोषों के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

दृष्टमदृष्टमत्तृहमयो कुरूरुमत्तृहम् । अलगण्डून्तसर्वा-

ञ्छलुनान् क्रिमीन् वचंसा जम्भयामसि ॥२॥

भाषार्थः—(दृष्टम्) दीखते हुए और (अदृष्टम्) न दीखते हुए [क्रिमिगण] को (अतृहम्) मैंने नष्ट कर दिया है, (अयो) और भी (कुरूरुम्) भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिनभिनाने वाले को (अतृहम्) मैंने नष्ट कर दिया है । (सर्वान्) सब (अलगण्डून्) उपधानों [तकियों] में भरे हुए (ञ्छलुनान्)

वेग वेग चलने वाले (किमीन्) कीड़ों को (वचसा) वचन से (जम्भयामसि ॥ ०—मः) हम मार डालें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बड़े २ रोगों के कारण होते हैं, मार डालते हैं, इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषों का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥२॥

२—(वचसा जम्भयामसि) वचन से हम मार डालें । इसका यह अभिप्राय है कि (१) वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, (२) औषधि शीघ्र आदि के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लौरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—‘कुरुत्म्’ के स्थान पर सायणभाष्य में ‘कुरीरम्’ और ‘शलुनान्’ के स्थान पर ‘शलुगान्’ व्याख्यात है ॥

अलगण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।

शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा किमीणां नकिरुच्छिपातै ॥३॥

भाषार्थः—(अलगण्डून्) उपधानों [तकियों] में भरे हुए जन्तुओं को (महता) बड़ी (वधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूँ । (दूनाः) तपे हुए और (अदूनाः) विना तपे हुए [पक्के और कच्चे कीड़े] (अरसाः) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गए हैं । (शिष्टान्) बचे हुए (अशिष्टान्) दुष्टों को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूँ, (यथा) जिससे (किमीणाम्) कीड़ों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिपातै) बचा रहे ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १, और २ के समान है ॥३॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं १ मथो पाष्टैयं किमीन् ।

अवस्कवं व्यध्वरं किमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

भाषार्थः—(अन्वान्त्र्यम्) आंतों में के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर में के (अथो ॥ अथ-उ) और भी (पाष्टैयम्) पसलियों में के (किमीन्) इन सब कीड़ों को, (अवस्कवम्) नीचे २ रंगने वाले [जैसे दद्रु त्रिमि] और (व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीड़ा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (किमीन्) इन सब कीड़ों को (वचसा) वात मात्र से (जम्भयामसि ॥ ०—मः) हम नाश करें ॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र १ और २ के समान है ॥४॥

सायणभाष्य में ‘पाष्टैयम्’ के स्थान पर ‘पाष्णैयम्’ है ॥

ये क्रिमंयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वपर्व १ न्तः ।

ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥५॥

भाषार्थः—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (पर्वतेषु) पहाड़ों में, (वनेषु) वनों में (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में, (पशुषु) गौ आदि पशुओं में और (अप्सु) जल के (अन्तः) भीतर हैं । और (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गए हैं, (क्रिमीणाम्) क्रिमियों के (तत्) उस (सर्वम्) सब (जनिम) जन्म को (हन्मि) मैं नाश करूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब वस्तुओं और अपने शरीरों को शुद्ध रखें कि छोटे बड़े कोई अन्य वलेश न दें, ऐसे ही सब पुरुष आत्मशुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बड़े दोषों को मिटाकर आनन्द से रहें ॥५॥

सायणभाष्य में (ये) के स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान में [तन्वः] है ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १—गायत्री, २—६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेशः—कीड़ों के समान दोषों का नाश करे, इसका उपदेश ॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्नोचन् हन्तु रश्मिभिः ।

ये अन्तः क्रिमंयो गवि ॥१॥

भाषार्थः—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्यः) प्रकाशमान सूर्य (क्रिमीन्)

उन कीड़ों को (हन्तु) मारे और (निघ्नोचन्) अस्त हुआ [भी सूर्य] (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्लिमयः) कीड़े (गवि) पृथिवी के (अन्तः) भीतर हैं ॥१॥

भाषार्थः—(१) प्रातःकाल और सायंकाल में सूर्य की कोमल किरणों और शीतल मन्द, सुगन्धवायुके सेवन से शारीरिक रोग के कीड़ों का नाश होकर मन हृष्ट और शरीर पुष्ट होता है ॥१॥

(२) उदय और अस्त होते हुए सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढ़ापे तक अपने दोषों का नाश करके सदा प्रसन्न रहे ॥

टिप्पणी—इस सूक्त और ३३वें सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सू० २३ से करें ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं किमिं सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यन्छिरः ॥२॥

भाषार्थः—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओं में] नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रींगने वाले [वा चितकवरे] और (अर्जुनम्) संचयशील [वा श्वेत वर्ण] (क्लिमम्) कीड़े को (शृणामि) मैं मारता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, और (यत्) जो (छिरः) छिर है [उसको भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले मकड़ी मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर स्वस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति होती है ॥२॥

टिप्पणी—‘चतुरक्ष’ = चार आंख वाला—ऐसा प्रयोग वेद में अन्यत्र भी आया है, वहाँ भी चारों दिशाओं का ही ग्रहण है। देखिए—

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चतुरक्ष्याः ॥ अ० ४। २०। ७ ॥

तू (कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्ष्याः) चार आंख वाली (शुन्याः) व्याप्ति वाली दिशा की (चक्षुः) आंख है। [ऋ० १०। १४। १०, ११ भी देखिए ॥]

अत्रिबद् वः क्रिपयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनण्म्यहं क्रिमीन् ॥३॥

भाषार्थः—(क्रिमयः) हे कीड़े ! (वः) तुमको (अत्त्रिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जयदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूँ । (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥३॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ में भी है ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।

हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥४॥

भाषार्थः—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वारपाल (हतः) नष्ट होवे । (हतमाता) जिसकी माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हतस्वसा) जिसकी बहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रिमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मार डाला जावे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने दोषों और उनके कारणों को उचित प्रकार से समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषों के प्रधान और गौण कारणों को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥४॥

हतासो अस्य वैशसो हतासः परिवैशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥५॥

भाषार्थः—(अस्य) इस [क्रिमि] के (वैशसः) मुख्य सेवक (हतासः = हताः) नष्ट हों, और (परिवैशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों, (अथो = अथ—उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (क्रिमयः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उनकी सामग्री का सर्वनाश करदे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥५॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।

भिनन्नि ते कुषुम्भं यस्तं विषधानः ॥६॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सींगों को (प्र+शृणामि) मैं तोड़े डालता हूँ, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वितुदायसि) तू सब ओर टक्कर मारता है। (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनन्नि) तोड़ता हूँ (यः) जो (ते) तेरे (विषधानः) विष की घेली है ॥६॥

भाषार्थः—जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगों से अन्य जीवों को सताता है, इसी प्रकार जो धुद्रु क्रिमियों के समान आत्मदोष दिन रात कष्ट देते हैं, उनको और उनके कारणों को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥६॥

‘कुषुम्भम्’ के स्थान पर सायण भाष्य में ‘पुकुम्भम्’ पद है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप्, ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा—शारीरिक विषय में शरीर रक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णौभ्यां छुबुकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

भाषार्थः—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आँखों से (नासिकाभ्याम्) दोनों नथुनों से (कर्णौभ्याम्) दोनों कानों, से (छुबुकात् = चुबकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः) जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [छयी] रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—(१) इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सदैव उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥१॥

(२) सायणभाष्य में ‘छुबुकात्’ के स्थान में ‘चुबुकात्’ है, और ऋग्वेद में भी (छुबुकात्) पाठ है।

(३) इस सूक्त के ७ मन्त्रों के स्थान में ऋग्वेद म० १० सू० १६३ में ६ मन्त्र हैं। मन्त्र ३ का पहिला आधा ‘हृदयात् ते परि...’ और म० ४ का दूसरा आधा ‘यक्ष्मं कुक्षिभ्यां...’ ऋग्वेद में नहीं है, शेष मन्त्र कुछ भेद से हैं। ऋग्वेद में इस सूक्त के ऋषि विबुहा काश्यप हैं ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।

यक्ष्मं दोषण्यं१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुह्री की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हंसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (मंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से और तेरे (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (दोषण्यम्) मुड़्डे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ म० १ के समान है ॥२॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पादवाभ्याम् ।

यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पादवाभ्याम् परि) दोनों कांखों [कक्षाओं वा बगलों] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुदों] से, (प्लीहः) प्लीहा, वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्नः) यकृत [काल खण्ड वा जिगर] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि = ०—मः) हम उखाड़े देते हैं ॥३॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥३॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।

यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेनाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥

भाषार्थः—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मलस्थान] से, (उवरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) कोख में की धेली से, और (नाभ्याः) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥४॥

ऊरुभ्यां ते अष्ट्रीवद्भ्यां पाणिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।

यक्ष्मं भसथ्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं मंससो वि वृहामि ते ॥५॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से, (अण्ठीवज्जुषाम्) दोनों घुटनों से, (पाणिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पंजों से, और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंसतः) गुहा स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासवम्) गुहा के (यक्षम्) क्षयी रोग को (वि ब्रूहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में कटि से नीचे के अवयवों का वर्णन है।
भाषार्थ मन्त्र १ के समान है ॥५॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृंहामि ते ॥६॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्यः) पुठों से और (धमनिभ्यः) नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अंगुलियों से, और (नखेभ्यः) नखों से (यक्षम्) क्षयी रोग को (वि ब्रूहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूँ ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अंगों को यथायोग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रखे, जिससे आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥६॥

अङ्गेअङ्गे लोभिनलोभिन यस्ते पर्वणिपर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं

ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृंहामसि ॥७॥

भाषार्थः—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, (लोभिन-लोभिन) रोम रोम में (पर्वणि-पर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्षम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्टि वाले विद्वान् के (वीबर्हेण) विविध उद्यम से (वि-ब्रूहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥७॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सर्वत्र निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग का नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटा कर प्रसन्नचित्त होता है ॥७॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षायोपदेशः—बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेश ।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (पशुपतिः) पशुओं [जीवों] का स्वामी परमेश्वर (चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (यः) जो (द्विपदाम्) दोपाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे = ईशे) राजा है (सः) वह परमेश्वर (निष्क्रीतः) अनुकूल होकर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजन वा अंग को (एतु) प्राप्त करे । (रायः) धन की (पोषाः) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को (सचन्ताम्) सींचती रहें ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोपाये और गौ आदि चौपाये तथा सब संसार का स्वामी है, वह मनुष्यों के धर्मानुकूल चलने से उनका (निष्क्रीतः) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छावर्ती होकर उन को सब प्रकार का आनन्द देता है ॥१॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।

उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (भुवनस्य) संसार के (रेतः) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्तः) दान करते हुए तुम, (यजमानाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो, (यत्) जो (शशमानम्) उछल कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समीप लाया गया (पाथः) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है [वह हमें] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होवे ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा संसार की वृद्धि और स्थिति का कारण विचार कर सब को सत्य मार्ग का उपदेश करें जिस से मनुष्य ईश्वरकृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थों का [जो सब को सब जगह सुलभ है] यथावत् प्राप्त कर दुःखों से मुक्त होकर आनन्द भोगें ॥२॥

ये वध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्टानग्रे प्रमुमुक्त देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥३॥

भावार्थः—(ये) जो [महाविद्वान्] (वध्यमानम् अनु) बन्धन में पड़ने हुए [जीव] पर (दीध्याना+सन्तः) प्रकाश करते हुए, (मनसा) मन से (च, और (चक्षुषा) नेत्र से (अन्वैक्षन्त) दया से देख चुके हैं, (तान्) उन (अग्ने = अग्ने-वत्समानान्) अग्रगामियों को (अग्निः) सर्वव्यापक, (देवः) प्रकाशस्वरूप, (विश्व-कर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (संरराणः = संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भली प्रकार (मुमुक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ॥३॥

भावार्थः—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दुःख में डूबे हुएों के उद्धार में समर्थ होते हैं, वह सर्व-शक्तिमान् सर्वकर्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनों का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ॥३॥

‘वध्यमानम्’ के स्थान पर ‘वध्यमानम्’ और ‘अनु दीध्यानाः’, दो पद के स्थान पर ‘अनुदीध्यानाः’, एक पद सायण भाष्य में है ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

वायुष्टानग्रे प्र मुमुक्त देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥४॥

भावार्थः—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में बसने वाले, (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) पृथक् २ रूप वाले (सन्तः) होकर (एकरूपाः) एक स्वभाव वाले हैं, (तान्) उन (अग्ने = अग्ने वत्समानान् पशून्) अग्रवर्ती जीवों को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देवः) प्रकाशस्वरूप, (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनों] से (संरराणः = संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भली प्रकार (मुमुक्तु) मुक्त करे ॥४॥

भावार्थः—जो (ग्राम्याः) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन में (एकरूप) तत्पर रहते हैं, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओं को दुःख से छुड़ा कर सदा आनन्द देता है ॥

२—शुद्ध वायु सब प्राणियों को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥४॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वं प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥५॥

भाषार्थः—(प्रजानन्तः) बड़े ज्ञान वाले (पूर्वं=पूर्व वक्ष्यमानाः+भवन्तः) प्रथम स्थान में वर्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्यः) सब के अङ्गों के हित के लिये (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करें ।

[हे मनुष्य !] (विषम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त कर, (शरीरैः) सब अङ्गों के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह, (देवयानैः) देवताओं के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] में (याहि) तू पहुँच ॥५॥

भाषार्थः—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो इवास लें वह संसार के उपकार के लिये ही लें, अर्थात् प्रतिकर्षण परोपकार में लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढ़ावें । और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारों में चतुर हो, और आँख, कान, हाथ, पैर आदि अङ्गों से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढ़ावें, और जिन वेद मार्गों पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते हैं उन्हीं वेदरूपी राजपथों पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगें ॥५॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १ । ३० । २ में अथर्व० का० ६ । सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहाँ देख लीजिये ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

पापत्यागात् सुखलाभ इत्युपदिश्यते—पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये मस्यन्तो न वसून्यानृधुर्यान्ग्नयौ अन्वत्प्यन्त धिष्ण्याः ।

या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टि नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥१॥

भाषार्थः—(ये) जिन मनुष्यों ने (भक्षयन्तः) पेट भरते हुए (वसूनि) धनों को (न) नहीं (यानृधुः) बढ़ाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्याः) बोलने, काम वा बुद्धि में चतुर (अन्वत्प्यन्तः) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषों ने (कृणवद्) अनुताप किया है । [शोक माना है] (तेषाम्) उन [कंजूसों] की

(या) जो (अवयाः) विनाश हेतु (दुरिष्टिः) खोटी सङ्गति है, (विश्वकर्मा) सब कर्मों में चतुर [वा संसार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसंगति] को (नः) हमारे लिये (स्विष्टिम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥१॥

भाषार्थः—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते हैं और जो धन एकत्र करके उपकार नहीं करते, उनकी दशा उदारशील महात्माओं को शोचनीय होती है, सब कर्मकुशल मनुष्यों को [परमेश्वर] सुमति दे कि उनका मन स्वार्थपन छोड़ कर जगत् की भलाई में लगे। सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मों में कुशल होकर, और कुसंगति का दुष्ट फल देख कर दुष्कर्मों से बचें और सदा आनन्द से रहें ॥१॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम् ।

मथव्यान्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥२॥

भाषार्थः—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजाः) मनुष्यादि प्रजाओं पर (अनुतप्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मों के रक्षक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक् किया हुआ (आहुः) बताते हैं। उसने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) संसार का रचने वाला परमेश्वर (तेभिः=तैः) उन [सूक्ष्म विषयों] के साथ (नः) हमें (सं सृजतु) संयुक्त करे ॥२॥

भाषार्थः—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवों पर दया और उपकार करता है वही धर्मात्मा आप्तपुरुष, सत्य सिद्धान्तों को साक्षात् करके आनन्द से संसार में प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मों को हम सब के हृदय में स्थापित करे, जिससे हम पुरुषार्थपूर्वक सदा आनन्द भोगें ॥२॥

टिप्पणी—‘अनुतप्यमानम्’ के स्थान पर ‘अनु तप्यमानम्’ दो पद और मथव्यान्’ के स्थान पर [मथव्यान्] पद सायणभाष्य में हैं ॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः ।

यदेनश्चकृशान बद्ध एष तं विश्वकर्मेन प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥३॥

भाषार्थः—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषों को (सोमपान्) अमृत पान करने वाले (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने

वाला और (समये) समय पर (धीरः) धीर (न) नहीं होता । (एषः) इस पुरुष ने (बद्धः) [अज्ञान में] बन्ध होकर (यत्) जो (एनः) पाप (चक्रवान्) किया है, (विश्वकर्मान्) हे संसार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भोगने के लिये (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अविवेक के कारण मूढ़ होकर अपनी और संसार की हानि कर डालता है । वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप कर और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगे ॥३॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्षदैर्वा मनसश्च सत्यम् ।

बृहस्पतये महिष शुमन्नमो विश्वकर्मेन नमस्ते पाह्य१ स्मान् ॥४॥

भाषार्थः—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घोराः)[पाप कर्मों पर] क्रूर होते हैं, (एभ्यः) उन [ऋषियों] को (नमः) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योंकि (एवाम्) उन [ऋषियों] के (मनसः) मन की (चक्षुः) आंख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है । (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बड़े बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी [आप] को (शुमत्) स्पष्ट (नमः) नमस्कार है, (विश्वकर्मेन) हे संसार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाह्य) रक्षा कर ॥४॥

भाषार्थः—जिन महात्मा प्राप्त ऋषियों के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, संसार को दुःख से मुक्त करने के लिए होते हैं, उनके उपदेशों को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करें, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता है, उस के उपकारों को हृदय में धारण करके उसकी उपासना करें और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठों की रक्षा करते रहें ॥४॥

‘महिष’ के स्थान पर सायण भाष्य में ‘महि सत्’ दो पद हैं ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मेणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

भाषार्थः—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र [नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृतिः) पृष्टि (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूँ । (सुमनस्यमानाः) शुभ चिन्तकों के जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहार-कुशल महात्मा (विश्वकर्मेणा) संसार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुए (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् बारम्बार विचार करके ग्रहण करें। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुए विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥१॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निदेवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७, अनुष्टुप्, ८ गायत्री ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आ नो अग्ने सुमतिं संभ्रूो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोपं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भ्रूः) यथाविधि सम्भरण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (नः) हमारे लिये (भगेन सह+वत्संभ्रानः सन्) ऐश्वर्य के साथ वर्तमान होकर (नः) हममें (आ=आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे। [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है (अस्यै) इस [कन्या] के लिए (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिए है। माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें। जिस से वह कन्या पतिकूल में सब को प्रसन्न रखे और आप आनन्द से रहे। इसी आशय का राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७ । १५२ में वर्णन किया है—“कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ।” “कन्याओं के नियमपूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे]” ॥१॥

‘ओषम्’ के स्थान पर सायण भाष्य में ‘ऊषम्’ है ॥

सोमं जुष्टं ब्रह्मं जुष्टं द्यम्णा संभृतं भगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

भाषार्थः—(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप पर-

मेश्वर के (सत्येन) सत्यनियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय (ब्रह्म-जुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अयम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (संभूतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्ययुक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मैं करता [वा करती] हूँ ॥२॥

भाषार्थः—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है। इसकी रक्षा के लिए सब बड़े बड़े महात्मा प्रवृत्त करते और राजा नियम बनाते हैं। उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करें और उनका विवाह करें ॥२॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्टु सोमो हि राजां सुभगां कृणोति ।

सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (इयम्) यह (नारी) नर [अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्टु) प्राप्त करे, (हि) क्योंकि (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा) राजा [ऐश्वर्य-वान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है। [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्षक वीर पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और (पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक प्रकार से (राजतु) राज्य करे ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनों पति और पत्नी, बड़े ऐश्वर्य वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावें और वीर पुत्र पौत्र आदिकों को उत्तम शिक्षा देते हुए सदा आनन्द भोगें ॥३॥

मनु महाराज ने कहा है—

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्ता भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ मनु० ३।६० ॥

भार्या से भर्ता और भर्ता से भार्या, जिस कुल में संतुष्ट हों, वहां पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथास्वरो मघवंश्चाक्षरेषु प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥४॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे पूजनीय, वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एष) यह (चारुः) सुन्दर (आखरः) खोह और मांद (मृगाणाम्) जंगली पशुओं का (प्रियो)

प्रिय और (सुखदाः) रमणीक घर (बभूव) हुआ है [होता है], (एव = एवम्) ऐसे ही (इयम्) यह (नारी) नारी (भगस्य) ऐश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (संप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराघयन्ती) वियोग न करती हुई (अस्तु) रहे ॥४॥

भावार्थः— जिस प्रकार आरण्याक नर नारी पशु आनन्दपूर्वक अपने बिलों में विश्राम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिलजुल कर उपकार करते हुए सदा सुख से रहें ॥४॥

मनु भगवान् ने कहा है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥मनु० ५।१४८॥

स्त्री बालकपन में पिता के, युवावस्था में पति के, और पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य में 'मघवन' के स्थान में 'मघवान्' और 'अविराघयन्ती' के स्थान में 'अभिराघयन्ती = अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती' है ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

भाषार्थः— [हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अटूट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ़ । और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार लगा, (यः) जो (वरः) वर (प्रति-काम्यः) प्रतिज्ञा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥५॥

भावार्थः— इस मन्त्र में गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [जिम्मेदारी] का वर्णन है । जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बड़ी दृढ़ नौका से जल यात्रियों को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भरपूर और दृढ़ रखे और पति को नियम बांधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥५॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

भाषार्थः—(घनपते) हे घनों की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (अन्वय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर । [उस वर को] (सर्वम्) सर्वथा (प्रवक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (या) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) नियम कर के चाहने योग्य है ॥६॥

भाषार्थः—पत्नी घनों की रक्षा करती है, वह पति को आदरपूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रखे, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे । इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने, और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ वर्तव रखे ॥६॥

टिप्पणी—(१) विवाह संस्कार में वर का आसन वधू के दाहिने हाथ को किया जाता है ॥

(२) मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते हैं—

सदा पृष्ट्या भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ मनु० ५ । १५० ॥

स्त्री वर के कामों में प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, वासन, वस्त्र आदि को संभाल कर रखे, और व्यय करने में हाथ संकोचे रखे ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥७॥

भाषार्थः—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड़ का पका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्षः) महात्माओं के योग्य [वा ऋषभ औषध सम्बन्धी] (भगः) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (एते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्यः) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुम्हें (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुँचाने को (अदुः) दिया है ॥७॥

भाषार्थः—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दौजा, जहेज] में सुन्दर अलंकार, वस्त्र

भोजन पदार्थ, वाहन, गौ, घन आदि देवें, और कन्या को पति सेवा की यथायोग्य शिक्षा करें जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगें ॥७॥

‘गुल्गुलु’ पद के स्थान पर सायणभाष्य में ‘गुग्गुलु’ पद है ॥

आ तं नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।

त्वमस्यै धेहोषधे ॥८॥

भाषार्थः—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु) नायक बनावे, (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) प्रतिज्ञा पूर्वक चाहने योग्य है । (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥८॥

भाषार्थः—यह आशीर्वाद का मन्त्र है । पति और पत्नी उस सर्व-नियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुए परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चलें, जिससे वे दोनों प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर संसार में कीर्तिमान् होवें, और अन्न आदि औषधि के समान सुखदायक होकर सदा हृष्ट पुष्ट बने रहें ॥८॥

यजुर्वेद का वचन है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत श्रं समाः ॥ यजु० ४०।२॥

मनुष्य (इह) यहां (कर्माणि) वेदोक्त कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीयं काण्डम् ॥



* ओ३म् *

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:०❀:०❀:०❀:०❀:—

तृतीयं काण्डम् ॥

—: ❀ :—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

—❀:०❀:०❀:०❀:—

सूक्तम् १ ॥

१—६ ॥ १ अग्निः, २ मरुतः, ३—६ इन्द्रश्च देवताः । १, २, ४ त्रिष्टुप्;
३, ६ अनुष्टुप्; ५ स्वराड् गायत्री ॥

युद्धविद्योपदेशः—युद्ध विद्या का उपदेश ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन् अभिशंस्तिमरातिम् ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हंस्तांश्च कृणवञ्जातवेंदाः ॥१॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (विद्वान्) विद्वान् राजा (अभिशास्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ, (नः) हमारे (शत्रून्) शत्रुओं पर (प्रति, एतु) चढ़ाई करे । (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला वा बहुत धनवाला राजा (परेषाम्) शत्रुओं को (सेनाम्) सेना को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे, (च) और [उन वैरियों को] (निर्हंस्तान्) निहत्वा (कृणवत्) कर डाले ॥१॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रजा में अपकीर्ति और अशान्ति फैलावे, विद्वान्

अर्थात् नीतिनिपुण राजा ऐसे दुष्टों और उनके साधियों को यथावत् दण्ड देवे, जिससे वे लोग निर्बल होकर उपद्रव न मचा सकें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सूक्त २ मन्त्र १ में है ।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।

अभीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतुं विद्वान् ॥२॥

भाषार्थः—(मरुतः) हे शत्रुघातक शूरो ! (यूयम्) तुम (ईदृशे) ऐसे [कर्म, संग्राम] में (उग्राः) तीव्रस्वभाव (स्थ) हो । (अभि, प्र, इत) आगे बढ़ो, (मृणत) मारो, और (सहध्वम्) जीत लो । (इमे) इन (नाथिताः) प्रार्थना किये हुए (वसवः) श्रेष्ठ पुरुषों [मरुत् गरुणों] ने [दुष्टों को] (अभीमृणन्) मरवा डाला है । (एषाम्) इन शत्रुओं का (दूतः) दाहकारी (अग्निः) अग्नि [समान] (विद्वान्) विद्वान् राजा (हि) अवश्य करके (प्रत्येतु) चढ़ाई करे ॥२॥

भाषार्थः—जो शूरवीर संग्रामविजयी हों, जो बैरियों के नाश करने में सहायक रहे हों, उन वीरों को अग्रगामी करें और उनका उत्साह बढ़ाते रहें, और राजा विजयी सेनापतियों की पुष्टि करता हुआ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥२॥

टिप्पणी—‘मरुतः’ देवताओं के लिये अ० १ । २० । १ देखिये ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रयतीमभि ।

पुवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥३॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे धनवान्, (वृत्रहन्)अन्धकार वा शत्रुओं के नाश करने वाले, (इन्द्र) सूर्य [समान तेजस्वी] (च) और (अग्निः) हे अग्नि [समान शत्रुदाहक] ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्) हम पर (शत्रूयतीम्) शत्रुओं के समान आचरण करती हुई (अमित्रसेनाम्) बैरियों की सेना को (अभि = अभिभूय) हराकर (तान्) चोरों वा म्लेच्छों को (प्रति, दहतम्) जला डालो ॥३॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करके और अग्नि अशुद्धतादि दुर्गुणों को जलाकर हटाते और अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं, ऐसे ही धनी और प्रतापी राजा कुमागियों को हटाकर उपकारी हों ॥३॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।

जहि प्रतीचीं अनूचः परांचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (प्रवता) उत्तम गति वा मार्ग से (हरिभ्याम्) स्वीकरण और प्रापण [ग्रहण और दान] के साथ (ते) तेरा (प्रसूतः) चलाया हुआ (वज्रः) वज्र अर्थात् दण्ड (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) पीड़ा देता हुआ (प्र, एतु) आगे चले । (प्रतीचः) सन्मुख आते हुए, (अनूचः) पीछे से आते हुए और (पराचः) तिरस्कार करके चलते हुए [शत्रुओं] को (जहि) नाश करदे, और (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्त को (विष्वक्) सब प्रकार (सत्यम्) सत्पुरुषों का हितकारी (कृणु) बना दे ॥४॥

भाषार्थः— नीतिज्ञ राजा प्रजा और शत्रुओं से कर लेकर उन के हित-कार्य में लगावे, जिससे सब बाहिरी भीतरी शत्रु लोग नष्ट होकर दबे रहें और श्रेष्ठों का पालन किया करें ॥४॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहय) व्याकुल कर दे । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) भोंके से (विषूचः) सब ओर फिरने वाले (तान्) चोरों को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥५॥

भाषार्थः— राजा अपनी सेना के बल से शत्रुसेना को जीते और जैसे दावानल वन को भस्म करता और प्रचंड वायु वृक्षादि को गिरा देता है, वैसे ही विघ्नकारी वैरियों को मिटाता रहे ॥५॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । २ । ३ । में आया है ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।

चक्षूष्यग्निरा दंशां पुनरेतु पराजिता ॥६॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) प्रतापी सूर्य (सेनाम्) [शत्रु] सेना को (मोहयतु) व्याकुल करदे । (मरुतः) दोष नाशक पवन के भोंके (ओजसा) बल से (घ्नन्तु) नाश करदें । (अग्निः) अग्नि (चक्षूषि) नेत्रों को (आ, दत्ताम्) निकाल लेवे । [जिससे] (पराजिता) हारी हुई सेना (पुनः) पीछे (एतु) चली जावे ॥६॥

भाषार्थः—युद्धकुशल सेनापति राजा अपनी सेना का व्यूह ऐसा करे जिससे उसकी सेना धूर्ता, वायु और अग्नि वा बिजुली और जल के प्रयोग वाले अस्त्र, शस्त्र, विमान, रथ, नौकादि के बल से शत्रु सेना को नेत्रादि से अंग भंग करके सब्बदा हरा कर भगा दे ॥६॥

सूक्तम् २ ॥

१—६ ॥ १—२ अग्निः, ३—४ इन्द्रः, ५ अश्वि । ६ मरुतो देवताः । १, ५,
६ त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्यमुपदिश्यते । सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्निर्नोदूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्भिर्वास्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥१॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (दूतः) अग्रगामी वा ताप-
कारी (विद्वान्) विद्वान् राजा (नः) हमारे लिये (अभिवास्तिम्) मिथ्या अपवाद
और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ (प्रत्येतु) चढ़ाई
करे । (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला [सेनापति] (परेषाम्)
शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे (च) और [उनको]
(निर्हस्ताम्) निहत्या (कृणवत्) कर डाले ॥१॥

भाषार्थः—राजा सेनादि से ऐसा प्रबन्ध रखे कि प्रजा गण आपस
में मिथ्या कलङ्क न लगावें और न वैर करें और दुराचारियों को दंड देता
रहे कि वे शक्तिहीन होकर सदा दबे रहें, जिससे श्रेष्ठों को सुख मिले और
राज्य बढ़ता रहे ॥१॥

यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त १ मन्त्र १ में कुछ भेद से है ॥

अयमग्निर्मुमुहुद् यानि चित्तानि वो हृदि ।

वि वो धमत्वोक्तसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) इस (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] ने (चित्तानि)
उन ज्ञानों को (अमुमुहुद्) उलट पलट कर दिया है (यानि) जो (वः)
तुम्हारे (हृदि) हृदय में [ये] । वह (वः) तुमको (ओक्तसः) घर से (वि, धमतु)
निकाल देवे, वह (वः) तुमको (सर्वतः) सब स्थान से (प्र, धमतु) बाहिर कर
देवे ॥२॥

भाषार्थः—जिस सेनापति राजा ने दुष्टों को वश में करके रक्खा था,
वह राजा विरोधियों को प्रतिज्ञा भंग करने पर देशनिकाला आदि दण्ड
देवे ॥२॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवाङ्मातृया चर ।

अग्नेर्वातस्थ धाम्या तान् विभृचो वि नोक्षथ ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! [शत्रुओं के] (चित्तानि) चित्त को (मोहयन्) व्याकुल करता हुआ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आकृत्या) उत्तम संकल्प से (चर) आ । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्रान्या) भोंके से (तान्) उन (विषूचः) विरुद्ध गति वालों को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥३॥

भाषार्थः—जैसे अग्नि और वायु मिलकर प्रचंड हो जाते हैं, इसी प्रकार राजा प्रचण्ड होकर दुष्टों को दण्ड देवे और सत्कर्मी पुरुषों का शिष्टाचार करे ॥३॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । १ । ५ में आ चुका है ॥

व्याकृतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदद्यैषां हृदि तदैषां परि निर्जहि ॥४॥

भाषार्थः—हे (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (आकृतयः) विचारो ! (वि) उलट पलट होकर (इत) चले जाओ, (अथो) और हे (चित्तानि) इनके चित्तो ! (मुह्यत) व्याकुल हो जाओ ।

(अथो) और [हे राजन्] (यत्) जो कुछ [मनोरथ] (अथ) अब (एषाम्) इनके (हृदि) हृदय में है, (एषाम्) इनके (तत्) उस [मनोरथ] को (परि) सर्वथा (निर्जहि) नाश कर दे ॥४॥

भाषार्थः—नीतिकुशल राजा दुराचारियों में पुरस्पर मतभेद करादे और उनका मनोरथ सिद्ध न होने दे ॥४॥

अभीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।

अभि मेहि निर्देह हृत्सु शोकैर्ग्राह्या मित्रास्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥

भाषार्थः—(अप्ये) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देने वाली सेना (अभीषाम्) उन [शत्रुओं] के (चित्तानि) चित्तों, और (अङ्गानि) शरीर के अवयवों और सेना विभागों को (प्रतिमोहयन्ती) व्याकुल करती हुई (गृहाण) पकड़ ले, और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि) चारों ओर से (प्र, इहि) धावा कर (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्वह) जलन करदे, और (ग्राह्या) ग्रहण शक्ति [बन्धनादि] से और (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) छेद डाल ॥५॥

भाषार्थः—सेनापति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि उसकी उत्साहित सेना धावा करके अश्ववार अश्ववारों को, रथी रथियों को, पदाति

पदातियों को व्याकुल कर दें, अर्थात् आग्नेय अस्त्रों से धूँआ धड़क, और वारुण्य अस्त्रों से बन्धन में करके जीत लें ॥५॥

इस मन्त्र का ऋग्वेद १० । १०३ । १२ । यजुर्वेद १७ । ४४ । सामवेद उ० ६ । ३ । ५ तथा निरुक्त ६ । ३३ में इस प्रकार समान पाठ है ॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यध्वे परंहि ।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

(अध्वे) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देने वाली सेना ! (अमीषाम्) उनके (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) व्याकुल करती हुई (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि) चारों ओर से (प्र, इहि) आगे बढ़ (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन कर दे । (अन्धेन) गाढ़े [दृष्टि रोकने वाले] (तमसा) अन्धकार से (अमित्राः) पीड़ा देने वाले लोग (सचन्ताम्) संयुक्त हो जावें ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६॥

भाषार्थः—(मरुतः) हे शूर पुरुषो (परेषाम्) वैरियों की (असौ) वह (या) जो (सेना) सेना (अस्मान्) हम पर (अभि) चारों ओर से (अोजसा) बल के साथ (स्पर्धमाना) ललकारती हुई (आ-एति) चढ़ी आती है । (ताम्) उसको (अपव्रतेन) क्रियाहीन कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से (विध्यत) छेद डालो, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (अन्यः) कोई (अन्यम्) किसी को (न) न (जानात्) जाने ॥६॥

भाषार्थः—सेनापति अपनी पलटनों को घातस्यानों में इस प्रकार खड़ा करे कि आती हुई शत्रुसेना को रोक कर सब नष्ट करदेवें ॥६॥

(मरुतः) शब्द के लिए अ० १ । २० । १ । देखो ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में इस प्रकार है —

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना ।

तां गृहत तमसापव्रतेन यथामी ऽअन्योऽअन्यन्न जानन् ॥

यजु० । १७ । ४७ ॥

(मरुतः) हे शूरो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ या सेना) वह जो सेना

(नः) हमको (अभि) चारों ओर से (ओजसा स्पर्धमाना) बल के साथ ललकारती हुई (आ, एति) चली आती हैं। (ताम्) उसको (अपव्रतेन तमसा) क्रियाहीन कर देने वाले अन्धकार से (गूहत्) ढक दो, (यथा) जिससे (अमी) वे लोग (अन्यः, अन्यम्) एक दूसरे को (न जानन्) न जानें ॥

सूक्तम् ॥३॥

१-६ ॥ इन्द्रो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५, ६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरुची ।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(अचिक्रदत्) उस [परमेश्वर] ने पुकार कर कहा है, “(इह) यहां पर (स्वपाः) अपने जनों का पालने वाला, अथवा, उत्तम कर्मों वाला प्राणी (भुवत्) होवे ।”

(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (उरुची) बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (रोदसी) सूर्य और पृथिवी में (वि) विविध प्रकार से (अचस्व) गति कर । (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान या ध्यान वाले (मरुतः) शूर और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुम्हें (युञ्जन्तु) मिलें । [हे राजन्] (रातहव्यम्) भेंट वा भक्ति का दान करने वाले (अमुष) उस [प्रजागण] को (नमसा) अन्न वा सत्कार के साथ (आ, नय) अपने समीप ला ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने यजुर्वेद में भी कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत थं समाः ॥ यजु० ४०।२ ॥

मनुष्य (इह, यहां पर (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मों को करता हुआ ही, शत-समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे ॥

इस प्रकार राजा परमेश्वर की आज्ञा पालन और स्वप्रजापालन में कुशल होकर सूर्य विद्या और पृथिवी आदि विद्या में निपुण बन कर विजानी होवे, शूरवीर विद्वान् लोग उससे मिलें और राजा उन भक्त प्रजागणों का सत्कार करे ॥१॥

दूरे चित् सन्तमरुपास इन्द्रया व्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।

यद् गायत्री ब्रह्मतीर्त्तकीप्रसौ सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥२॥

भाषार्थः—(अरुपासः=०—धाः) गति शील [उद्यमी] पुरुष (दूरे) दुर्गम

वा दूर देश में (चित्) भी (सन्तम्) विद्यमान (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) बड़े प्रतापी राजा को (सख्याय) अपना सला बनाने के लिये (आ, व्यावयन्तु) ले आवें । (यत्) क्योंकि (देवाः) व्यवहार कुशल महात्माओं ने (गायत्रीम्) गान क्रिया, (बृहतीम्) स्तुति क्रिया और (अर्कम्) अन्न वा सत्कार क्रिया को (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिये (सौत्रामण्या) सुत्रामा [उत्तमरक्षक] के योग्य भक्ति के साथ (दधुषन्त) एकत्र किया है ॥२॥

भाषार्थः—उद्योगी प्रजागण प्रजापालक नीतिकुशल राजा को दूर देश से भी अपनी सहायता के लिये बुलावें और अनेक प्रकार से उनका उत्साह और अपना आनन्द बढ़ाने के लिये उसका योग्य अभिनन्दन करें, और गायत्री, बृहती आदि छन्दों से भी उसका यश गावें ॥२॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।

इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विद्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥३॥

भाषार्थः—[हे राजराजेश्वर !] (वरुणः) अति श्रेष्ठ (राजा) शासन कर्ता पुरुष (त्वा) तुमको (अद्भ्यः) प्राणों के लिये (ह्वयतु) बुलावे, (सोमः) औषधों का रस निकालने वाला [वैद्यराज] (त्वा) तुमको (पर्वतेभ्यः) [शरीर की] पुष्टियों के लिये (ह्वयतु) बुलावे । (इन्द्रः) बड़ा प्रतापी सेनापति वा निधिपति (त्वा) तुमको (आभ्यः विद्भ्यः) इन प्रजाओं के लिये (ह्वयतु) बुलावे [हे महाराजाधिराज !] (श्येनः) शीघ्र गति वाला [वा बाज पक्षी के समान शीघ्र गतिवाला] (भूत्वा) होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आ, पत) उड़कर आ ॥३॥

भाषार्थः—राजा वरुण, सोम, इन्द्रादि पदवी वाले बड़े २ अधिकारी अपने अधिकार की उन्नति के लिये राजाशा का पालन करें और प्रधान राजा अपनी प्रजा के हित का उद्योग सदा करता रहे ॥३॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परंस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।

अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशन्वश् ॥४॥

भाषार्थः—(श्येनः) शीघ्रगति वाले आ.प (अन्यक्षेत्रे) परदेश में (अपरुद्धम्) रोक दिये गये (चरन्तम्) उत्तम आचरण करते हुए (हव्यम्) बुलाने योग्य पुरुष को (परस्मात्) दूर देश से (आ नयतु) समीप लावें । (अश्विना = ०—नी) सूर्य और चन्द्रमा (ते) तेरे (पन्थाम् = पन्थानम्) मार्ग को (सुगम्) सुगम (कृणुताम्) करें । (सजाताः) हे सजातीय लोगो ! (इमम्) इस [वीर पुरुष] से (अभि-सं-विशन्वश्) चारों ओर से मिलो ॥४॥

भाषार्थः—यदि कोई सत्पुरुष प्रजागण परदेश में रोक दिया गया हो, राजा उसे प्रयत्नपूर्वक बुला लेवे। और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से प्रजा पालन करे जिससे सब प्रजागण उससे मिले रहें ॥४॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अदृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥५॥

भाषार्थः—(प्रतिजनाः) प्रतिकूल जन (त्वा) तुम्हें (ह्वयन्तु) बुलावें। (मित्राः) स्नेही पुरुषों ने (प्रति) प्रत्यक्ष (अदृषत) सेवा की है। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान गुरुवाले] (ते) उन (विश्वे देवाः) सब तेजस्वी पुरुषों ने (विशि) प्रजा में (क्षेमम्) कुशल (अदीधरन्) स्थापित की है ॥५॥

भाषार्थः—जिस राजा को प्रजा गण चुनते हैं, वैसी लोग उस राजा के आधीन रहते हैं। और विद्वान् शूर वीर पुरुष प्रजा में उन्नति करते हैं ॥५॥

यस्ते हवँ विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिद्वावँ गमय ॥६॥

भाषार्थः—(अथ) और (इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! (यः) जो (सजातः) सजातीय (च) और (यः) जो (निष्ट्यः) विजातीय पुरुष (ते) तेरे (हवम्) विज्ञापन में (विवदत्) विवाद करे, (तम्) उसको (अपाञ्चम्) बहिष्कृत [देश बाहिर] (कृत्वा) करके (इमम्) इस [विज्ञापन] को (इह) यहाँ पर (अथ, गमय) जता दे ॥६॥

भाषार्थः—राजा अपने और पराये का विचार छोड़ पक्षपात रहित होकर शान्तिनाशक विवादी पुरुष को देश बाहिर कर दे, और यह विज्ञापन राज्य भर में प्रसिद्ध कर दे जिससे फिर कोई धर्मविरुद्ध चेष्टा न करे ॥६॥

सूक्तम् ४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राज्याभिषेकोत्सवः—राज तिलक का उत्सव ।

आ त्वां गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राह्व विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज । सर्वास्तथा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूप सद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

भाषार्थः—(राजन्) हे राजन् ! (राष्ट्रम्) यह राज्य (त्वा) तुझको (आ, गन् = अगमत्) प्राप्त हुआ है । (वर्चसा सह) तेज के साथ (उत् + इहि = उबिहि) उदय हो । (प्राङ्) अच्छे प्रकार पूजा हुआ, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) रक्षक, (एकराट्) एक महाराजाधिराज (त्वम्) तू (वि, राज) विराजमान हो । (सर्वाः) सब (प्रदिशः) पूर्वादि दिशायें (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु) पुकारें । (उपसद्यः) सबका सेवनीय और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (इह) यहां पर [अपने राज्य में] (भव) तू हो ॥१॥

भाषार्थः—राजा सिंहासन पर विराज कर महाप्रतापी और प्रजा-पालक हो, सब दिशाओं में उसकी दुहाई फिरे, और सब प्रजागण उसकी न्यायव्यवस्था पर चलकर उसका सदा आदर और अभिनन्दन करते रहें ॥१॥

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भञ्जा वसूनि ॥२॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (त्वाम्) तुझको (राज्याय) राज्य के लिये (विशः) प्रजायें, और (त्वाम्) तुझको ही (इमाः) यह सब (पञ्च) विस्तीर्ण वा पांच (देवीः = ०—व्यः) दिव्य गुणवाली (प्रदिशः) महा दिशायें (वृणताम्) स्वीकार करें । (राष्ट्रस्य) राज्य के (वर्ष्मन् = ०—णि) ऐश्वर्ययुक्त वा ऊंचे (ककुदि) गिखर पर (श्रयस्व) आश्रय ले । (ततः) फिर (उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भञ्ज) विभाग कर ॥२॥

भाषार्थः—राजा को सब प्रजागण चुनें । और सब मनुष्यादि प्रजा और चारों पूर्वादि दिशाओं और पांचवी ऊपर नीचे की दिशा के पदार्थ [जैसे आकाश माग और भूगर्भादि के पदार्थ] सब राजा के आधीन रहें और यह बड़ा ऐश्वर्यवान् होकर राजभक्त सुपात्रों को विद्या और सुवर्णादि धनों का दान करता रहे ॥२॥

अच्छं त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः संचरातै ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥३॥

भाषार्थः—(हविनः) पुकार करने वाले (सजाताः) सजातीय लोग (त्वा) तुझको (अच्छं) सम्मुख आकर (यन्तु) मिलें । (अग्निः) आग के समान (दूतः) तापकारी और (अजिरः) वेगवान् [आप] (सम्) यथायोग्य (चरातै) आचरण करें । (जायाः) हमारी धर्मपत्नियाँ और (पुत्राः) कुलशोधक वा बहुरक्षक सन्तान

(सुमनसः) प्रसन्नमन (भवन्तु) रहें। (उग्रः) तेजस्वी तू (बहुं बलिम्) बहुत भेंट को (प्रति) सन्मुख (पश्यासँ) देखे ॥३॥

भाषार्थः—सब भाई बन्धु और प्रजागण राजा से मिले रहें, और प्रसन्न होके (बलि) राजग्राह्य भाग कर आदि देवें, और वह राजा भी उनकी रक्षा में सर्वथा तत्पर रहे ॥३॥

अ॒श्विना त्वाग्रें मि॒त्रावरु॑णो॒भा वि॒श्वे दे॒वा म॒रुत॑स्त्वा ह्यन्तु ।

अ॒धा म॒नो वसु॑दे॒याय कृ॑णुष्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा वसू॒नि ॥४॥

भाषार्थः—(अश्वे) अश्वे वा मुख्य पद पर [विराजमान] (त्वा) तुझको (अश्विना = ०—नौ) सूर्य और चन्द्र, और (उभा = उभौ) दोनों (मित्रावरुणा = ०—णौ) प्राण और अपान वा दिन और रात और (विश्वे देवाः) सब व्यवहार-कुशल (मरुतः) दूर पुरुष (त्वा) तुझको (ह्यन्तु) पुकारें [मार्गदर्शक हों]। (अधा) और, तू (मनः) अपने मन को (वसुदेयाय) धन का दान करने के लिये (कृणुष्व) स्थिर कर। (ततः) फिर (उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसुनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥४॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्र परस्पर आकर्षण से, दिन और रात, प्राण और अपान अपने २ क्रम से, और दूर विद्वान् पुरुष नियम पर चलने से संसार का उपकार करते हैं इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा विचारपूर्वक सुपात्रों को दान देकर प्रजा की उन्नति करे ॥४॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (ततो न उग्रो...) मन्त्र २ में आ चुका है। ऋ० म० ५ सू० १५ म० १५ का भी मिलान करें ॥

स्व॒स्ति पन्था॒मनु॑चरेम॒ सूर्याचन्द्र॒मसो॑ विव ॥

(सूर्याचन्द्रमसो इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान (स्वस्ति) कल्याण-युक्त (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) हम चलते रहें ॥

आ प्र॒ द्रव॒ पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ।

तद॒यं राजा॑ वरु॒णस्तथा॑ह॒ स त्वा॑यम॒हत् स उपे॑दमेहि ॥५॥

भाषार्थः—(परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूर देश से (आ, प्र, इव) आकर पधार। (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०—भ्यौ) सूर्य और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) होंवें। (तथा) वैसा ही (अयम्) यह (राजा)

राजा (वरुणः) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (तत्) वह (आह) कहता है। सो (सः अयम्) इस [वरुण परमेश्वर] ने (त्वा) तुमको (अह्वत्) बुलाया है। (सः = सः त्वम्) सो तू (इदम्) इस [राज्य] को (उप) आदर पूर्वक (आ) आकर (इहि) प्राप्त कर ॥५॥

भाषार्थः—प्रजा गण श्रेष्ठ राजा को दूर देश से भी बुला लेवें, और वह अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करे कि राज्य भर में दैवी और पार्थिव शान्ति रहे, अर्थात् अनावृष्टि और दुर्भिक्षादि में भी उपद्रव न मचे, और आकाश, पृथिवी और समुद्रादि के मार्ग अनुकूल रहें। यही आज्ञा परमेश्वर ने वेदों में दी है, उसको राजा यथावत् माने ॥५॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या ३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणेः संविदानः ।

स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥६॥

भाषार्थः—(इन्द्रेन्द्र) हे राजराजेश्वर ! (मनुष्याः = मनुष्यान्) मनुष्यों को (परेहि) समीप से प्राप्त कर, (हि) क्योंकि (वरुणेः) श्रेष्ठ पुरुषों से (संविदानः) मिलाप करता हुआ तू (सम्) यथाविधि (अज्ञास्थाः) जाना गया है। (सः अयम्) सो इस [अत्येक मनुष्य] ने (त्वा) तुमको (स्वे सधस्थे) अपने समाज में (अह्वत्) बुलाया है। (सः = सः भवान्) सो आप (देवान्) व्यवहार कुशल पुरुषों का (यक्षत्) सत्कार करें, (सः उ = सः उ भवान्) वही आप (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) समर्थ करें ॥६॥

भाषार्थः—प्रजापालक राजा विद्वान् चतुर मनुष्यों से मिलता रहे और सुपात्रों को योग्यतानुसार पदाधिकारी करे ॥६॥

पथ्या रेवतीर्वहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीपुत्रः सुमना वशेह ॥७॥

भाषार्थः—(पथ्याः) मार्ग पर चलने वाली, (रेवतीः = ०—त्यः) धन वाली, (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) विविध आकार वा स्वभाव वाली (सर्वाः) सब [प्रजाओं] ने (संगत्य) मिलकर (ते) तेरे लिये (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण वा श्रेष्ठ [पद] (अक्रन्) किया है। (ताः सर्वाः) वे सब [प्रजायें] (संविदानाः) एकमत होकर (त्वा) तुमको (ह्वयन्तु) पुकारें। (उग्रः) तेजस्वी और (सुमनाः) प्रसन्न जित्त तू (इह) इस [राज्य] में (दशमीम्) दसवीं [नव् वे वर्ष से ऊपर] अवस्था को (वश) वश में कर ॥७॥

भाषार्थः—सब प्रजा गण मिलकर और सुमार्ग में चलकर राजा को सिंहासन पर बिठावें और अपना रक्षक बनावें । और वह राजा भी इस प्रकार से न्याय और आनन्द करता हुआ नीरोग पूर्ण आयु भोगे ॥७॥

सुक्तम् ५ ॥

१—८ ॥ पर्णमणिर्वेता । १, ४ त्रिष्टुप् । २, ३, ५—८ अनुष्टुप् ॥

तेजोबलायुर्धनादिपुष्ट्युपदेशः—तेज, बल, आयु, धनादि बढ़ाने का उपदेश ॥

आयर्मगन् पर्णमणिर्वेली बलेन प्रमृणन् त्सपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (वेली) बली (पर्णमणिः) पालन करने वालों में प्रशंसनीय [परमेश्वर] (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) हमारे वरियों को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (आ अयम्) प्राप्त हुआ है (देवानाम्) इन्द्रियों का (ओजः) बल और (ओषधीनाम्) अन्तादि औषधों का (पयः) रस, (अप्रयावन्=०—वा) भूल न करने वाला वह (मा) मुझको (वर्चसा) तेज से (जिन्वतु) सन्तुष्ट करे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे अन्तर्यामी परम कारण परमेश्वर अपने सामर्थ्य से हमारे विघ्नों को हटाकर हमें ओजस्वी इन्द्रियां और पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ देकर उपकार करता है वैसे ही हम ओजस्वी, पराक्रमी होकर परस्पर उपकार करते रहें ॥१॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

भाषार्थः—(पर्णमणे) हे पालन करने वालों में प्रशंसनीय ! तू (मयि) मुझ में (क्षत्रम्) बल, और (मयि) मुझ में ही (रयिम्) सम्पत्ति (धारयतात्) स्थापित कर । (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (निजः) आप ही (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) बना रहूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति और सुवर्णादि धन प्राप्त करके संसार भर में कीर्ति बढ़ावे और आनन्द भोगे ॥२॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥३॥

भावार्थः—(अम्) जिस (गुह्यम्) गुप्त, (प्रियम्) प्रिय वा हितकारी (मणिम्) प्रशंसनीय [परमेश्वर] को (देवाः) व्यवहार जानने वाले देवताओं ने (वनस्पतौ) वननीय अर्थात् सेवनीय गुह्यों के रक्षक [पुरुष] में (निदधुः) अवश्य दान किया है, (तम्) उस [परमेश्वर] को (अस्मभ्यम्) हमें (देवाः) तेजस्वी महात्मा पुरुष (आयुषा सह) बड़ी आयु के साथ (भर्तवे) हमारे पोषण करने के लिये (ददतु) दान करें ॥३॥

भावार्थः—सूक्ष्मदर्शी देवताओं ने निश्चय किया है कि वह अन्तर्यामी, सर्वहितकारी परमेश्वर प्रत्येक शुभचिन्तक पुरुष में वर्तमान रह कर साहस बढ़ाता है, उसी परमात्मा का उपदेश विद्वान् महात्मा संसार में करें ॥३॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले और (वरुणेन) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, गुरु आदि करके (दत्तः) हमें दिया हुआ और (शिष्टः) सिखाया हुआ (सोमस्य) अमृत का (पर्णः) पूर्ण करने वाला परमेश्वर, (उग्रम्) पराक्रम वाला (सहः) बल [बलरूप], (आ) सब और से (अगन्) मिला है। (बहु) अनेक प्रकार से (रोचमानः) रुचि करता हुआ मैं (तम्) उस [अमृतपूरक परमेश्वर] को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु युक्त (दीर्घायुत्वाय) बड़े जीवन के लिये (प्रियासम्) प्रसन्न करूं ॥४॥

भावार्थः—जब मनुष्य विद्वानों की शिक्षा पाकर शुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर के ज्ञान से आत्मा में बल पाता है, तब वह धर्मात्मा बड़े उत्साह से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ बड़े अर्थात् यशस्वी जीवन के साथ आनन्द भोगता है ॥४॥

‘इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः’ यह पाद, अ० २ । २६ । ४ में और ‘दीर्घायुत्वाय शतशारदाय’ यह पाद, अ० १ । ३५ । १ में आ चुके हैं ॥

आ मारुक्षत् पर्णमणिर्महा अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

भाषार्थः—(पर्णमणिः) पालन करने वालों में श्रेष्ठ परमेश्वर (मह्यं अरिष्ट-
तातये) बड़ी कुशलता के लिए (मा) मेरे (आ, अरुक्षत्) ऊपर बैठा है। (यथा)
जिससे (ग्रहम्) मैं (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले, (उत) और (संविदः)
ज्ञानी पुरुष से (उत्तरः) अधिक श्रेष्ठ (असानि) हो जाऊँ ॥५॥

भाषार्थः—सर्वोपरि परमेश्वर अन्तर्यामी होकर हमें दुष्कर्मों से बचने
की प्रेरणा करता है जिससे हम श्रेष्ठों में अति श्रेष्ठ और ज्ञानियों में अति
ज्ञानी होवें ॥५॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः ।

उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

भाषार्थः—(ये) जो (धीवानः) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (रथकाराः) रथों के
बनाने वाले, और (ये) जो (मनीषिणः) बड़े पण्डित (कर्मारो) कर्मों में गति
रखने वाले शिल्ली जन हैं। (पर्णं) हे पालन करनेवाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू
(ग्रहम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर से
(उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥६॥

भाषार्थः—सब मनुष्यों और विशेष कर राजा लोगों को चाहिये कि
भूमिरथ, आकाशरथ, जलरथ आदि के बनाने वाले और अन्य शिल्पकर्मों
विश्वकर्मा चतुर विद्वानों का सत्कार करते रहें जिससे अनेक व्यापारों से
संसार में उन्नति होवे ॥६॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जो (राजानः) ऐश्वर्य वाले (राजकृतः) राजाओं के बनाने
वाले, (च) और (ये) जो (सूताः) सर्वप्रेरक, (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता लोग हैं।
(पण) हे पालन करने वाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (ग्रहम्) मेरे लिए (सर्वान्) उन
सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु)
कर ॥७॥

भाषार्थः—चक्रवर्ती राजा सबके राजाधिराज परमेश्वर का ध्यान
करता हुआ अपने हितकारी माण्डलिक राजाओं और अन्य प्रधान पुरुषों को
यथोचित व्यवहार से अपना इष्ट मित्र बनाये रखे ॥७॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

भाषार्थः—(मणे) हे प्रशंसनीय परमेश्वर ! तू (पर्णः) हमारा पूर्ण करने वाला, (तनूपानः) शरीर रक्षक और (वीरेण मया) मुझ वीर के साथ (सयोनिः) मिलने योग्य घर में रहने वाला (वीरः) वीर (असि) है । (संवत्सरस्य) सब में यथानियम वास करने वाले [तेरे] (तेन तेजसा) उस तेज से (त्वा) तुझको (बध्नामि) मैं बांधता हूँ ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य उस उत्तम कामनाओं के पूरक, और शरीर रक्षक महापराक्रमी परमेश्वर को अपने साथ सब स्थानों में निवास करता हुआ जानकर, और उसके तेजोमय स्वरूप को हृदय में धारण करके पराक्रमी और तेजस्वी होकर आनन्द भोगे ॥८॥

ईश्वर का जीव के साथ नित्य सम्बन्ध है जैसे—

द्वा सुप॑र्णा स॒युजा॑ सखा॒या स॒प्रा॒नं वृ॑क्षं परि॑षस्वजाते ।

तयो॑र॒न्यः पि॒प्पलं॑ स्वा॒द्वस्य॑न॒श्नन्न॑न्यो॒ अभि॑चाक॒शीति॑ ॥

ऋ० १ । १६४ । २०, अ० ६ । ६ । २० ॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्ति वाले, (सयुजा) समान सम्बन्ध रखने वाले, (सखाया) मित्रों के समान वर्तमान [ईश्वर और जीव] (समानम्) एक (वृक्षम्) सेवनीय [संसार वा वृक्ष] से (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) सम्बन्ध रखते हैं । (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक [जीव, ईश्वराधीन होने से] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम्) फल [पुण्य पाप का] (अस्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि) भले प्रकार [जीवों को] (चाकशीति) देखता है ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ अश्वत्थो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

उत्साहवर्धनायोपदेशः—उत्साह बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।

स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥१॥

भाषार्थः—(सः) वह (पुमान्) रक्षाशील (अश्वत्थः) अश्वत्थामा अर्थात् अश्वों, बलवानों में ठहरने वाला पुरुष, अथवा वीरों के ठहरने का स्थान पीपल का वृक्ष, (पुंसः) रक्षाशील (खदिरात् अधि) स्थिर स्वभाव वाले परमेश्वर से, अथवा खैर वृक्ष से (परिजातः) प्रकट होकर (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं का रोगों को (हन्तु) नाश करे (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) बैरी जानता हूँ (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते हैं] ॥१॥

भावार्थः—जो पुरुष सर्वरक्षक दृढ़ स्वभावादि गुण वाले परमेश्वर को विचार करके अपने को सुधारते हैं, वे शूरों में महाशूर होकर कुकर्मी शत्रुओं से बचाकर संसार में कीर्ति पाते हैं ॥१॥

२—अश्वत्थ, पीपल का वृक्ष, दूसरे वृक्षों के खोखले, घरों की भीतों, और अन्य स्थानों में उगता है और बहुत गुणकारी है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक हो जाता है। लोग बड़ा आदर करके पवित्र पीपल की चित्तप्रसादक छाया और वायु में सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि करते, और इस के दूध, पत्ते, फल, लकड़ी से बहुत औषधियाँ बनाते हैं। शब्दकल्पद्रुम कोष में इसको मधुर, कसेला, शीतल, कफ पित्त विनाशी, रक्तदाहशान्तिकारक आदि, और खदिर अर्थात् खैर को शीतल, तीखा, कसेला, दांतों का हितकारी, कृमि, प्रमेह, ज्वर, फोड़े, कुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रुधिर पांडु और कफ का विनाशक आदि लिखा है ॥

पादमोत्तरखण्ड अध्याय १२६, १६०—१६१ में अश्वत्थ की कथा सविस्तार लिखी है ॥

तान्अश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैवाधदोधतः ।

इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥२॥

भाषार्थ: (अश्वत्थ) हे बलवानों में ठहरने वाले शूर[वा पीपल वृक्ष !]
(बुद्धिमान) अश्वत्थकार मिटाने वाले (इन्द्रेण) सूर्य से, (मित्रेण) प्रेरणा करने वाले वायु
से (च) और (वहणेन) स्वीकार करने योग्य जल से (मेदी+सन्) स्नेही होकर (तान्)
उन (संबन्धबोधतः) विविध भाषा डालने वाले क्रोधशील (शत्रून्) शत्रुओं वा रोगों
को (निः) सर्वथा (शृणीहि) मार डाल ॥२॥

भावार्थ:—राजा सूर्यादि के समान गुणयुक्त होकर भीतरी और बाहरी
वैरियों का और सदैव पीपल के प्रयोग से रोगों का नाश करके प्रजा में
शान्ति रखे ॥२॥

यथांश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

एवा तान्तसर्वाग्निर्भेङ्ग्धि यानहं द्वेष्टि ये च माम् ॥६॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे वीरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (यथा) जैसे (महति) बड़े (अर्णवे अन्तः) समुद्र के बीच में (निरभनः) निश्चय करके तू भद्र करने वाला हुआ है। (एव) वैसे ही (तान् सर्वान्) उन सब को (निर्) निरन्तर (भङ्गिष्वि) नष्ट कर दे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्टिम्) बैरी जानता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते हैं] ॥३॥

भाषार्थ:—मनुष्यों को शूरवीर और सद्ब्रह्म होकर दुःखसागर में डूबे हुए प्रजागणों के उभारने में प्रयत्न करना चाहिये ॥३॥

यः सद्मानश्चरैसि सासदान इव शृणुभः ।

तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्तसहिषीमहि ॥४॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (यः) जो तू (सहमानः) [वैरियों को] दबाता हुआ, (सासहानः) महाबली (ऋषभः) श्रेष्ठ पुरुष वा बलीवर्द वा ऋषभ श्रौषध के समान (चरसि) विचरता है । (तेन स्वया) उस तेरे साथ (वयम्) हम (सपत्नान्) वैरियों को (सहिषीमहि) हरा देंगे ॥४॥

भाषार्थः—प्रजागण शूरवीर नीतिनिपुण राजा और सदैव के सहाय से शत्रुओं को वश में करते रहें। ऋषभ औषध विशेष है। इसको शब्दकल्प-द्रुम कोष में मीठा, शीतल, रक्त-पित्त विरेक नाशक, वीर्य-श्लेष्मकारी, और दाहक्षय प्वरहारी आदि लिखा है ॥४॥

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैर्मोक्ष्यैः ।

अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥५॥

भाषार्थः—(अश्वत्थ) हे शूरो में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (निर्ऋति) अलक्ष्मी (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्ष्यैः) न खुल सकने वाले (पाशैः) पाशों से एनान् इन (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (सिनात्) बांध लेवे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) बैरी जानता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते हैं] ॥५॥

भाषार्थः—राजा सत्पुरुषों के विरोधी दुराचारियों को दूढ़ बन्धनों में डालकर निर्धन और नष्ट कर दे ॥५॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।

एवा मे शत्रोर्भूधानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च ॥६॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (अश्वत्थ) हे शूरो में ठहरने वाले अश्वत्वामा राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (वानस्पत्यान्) सेवकों वा सेवनीय गणों के रक्षक [आप] से सम्बन्ध वाले पुरुषों [वा वृक्ष समूहों] पर (आरोहन्) ऊँचा होकर (अधरान्) नीचे (कृणुषे) तू करता है (एव) वैसे ही (मे शत्रोः) मेरे शत्रु के (भूधनम्) मस्तक को (विष्वक्) सब दिशि से (भिन्धि) तोड़ दे (च) और (सहस्व) जीत ले ॥६॥

भाषार्थः—समस्त और प्रत्येक प्रजागण समर्थ शूरावीर पुरुष वा सदैव्य को नापक बनाकर शत्रुओं और रोगों से अपने को बचावें ॥६॥

तैऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥७॥

भाषार्थः—(ते) वे (अधराञ्चः) अधोगति वाले लोग वा रोग (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) बहुते चले जावें जिससे (वैवाधप्रणुत्तानाम्) विविध बाधा डालने वालों में पड़े हुए लोगों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौटना (न) नहीं (अस्ति) हो ॥७॥

भाषार्थः—महादुष्ट रोग वा दुराचारियों के हटाने के लिए कठिन उपाय करने चाहियें, क्योंकि कोमलता से उनका सुधार नहीं हो सकता ॥७॥

प्रेणान् नुदे मनसा प्र चिरेनोत ब्रह्मणा ।

प्रेणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥८॥

भाषार्थः—(एनान्) इन [शत्रुओं] को (मनसा) मनन शक्ति से, (चित्तेन) ज्ञान शक्ति से (उत) और (ब्रह्मणा) वेदशक्ति से (प्र प्र) सर्वथा (नुदे) मैं हटाता हूँ । (एनान्) इनको (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (अश्वत्थस्य) बलवानों में ठहरने वाले सूर [वा पीपल] की (शाखया) व्याप्ति [वा शाखा] से (प्र, नुदामहे) हम निकाले देते हैं ॥८॥

भावार्थः—प्रत्येक व्यक्ति और सब लोग मिलकर शूरवीर वा पीपल के प्रभाव से आगा पीछा विचारकर शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं ॥८॥

सूक्तम् ७ ॥

१—७ ॥ १—३ हरिणो देवता, ४—७ मन्त्रोक्ताः देवताः । अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिए उपदेश ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥१॥

भाषार्थः—(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) अन्धकार हरने वाले सूर्य रूप परमेश्वर के (शीर्षणि अधि) आश्रय में ही (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है, (सः) उस [ईश्वर] ने (विषाणया) विविध रोगों से (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर से (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर ने आदि सृष्टि में वेद द्वारा हमारे स्वाभाविक और शारीरिक रोगों की औषधि दी है उसी के आज्ञापालन में हमारा कल्याण है ॥१॥

‘हरिण’ शब्दकल्पद्रुम कोष में विष्णु शिव, सूर्य, हंस और पशु-विशेष मृग का नाम है और पहिले चारों नाम प्रायः परमेश्वर के हैं ॥

दूसरा अर्थ

(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) हरिण ने (शीर्षणि अधि) मस्तक के भीतर (भेषजम्) औषध है । (सः) उस [हरिण] ने (विषाणया) [अपने] सींग से (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥१॥

भाषार्थः—मृग के सींग आदि से मनुष्य बड़े २ रोग नष्ट करें। मृग की नाभि में प्रसिद्ध औषधि कुत्सूरी होती है। उस का सींग पसली आदि की पीड़ा में लगाया जाता है, प्रायः घरों में रक्खा रहता है और उस में नीसा-दर भी होता है। विषाणम्=सींग कुण्ड का औषध है ॥१॥

अनु त्वा हरिणो वृषां पञ्चिचतुर्भिर्क्रमीत् ।

विषाणे विष्य गुण्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥२॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (वृषा) परम ऐश्वर्यवाला (हरिणः) विष्णु भगवान् (चतुर्भिः) मांगने योग्य [अथवा चार, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] (पञ्चिः) पदार्थों के साथ (त्वा अनु) तेरे साथ २ (अक्रमीत्) पद जमाकर आगे बढ़ा है। (विषाणे) [परमेश्वर के] विविध दान में [उस रोग को] (विष्य) नाश कर दे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अस्य) इसके (हृदि) हृदय में (गुण्पितम्=गुणितम्) गुंथा हुआ है ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर अनेक उत्तम २ पदार्थ देकर सदा सहायक रहता है। उसकी अनन्त दया से औषधि द्वारा नीरोग रहकर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥२॥

दूसरा अर्थ

[हे मनुष्य !] (वृषा) बलवान् (हरिणः) हरिण (चतुर्भिः पदिमः) चारों पैरों से (त्वा अनु) तेरे अनुकूल (अक्रमीत्) प्राप्त हुआ है।

(विषाणे) हे सींग ! [उस रोग को] (विष्य) नाश कर दे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अस्य हृदि) इसके हृदय में (गुण्पितम्) गुंथा हुआ है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य हरिण के सींग आदि औषधि से रोगनिवृत्ति करें ॥२॥

अशो यद्वरोचते चतुष्पक्षमिवच्छदिः ।

तेना ते सर्वे क्षेत्रियमङ्गभ्यो नाशयामसि ॥३॥

भाषार्थः—(अशो) वह (यत्) जो [वा पूजनीय ब्रह्म] (चतुष्पक्षम्) याचनीय व्यवहारों से युक्त, अथवा चार पक्ष वाले (छविः इव) घर के समान (अश्वरोचते) चमकता है। (तेन) उसके द्वारा (ते अङ्गभ्यः) तेरे अङ्गों से (सर्वम्) सब (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (नाशयामसि=०-मः) हम नाश करते हैं ॥३॥

भाषार्थः—जानी पुरुष उस सर्वत्र विराजमान परब्रह्म को रचनाओं में उत्तम कर्मों से युक्त घर के समान आनन्द पाकर अपने सब विघ्नों का सब जगह नाश करके आगे बढ़े चले जाते हैं ॥३॥

२—हरिण के सींग आदि औषध से रोग नष्ट करना चाहिये ॥३॥

अमु ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधर्म पाशमुत्तमम् ॥४॥

भाषार्थः—(अमु) वे (ये) जो (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (दिवि) आकाश में हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छुड़ा देवे ॥४॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकर्षण से प्रकाश, वृष्टि और पुष्टि आदि देकर संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य सुभाग में चलकर सब विघ्नों को हटाकर स्वस्थ और यशस्वी हों ॥४॥

यह मन्त्र अ० २।८।१। में कुछ भेद से आ चुका है ।

आप इद् वा उं भेषजीरापौ अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

भाषार्थः—(आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर वा जल (इद् वा उं) अवश्य ही (भेषजीः=०-ज्यः) भय निवारक है, (आपः) परमेश्वर, वा जल (अमीव-चातनीः=०-न्यः) पीड़ानाशक है । (आपः) परमेश्वर वा जल (विश्वस्य) सब का (भेषजीः) भय निवारक है, (ताः) वह (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥५॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि, नेत्र, हस्तादि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि, और अन्नादि पदार्थ देकर बड़ा उपकार किया है, सो हम भी उसको धन्यवाद देते हुए सब के साथ उपकार करें, और खेती आदि में जल के सुप्रयोग से पुरानी और नवी वरिद्धता, और स्नान आदि में प्रयोगों से सब रोग नाश करें ॥५॥

‘आपः’ शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, इसी से उस के विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त हैं । ‘आपः’ शब्द परमेश्वरवाची भी है, प्रमाण में अगला मन्त्र है । उसमें एकवचनान्त शब्दों के साथ प्रयोग से उसका अर्थ एक परमेश्वर का है ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमा ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(तत्) विस्तार करने वाला प्रसिद्ध ब्रह्म (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (आदित्यः) प्रकाश स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (वायुः) गतिशील बलवान् और (तत् उ) ब्रह्म ही (चन्द्रमाः) आनन्द कारक है। (तद् एव) ब्रह्म ही (शुक्रम्) शुक्ल वा शुद्धस्वभाव, (तत्) सब में विस्तृत ब्रह्म (ब्रह्म) महान् (ताः) वही (आपः) सर्वव्यापक, और (सः) वही (प्रजापतिः) प्रजापालक है ॥

तनोति विस्तारयतीति तद् ब्रह्म । तनु विस्तारे अदिः, स च ङित् (उ० १।१३२) ।

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।

वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥६॥

भाषार्थः—(यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (क्रियमाणायाः) बिगड़ते हुए (आसुतेः) काढ़े से (त्वा) तुममें (व्यानशे) व्याप गया है । (अहम्) मैं (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (वेद) जानता हूँ । (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (त्वत्) तुम से (नाशयामि) नाश करता हूँ ॥६॥

भावार्थः—विद्वित औषध और विद्वित अन्न के काढ़े वा पाक रस आदि से शरीर में भारी रोग व्याप जाते हैं, मनुष्य हितकारक पदार्थों का सेवन प्रयत्न करके किया करें ॥६॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसांमुत ।

अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥७॥

भाषार्थः—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) छिपने पर (उत) और (उषसाम्) प्रभात वेलाओं के (अपवासे) चले जाने पर (अस्मत्) हमसे (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) अनिष्ट (अप—अप उच्छतु) चला जावे, और (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अप) हट जावे ॥७॥

भावार्थः—यह मन्त्र उपसंहार है, अर्थात् जैसे प्रतापी सूर्य के चमकने पर तारे छिप जाते और उषाओं का रङ्ग फीका पड़ जाता है, वैसे ही उद्योगी पुरुष आलस्यादि अनिष्टों और रोगों को दबाकर आनन्द भोगता है ॥७॥

सूक्तम् ८ ॥

१—६ । प्रजापतिर्मन्त्रोक्ता देवता वा । १ - ४, ६ त्रिष्टुप् ५ अनुष्टुप् ॥

प्रीतिजननायोपदेशः—प्रीति उत्पन्न करने का उपदेश ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्त्रियाभिः ।

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्वृहद् राष्ट्रं संवेशयं दधातु ॥१॥

भाषार्थः—(ऋतुभिः) ऋतुओं से (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ और (उस्त्रियाभिः) किरणों से (पृथिवीम्) पृथिवी को (संवेशयन्) सुखी करता हुआ (मित्रः) मरण से बचाने वाला वा लोकों का चलाने वाला सूर्य (आयातु) आवे । (अथ) और (वरुणः) वृष्टि आदि का जल (वायुः) पवन और (अग्निः) अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (वृहद्) विशाल (संवेशयम्) शान्तिदायक (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) स्थिर करे ॥१॥

भाषार्थः—राजा प्रयत्न करे कि उसके प्रजागण सब ऋतुओं से पृथिवी पर भानुताप [सूर्य की किरणों को कांच के दर्पणों से खींचने का यन्त्र] आदि यन्त्रों द्वारा सूर्य से, जल चक्र, जल नाली आदि द्वारा जल से, पवन चक्रादि द्वारा पवन से, और आग्नेय अस्त्र शस्त्र द्वारा अग्नि से, विमान, अग्निरथ, नौका आदि में अनेक विधि से उपकार लेकर राज्य की उन्नति करें ॥१॥

धाता रातिः संवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्षन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमदिति शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि ॥२॥

भाषार्थः—(धाता) पोषणकर्ता, (रातिः) दानकर्ता, (सविता) सर्वप्रेरक, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान्, और (त्वष्टा) देवशिल्पी वा विश्वकर्मा [यह श्व पुरुष] (मे) मेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य के कारण (वचः) वचन को (जुषन्ताम्) विचारें और (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (हर्षन्तु) स्वीकार करें । (देवीम्) दिव्य गुणवाली, (शूरपुत्राम्) शूर पुत्रों वाली (अदितिम्) अदान वा अखण्ड व्रतवाली देव माता [चतुर स्त्री वा विद्या] को (हुवे) मैं आवाहन करता हूँ, (यथा) जिससे मैं (सजातानाम्) अपने समान जन्मवाले भाई बन्धुओं में (मध्यमेष्टा) प्रधान मध्यस्थ [mediator] होकर (असानि) रहूँ ॥२॥

भाषार्थः— राजा बड़े-बड़े गुणवान् पुरुषों, बड़ी-बड़ी गुणवती स्त्रियों

और विद्या की प्रतिष्ठा बढ़ावे, जिससे वह उनके सहाय से अपनी उन्नति करे ॥२॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।

अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (सोमम्) ऐश्वर्य वाले और (सवितारम्) सर्वप्रेरक पुरुष को और (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदीन देवमाता के पुत्रों वा तेजस्वी शूर जनों को (उत्तरत्वे) श्रेष्ठता के निमित्त (नमोभिः) अनेक स्तुकारों से (हुवे) आवाहन करता हूँ । (अप्रतिब्रुवद्भिः) प्रतिकूल न बोलने वाले (सजातैः) समान जन्म वाले भाई बन्धुओं करके (इद्धः) प्रकाशित किया हुआ (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश तेजस्वी पुरुष] (दीर्घम्) बहुत काल तक (एव) अवश्य (दीदयत्) ज्योति वाला रहे ॥३॥

भाषार्थः—जो राजा शूर वीर सत्यवादी पुरुषों और भाई बन्धुओं का स्तुकार करता रहता है, वह उनकी सहायता से चिरकाल तक तेजस्वी होकर संसार में कीर्ति पाता है ॥३॥

इहेदसाथ न परो गमाथेयौ गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥४॥

भाषार्थः—[हे प्रजापति ! स्त्री पुरुषो !] (इह इव) यहाँ पर ही (असाथ) रहो, (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ, (इयं) अन्नवान् वा विद्यावान् (गोपाः) भूमि, वा विद्या वा गौ का रक्षक, (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी पुरुष (वः) तुम को (आ, अजत्) यहाँ लावे । (अस्मै) इस [पुरुष] के अर्थ (कामाय) कामना [की पूर्ति] के लिए (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम उत्तम-गुण (कामिनीः) उत्तम कामना वाली (वः) तुम प्रजापति को (उप) अच्छे प्रकार से (उपसंयन्तु) आकर प्राप्त हों ॥४॥

भाषार्थः—राजा राज्य की वृद्धि के लिए प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों को नगरों में बसावे और अन्नादि से पोषण करके शुभ गुणों के उपाज्जन में सदा प्रवृत्त रखे ॥४॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूर्तीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥५॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्) ठीक रीति से, (वता=वतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से, (आकूतोः) संकल्पों को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि=०—मः) हम भुक्ते हैं। (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्ध कर्मों (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुम को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि=० मः) हम भुक्ते हैं ॥१॥

भाषार्थः—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों को माने और धर्म पथ में विरुद्ध मत वालों को भी सहमत कर लेवे ॥१॥

अहं गृन्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एतं ॥६॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृन्णामि=गृह्णामि) धामता हूँ, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे पीछे (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ। (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूँ, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानः) मार्ग चलते हुए (आ इत) यहाँ आओ ॥६॥

भाषार्थः—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभा-सदों और प्रजागणों को धर्म पथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥६॥

सूक्तम् ६ ॥

१-६ । प्रजापतिर्व्यवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

विघ्नशमनायोपदेशः—विघ्न की शान्ति के लिए उपदेश ॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र दैवास्तथाप कृणुता पुनः ॥१॥

भाषार्थः—(कर्शफस्य) निर्वल का और (विशफस्य) प्रबल का (द्यौः) प्रकाशमान परमेश्वर (पिता) पिता और (पृथिवी) विस्तीर्ण परमेश्वर (माता) निर्मात्री, माता है। (दैवाः) हे विजयी पुरुषो ! (यथा) जैसे [शत्रुओं को] (अभिचक्र) तुमने हराया था, (तथा) वैसे ही (पुनः) फिर [उन्हें] (अपकृणुत) हटा दो ॥१॥

भाषार्थः—जगत् के माता पिता परमेश्वर ने वृष्टि द्वारा सूर्य और

पृथिवी के संयोग से सब निर्बल और प्रबल जीवों को उत्पन्न किया है, इसलिये सब सबल और निर्बल मिलकर अविद्या, निर्धनता आदि शत्रुओं को मिटाकर आनन्द से रहें ॥१॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।

कृणोमि वध्नि विष्कन्धं मुष्कावर्हो गवामिव ॥२॥

भाषार्थः—(अश्रेष्माणः) दाह [डाह] न करने वाले पुरुषों ने [जगत् को] (अधारयन्) धारण किया है, (तथा) उसी प्रकार से ही (तत्) वह [जगत् का धारण] (मनुना) सर्वज्ञ परमेश्वर करके (कृतम्) किया गया है। (विष्कन्धम्) विष्णु को (वध्नि) निर्बल (कृणोमि) मैं करता हूँ, (गवाम् इव) जैसे बैलों के (मुष्कावर्हः) अण्डकोप तोड़ने वाला [बैलों को निर्बल कर देता है] ॥२॥

भावार्थः—पक्षपातरहित परमेश्वर संसार का धारण पोषण करता है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी से वेर न करके उपकार करते आये हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विष्णुओं को हटाकर उन्नति करे, जैसे दुर्दमनीय बैल को असह्य बल से हीन करके कृषि आदि में चलाते हैं ॥२॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बन्धन्ति वैशसः ।

श्रवस्युं शुष्मं काववं वध्नि कृष्वन्तु बन्धुरः ॥३॥

भाषार्थः—(वैशसः) बुद्धिमान् पुरुष (पिशङ्गे) व्यवस्था वा अवयवों से युक्त वा दृढ़ (सूत्रे) सूत में (तत्) विस्तीर्ण (खृगलम्) खनती वा छिद्र में गलाने वाले, विष्णु को (आ) सब ओर से (बन्धन्ति) बांधते हैं। (बन्धुरः = ० — राः) बन्धुजन (श्रवस्युम्) प्रसिद्ध, (शुष्मम्) सुखाने वाले (काववम्) स्तुतिनाशक शत्रु को (वध्निम्) निर्वीर्य (कृष्वन्तु) कर दें ॥३॥

भावार्थः—विद्वान् लोग वेद द्वारा छोटे छोटों के मेल से बड़ी २ विपत्तियों को हटा देते हैं, इससे सब बान्धव मिलकर बाहरी और भीतरी दोषों को मिटाकर सुख भोगें ॥३॥

येनां श्रवस्यश्चरन्थ देवा इवासुरमायया ।

शुनो कपिरिव दृषणो बन्धुरा काववस्य च ॥४॥

भाषार्थः—(येन) जिन [बल] के साथ (श्रवस्यवः) हे प्रसिद्ध महापुरुषो ! (देवाः इव) विजयी लोगों के समान (असुरमायया) प्रकाशमान ईश्वर की बुद्धि से

(चरथ) तुम आचरण करते हो, [उसी बल के साथ] (शुताम्) कुत्तों के (दूषणः) तुच्छ जानने वाले (कपिः इव) बन्दर के समान (बन्धुरा) बन्धन शक्ति [नीति-विद्या] (च) निश्चय करके (काववस्य) स्तुतिनाशक शत्रु की [तुच्छ करने वाली होती है] ॥४॥

भाषार्थः—शास्त्र बल से प्रसिद्ध पुरुष अन्य महात्माओं का अनुकरण करके तीव्र बुद्धि के साथ उदाहरण बनते हैं, इसी प्रकार सब पुरुष नीति बल से शत्रुओं पर प्रबल रहें, जैसे बन्दर वृक्ष पर चढ़कर कुत्तों से निर्भय रहता है ॥४॥

दुष्ट्यै हि त्वां भत्स्यामि दूषयिष्यामि काववम् ।

उदाश्रवो रथां इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥५॥

भाषार्थः—(दुष्ट्यै) दुष्टता [हटाने] के लिए (हि) ही (काववम्) स्तुति नाशक (त्वा)तुम् को (भत्स्यामि) मैं बांधूंगा और (दूषयिष्यामि) दोषी ठहराऊंगा । (आश्रवः) शीघ्रगामी (रथाः इव) रथों के समान (शपथेभिः = ०—थैः) हमारे शाप अर्थात् दण्ड वचनों से (उत् सरिष्यथ) तुम सब बन्धन में चले जाओगे ॥५॥

भाषार्थः—राजा नाम में घब्बा लगाने वाले दुष्ट को कारागार में रख कर उसके दोष प्रसिद्ध कर दे, और उसके सहायकों को भी उचित दण्ड देवे ॥५॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामग्र उज्जह्रुर्मणि विष्कन्धदूषणम् ॥६॥

भाषार्थः—(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) विघ्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (विष्टिता = ०—तानि) फैले हुए हैं [हे शूर !] (तेषाम् अग्रे, उनके सम्मुख (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न नाशक (मणिम्) प्रशंसनीय मणिरूप (त्वाम्) तुम् को उन्होंने [देवताओं ने] (उत् जह्रुः) ऊंचा उठाया है ॥६॥

भाषार्थः—प्रतिष्ठित लोग राजा को 'एकशतम्' अनेक विघ्नों से रक्षा के लिए अग्रगामी बनाते हैं, इसलिये राजा अपने धर्म का यथार्थ पालन करे ॥६॥

सूक्तम् १० ॥

१—१३ । रात्रिकेकाष्टका वा देवता । १-३, ८-११, १३ अनुष्टुप्, ४ ६, १२ त्रिष्टुप् । षट्पदानुष्टुप् ॥

पुष्टिवर्धनाय प्रकृतिवर्णनम्—पुष्टि बढ़ाने के लिये प्रकृति का वर्णन ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरमवद् यमे ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१॥

भाषार्थः—(सा) वह [ईश्वरी वा लक्ष्मी] (प्रथमा) प्रसिद्ध वा पहली शक्ति [प्रकृति] (ह) निश्चय करके (वि, उवास) प्रकाशित हुई। वह (यमे) नियम में (धेनुः) तृप्त करने वाली [वा गौ के समान] (अमवत्) हुई है। (सा) वह (पयस्वती) दुधेल [प्रकृति] (नः) हम को (उत्तराम्-उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) सम [समान वा लिप्पक्ष] शक्ति से (दुहाम्) भरती रहे ॥१॥

भाषार्थः—इस सूक्त में 'रात्रि' म० और 'एकाटका' म० ५ दोनों शब्द प्रकृति के वाचक हैं। प्रकृति ईश्वर शक्ति वा जगत् की सामग्री, सृष्टि से पहिले विद्यमान थी, उसने ईश्वरनिदम से [मन्त्र २ वा ८ देखो] विविध पदार्थ सूर्य, अन्नादि उत्पन्न किये हैं। विद्वान् लोग प्रकृति के विज्ञान और प्रयोग से अधिक २ ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥१॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध 'सा नः पयस्वती' ऋ० ४।१७।७ में है ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रि धेनुमुपायतीम् ।

संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) महात्मा पुरुष, वा सूर्य, वायु चन्द्रादि दिव्य पदार्थ (उपायतीम्) पास आती हुई (धेनुम्) तृप्त करने वाली (याम्) जिस (रात्रिम्) दानशीला और ग्रहणशीला शक्ति, वा रात्रि रूप [प्रकृति] को (प्रतिनन्दन्ति) अभिनन्दन करते [धन्य मानते] हैं और (या) जो (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले [परमेश्वर] की (पत्नी) पालन शक्ति है, (सा=सा सा) वह ईश्वरी (नः) हमारे लिये (सुमङ्गली) बड़े २ मंगल करने वाली (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थः—प्रकृति ईश्वर नियम से पदार्थों को उत्पन्न करके जीवों को सुख देकर उनका दुःख हरती है, और अनन्त होने से वह रात्रि वा अन्धकार रूप है। विज्ञानी पुरुष खोज लगा २ कर उससे उपकार लेकर विविध उन्नति करते हैं ॥२॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे ।

सा न आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३॥

भाषार्थः—(रात्रि) हे सुखदात्री वा दुःखहर्त्री वा रात्रिरूप [प्रकृति] (संबत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले परमेश्वर की (प्रतिमाम्) प्रतिमा [प्रतिरूप वा प्रतिनिधि] (याम्) सर्वत्र व्यापिनी (त्वा) तुझको (उपास्महे) हम भजते हैं। (सा) वह लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (प्रायुष्मतीम्) चिरंजीविनी (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (संसृज) संयुक्त कर ॥३॥

भाषार्थः—अनन्त परमेश्वरी प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल रूप के ज्ञान से उपकार लेकर हम अपनी सन्तान के सहित धनी, स्वस्थ और चिरंजीवी बने रहें ॥३॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छंदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वभूर्जिगाय नवगज्जनित्री ।४॥

भाषार्थः—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [रात्रि, प्रकृति] हे (या) जो प्रथमा) प्रथम (वि-प्रोच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी २ (महिमानः) महिमार्थे हैं। उस (नवगत्) नवीन २ गति वाली (वभूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है ॥४॥

भाषार्थः—परमाणुरूपा प्रकृति जगत् के सब पदार्थों में प्रविष्ट है। विद्वान् लोग जैसे २ खोजते हैं उसकी नवीन २ शक्तियों का प्रादुर्भाव करके सुख पाते हैं ॥४॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृष्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।५॥

भाषार्थः—(वानस्पत्याः) वनस्पति अर्थात् सेवकों वा सेवनीय गुणों के रक्षक परमेश्वर से संबन्ध वाले (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी, स्तोता पुरुषों ने, (परिवत्सरीणम्) परिवत्सर, सब प्रकार निवास देने वाले परमेश्वर से मित्र किये हुए (हविः) ग्राह्य वस्तु को (कृष्वन्तः) उत्पन्न करते हुए, (घोषम्) ध्वनि (अक्रत) की है।" (एकाष्टके, हे अकेली व्याप्ति वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ! (वयम्) हम लोग (सुप्रजसः) उत्तम सन्तान वाले, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और (रयीणाम्) सब प्रकार के धनों के (पतयः) पति (स्याम्) होंगे" ॥५॥

भाषार्थः—ऋषि मुनि प्रकृति द्वारा परमेश्वर रचित पदार्थों के गुणों के

ज्ञान और प्रयोग से सब प्रकार का सुख भोगते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य उद्योग करके आनन्द भोगें ॥५॥

इडायास्पदं धृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले पुरुष ! (इडायाः) प्राप्ति योग्य [प्रकृति] के (धृतवत्) सारयुक्त और (सरीसृपम्) अत्यन्त रेंगते हुए (पदम् प्रति) पद से (हव्या = हव्यानि) देने लेने योग्य वस्तुओं को (गृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम निवासी, (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले (पशवः) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीव हैं (तेषाम्) उन सब (सप्तानाम्) आपस में मिले हुए प्राणियों की (रन्तिः) प्रीति वा क्रीड़ा (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥६॥

भाषार्थः—सृष्टि विद्या में निपुण पुरुष संसार के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सब प्राणियों को सुखी रखकर आप सुखी रहते हैं ॥६॥

आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रिं देवानां सुमतौ स्याम ।

पूर्णां दर्वे परां पत सुपूर्णा पुनरा पत ।

सर्वान् यज्ञान्संभुज्जतीपमूर्जे न आ भर ॥७॥

भाषार्थः—(रात्रि) हे सुख देने वाली वा दुःख हरने वाली, वा रात्री रूप [प्रकृति] (पुष्टे) धन की समृद्धि (च) और (पोषे) अन्नादि की वृद्धि में (च) निश्चय करके (मा) मुझको (आ=आ भर) भर दे, [जिससे] (देवानाम्) देवताओं की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम रहें। (दर्वे) हे दुःख दलने वाली ! [वा चमसा-रूप !] (पूर्णा) भरी भराई (परापत) ऊपर आ, और (पुनः) बार २ (सुपूर्णा) भले प्रकार भरी भराई (आ पत) पास आ ! (सर्वान्) सब (यज्ञान्) पूजनीय गुणों का (संभुज्जती, ठीक ठीक पालन करती हुई तू (इवम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल (नः) हमें (आ भर) लाकर भर दे ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के गुण साक्षात् करके जितना २ आगे बढ़ता है, उतना २ ही वह धनी और बली होकर देवताओं का प्रिय होता और आनन्द भोगता है ॥७॥

‘पूर्णां दर्वे... पुनरापत’ इतना भाग यजुर्वेद अ० ३।४६ में है, वहाँ ‘दर्वे’ के स्थान पर ‘दर्वि’ पद है ॥

आयमगन्तसंवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।

सा न आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

भाषार्थः—(एकाष्टके) अकेली व्यापक रहने वाली, वा अकेली भोजन स्थान शक्ति ! [प्रकृति] (अयम्) यह (संवत्सरः) यथावत् निवास देने वाला, (तव) तेरा (पतिः) पति वा रक्षक [परमेश्वर] (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । (सा) लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिए (आयुष्मतीम्) बड़ी आयु वाली (प्रजाम्, प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (संसृज) संयुक्त कर ॥८॥

भाषार्थः—विद्वान् साक्षात् कर लेते हैं कि परमेश्वर ही प्रकृति, जगत् सामग्री का स्वामी अर्थात् उसके अंशों का संयोजक और विधोजक है, और प्रकृति के यथावत् प्रयोग से मनुष्य अपनी सन्तान सहित चिरंजीवी और धनी होते हैं ॥८॥

ऋतून यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।

समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

भाषार्थः—(ऋतून) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के स्वामियों [सूर्य वायु आदिकों], (आतवान्) ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थों से (संवत्सरान्) यथाविधि निवास देनेवाले (मासान्) कर्मों के नापने वाले महीनों (उत) और (समाः) सब अनुकूल क्रियाओं को (भूतस्य) सत्ता में आये हुए जगत् के (पतये) पति के (यजे यजे) मैं बार बार अर्पण करता हूँ ॥९॥

भाषार्थः—तत्त्वज्ञानी पुरुष ग्रीष्म, वर्षा, शीतादि ऋतुओं, और उनके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि, एवं संसार के अन्य पदार्थों तथा क्रियाओं का आदि कारण जगत् पिता परमेश्वर को मानते और उसका धन्यवाद करते हैं ॥९॥

ऋतुभ्यंष्ट्वात्वेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।

धात्रे विधात्रे समुधे भूतस्य पतये यजे ॥१०॥

भाषार्थः—[हे काण्डके प्रकृति !] (त्वा) तुझ को (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिए, (आतवेभ्यः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों के लिए, (माद्भ्यः) महीनों के लिए और (संवत्सरेभ्यः) यथावत् निवास देने वाले वर्षों के [सुधार के] लिए, (धात्रे)

धारण करने वाले, (विधात्रे) रचने वाले, (समूधे) यथा नियम बढ़ाने वाले (भूतस्य) जगत् के (पतये) पति के लिए (यजे) मैं समर्पण करता हूँ ॥१०॥

भाषार्थः—परमेश्वर नियम से जगत् की उत्पन्न करने वाली प्रकृति की चेष्टाओं को सब ऋतुओं में देखते हुए विद्वान् लोग अपने समय को उपकार में लगाते हैं ॥१०॥

इड्या जुह्वतो वयं देवान् धृतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं संविशेमोष गोमतः ॥११॥

भाषार्थः—(इड्या) स्तुति योग्य प्रकृति [की विद्या] से (धृतवता = धृतवता कर्मणा) सार युक्त [कर्म] के द्वारा (जुह्वतः) होम [आत्म दान] करने वाले (देवान्) देवताओं को (वयम्) हम (यजे = यजामहे) पूजते हैं [जिससे] (अलुभ्यतः) लृप्णा रहित [सर्वथा भरे पूरे] और (गोमतः) बहुत सी उत्तम २ गौओं वाले (गृहान्) घरों में (उष = उपेत्य) आकर (वयम्) हम (संविशेम) सुख से रहें ॥११॥

भाषार्थः—संसार के ज्ञान से उत्तम कामों में आत्मदान करने वाले महात्माओं के हम आदर पूर्वक अनुगामी बनें और सब कामनाओं तथा घृत दुग्धादि पोषक पदार्थों को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥११॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।

तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

भाषार्थः—(एकाष्टका) अकेली व्यापक रहने वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ने (तपसा) बड़े ऐश्वर्य वाले ब्रह्म द्वारा (तप्यमाना) ऐश्वर्य वाली होकर (गर्भम्) स्तुति योग्य, (महिमानम्) पूजनीय (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वाले जीव को (जजान) प्रकट किया । (तेन) उस [इन्द्र, जीव] के द्वारा (देवाः) प्रकाशमान इन्द्रियों ने (शत्रून्) शत्रुओं [दोषों] को (वि) विविध प्रकार से (असहन्त, हराया है, और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों वा बुद्धियों का पति [इन्द्र, जीव] (दस्यूनाम्) दस्युओं को (हन्ता) मारने वाला (अभवत्) हुआ है ॥१२॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर नियम से प्रकृति के संयोग वियोग से शरीर पाकर इन्द्रियों द्वारा परीक्षा करके दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करके आनन्द भोगते और भुगाते हैं ॥१२॥

‘तपस्’ शब्द ब्रह्म वा परमेश्वरवाची है, जैसे—“ओं तपः । ओं सत्यम्”
प्राणायाम मन्त्र में है । ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६० मन्त्र १ में भी ऐसा वर्णन है ।

ऋतं च सत्यं चाभीद्वात्तपसोऽध्यजायत ॥

(ऋतम्) पथार्थ वेदशास्त्र (च) और (सत्यम्) सत्ता वाला जगत् (च) भी
(अभीद्वात्) सर्वथा प्रकाशमान (तपसःअधि) तप अर्थात् ऐश्वर्य वाले ब्रह्म से ही
(अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।

कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

भाषार्थः—(इन्द्रपुत्रे) हे सूर्य जैसे पुत्र वाली ! (सोमपुत्रे) हे चन्द्रमा जैसे पुत्र-
वाली ! [प्रकृति] तू (प्रजापतेः) प्रजा रक्षक परमेश्वर के (दुहिता) कार्यों की पूर्ण
करने वाली (असि) है, (अस्माकम्) हमारे (कामान्) मनोरथों को (पूरय) पूर्ण
कर, (नः) हमारी (हविः) भक्ति को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर ॥१३॥

भाषार्थः— परमेश्वर ने प्रकृति से सूर्य चन्द्रादि लोक और बड़े बड़े
प्रतापी तथा उपकारी मनुष्य उत्पन्न किये हैं, उस प्रकृति की शक्तियों के
ज्ञानऔर प्रयोग से संसार की भलाई चाहने वाले पुरुष अपनी कामनायें
पूरी करते हैं ॥१३॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—८ ॥ राजपक्ष्मन् देवता । १—४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या
पङ्क्तिः । ८ षट्पदानुष्टुप् ॥

रोगनाशनायोपदेशः— रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमेज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्यां इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (त्वा) तुम को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) मुक्त से (जीवनाय) जीवन के लिए (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राज रोग से (मुञ्चामि) मैं छड़ाता हूँ । (यदि) जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय में (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि ! (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यक्षस्वी होवे ॥१॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० का० २ सू० ६ म० १ से करो ॥

मन्त्र १—४ ऋग्वेद १० । १६१ । १-४ में कुछ भेद से, और फिर अथर्व० २० । ६६ । ६-६ में है । ऋग्वेद में इस सूक्त का ऋषि "प्राजापत्यो यक्ष्मनाशनः" और देवता "राजयक्ष्मघ्नम्" है ॥

यदि क्षितायुर्धदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीति एव ।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पर्धमेनं शतशारदाय ॥२॥

भाषार्थः—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) टूटी आयु वाला, (यदि वा) अथवा (परेतः) अंग भङ्ग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीतिः = नि—इतः) आ चुका है । (तम्) उस को (निर्ऋतेः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूँ, (एनम्) इसको (शतशारदाय + जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (अस्पर्धम्) मैंने प्रबल किया है ॥२॥

भाषार्थः—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी २ रोगियों को चङ्गा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रखे ॥२॥

अथर्व० १ । ३५ । १ में 'दीर्घायुत्वाय शतशारदाय' पाठ है, यहाँ 'जीवनाय' पद मन्त्र १ से लाया गया है ॥

अन्य दो संहिताओं, सायणभाष्य और ऋग्वेद में 'अस्पापम्' पाठ है, परन्तु बम्बई गवर्नमेंट संहिता में शोधा हुआ और अथर्व० का० २० सू० ६६ म० ७ में 'अस्पाशम्' पाठ है। हमने 'अस्पापम्' लिया है।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्पमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥३॥

भाषार्थः—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्र वाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों सामर्थ्य वाले (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहापम्) मैंने उभारा है। (यथा) जिससे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [देही] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति = अतीत्य) निकाल कर (शरदः) [सौ] शरद् ऋतुओं तक (नयाति) पहुँचावे ॥३॥

भावार्थः—जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दशंन शक्ति, कर्मशक्ति और जीविषाशक्ति बढ़ाकर अरने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझा कर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।

शतं त इन्द्रो अग्निः संविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्पमेनम् ॥४॥

भाषार्थः (वर्धमानः + त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं तक (शतम् हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओं तक (उ) और (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीता रह। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (संविता) सबका चलाने वाला, (बृहस्पतिः + अहं जीवः) बड़ों बड़ों के रक्षक मैंने (शतम्) अनेक प्रकार से (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहापम्) उभारा है ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सह कर बहु प्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्यादि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥४॥

ऋग्वेद में (इन्द्रः अग्निः) = इन्द्राग्नी और (आ अहापम् एनम्) = [इमम् पुनः दुः] ॥

प्र विंशतं प्राणापानावन्द्वाहाविव व्रजश्च ।

व्यन्त्ये यन्तु मृत्यो यान्ताहुविराजन्तम् ॥५॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे श्वास और प्रश्वास तुम दोनों, [इस शरीर में] (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (अनड्वाही—इव) रथ ले चलने वाले दो बैल जैसे (वज्रम्) गोशाला में (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटे चले जावें (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य प्राणायाम, व्यायामादि से अपने प्राण और अपान को अनुकूल रखकर शारीरिक अवस्था सुधारे रहें और दुराचारों से बचकर अपना जीवन शुभ कामों में लगावें ॥५॥

इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।

शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥६॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास ! (युवम्) तुम दोनों (इह एव) इसमें ही (स्तम्) रहो, (इतः) इससे (मा अप गातम्) दूर मत जाओ । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर और (अङ्गानि) अंगों को (जरसे) स्तुति के लिये (पुनः) अवश्य (वहतम्) तुम दोनों ले चलो ॥६॥

भाषार्थः—प्राण और अपान वायु का संचार ठीक न होने से रुधिर जम कर रोग उत्पन्न होता है इससे मनुष्य सब शरीर में वायु संचार ठीक रख कर दृढ़ शरीर वाले हों और स्तुति प्राप्त करें ॥६॥

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।

जरा त्वा भद्रा नैष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥७॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (त्वा) तुम्हें (जरायै) स्तुति पाने के लिये (परि) सब प्रकार (ददामि) दान करता हूँ । (जरायै) स्तुति के लिये (त्वा) तेरे (नि धुवामि) निहोरे करता हूँ [अथवा, तुम्हें झुकझोरता हूँ] (जरा) स्तुति (त्वा) तुम्हें (भद्रा—भद्राणि) अनेक सुख (नैष्ट) पहुँचावे । (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटे चले जावें, (यान्) जिन (इतरान्) कामनानाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य कभी नम्र, कभी कठोर होकर स्तुति के लिये अपनी आत्मा लगावे, और निर्धनता, रोगादि मृत्यु के कारणों को हटाकर सुखी रहे ॥७॥

अभि त्वा जरिमाहितं गामुक्ष्णमिव रञ्जय ।

यस्त्वा मृत्युरभ्यर्धत् जायमानं सुपाशया ।

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (जरिमा) निर्बलता ने (त्वा) तुभको (अभि अहित) बांधा है, (उक्षणम्) बलवान् (गाम् इव) बैल को जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से (यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (जायमानम्) उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुए (त्वा) तुभको (सुपाशया) दृढ़ फंसे से (अभि अघत्त) बन्धन में किया है, (तम्) उस [मृत्यु] को (सत्यस्य) सत्य के (ते) तेरे (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के हित के लिये (बृहस्पतिः) बड़ों बड़ों के रक्षक [देवगुरु] परमेश्वर वा आचार्य ने [तुभ से] (उत् अमुञ्चत्) छोड़ा दिया है ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य जन्म से लेकर भूख, पियास, रोग आदि विपत्तियों से ईश्वरदत्त ज्ञान और विद्वानों की रक्षा तथा शिक्षा द्वारा छूट कर दोनों हाथों अर्थात् सब प्रकार से धर्म आचरण के लिये आगे बढ़ता है ॥८॥

सूक्तम् १२ ॥

१—६ । शाला देवता ॥ १, २, ४—६, ८ त्रिष्टुप् । ३ पद्या पङ्क्तिः । ७, ९ अनुष्टुप् ॥

नवशालानिर्माणं प्रवेशश्च नवीन शाला का निर्माण और प्रवेश ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमं तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।

तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥१॥

भाषार्थः—(इह एव) यहां पर ही (ध्रुवाम्) ठहराऊ (शालाम्) शाला को (नि मिनोमि) जमाकर बनाता हूं । वह (घृतम्) घी (उक्षमाणा) सींचती हुई (क्षेम) लब्ध वस्तु की रक्षा में (तिष्ठाति) ठहरी रहे । (शाले) हे शाला ताम् त्वा) उस तुभमें (उप=उपेत्य) आकर (सर्ववीराः) सब वीर पुरुषों वाले (सुवीराः) अच्छे अच्छे पराक्रमी पुरुषों वाले और (अरिष्टवीराः) नीरोग पुरुषों वाले (संचरेम) हम चलते फिरते रहें ॥१॥

भाषार्थः—हम अपने घर दृढ़ और उचित विभाग वाले बनावें जिससे वायु घाम आदि के यथावत् सेवन से सब गृहस्थ स्त्री पुरुष सदा हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ रहें ॥१॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।

ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥२॥

भाषार्थः—(शाले) हे शाला ! तू (इह एव) यहाँ पर ही (अश्वावती) बहुत घोड़ों वाली, (गोमती) बहुत गौओं वाली और (सूनृतावती) बहुत प्रिय सत्य वाणियों वाली होकर (ध्रुवा) ठहराऊ (प्रति तिष्ठ) जमी रह । (ऊर्जस्वती) बहुत अन्न वाली, (घृतवती) बहुत घी वाली और (पर्यस्वती) बहुत दूध वाली होकर (महते) बड़ी (सौभगाय) सुन्दर सौभाग्य के लिये (उत् अथस्व) ऊँची हो ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य शाला में योग्य योग्य स्थान बनाकर उनको आवश्यक पदार्थों से भरपूर रखे ॥२॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

भाषार्थः—(शाले) हे शाला ! तू (बृहच्छन्दाः) विशाल छतवाली, वा बहुत से छन्द वा वेद मन्त्रों वाली, (पूतिधान्या) बृह धान्य वाली (धरुणी) भण्डार (असि) है । (त्वा) तुझमें (वत्सः) बछड़ा (आ) और (कुमारः) बालक (आ गमेत्) आवे । (सायम्) सायंकाल में (आस्पन्दमानाः) कूदती हुई (धेनवः) दुधल गायें (आ—आगच्छन्तु) आवें ॥३॥

भाषार्थः—स्पष्ट है । और और स्थानों के साथ घरों में वैदिकभवन भी हीवे ॥३॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।

उक्षन्तूदना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥४॥

भाषार्थः—(इमाम् शालाम्) इस शाला को (सविता) सब का चलाते वाला पुरुष [वा सूर्यः] (वायुः) वेगवान् पुरुष [वा पवन] (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष [वा मेष] और (प्रजानन्) ज्ञानवान् (बृहस्पतिः) बड़े बड़े कामों का रक्षक पुरुष [प्रत्येक] (नि मिनोतु) जमाकर बनावे । (मरुतः) दूर देवता [विद्वान् लोग] (उदना) जल से और (घृतेन) घी से (उक्षन्तु) सींचें, और (भगः) भाग्यवान् (राजा) राजा [प्रधान पुरुष] (नः) हमारे लिये (कृषिम्) खेती को (नि) सदैव (तनोतु) बढ़ावे ॥४॥

भाषार्थः—शाला निर्माण में प्रधान पुरुष और सब कार्यकर्ता कर्म—कुशल हों, घाम, वायु और मेघ, तथा जल, धी आदि सामग्री के लिये यथावत् अवकाश रहे। और निर्वाह के लिए खेती विद्या का विस्तार करें ॥४॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्थग्रं ।

तृणं वसना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयि दाः ॥५॥

भाषार्थः—(मानस्य) हे मान अर्थात् प्रतिष्ठा की (पत्नि) रक्षा करने वाली, (शरणा) शरण देने वाली, (स्योना) सुखदायिनी, (देवी) उजियाले वाली तू (देवेभिः—०—बैः) देवताओं [विश्वकर्मा पुरुषों] करके (निर्मिता) मायी हुई (अग्रं) हमारे सम्मुख (अस्ति) वर्तमान है। (तृणम्) घास को (वसना) पहिने हुए (त्वम्) तू (सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) ते, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे ॥५॥

भाषार्थः—सब मनुष्य गृहनिर्माण विद्या में कुशल पुरुषों से सम्मति लेकर बाहिर और भीतर से मनोरम घर बनावें, जिससे संसार में सम्मान हो, और सब गृहस्थ स्वस्थ वीर और उद्योगी होकर धनवान् हों ॥५॥

'अथास्मभ्यं सहवीरं रयि दाः' यह पाद अ० २।६।५। में आया है ॥

ऋतेन स्थणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्पट्टङ्क्ष्व शत्रून् । मा तं रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥

भाषार्थः—(वंश) हे बांस तू (ऋतेन) अपने सत्य से (स्थणाम्) धूनी [टेक वा खूँटी] पर (अधि रोह) चढ़ जा, और (उग्रः) दृढ़ वा प्रचंड होकर (विराजन्) विशेष रूप से प्रकाशित होता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओं को (अपट्टङ्क्ष्व) दूर हटा दे। (शाले) हे शाला ! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों के (उपसत्तारः) रहने वाले पुरुष (मा रिषन्) दुःखी न हों ॥ (सर्ववीराः) सब वीरों को रखते हुए हम लोग (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवेम) जीते रहें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने घर ऊँचे, दृढ़ और प्रकाशशुक्त बनावें जिससे नीर डाकू सिंहादि हिंसक और रोग न सता सकें तथा सब लोग स्वस्थ होकर वीर रहें ॥६॥

एषां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।

एषां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥७॥

भाषार्थः—(इमाम्) इस [शाला] में (कुमारः) बालक, (आ) और (तरुणः) युवा, (आ) और (जगतः सह) चलने वाले गौ आदि के साथ (वत्सः) बछड़ा, (आ) और (इमाम्) इस [शाला] में (परिस्त्रुतः) पिघलते हुए रस का (कुम्भः) घड़ा (वध्नः) दही के (कलशः) कलशों के साथ (आ अगुः) आये हैं ॥७॥

भाषार्थः—गृहस्थ लोग सब प्रकार की आवश्यक सामग्री अपने घरों में रखें ॥७॥

पर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् ।

इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्ठापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥८॥

भाषार्थः—(नारि) हे नर का हित करने वाली गृहपत्नी ! (एतम्) इस (पूर्णम्) पूरे (कुम्भम्) घड़े में से (अमृतेन) अमृत [हितकारी पदार्थ] से (संभृताम्) भरी हुई (घृतस्य) घी की (धाराम्) धारा को (प्र, भर=हर) अच्छे प्रकार ला । (इमाम्) इस [शाला] को और (पातृन्) पानकर्ताओं वा रक्षकों को (अमृतेन) अमृत से (सम्) अच्छे प्रकार (अङ्ग्धि) पूर्ण कर । (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और वेदों का अध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (एनाम्) इस [शाला] की (अभि) सब ओर से (रक्षाति) रक्षा करे ॥८॥

भाषार्थः—गृहपत्नी घर को घृत, दूध आदि अमृत पदार्थों से परिपूर्ण रखकर सब कटुमिष्यों को स्वस्थ और पुष्ट रखे । और सब स्त्री पुरुष धार्मिक, पुरुषार्थी तथा धनी होकर चोर उवक्के सिंहादि दुष्टों से रक्षा करते हुए बस्ती को बसाये रखें ॥८॥

मनु भगवान् ने कहा है—

सदा महृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपरकरया व्यये चामुवतहस्तया ॥ मनु० ५।१५० ॥

स्त्री सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामों में चतुर हो और (सुसंस्कृतोपरकरया) घर की सामग्री बासन भांडे भली भांति ठीक रखती हुई, व्यय करने में हाथ सकोड़े रहे ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाक्षनीः ।

गृहातुष प्र सीदाम्यमृतेन सदाग्निना ॥९॥

भाषार्थः—(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाक्षनीः) रोगनाशक

(अपः) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मैं लाता हूँ । (अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत, दुग्धादि सामग्री और (अग्निना सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरों में (उप = उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे प्रकार (सीदामि) मैं बैठता हूँ ॥६॥

भाषार्थः—गृहपति रोगों से बचने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये अपने घर में शुद्ध जल, अग्नि आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करें ॥६॥

सूक्तम् १३ ॥

१—७॥ आपो देवताः । १—४, ५ अनुष्टुप् । ५, ६ त्रिष्टुप् ।

अपां गुणा उपदिश्यन्ते—जल के गुणों का उपदेश ॥

यद्दः संप्रयतीरहावनदता हते ।

तस्मादा नद्योऽ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥१॥

भाषार्थः—(सिन्धवः) हे बहने वाली नदियो ! (संप्रयतीः = संप्रयत्यः + यूयम्) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अहौ हते) मेघ के ताड़े जाने पर (अवः) वह (यत्) जो (अनबत) नाद किया है । (तस्मात्) इसलिये (आ) ही (नद्यः) नाद करने वाली, नदी (नाम) नाम (स्थ) तुम हो, (ता = तानि) वह [वैसे ही] (वः) तुम्हारे (नामानि) नाम हैं ॥१॥

भाषार्थः—जब मेघ आपस में टकराकर गरजकर बरसते हैं, तब वह जल पृथिवी पर एकत्र होकर नाद करता हुआ बहता है, इससे उसका नदी नाम है । इसी प्रकार वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति समझकर अर्थ करना चाहिये ॥१॥

अजमर पुस्तक में 'संप्रयतिः' है हमने अन्य पुस्तकों से 'संप्रयतीः' पाठ लिया है ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीर्षं समवल्गात ।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुं घ्न ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जब (आत्) फिर (वरुणेन) सूर्य करके (प्रेषिताः) भेजे हुए तुम (शीघ्रम्) शीघ्र (समवल्गात) मिलकर चलो, (तत्) तब (इन्द्रः) जीव ने [वा सूर्य ने] (यतीः) चलते हुए । (वः) तुमको (आप्नोत्) प्राप्त किया (तस्मात्) उससे (अनुं) पीछे (आपः) प्राप्ति योग्य जल [नाम] (स्थन्) तुम हो ॥२॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में 'आप्नोत्' और 'आपः' शब्द एक ही घातु 'आप्लु व्याप्तो' से सिद्ध है। जब सूर्य की शक्ति से जल भूमि पर आकर फलता है, तब जीव उसे पाता है, [और सूर्य भी फिर ले लेता है] इससे जल का नाम 'आपः' पाने योग्य वस्तु है। 'आपः' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनात् है ॥२॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वानाम वो हितम् ॥३॥

भाषार्थः—(वः) वेगवान् वा वरणीय (इन्द्रः) जीव [वा सूर्य] ने (हि) ही (अपकामम्) व्यर्थ (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुमको (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (कम्) मुख से (अवीवरत) वरण [स्वीकार] अथवा, वरण [रोकना] किया, (तस्मात्) इससे (देवीः = देव्यः) हे दिव्य गूण वाली वा खेलवाली जल धाराओ ! (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वार्) वरण योग्य वा वारण योग्य जल (हितम्) रक्षा गया है ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य भूमि पर अग्नादि के लिये और सूर्य आकाश में वृष्टि के लिये जल को चाहता है वा रोकता है, इसलिये जल का नाम 'वार्' है। 'अवीवरत' त्रिया और 'वार्' शब्द दोनों 'वृज्' चाहना वा रोकना घातु से बनते हैं ॥३॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।

उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥४॥

भाषार्थः—(एकः) अकेला (देवः) ज्यशील परमात्मा (यथावशम्) इच्छानुसार (स्यन्दमानाः) बहते हुए (वः) तुम्हारा (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता हुआ। (महीः = महत्यः) शक्ति वाले [आप जल] ने (इति) इस प्रकार (उत् + आनिषु) ऊपर को श्वास ली, (तस्मात्) इस लिये (उदकम्) ऊपर को श्वास लेने वाला उदक वा जल (उच्यते) कहा जाता है ॥४॥

भाषार्थः—ईश्वर की सामर्थ्य से सूर्य द्वारा, जल आकाश में चढ़ता है इस लिये 'उदक' जल का नाम है। 'उत् आनिषु' और 'उदकम्' उत् + प्रन, श्वास लेना-घातु से बनते हैं ॥४॥

आपो भद्रा घृतमिदपि आसन्नमीषोमी विभ्रत्याप इत् ताः ।

तीव्रो रसो मधुपृचाप्ररंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥५॥

भाषार्थः—(आपः) जल (भ्राः) मंगलमय, और (आपः) जल (इत्) ही (घृतम्) घृत (आसन्) या । (ताः) वह (इत्) ही (आपः) जल (अग्नीषोमी) अग्नि और चन्द्रमा को (बिभ्रति) पुष्ट करता है । (मधुपूवाम्) मधुरता से भरी [जल धाराओं] का (अरंगमः) परिपूर्ण मिलने वाला, (तीव्रः) तीव्र [तीक्ष्ण, शीघ्र प्रवेश होने वाला] (रसः) रस (मा) मुझे को (प्राणेन) प्राण और (वर्चसा सह) कान्ति वा बल के साथ (आ गमेत्) आगे ले चले ॥५॥

भाषार्थः—जल से घृत सारमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जल अग्नि अर्थात् जडराग्नि, बिजुली, बड़वानल आदि और चन्द्र लोक से मिलकर हमें पुष्टि देता है और कृषि आदि में प्रयुक्त होकर अन्नादि उत्पन्न करके प्राणियों का बल और तेज बढ़ाता है ॥५॥

आदित् पश्याम्युत वां शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाक् मांसाम् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अर्तुपं यदा वः । ६॥

भाषार्थः—(आत्) तब (इत्) ही (पश्यामि) मैं देखता हूँ, (उत) और (वा) अबवा (शृणोमि) मैं सुनता हूँ, (आसाम्) इसकी [जल के रस की] (घोषः) ध्वनि (मा) मुझे (आ गच्छति) आती है और (वाक्) वाक् शक्ति (मा) मुझे [आती है] । (हिरण्यवर्णाः) हे कमनीय पदार्थ वा सुवर्ण का विस्तार करने वाले [जल] । (तर्हि) तभी (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) भोग करता हुआ मैं (मन्ये) अपने को मानूँ, (यदा) जब (वः) तुम्हारी (अर्तुपम्) तृप्ति मैंने पाई हो ॥६॥

भाषार्थः—जल के यथावत् प्रयोग से प्राणी में दर्शन शक्ति और श्रवण शक्ति, और 'घोष' ध्वन्यात्मक शब्द और 'वाक्' वर्णात्मक शब्द बोलने की शक्ति होती है, और तभी वह इष्ट सुवर्णादि धन की प्राप्ति से भूख आदि से मृत्यु दुःख का त्याग करके अमृत अर्थात् आनन्द भोगता है ॥६॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।

हेत्थमेतं शक्वरीर्यत्रेदं वेश्यामि वः ॥७॥

भाषार्थः—(आपः) हे प्राप्ति के योग्य जल धाराओं ! (इवम्) यह (वः) तुम्हारा (हृदयम्) स्वीकार योग्य हृदय वा कर्म है । (ऋतावरीः) हे सत्यशील [जल धाराओं !] (अयम्) यह (वत्सः) निवास देने वाला, आश्रय है । (शक्वरीः) हे शक्ति वालियो ! (इत्थम्) इस प्रकार से (इह) यहाँ पर (आ इत) आओ, (यत्र) जहाँ (वः) तुम्हारे (इवम्) जल को (वेश्यामि) प्रवेश करूँ ॥७॥

भाषार्थः—कृषि, यन्त्र, औषधादि में जल के यथायोग्य प्रयोग से प्राणियों को सुख मिलता है ॥७॥

सूक्तम् १४ ॥

१ ६ ॥ गावो देवताः । १-५ अनुष्टुप्, ६ त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः— गोरक्षा का उपदेश ॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभृत्या ।

अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥१॥

भाषार्थः—[हे गौधो !] (वः) तुम को (सुषदा) सुख से बैठने योग्य (गोष्ठेन) गोशाला से (सम्) मिलाकर (रय्या) धन से (सम्) मिलाकर और (सुभृत्या) बहुत सम्पत्ति से (सम्) मिलाकर और (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम] से (वः) तुम को (सम्, सृजामसि = ०—मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य गौधों को स्वच्छ नीरोग गोशाला में रखकर पालें, और उनको प्रपने धन और संपत्ति का कारण जानकर अन्य प्राणियों के समान उनके नाम बहुला, कामधेनु, नन्दिनी आदि रखें ॥१॥

सं वः सृजत्वयमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥२॥

भाषार्थः—(वः) तुमको (अयमा) अरि अर्थात् हिंसकों का नियामक [गोपाल] (सम्) मिलाकर (पूषा) पोषण करने वाला [गृहपति] (सम्) मिलाकर और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक [विद्वान् वैद्यादिपुरुष] (सम्) मिलाकर, और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा, (यः धनंजयः) जो धनों का जीतने वाला है, (सम् सृजतु) मिलाकर रखे । (मयि) मुझमें (यत्) पूजनीय (वसु) धन को (पुष्यत) तुम पुष्ट करो ॥२॥

भाषार्थः—सब प्रजागण और प्रजापालक राजा राज नियम से गौधों की बढ़ि करें जिससे कृषि, व्यापारादि द्वारा संसार में धन बढ़े ॥२॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।

विभ्रतीः सोम्य मध्वनमीवा उपेतन ॥३॥

भाषार्थः—(अस्मिन् गोष्ठे, इस गोशाला में (संजग्मानाः) मिलकर चलती हुई, (अबिम्बुषीः = ०ष्यः) निर्भय रहती हुई, (करीषिणीः = ०—ष्यः) गोबर करने वाली, (सोम्यम्) अमृतमय (मधु) रस (विभ्रतीः = ०—त्यः) धारण करती हुई, (अनमीवाः) नीरोग तुम (उपेतन = उप, आ, इत) चली आओ ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य गौओं को हिंसक जीवों से बचाकर नीरोग रक्खें जिससे वे रोगनाशक, अमृतमय दूध, घृत आदि पदार्थ देती रहें। गौ के मूत्र, गोबर, दूध आदि के गुण और प्रयोग बहुत हैं ॥३॥

शब्दकलाद्रुम कोष में गौ के गुण वर्णन करते हुए कहा है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना ।

षट्क्षमेतन्मङ्गल्यं पवित्रं सर्वदा गवाम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, घी, दही और गोरोचना, गौओं के यह छह प्रकार के सर्वदा मङ्गलकारी शुद्ध पदार्थ हैं ॥

मनु भगवान् का वचन है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥मनु० ११।२१२॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का पानी, एक दिन [खावे] फिर एक दिन रात उपवास करे। यह कृच्छ्र सान्तपन कहाता है ॥

इहैव गाव एतनेहो शकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥४॥

भाषार्थः—(गावः) हे गौओ ! (इह एव) यहां ही (एतन) आओ (इहो = इह उ) यहां ही (शका इव) समर्थ [गृहपत्नी] के समान (पुष्यत) पोषण करो। (उत) और (इह एव) यहां पर ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से बढ़ो। (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) प्रेम (अस्तु) होवे ॥४॥

भावार्थः—जैसे समर्थ गृहपत्नी घर वालों का पोषण करके प्रसन्न रखती हैं, ऐसे ही गौएं अपने दूध घी, आदि से अपने रक्षकों को पुष्ट और स्वस्थ करती हैं। इससे सब मनुष्य प्रीतिपूर्वक उनका पालन करें और उन का वंश बढ़ावें ॥४॥

शिवो वाँ गोष्ठो भवतु शारिशाकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं संजामसि ॥५॥

भाषार्थः—(वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला (शिवः) मङ्गलदायक (भवतु) होवे । (शारिशाका इव) शालि [साठी चावल] की शाखा [उपज] के समान (पुष्यत) पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहाँ ही (प्रजायध्वम्, बच्चों से बढ़ो । (मया = अस्माभिः) अपने साथ (वः) तुमको (संसृजामसि = ० मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥५॥

भाषार्थः—जैसे 'शारि, शालि' साठी चावल की शाखा 'शाका' थोड़े प्रयत्न से साठ दिन में ही पक जाती है, वैसे ही मनुष्य यत्नपूर्वक थोड़े परिश्रम से पालन करके गौधों से दूध, घी, और खेती के लिये बैल आदि पाकर बहुत लाभ उठाते हैं ॥५॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वाँ गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम । ६॥

भाषार्थः—(गावः) हे गौधों ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति से (सचध्वम्) मिली रहो । (इह) यहाँ (अयम्) यह (पोषयिष्णुः) पोषण करने वाली (वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला है । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (बहुलाः) बहुत पदार्थ देने वाली अथवा वृद्धि करने वाली (भवन्तीः) होती हुई और (जीवन्तीः) जीती हुई (वः) तुमको (जीवाः) जीते हुए हम लोग (उप) आदर से (सदेम) प्राप्त करते रहें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य गौधों की सेवा से दूध, घृत, कृषि आदि की उन्नति करके बहुत काल तक जीते और सुख भोगते रहें ॥६॥

सूक्तम् १५ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता । १—६, त्रिष्टुप्, ७ अनुष्टुप्, ८ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप् ॥

व्यापारलाभोपदेशः—व्यापार के लाभ का उपदेश ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतुं पुरस्ता नो अस्तु ।

नुदन्नरार्ति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा भस्तु मह्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक् को

(चोदयामि) आगे बढ़ाता हूँ, (सः) वह (नः) हम में (एतु) आगे, और (नः) हमारा (पुरस्ता) अगुआ (अस्तु) होवे। (अरातिम्) बैरी, (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) वनले पशु को (नुदन्) रोगदत्ता हुआ (सः) वह (ईशानः) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन देने वाला (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य व्यापारकुशल पुरुष को अपना मुखिया बनाकर वाणिज्य और मार्ग की ऊँच नीच समझकर वाणिज्य में धन लगाने से लाभ उठाते हैं ॥१॥

ये पन्थानो बहवो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो (देवयानाः) विद्वान् व्यापारियों के यानों रथादिकों के योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी—०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (ते) वे [मार्ग] (पयसा) दूध से और (घृतेन) घी से (मा) मुझको (जुषन्ताम्) तृप्त करें, (यथा) जिससे (क्रीत्वा) मोल लेकर [व्यापार करके] (धनम्) धन (आहराणि) मैं लाऊँ ॥२॥

भाषार्थः—व्यापारी लोग विमान, रथ, नौकादि द्वारा आकाश, भूमि, समुद्र, पर्वत, प्रादि से देश देशान्तरों में जाकर अनेक प्रकार व्यापार करके मूलधन बढ़ावें और घनाढ्य होकर घर आवे ॥२॥

इध्मेनाग्नं इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥३॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (इच्छमानः) [लाभ की] इच्छा करता हुआ मैं (इध्मेन) इन्धन और (घृतेन) घृत से (तरसे, तराने वाले वा जिताने वाले (बलाय) बल के लिए (हव्यम्) हवन सामग्री का (जुहोमि) होम करता हूँ, (यावत्) जहाँ तक (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा [दी हुई] (इमाम्) इस (देवीम्) व्यवहार कुशल (धियम्) निश्चल बुद्धि की (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ मैं (शतसेयाय) सैकड़ों उद्यम के लिए (ईशे) समर्थ हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जैसे समिधा और घृतादि से अग्नि का तेज बढ़ कर अन्धकार हटाता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोत्तम वेदविद्या को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सामर्थ्य भर वाणिज्य में उद्योग करके प्रभूत धन पावें और वरिष्ठतादि को मिटावें ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद म० ३ सू० १८ म० ३ में है ॥

इमामग्ने शराणि मीमृषो नो यमध्वानमगांश्च दूरम् । शुनं नो अस्तु
प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु । इदं हव्यं संविदानो
जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (नः) हमारी (इमाम्) इस (शराणिम्) पीड़ा को [उस मार्ग में] (मीमृषः) तूने सहा है 'यम् दूरम् अध्वानम्' जिस दूर मार्ग को (अगाम) हम चले गये हैं । (नः) हमारा (प्रपणः) क्रय [मोल लेना] (च) और (विक्रयः) विक्री (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (प्रतिपणः) वस्तुओं का लौट फेर (मा) मुझ को (फलिनम्) बहुत लाभ वाला (कृणोतु) करे । (संविदानो) एक मत होते हुए तुम दोनों [हम और तुम] (इदम् हव्यम्) इस भेंट को (जुषेथाम्) सेवें । (नः) हमारा (चरितम्) व्यापार (च) और (उत्थितम्) उठान [लाभ] (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) होवे ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य विनयपूर्वक अपनी चूक मानकर विद्वानों की सम्मति से अपना सुधार करते हैं, वे व्यापार में अधिक लाभ उठाकर आनन्द पाते हैं ॥४॥

इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति कुछ भेद से ऋ० म० १ सू० ३१ म० १६ में है ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्रं सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥५॥

भाषार्थः—(देवाः) हे व्यवहार कुशल व्यापारियों ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहने वाला मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूँ, (तत्) वह धन (मे) मेरे लिये (भूयः) अधिक अधिक (भवतु) होवे, (कनीयः) छोड़ा (मा) न [होवे] । (अग्ने, हे अग्निसदृश तेजस्वी विद्वान् ! (सातघ्नः) लाभ नाश करने वाले (देवान्) मूर्खों को (हविषा) हमारी भक्ति द्वारा (निषेध) रोक दे ॥५॥

भाषार्थः—नवशिक्षित व्यापारी बड़े बड़े व्यापारियों से लाभ हानि की रीतें समझकर अपने मूल धन को बढ़ाते रहें और कुव्यवहारियों के फंदे में न पड़ें ॥५॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनेमिच्छमानः ।

तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥६॥

भाषार्थः—(देवाः) हे व्यवहारकुशल व्यापारियों ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूँ (तस्मिन्) उस [धन] में (मे) मुझे (प्रजापतिः) प्रजापालक (सविता) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्र [समान शान्त स्वभाव] (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी], (इन्द्रः) बड़ा समर्थ प्रधान पुरुष (रुचिम्) रुचि (आदधातु) देवे ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम स्वभाव वाले अनुभवी पुरुषों की सम्मति से व्यापार में मन लगाकर लाभ के साथ मूल धन को बढ़ावे ॥६॥

उप त्वा नमसा वयं होतवैश्वानर स्तुमः ।

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥७॥

भाषार्थः—(होतः) हे दानशील ! (वैश्वानर) हे सब नरों के हितकारक, वा सब के नायक पुरुष ! (वयम्) हम लोग (नमसा) नमस्कार के साथ (त्वा) तुमको (उप, आदर से (स्तुमः) सराहते हैं । (सः—सः स्वम्) सो तू (नः) हमारी (प्रजासु) प्रजाओं पर, (आत्मसु) आत्माओं वा शरीरों पर (गोषु) गौओं पर और (प्राणेषु) प्राणों वा जीवनों पर (जागृहि) जागता रह ॥७॥

भाषार्थः—व्यापारी लोग सर्वहितकारी, कर्मकुशल पुरुष को प्रधान बना कर अपने धनादि की रक्षा करें ॥७॥

विश्वाहां ते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण सभिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतियैशा रिषाम ॥८॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे उत्तम धन वाले पुरुष ! (विश्वाहा = ०—हानि) सब दिनों (ते) तेरे [उद्देश्य के] लिये (इव) ही (सवम्) समाज को (भरेम) भरते रहें, (इव) जैसे (तिष्ठते) धान पर ठहरे हुए (अश्वाय) घोड़ों को [घास अन्नादि भरते हैं] । (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे प्रकार (मदन्तः) दानन्द करते हुए (ते) तेरे (प्रतियैशाः) सन्मुख रहने वाले हम लोग (आ रिषाम) न दुःखी हों ॥८॥

भावार्थः—जैसे मार्ग से आये घोड़े को अन्न घासादि से पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सब व्यापारी बड़ी बड़ी वणिक् मंडली बना कर प्रधान पुरुष की शक्ति बढ़ावें, जिससे सब लोग बहुत सा धन और अन्नादि पाकर आनन्द भोगें ॥८॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—७ । वसिष्ठविः । १ लिङ्गोक्तदेवताः, २—६ भगः, ७ उवाः ।
१ जगतीछन्दः । २, ३, ५—७ त्रिष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनाय प्रभातगीतिः—बुद्धि बढ़ाने के लिये प्रभाती गीत ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भर्गं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥१॥

भावार्थः—(प्रातः) प्रातःकाल (अग्निम्) [पाथिव] अग्नि को, (प्रातः) प्रातःकाल (इन्द्रम्) बिजुली वा सूर्य को, (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रावरुणा = ० — णौ, प्राण और अपान को, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विना) कामों में व्याप्ति रखने वाले माता पिता को (हवामहे) हम बुलाते हैं । (प्रातः) प्रातःकाल (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (पूषणम्) पोषण करने वाले (ब्रह्मणः) वेद, ब्रह्माण्ड, अन्न वा धन के (पतिम्) पति, परमेश्वर को, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) ऐश्वर्य कराने वाले वा मद्यन किये हुए पदार्थ वा आत्मा [अपने बल] वा अमृत [मोक्ष, वा अन्न, दुग्ध, घृतादि] को (उत) और (रुद्रम्) दुःख नाशक वा ज्ञान दाता आचार्य को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य प्रातःकाल [सूर्य निकलने से छः घड़ी पहिले] परमेश्वर का ध्यान करता हुआ, मन्त्र में वर्णित पाथिव और सौर अग्नि के

प्रयोग आदि अन्य आवश्यक कर्मों का विचार करके आत्मा को बढ़ाता हुआ अपने कर्त्तव्य में लगे ॥१॥

यह पूरा सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद ७।४१।१-७ और यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ३४-५० में है।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्योविधर्ता । आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजां चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

भाषार्थ:—(वयम्) हम (प्रातर्जितम्) प्रातःकाल में [अन्धकारादि को] जीतने वाले (भगम्) सूर्य [समान] (उग्र) तेजस्वी (पुत्रम्) पवित्र, अथवा बहुविधि से रक्षा करने वाले, अथवा नरक से बचाने वाले [परमेश्वर] को (हवामहे) बुलाते हैं, (यः) जो [परमेश्वर] (अदितेः) प्रकृति वा भूमि का (विधर्ता) धारण करने वाला और (यम्) जिस [परमेश्वर] को (मन्यमानः) पूजता हुआ (आध्रः) सब प्रकार धारण योग्य कंगाल, (चित्) भी, और तुरः) शीघ्रकारी बलवान् (चित्) भी, और (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (चित्) भी इति इस प्रकार (आह) कहता है, “(यम्) यश और (भगम्) धन को (भक्षि = अहं भक्षीय) में सेव” ॥२॥

भावार्थ:—जैसे सूर्य प्रातःकाल अन्धकार, आलस्यादि मिटाकर जीवों में नयी शक्ति देता है, ऐसे ही सब छोटे बड़े जीव और पृथिवी आदि लोक भी परमात्मा की शक्ति से अपनी अपनी शक्ति बढ़ाते हैं, उसी का धन्यवाद हम सब पिता पुत्रादि मिलकर गावें ॥२॥

‘हवामहे’ के स्थान पर ऋग्वेद और यजुर्वेद में ‘हवेम’ पद है ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।

भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

भाषार्थ:—(भग) हे भगवान् ! (प्रणेतः) हे बड़े नेता ! (भग) हे सेवनीय ! (सत्यराधः) हे सत्य धनी ! (भग) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इमाम्) इस [वेदोक्त] (धियम्) बुद्धि को (वदत्) देता हुआ तू (नः) हमारी (उत्) उत्तमता से (अवा) रक्षा कर । (भग) हे ज्योतिःस्वरूप ! (नः) हम को (गोभिः) गोश्यों से और (अश्वैः) घोड़ों से (प्र जनय) अच्छे प्रकार बढ़ा । (भग) हे शिव (नृभिः) नेता पुरुषों के साथ हम (नृवन्तः) नेता पुरुषों वाले होकर (प्र स्याम) समर्थ होवें ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषों को अपनाते हैं, वे संसार में उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥३॥

उ॒ते॒दा॒नीं॒ भ॒ग॒व॒न्तः॒ स्या॒मो॒त॒ प्र॒पि॒त्व॒ उ॒त॒ म॒ध्ये॒ अ॒ह्ना॒म् ।

उ॒तो॒दि॒तो॒ म॒घ॒व॒न्सु॒र्य॑स्य॒ व॒यं॒ दे॒वा॒नां॒ सु॒म॒तो॒ स्या॒म ॥४॥

भाषार्थः—(उत) और (इदानीम्) इस समय (उत उत) और भी (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्य (प्रपित्वे) पाये हुए [ऐश्वर्य] में हम (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होंगे । (उत) और (मघवन्) हे महाधनी ईश्वर ! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (वयम्) हम (स्याम) रहें ॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र ३ के अनुसार पाये हुए ऐश्वर्य को हम सब और आगे भी बढ़ावें, और जैसे सूर्य के उदय में प्रकाश बढ़ता जाता है वैसे ही देवताओं के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करें ॥४॥

‘उदितौ’ के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में ‘उदिता’ है ।

भ॒गं॒ ए॒व॒ भ॒ग॒वाँ॒ अ॒स्तु॒ दे॒व॒स्ते॒ना॒ व॒यं॒ भ॒ग॒व॒न्तः॒ स्या॒म ।

तं॒ त्वा॒ भ॒ग॒ सर्व॑ इ॒जो॒ह॒वी॒मि॒ स॒ नो॒ भ॒ग॒ पु॒र॒ए॒ता॒ भ॒वे॒ह ॥५॥

भाषार्थः—“(भगः) सेवनीय (देवः) विद्वान् विजयी पुरुष (एव) ही (भगवान्) भगवान् [भागवान्, बड़े ऐश्वर्य वाला] (अस्तु) होवे” (तेन) इसी [कारण] से (वयम्) हम (भगवन्तः) भागवान् (स्याम) होंगे । (तम् त्वा) उस तुभ को, (भग) हे ईश्वर ! (सर्वः = सर्वः अहम्) मैं सब (इव) ही (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ । (सः = सः त्वम्) सो तू, (भग) हे शिव ! (इह) यहाँ पर (नः) हमारा (पुरएता) अगुआ (भव) हो ॥५॥

भाषार्थः—“सुकर्मी-पुरुषार्थी पुरुष ही भागवान् होंगे” यह ईश्वर आज्ञा है, इस से सब लोग धार्मिक पुरुषार्थी होकर भागवान् बनें । ईश्वर ही अपने ध्यानी आज्ञापालकों का मार्गदर्शक होता है ॥५॥

‘देवः, जोहवीमि’ के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में ‘देवा, जोहवीति’ पद हैं ॥

स॒म॒ध्व॒रा॒यो॒ष॒सो॒ ल॒म॒न्त॒ द॒धि॒क्रा॒वै॒व॒ शु॒चं॒ये॒ प॒दा॒यं॒ ।

अ॒र्वा॒ची॒नं॒ व॒सु॒वि॒दं॒ भ॒गं॒ मे॒ रथं॑मि॒वा॒नां॒ दा॒जिन॒ आ॒ वह॑न्तु ॥६॥

भाषार्थः - (उषसः) उपायें [प्रभात बेलायें] (अध्वराय) मार्ग देने के लिए, अथवा हितारहित यज्ञ के लिए (सम् नमस्त = ०—न्ते) भुक्ती है, (वधिकावा इव) जैसे चढ़ाकर चलने वाला, वा हींसने वाला घोड़ा (शुचये, शुद्ध [अन्नक] (पदाय) पद रखने के लिये। (वाजिनः) अन्नवान् वा बलवान् वा ज्ञानवान् (अर्वाचीनम्) नवीन नवीन और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (मे) मेरे लिये (आ वहन्तु) लावें (अशवाः इव) जैसे घोड़े (रथम्) रथ को [लाते हैं] ॥६॥

भाषार्थः—जैसे उषा देवी अन्धकार हटाकर मार्ग खोलती चलती है अथवा, जैसे बली और वेगवान् घोड़ा अपने अश्ववार वा रथको मार्ग चलकर ठिकाने पर शीघ्र पहुँचाता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष बड़े बड़े महात्माओं के सत्सङ्ग और अनुकरण से अपना ऐश्वर्य बढ़ाते रहें ॥६॥

‘मे’ के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में ‘नः’ पद है ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।

घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न ॥७॥

भाषार्थः—(अश्ववतीः = ० स्तः) उत्तम उत्तम घोड़ों वाली, (गोमतीः) उत्तम उत्तम गौओं वाली, (वीरवतीः) बहुत वीर पुरुषों वाली और (भद्राः) मङ्गल करने वाली (उषासः = उषसः) उपायें (नः सद्म्) हमारे समाज पर (उच्छन्तु) चमकती रहें। (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] को (दुहानाः) दुहते हुए और (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीताः) भरे हुए (यूयम्) तुम [वीर पुरुषों !] (स्वस्तिभिः) अनेक सुखों से (सदा) सदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करो ॥७॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके अपने घरों को घोड़ों, गौओं और वीर पुरुषों से भरे रखें, और सब मिलकर तत्त्व ग्रहण करके सदा परस्पर रक्षा करें ॥७॥

‘यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः’ यह पाद प्रायः ऋग्वेद मण्डल ७ के सब सूक्तों के अन्त में है ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—६ ॥ कृषीवला वेदताः । १ गायत्री; २, ५, ६ त्रिष्टुप्, ३ पङ्क्तिः, ४, ६, ८ अनुष्टुप्; ७ पुर उष्णिक्छन्दः ॥

कृषिविद्योपदेशः—छेती की विद्या का उपदेश ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥१॥

भाषार्थः—(धीराः) धीर (कवयः) बुद्धिमान् [किसान] लोग (देवेषु) व्यवहारी पुरुषों पर (सुम्नयौ) सुख पाने [की आशा] में (सीरा = सीराणि) हलों को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, और (युगा = युगानि) जूओं को (पृथक्) अलग अलग करके [दोनों ओर] (वि तन्वते) फैलाते हैं ॥१॥

भाषार्थः—जैसे किसान लोग खेती करके अन्य पुरुषों को सुख पहुँचाते और आप सुखी रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर उपकारी होकर सुख भोगना चाहिये ॥१॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कुंने योनी वपतेह बीजम् ।

विराजः श्लुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्ष्मा यवन् ॥२॥

भाषार्थः—(विराजः) हे शोभायमान [किसानो !] (सीरा = सीराणि) हलों को (युनक्त) जोड़ो, (युगा = युगानि) जूओं को (वितनोत) फैलाओ, और (कृते) बने हुए (योनी) खेत में (इह) यहां पर (बीजम्) बीज (वपत) बोओ । (श्लुष्टिः) [तुम्हारी] अन्न की उपज (नः) हमारे लिये (सभराः) भरी पूरी (असत्) होवे, (सृण्यः) हंसुये वा दरांत (इत्) भी (पक्ष्वन्) पके अन्न को (नेदीयः) अधिक निकट (आ यवन्) लावें ॥२॥

भाषार्थः—चतुर किसान यथाविधि खेत जोत कर उत्तम बीज आदि साधनों से उत्तम अन्न आदि पाते हैं, इसी सिद्धान्त पर विद्वान् बलवान् स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य सेवन से यथावत् क्रिया के साथ बलवान् बुद्धिमान् और आयुष्मान् सन्तान उत्पन्न करते हैं देखो—श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि गर्भावान प्रकरण ॥२॥

यह मन्त्र कुछ पद भेद से ऋ० १० । १०१ । ३ और य० १२ । ६८ में है ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशोमं सोमसरसं । उदिद् वपतु गाम वै

प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफव्यम् ॥३॥

भाषार्थः—(पवीरवत्) अच्छे फाले वाला (सुशोमम्) बहुत सुख देने वाला, और (सोमसरसं = सोमसत् + लृ, मद्वा, स—ऊम, उम वा, +सरसं) ऐश्वर्य युक्त व अमृत युक्त मूठ वाला, अथवा रस्सी वाला और मूठ वाला (लाङ्गलम्) हल (इत्)

ही (अविम्) रक्षा करने वाली, और (पीवरीम्) वृद्धि वाली (गाम्) भूमि को (च) और (प्रस्थावत्) प्रस्थान वा चढ़ाई के योग्य और (प्रफर्वम्) क्षीघ्र गति वाले (रथवाहनम्) रथयान [गाड़ी] को (उत्) उत्तमता से (वपत्) उत्पन्न करे ॥३॥

भावार्थः—उत्तम साधनों से खेती में अधिक धान्य उत्पन्न होता है उस से राज्य की और अश्व, बैल आदि की वृद्धि से राजा और प्रजा सुख भोगते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ शब्दभेद से यजुर्वेद १२ । ७१ में है ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्रः) भूमि जोतने वाला (सीताम्) हल की रेखा [जुती-धरती] को (नि) नीचे (गृह्णातु) दबावे, (पूषा) पोषण करने वाला [किसान] (ताम्) उस [जुती धरती] की (अभिरक्षतु) सब ओर से रखवाली करे । (सा) वह (पयस्वती) पानी से भरी [जुती धरती] (नः) हम को (उत्तराम्—उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल किया से (दुहाम्) भरती रहे ॥४॥

भावार्थः—किसान बीज बोने के पीछे जुती धरती को पटेले से चौरस करके रक्षा करे और यथासमय पानी देता रहे जिससे खेतों में ठीक ठीक उपज होवे ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ७ में है और इसका उत्तरार्थ अ० ३ । १० । १ । में आ चुका है ॥४॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान् ।

शुनांसीरा हविषा तोषमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमरमै ॥५॥

भावार्थः—(सुफालाः) सुन्दर फाले (शुनम्) सुख से (भूमिम्) भूमि को (वि तुदन्तु) जोतें । (कीनाशाः) क्लेश सहने वाले किसान (वाहान् अनु) बैलादि वाहनों के पीछे पीछे (शुनम्) सुख से (यन्तु) चलें । (हविषा) जल से (तोषमाना = तोषमानौ) सन्तुष्ट करने वाले (शुनासीरा = ०—रौ) हे पवन और सूर्य तुम दोनों ! (अस्मै) इस पुरुष के लिए (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलवाली (ओषधीः) जौ, चावल आदि औषधियां (कर्तम्) करो ॥५॥

भावार्थः—चतुर किसान लोग उत्तम कृषिशस्त्रों, उत्तम बैल आदिकों और पानी आदि की सुविधा रखने से उत्तम प्रन्नादि पदार्थ उत्पन्न करते

हैं, इसी प्रकार विद्वान् लोग विद्याबल से अनेक शिल्पों का आविष्कार करके संसार को सुख पहुंचाते और आप सुख भोगते हैं ॥५॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४।५७।८ और य० १२।६६ में है ॥

यजुर्वेद अ० २२ म० २२ में वर्णन है—

निका॒मे निका॒मे नः पर्जन्यो॑ वर्ष॒तु फल॑व॒त्यो न ओष॑धयः पच्यन्ता॒म् ॥

कामना के अनुसार ही हमारे लिए मेह बरसे, हमारे लिए उत्तम फल वाली जौ आदि ओषधियां पकें ॥

शुनं॑ वा॒हाः शुनं॑ नरः शुनं॑ कृष॒तु लाङ्ग॑लम् ।

शुनं॑ वर॒त्रा ब॑ध्यन्तां शुन॒मष्टा॑मुदि॒क्ष्य ॥६॥

भाषार्थः—(वाहाः) बैल आदि पशु (शुनम्) सुख से रहें। (नरः) हांकिने वाले किसान (शुनम्) सुख से रहें।। (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुख से (कृषतु) जोते। (वरत्राः) हल की रस्सियां (शुनम्) सुख से (बध्यन्ताम्) बांधी जावें। (अष्टाम्) पैंना [घार वा कांटे] को (शुनम्) सुख से, (उत् इङ्गय) ऊपर घला ॥६॥

भाषार्थः—किसान लोग सब सामग्री उत्तम रीति से बनाकर रखने से अपने सब काम सुख से चलावें ॥६॥

मन्त्र ६—८ कुछ भेद से ऋ० ४।५७।४-६ में है।

शुना॑सीरेह॒ स्वं मे जुषे॑थाम् ।

यद् दि॒वि च॒क्रधुः॑ प॒यस्तेने॑मा॒मुप॑ सिञ्च॒तम् ॥७॥

भाषार्थः—(शुनासीरा=०—री) हे वायु और सूर्य तुम दोनों ! (इह स्म) यहां पर ही (मे) मेरी [विनय] (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (यद् पयः) जो जल (विधि) आकाश में (चक्रधुः) तुम दोनों ने बनाया है, (तेन) उससे (इमाम्) इस [भूमि] को (उप सिञ्चतम्) सांचते रहो ॥७॥

भाषार्थः—पवन और सूर्य के द्वारा पृथिवी का जल आकाश में जाकर फिर पृथिवी पर बिरसता है, वह खेतों के लिए बहुत उपयोगी होता है ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से निरु० ६।४१ में भी है।

सीते॑ व॒न्दाम॑हे त्वा॒र्वाचीं॑ सु॒भगे॑ भव ।

यथा॑ नः सु॒मना॑ असो॒ यथा॑ नः सु॒फला॑ भुवः ॥८॥

भाषार्थः—(सीते) हे जुती धरती ! [लक्ष्मी, खेती] (त्वा) तेरी (वन्दामहे) हम वन्दना करते हैं, (सुभगे) हे सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्य वाली] (अर्वाची) हमारे सम्मुख (भव) रह, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे लिए (सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) होवे, और (यथा) जिससे (नः) हमारे लिए (सुफला) सुन्दर फल वाली (भुवः) होवे ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य खेती को मन लगा करके चौकसी रख जिससे अन्नवान् और धनवान् होकर सदा आनन्द भोगें ॥८॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वेदेवैरनुमता मरुद्भिः ।

सा नः सीते पयसा भ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना । ९ ॥

भाषार्थः—(घृतेन) घी से और (मधुना) मधु [शहद] से (समक्ता) यथाविधि सानी हुई (सीता) जुती धरती (विश्वैः) सब (देवैः) व्यवहार कुशल (मरुद्भिः) विद्वान् देवताओं करके (अनुमता) अङ्गीकृत है । (सीते) हे जुती धरती ! (सा) सो (ऊर्जस्वती) बलवती और (घृतवत्) घृतयुक्त [अन्न आदि] से (पिन्वमाना) सींचती हुई तू (पयसा) दूध के साथ (नः) हमारे (अभ्याववृत्स्व) सब ओर से सम्मुख वर्तमान हो ॥९॥

भाषार्थः—चतुर किसान युक्ति से बीज में वां धरती में घी और मधु आदि मिलाकर घान्य आदि को पुष्ट और मधुर बनावें, जैसे क्रिया विशेष से, माली लोग आम, दाख, केसर, फूल आदि को उत्तम बनाते और मनुष्य उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥९॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० १२ म० ७० में है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—६ ॥ श्रुतिः—इन्द्राणी । देवता—उपनिषत्सपत्नीवाचनम् । १—५ अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः ॥

उपनिषत्सपत्नीवाचनोपदेशः—ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या के नाश का उपदेश ॥

इमां खनाभ्योपधि वीरुधां बलवत्तमाम् ।

ययां सपत्नीं बाधते ययां संविन्दते पतिम् ॥१॥

भाषार्थः—(वीरुधाम्) उगती हुई लताओं [सृष्टि के पदार्थों] में (इमाम्) इस (बलवत्तमाम्) बड़ी बल वाली (ओषधिम्) रोगनाशक ओषधि [ब्रह्मविद्या] को

(खनामि) मैं खोदता हूँ, (यया) जिस [अविद्या] से [प्राणी] (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (बाधते) हटाता है, और (यया) जिससे (पतिम्) सर्व-रक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (संविन्दते) यथावत् पाता है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य ब्रह्मविद्या परिश्रमपूर्वक प्राप्त करें। ईश्वर ज्ञान से ही विज्ञान बढ़कर मिथ्य ज्ञान का नाश होकर परम ऐश्वर्य वा मोक्ष मिलता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १०। १४५। १—६ में है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋग्वेदसंहिता, मोहमयी [मुम्बई] की शाकलऋक्संहिता, और ऋग्वेदीय सायणभाष्य में “उपनिषत्सपत्नीबाधनम्” इस सूक्त का देवता लिखा है, इससे इस सूक्त में ब्रह्मविद्या का ही उपदेश है ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।

सपत्नीं मे परा णुद पति मे केवलं कृधि ॥२॥

भावार्थः—(उत्तानपर्णे) हे विस्तृत पालन वाली ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) हे विद्वानों करके प्राप्त की हुई ! (सहस्वति) हे बलवती [ब्रह्मविद्या] ! (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (परा नुद) दूर हटा दे और (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (मे) मेरा (केवलम्) सेवनीय (कृधि) कर ॥२॥

भावार्थः—अनन्यवृत्ति पुरुष ब्रह्मविद्या से अविद्या को हटाकर आनन्द-स्वरूप जगदीश्वर को जान कर आनन्द भोगता है ॥२॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पती ।

पगमेव पगावतं सपत्नीं गमयामसि ॥३॥

भावार्थः—[हे सपत्नी अविद्या] (ते) तेरा (नाम) नाम (नहि) कभी नहीं (जग्राह) मैंने लिया है, (अस्मिन्) इस (पती) जगत् पति परमेश्वर में (नो) कभी नहीं (रमसे) तू रमण करती है। (पराम्) वैरिनि (सपत्नीम्) विरोध डालने वाली [अविद्या] को (परावतम् एवं) बहुत दूर ही (गमयामसि) हम पहुँचाते हैं ॥३॥

भावार्थः—विद्वान् लोग अविद्या का मान नहीं करके अविद्या रहित सर्वविद्यायुक्त परमात्मा का ध्यान करते, और अविद्या को हटाकर मत्तज्ज्ञान पाते हैं ॥३॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

अथः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥४॥

भाषार्थः—(उत्तरे) हे प्रति उत्तम [ब्रह्मविद्या] (अहम्) मैं [प्रजा] (उत्तरा) अधिक उत्तम [भूयासम् = हो जाऊँ], (उत्तराभ्यः) अन्य उत्तम [पशु आदि प्रजाओं] से (इत्) तो (उत्तरा) अधिक उत्तम [प्रजा अस्मि = प्रजा हैं] (मम) मेरी (या) जो (अधरा) नीच (सपत्नी) विरोधिनी [अविद्या है], (सा) वह (अधराभ्यः) नीच [विपत्तियों] से (अथः) नीची है ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य सब पशु आदि प्राणियों से उत्तम है, इससे वह सब उत्तम विद्याओं में परम उत्तम ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट होवे, और सब विपत्तियों वा क्लेशों के मूल अविद्या को निकालता रहे ॥४॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥यो.द. २।३,४॥

१—(अविद्या) मिथ्याज्ञान २—(अस्मिता) अहंकार, ३—(राग) राग, वा तृष्णा, ४—(द्वेष) द्वेष वा घृणा, और ५—(अभिनिवेश) शरीर से प्रीति वा मरण से भय, यह पांच क्लेश हैं ॥

अविद्या पिछले चार [अस्मिता आदि] का खेत है, चाहे वे १— सोते हुए २—सूक्ष्म, ३—दबे हुए, वा ४—फैले हुए हों ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।

उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥५॥

भाषार्थः—[हे विद्या] (अहम्) मैं (सहमाना) जयशील [प्रजा] (अस्मि) हूँ, (अथो) और त्वम् तू भी (सासहिः = ससहिः) जयशील (असि) है। (उभे) दोनों हम [तू और मैं] (सहस्वती = ० - स्त्री) जयशील (भूत्वा) होकर (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (सहावहै) जीत लें ॥५॥

भाषार्थः—योगी जन ब्रह्मविद्या में एकवृत्ति होकर अविद्या को जीत-कर आनन्द भोगते हैं ॥५॥

अभि तंऽथां सहमानामुप तेऽथां सहीयसीम् ।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥६॥

भावार्थः—[हे जीव !] (ते) तेरे लिए (सहमानाम्) प्रबल [अविद्या] को (अभि.= अभिभूय) हराकर (अधाम्) मैंने रक्खा है, और (ते, तेरे लिये) (सहीयसीम्) अधिक प्रबल [ब्रह्मविद्या] को (उप) आदर से (अधाम्) मैंने रक्खा है, सो (ते मनः) तेरा मन (माम् अनू) मेरे पीछे पीछे [योगी के स्वरूप में] (प्रधावतु) दौड़ता रहे और (धावतु) दौड़ता रहे, (गौः इव) जैसे गौ (वत्सम्) अपने बछड़े के पीछे, और (वाः इव) जैसे जल (पथा) अपने मार्ग से [दौड़ता है] ॥६॥

भावार्थः—योग वृत्तियों के निरोध से अविद्या को जीतकर स्वरूप अर्थात् अपनी और परमात्मा की शक्ति को जानकर परोपकार में आगे बढ़ता है, जैसे स्वभाव से गो अपने छोटे बच्चे के पीछे दौड़ती फिरती है और पानी नीचे मार्ग से समुद्र को चला जाता है ॥६॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ यो० द० १।२, ३ ॥

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है ॥१॥

तब देखने वाले को अपने रूप में चित्त का टहराव होता है ॥२॥

सूक्तम् १६ ॥

१—८ ॥ पुरोहितो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, द्वितीयो-
ऽनुष्टुप् ५ त्रिष्टुप् ६, उद्धर्षन्तां मघवन् इति त्रिष्टुप्, पृथग् घोषा इत्यनुष्टुप्, ७
पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयस्त्रिष्टुप्, ८ पङ्क्तिः ॥

युद्धविद्याया उपदेशः—युद्धविद्या का उपदेश ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं १' बलम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥१॥

भावार्थः—(मे) मेरे लिये [इन वीरों को] (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान वा अन्न वा धन (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, और (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया हुआ (क्षत्रम्) राज्य (अजरम्) अटल (अस्तु) होवे, (येषाम्) जिनका मैं (जिष्णुः) विजयी (पुरोहितः) पुरोहित अर्थात् प्रधान (अस्मि) हूँ ॥१॥

भावार्थः—सेनापति राजा विद्या, अन्न, और धन आदि की यथावत्

वृद्धि करके अपने वीरों और सेना का उत्साह बढ़ाता रहे, जिससे राज्य निरस्थायी हो ॥१॥

समहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं १ बलम् ।

वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥२॥

भाषार्थः (अहम्) मैं (एषाम्) इन [अपने वीरों] के (राष्ट्रम्) राज्य (ओजः) शारीरिक बल, (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल को (सम्) भले प्रकार (संस्यामि) जोड़ता हूँ । (अहम्) मैं (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (अनेन) इस (हविषा) अन्न वा आवाहन से (वृश्चामि) काटता हूँ ॥२॥

भाषार्थः - राजा सत्कारपूर्वक अपने वीरों को, सामाजिक शारीरिक और 'हविषा' आर्थिक दशा के सुधार से, सन्तुष्ट रखकर शत्रुओं का नाश करे ॥२॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥३॥

भाषार्थः—वे [शत्रु] (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरें और (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें, (ये) जो (नः) हमारे (मघवानम्) धनी (सूरिम्) सूरमा राजा पर (पृतन्यान्) सेना चढ़ावें । (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) मारे डालता हूँ और (स्वान्) अपने लोगों को (उन्नयामि) ऊंचा करता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—सैनिक लोग ललकार कर वैरियों पर धावा करके मार गिरावें, और राजा उन अपने वीरों को ऊंची २ पदवी देवें ॥३॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥४॥

भाषार्थः—वे वीर (परशोः) परसे [कुल्हाड़ी] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण, (अग्नेः) अग्नि से (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण (उत) और (इन्द्रस्य) मेघ के (वज्रात्) वज्र [विजुली] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (येषाम्) जिनका मैं (पुरोहितः) पुरोहित वा मुखिया (अस्मि) हूँ ॥४॥

भाषार्थः—सेनापति अपनी सेना का प्रात्मबल बढ़ावे । प्रात्मबल से अस्त्र शस्त्र आदि की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध होता है ॥४॥

एषामहमायुधा सं स्थाम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवे ३ 'षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥५॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [वीरों] के (आयुधा = ०—नि) हथियारों को (संस्थामि) जोड़ता हूँ [दृढ़ करता हूँ], (एषाम्) इनके (सुवीरम्) साहसी वीरों वाले (राष्ट्रम्) राज्य को (वर्धयामि) बढ़ाता हूँ, (एषाम्) इनका (क्षत्रम्) क्षत्रियपन (अजरम्) अजर [अटल] और (जिष्णु) विजयी (अस्तु, होवे ! (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य [विजयी, कमनीय, वा प्रशंसनीय धार्मिक] गुण (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त को (अवन्तु) तृप्त करें ॥५॥

भाषार्थः—चतुर सेनापति अपने योधाम्रों के बाण [तोप, तुपक, घनुषादि,] तरवारि, शक्ति, भाले आदि अस्त्र शस्त्र घनुर्वेद की रीति से दृढ़ बनवावे, और प्रसिद्ध वीरों का पद बढ़ाकर उत्साह बढ़ावे ॥५॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः । पृथग्
घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् । देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु
सेनया ॥६॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे बड़े धनी राजन् ! (वाजिनानि) सेना दल (उत् उद्धर्षन्ताम्) मन को ऊँचा उठावें और (जयताम्) जीतते हुए (वीराणाम्) वीरों का (घोषः) जयजयकार वा सिंहनाद (उत् एतु) ऊँचा उठे ।

(उलुलयः) जलाने वालों के जलाने वाले, (केतुमन्तः) ऊँचे झुण्डा वाले (घोषाः) जयजयकार शब्द (पृथक्) नाना रूप में (उत् ईरताम्) ऊपर चढ़ें ।

(इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्र प्रतापी पुरुष को ज्येष्ठ वा स्वामी रखने वाले (मरुतः) दूर (देवाः) जय चाहने वाले देवता लोग (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें ॥६॥

भाषार्थः—समस्त सेनादल बड़ी उमंग से व्यूह बनाकर नानारूप में मारू बाजे गाजे के साथ "जय जय" करते हुए आगे बढ़ें और सब दलपति लोग प्रधान सेनापति की आज्ञानुसार अपनी २ टुकरी लेकर भावा करें ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद १० । १०३ । १० और यजुर्वेद १७।४२ में है ॥

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु वाहवः ।

तीक्ष्णेष्वोऽबलश्रन्वनो हतोऽग्रायुधा अबलानुग्रवाहवः ॥७॥

भाषार्थः—(नरः) हे नरो (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो। (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) प्रचण्ड [कट्टर] (सन्तु) होंवें। (तीक्ष्णेष्वः) हे तीखे बाण वाले। (उग्रायुधाः) हे कट्टर हथियारों वाले (उग्रबाहवः) हे कट्टर भुजाओं वाले वीरों! (अवलधन्वनः) निबल धनुष वाले (अवलान्) निबल [शत्रुओं] को (हत) मारो ॥७॥

भाषार्थः—‘प्रेता जयता’ पदों में दीर्घत्व उत्साह के लिए है। सेनापति की आज्ञा से सब सैनिक लोग उमंग के साथ मारू बजाते गाते धावा करके तुच्छ बैरियों को मारें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद १०।१०३।१३। और यजुर्वेद १७।४६ में है।

अवसृष्टा परां पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प पथस्व जह्वंषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन । ८॥

भाषार्थः—(ब्रह्मसंशिते) हे ब्रह्माओं, वेदवेत्ताओं से प्रशंसित वा यथावत् तीक्ष्ण की हुई (शरव्ये) बाण विद्या में चतुर सेना! (अवसृष्टा, छोड़ी हुई तू (परा) पराक्रम के साथ (पत) भपट। (अमित्रान्) बैरियों को (जय) जीत, (प पथस्व) आगे बढ़, (एवाम्) इनमें से (वरंवरम्) एक एक बड़े वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छुटे ॥८॥

भाषार्थः—धर्मज्ञ और युद्ध विद्या में कुशल आचार्यों से शिक्षा पाकर सेना के स्त्री पुरुष सेनापति की आज्ञा पाते ही उमंग से धावा करके शत्रुओं को मार गिरावें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६।७५।१६। और यजुर्वेद १७।४५। में है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—१० ॥ १, २, ५, अग्निर्वेवता, अन्यत्र मन्त्रोक्ता देवताः। १—५, ७, ९, १० अनुष्टुप् ६ पङ्क्तिः, ८ जगती ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमेश्वर] (ते) तेरा (ऋत्वियः) सब ऋतुओं [कालों] में मिलने वाला (योनिः) कारण है, (यतः) जिससे (जातः) प्रकट होकर (अरोचथाः) तू प्रकाशमान हुआ है, (तम्) उस

[योनि] को (जामन्) पहिचान कर (आ रोह) ऊंचा चढ़, (अथ) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (वर्धय) बढ़ा ॥१॥

भाषार्थः— परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से हमें बड़ा समर्थ और उपकारी मनुष्य देह दिया है। ऐसा जानकर हम अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३। २६। १०। और यजुर्वेद ३। १४ और १२। ५२ एवं १५। ५६। में है ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२॥

भाषार्थः— (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अच्छ) अच्छे प्रकार से (इह) यहाँ पर (नः) हमसे (वद) बोल, और (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (नः) हमारे लिए (सुमनाः) प्रसन्न मन (भव) हो। (विशाम् पते) हे प्रजाओं के रक्षक ! (नः) हमें (प्र यच्छ) दान दे, (त्वम्, तू (नः) हमारा (धनदाः) धन दाता (असि) है ॥२॥

भाषार्थः— सब मनुष्य विद्वानों से विद्या ग्रहण करके संसार में ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥२॥

मन्त्र २-७ ऋग्वेद म० १० सू० १४१ म० १-५ में कुछ भेद से हैं। यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ मन्त्र २८ में है ॥

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रोत सूनृता रयि देवी दधातु मे ॥३॥

भाषार्थः— (अर्यमा) वैरियों का नियन्ता वीर पुरुष, (प्र) अच्छे प्रकार (भगः) ऐश्वर्यवान् धनी पुरुष (प्र) अच्छे प्रकार, और (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं का स्वामी, प्रधान आचार्य (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमें (देवीः) दिव्य शक्तियाँ (प्र यच्छतू) प्रदान करे। (उत) और (सूनृता) प्रिय सत्य वाली (देवी) देवी [दिव्य गुण वाली] (मे) मुझे (रयिम्) ऐश्वर्य (प्र) अच्छे प्रकार (दधातु) देवे ॥३॥

भाषार्थः— मनुष्य, विशेष गुणी आचार्यों से विशेष शिक्षाएं पाकर, सत्यवादी सत्यकर्मी होकर ऐश्वर्यवान् होवें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६। २६। में है ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवाग्रहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥४॥

भाषार्थः—(अवसे) रक्षा के लिए (गीर्भिः) स्तुतियों से (सोमम्) ऐश्वर्य के कारण, (राजानम्) सबके शासक (अग्निम्) विद्वान् (आदित्यम्) बड़े दीप्यमान, (विष्णुम्) सबमें व्यापक, (सूर्यम्) सबके चलाने वाले, (ब्रह्माणम्) सबमें बड़े वेद प्रकाशक ब्रह्मा (च) और (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के रक्षक बृहस्पति [परमेश्वर वा मनुष्य] को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥४॥

भाषार्थः—सब मनुष्य जगदीश्वर के गुण, कर्म स्वभाव के ज्ञान और बड़े लोगों के आश्रय से अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६। २६ में है ।

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्मं यज्ञं च वर्धय ।

त्वं नो देव दातॄवे रयिं दानाय चोदय ॥५॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् ! [परमेश्वर वा पुरुष] (अग्निभिः) विद्वानों के द्वारा (त्वम्) तू (नः) हमारे (ब्रह्म) वेद ज्ञान वा ब्रह्मचर्य (च) और (यज्ञम्) यज्ञ [१—विद्वानों के पूजन, २—पदार्थों के संगतिकरण, और ३—विद्यादि के दान] को (वर्धय) बढ़ा, (देव) हे दानशील, ! (त्वम्) तू (नः) हममें से (दातॄवे) दानशील पुरुष को (दानाय) दान के लिए (रयिम्) धन (चोदय) भेज ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान से अपना ज्ञान और कर्मकौशल्य बढ़ावें और उपकारी कामों में आप सहायक बनें और दूसरों को सहायक बनावें ॥५॥

इन्द्रवायू उभाविह सुह॒षेह ह॒वामहे । यथा॑ नः॒ सर्व॑ इज्ज॒नः संग॑त्यां

सुम॒ना अस॑द् दान॒कामश्च॑ नो भुव॑त् ॥६॥

भाषार्थः—(उभौ) दोनों (सुह॒वा = ०—वौ) मुख से बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) सूर्य और पवन [के समान स्त्री पुरुष] को (इह इह) यहाँ पर ही (हवामहे) हम बुलाते हैं, (यथा) जिससे (सर्वः इत्) सभी (जनः) जने (नः) हमारी (संगत्याम्) संगति में (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होंवें, (च) और (नः) हमारी (दानकामः) दान के लिए कामना (भुवत्) होवे ॥६॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके घर में और सभा में परस्पर

परोपकारी, प्रसन्न चित्त, धार्मिक और धर्मकार्यों में दानशील हों, जैसे सूर्य अपने प्रकाश और वृष्टि आदि से और पवन अपने चेष्टादान और शीघ्र-गमन आदि से असंख्य लाभ पहुँचाते हैं ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ३३। ८६ में है ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥७॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] (अर्यमणम्) वैरियों के रोकने वाले राजा, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के रक्षक गुरु और (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष और (वातम्) पवन, (विष्णुम्) यज्ञ, (च) और (वाजिनम्) वेग वाले, वा अन्नवाले, वा बलवाले (सवितारम्) लोकों के चलाने वाले सूर्य से (सरस्वतीम्) विज्ञानों के भंडार सरस्वती, वेद विद्या को (दानाय) दान के लिये (चोदय) प्रवृत्त कर ॥७॥

भाषार्थः—ईश्वर भक्त (अर्यमा) राजा वा सेनापति, (बृहस्पति) प्रधान आचार्य और (इन्द्र) दण्डनेता वा कोपाध्यक्ष आदि अधिकारी अपने २ पदों पर दृढ़ रह कर पवन, सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि अद्भुत पदार्थों द्वारा वेदविज्ञान फैलावे ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ म० २७ में है ॥

मनु महाराज ने लिखा है—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनु० १२। १०० ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के पद, राजा के पद, और दण्ड दाता के पद और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥७॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभ्रुविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥८॥

भाषार्थः—(वाजस्य) बल के (प्रसवे) उत्पत्ति में (नु) ही (संबभ्रुविम) हम समर्थ हुए हैं, (च) और (इमा = इमानि) यह (विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोक (अन्तः) [उसी के] भीतर हैं, (प्रजानन्) जानवान् ईश्वर (अदित्सन्तम्)

देने की इच्छा न करने वाले से (उत्त) भी (वापयतु) दिलावे। (च) और [हे ईश्वर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सर्ववीरों से युक्त (रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥८॥

भावार्थः—सब चराचर जगत् अन्न के आश्रित ठहरा है। सर्वज्ञ पर-मेश्वर अदानी पुरुषों को भी सुपात्रों के लिये दान शक्ति देवे, और हमें और हमारे वीरों को धनी बनावे ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १६।२५ वा २४ में है ॥

दुहां मे पञ्च प्रदिशो दुहामुर्वीयथाबलम् ।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥९॥

भावार्थः—(पञ्च) फैली हुई [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (मे) मेरे लिये (उर्वीः) फैली हुई शक्तियों को (यथाबलम्) यथाशक्ति (दुहाम्) भरती रहें, (दुहाम्) भरती रहें। (मनसा मन [मनन शक्ति] से (च) और (हृदयेन) हृदय [ग्रहण शक्ति] से (सर्वाः) सब (आकूतीः) संकल्पों का (प्र, प्रापेयम्) मैं पाता रहूँ ॥९॥

भावार्थः—मनुष्य विद्या आदि के दान से अपना सामर्थ्य बढ़ावे और सब दिशाओं से उत्तम गुण प्राप्त करें तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन [ध्यान देकर विचार] से अपने मनोरथ सिद्ध करें ॥९॥

गोसर्नि वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥

भावार्थः—(गोसर्निम्) गोलोक [गोओं वा स्वर्ग] की देने वाली (वाचम्) वाणी को (उदेयम्) मैं बोलूँ। [हे ईश्वर ! (वर्चसा) तेज के साथ (मा = माम्) मेरे ऊपर (अभ्युदिहि) सब ओर से उदय हो। (वायुः) प्राण वायु [मुभक्तो] (सर्वतः) सब प्रकार से (आ रुन्धाम्) घेरे रहे। (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर वा सूर्य (मे) मेरे लिए (पोषम्) पोषण (दधातु) देता रहे ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर के ध्यान से सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर अपने प्राणों को वश में रखे और पुरुषार्थी होकर सूर्य से वृष्टि द्वारा अपना पोषण प्राप्त करे ॥१०॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—१० ॥ १—७ अग्नयो देवताः, ८—१० मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १—४, ७, ८ त्रिष्टुप्, ५ जगती; ६, ९ १० अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ये अग्नयो अप्सवः^१ न्तये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।

य आविवेशोषधीयो वनस्पतीस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

भाषार्थः—(ये) जो (अग्नयः) अग्नियों [ईश्वर के तेज] (अप्सुअन्तः) जल के भीतर, (ये) जो (वृत्रे) मेघ में, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य शरीर] में और (ये) जो (अश्मसु) जिलाओं में है। (यः) जिस [अग्नि] ने (ओषधीः) ओषधियों [अन्न, सोम रक्ता आदि] में, और (यः) जिसने (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि] में (आ विवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी परमेश्वर का ग्रहण है, अर्थात् जिस परमेश्वर की शक्ति से समुद्र में बड़वानल, मेघ में बिजुली मनुष्य में अन्न पाचक अग्नि और पत्थर में चकमक, ओषधियों में फलपाक अग्नि आदि अद्भुत उपकारी शक्तियाँ वर्त्तमान हैं, उनके प्रेरक परमेश्वर को हमारा प्रणाम है ॥१॥

यः सोमे अन्तयो गोष्वन्तर्ये आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।

य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥२॥

भाषार्थः—यः) जो [अग्नि] (सोमे) सोम [चन्द्र, अमृत वा दूध, घी, आदि] के (अन्तः) भीतर, (यः) जो (गोषु अन्तः) गाय आदि पालतू पशुओं में, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में और (यः) जो (मृगेषु) बनेले जीवों में (आविष्टः) प्रविष्ट है, और (यः) जिसने (द्विपदः) दोपायों, और (यः) जिसने (चतुष्पदः) चौपायों में (आविवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थः— जो अग्नि चन्द्रमा में सूर्य से है और जो सोमलता वा दूध आदि में रस पकाकर पोष्टिक बनाता है, और जो प्राणियों में वेग, बलवत्ता, जंगलीपन, और अन्य विशेषता का कारण है, उस अग्नि के संयोजक, वियोजक परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥२॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।

यं जोहवीमि पृतनासु सासहि तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥३॥

भाषार्थः— (यः) जो (देवः) प्रकाशमान वा जय चाहने वाला [अग्नि] (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् शूर के साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़कर (याति) चलता है, और [जो हमारे] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (उत) और [जो शत्रु का] (विश्वदाव्यः) सब कुछ जलाने वाला है, और (यम्) जिस (सासहिम्) विजयी [अग्नि] को (पृतनासु) संग्रामों में (जोहवीमि) बारंबार आवाहन करता हूँ, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः— जिस परमात्मा के तेज को हृदय में धारण करके साहसी शूर आग्नेय अस्त्र-शस्त्रधारी सेना के द्वारा शत्रुओं को शीघ्र जीत लेता है, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्म दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।

यो धीरः शक्रः परिभुरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥४॥

भाषार्थः— (यः) जो (देवः) प्रकाशमान अग्नि, [वैरियों में] (विश्वात्) सबका खाने वाला है, (यम्) जिसको (उ) ही (कामम्) कमनीय वा कामना पूरी करने वाला (आहुः) लोग कहते हैं, (यम्) जिसको (दातारम्) देने वाला और (प्रतिगृह्णन्तम्) लेने वाला (आहुः) बताते हैं। (यः) जो (धीरः) पुष्टि करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (परिभूः) सर्वव्यापक और (अदाभ्यः) न दबने योग्य है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥४॥

भाषार्थः— जिस परमात्मा को विद्वान् लोग आनन्ददाता और प्रार्थना का मानने वाला जानते हैं, और जिसके ध्यान से पुरुषार्थी लोग शत्रुओं को जीतते हैं, उसको हमारा प्रणाम है ॥४॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।

वर्चोधसे यशसे मनुतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

भाषार्थः—(त्रयोदश) तेरह [दो कान, दो नथनें, दो आंखें और एक मुख यह सात शिर के, और दो हाथ, दो पद, एक उपस्थेन्द्रिय, और एक गुदास्थान, यह छः शिर के नीचे के] (भौवनाः) भुवनों से संबन्ध वाले प्राणी, और (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्व] से संबन्ध वाले (मानवाः) मनुष्य (मनसा) मनन शक्ति से (वर्चोधसे) तेज धारण कराने वाले और (मनुतावते) प्रिय सत्य वाणी वाले (यशसे) यश के लिये (यम्) जिस (त्वा) तुम्ह [अग्नि] को (होतारम्) दानी (अभि) सब प्रकार (संविदुः) ठीक ठीक जानते हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥५॥

भाषार्थः—सब शरीरधारी उस परमपिता की महिमा विचारपूर्वक गाकर तेजस्वी, सत्यवादी और यशस्वी होते हैं, उसको यह हमारा नमस्कार है ॥५॥

‘पञ्च मानवाः’ शब्द ‘पञ्चजनाः’ शब्द का पर्यायवाची है जिसका अर्थ “मनुष्य” है—निघ० २ । ३ । उसकी व्याख्या, निरु० ३ । ८ में इस प्रकार की है “पञ्च जनाः...गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, ऐसा कोई २ मानते हैं, चारों वर्ण और निषाद पाँचवां, यह औपमन्यव ऋषि का मत है निषाद किस लिये, इसमें पाप स्थित है ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥६॥

भाषार्थः—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्नदाता, (वशान्नाय) वशीभूत निर्बल प्रजापति के अन्नदाता, (सोमपृष्ठाय) अमृत सींचने वाले और (वेधसे) उत्पन्न करने वाले (तेभ्यः) उन [चार प्रकार के] वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] को प्रधान रखने वाले (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥६॥

भाषार्थः—जिस (वैश्वानर) सब मनुष्य आदि के हितकारी परमेश्वर की शक्ति से सब प्राणी पुष्ट होते हैं, उसको हमारा नमस्कार है ॥६॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद ८ । ४३ । ११ में है ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युत्संमनुसंचरन्ति ।

ये दिक्ष्व१ 'न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो' अग्निभ्यो' हुतमस्त्वेतत् ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जो [तेज] (दिवम्) सूर्यलोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) लगातार और (विद्युत्) बिजुली में (अनुसंचरन्ति) लगातार चलते रहते हैं, (ये) जो (दिक्ष्व अन्तः) दिशाओं के भीतर और (ये) जो (वाते अन्तः) पवन के भीतर हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभिः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥७॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा के तेज सब लोकों, सब पदार्थों और सब दिशाओं में हैं, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥७॥

हिरण्यपाणि सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।

विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥८॥

भाषार्थः—(हिरण्यपाणिम्) सूर्य आदि तेजों से स्तुति किये हुए (सवितारम्) सबके प्रेरक (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों के रक्षक (वरुणम्) सबमें श्रेष्ठ, (मित्रम्) हितकारी (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर से (विश्वान्) सब (देवान्) विजय कराने वाले (अङ्गिरसः) ज्ञानों वा पुरुषार्थों को (हवामहे) हम मांगते हैं (इमम्) इस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले (अग्निम्) अग्नि [समान दुःख] को (शमयन्तु) वे शान्त कर दें ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर के अनुपम गुणों का अनुभव करके पुरुषार्थों वनें और अग्नि समान तापकारी और शरीरशोषक दुःखों का नाश करें ॥८॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्य१ 'स्तं क्रव्याद्वपशीशमम् ॥९॥

भाषार्थः—(अव्यात्) मांस खाने वाला (अग्निः) अग्नि [समान तापकारी दुःख] (शान्तः) शान्त हो । (पुरुषरेषणः) पुरुषों का सताने वाला [कष्ट] (शान्तः) शान्त हो । (अथो) और भी (यः) जो (विश्वदाव्यः) सब [सुखों] का जलाने वाला है (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [अग्निरूप दुःख] को (अशीशमम्) मैंने शान्त कर दिया है ॥९॥

भाषार्थः—दूरदर्शी पुरुष विघ्नों को हटाकर आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते हैं ॥९॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आर्द्रग्निरस्ते क्रव्यादमशीशमन ॥१०॥

भाषार्थः—ये, जो (पर्वताः) पहाड़ (सोमपृष्ठाः) सोम [अमृत अर्थात् औषधि वा जल] को पीठ पर रखने वाले हैं, [उन्होंने और] उत्तानशीवरीः (वर्षः) ऊपर को मुल करके सोने वाले [सूर्य की ओर चढ़ने वाले] (आपः) जल, (वातः) पवन, (पर्जन्यः) मेघ, (आर्द्रः) और (अग्निः) अग्नि, (ते) उन सब ने (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [अग्नि रूप दुःख] को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करें कि सोमलता आदि औषध उत्पन्न करने वाले पर्वत, जल, वायु, मेघ, अग्नि आदि सब पदार्थ शुद्ध रहकर सुखदायक हों ॥१०॥

सूक्तम् २२ ॥

१—६ ॥ विश्वे देवा देवताः । १, ३ त्रिष्टुप्, २, ४—६ अनुष्टुप् ॥

कीर्त्तिप्राप्त्युपदेशः—कीर्त्ति पाने के लिये उपदेश ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अर्दित्या एत तन्वः संबभूव ।

तत् सर्वं समर्द्धमहं मेतद् विश्वं देवा अर्दितिः सजोषाः ॥१॥

भाषार्थः—(हस्तिवर्चसम्, हाथी के बल से युक्त (बृहत्) बड़ा (यशः) यश (प्रथताम्) फैले, (यत्) जो (अर्दित्याः) अर्दीन वेद वाणी वा प्रकृति के (तन्वः) विस्तार से (संबभूव) उत्पन्न हुआ है, (तत्) सो (एतत्) यह [यश] (मह्यम्) मुझ को (सजोषाः) समान प्रीति वाली (अर्दितिः) अक्षण्ड वेदवाणी वा प्रकृति और (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान गुरुओं ने (सर्वं) सर्वव्यापक विष्णु भगवान् में (सम्) ठीक प्रकार से (अर्द्धः) दिया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद विद्या और प्रकृति के यथावत् ज्ञान से (जिस सबका केन्द्र परमेश्वर है) हाथी आदि का सामर्थ्य पाकर यशस्वी होता है । म० ६ देखो ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ यो० द० ३ । २३ ॥

बलों में [संयम करने से] हाथी के से बल हो जाते हैं ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।

देवाःसौ विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥

भाषार्थः— (मित्रः) सबका मित्र, (च) और (वरुणः) अग्नि श्रेष्ठ (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (च) और (रुद्रः) ज्ञानदाता वा दुःखनाशक परमेश्वर (चेततु) चेताना रहे, और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वधायसः) सब जगत् के पोषण करने वाले (देवासः = देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि] (मा) मुझ को (वर्चसा) तेज वा बल से (अञ्जन्तु) कान्ति वाला करें ॥२॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की महिमा को जानें और विज्ञान-पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेकर तेजस्वी और यशस्वी हों ॥२॥

येन हस्ती वर्चसा संवभूव येन राजा मनुष्येष्वास्व१ न्तः येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्नैर्वर्चस्विनं कृणु ॥३॥

भाषार्थः— (येन) जिस (वर्चसा) तेज से (हस्ती) हाथी, और (येन) जिस [तेज] से (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (मनुष्येषु, मनुष्यों और (अस्वसन्तः) जल और अन्तरिक्ष के भीतर (संवभूव) पराक्रमी हुआ है, और (येन) जिस [तेज] से (देवाः) देवताओं [महात्मा पुरुषों] ने (अग्रे) पहिले काल में (देवताम् देवतापन आयन्) पाया है, (अग्ने, हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (माम्) मुझको (अद्य) आज (वर्चस्विनम्) तेजस्वी (कृणु) कर ॥३॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष हाथी आदि पशुओं, और पूर्वज शूरवीर ऋषि महात्माओं के बुद्धि बल का अनुभव करके (अद्य) आज अर्थात् दीर्घ उपाय से जल, धूल, और आकाश में, (अग्नि) परमेश्वर की भक्ति के साथ अपनी गति बढ़ावें और अग्नि के समान तेजस्वी होकर संसार में कीर्तिमान् हों ॥३॥

योगेश्वर पतञ्जलि का वचन है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ यो० द० १ । २१ ॥

[समाधि लाभ] उग्र अच्छे वेगवालों के समीप होता है ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।

यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।

तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥४॥

भाषार्थः—(यत् जिस कारण से (जातवेदः) उत्पन्न संसार के ज्ञान वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (आहुतेः) आहुति [आत्मदान] से [हमारा] (वर्चः) तेज (बृहत्) बड़ा (भवति) होता है, (यावत्) जितना (वर्चः) तेज वा बल (आसुरस्य) प्राणियों वा मेघों के हितकारक सूर्यस्य सूर्य का (च) और (हस्तिनः) हाथी का है, (तावत्) उतना (वर्चः) तेज वा बल (मे) मेरे लिये (पुष्करञ्जना — ० - जी) पोषण देने वाले (अश्विना = ०—नौ) माता पिता वा सूर्य्य चन्द्रमा (आधत्ताम्) सब प्रकार देवें ॥४॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष माता पिता की सुशिक्षा और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से परमेश्वर की आज्ञा पालन में मन लगाकर अपना बल बढ़ावें और सूर्य आदि दूरस्थ और हाथी आदि पृथिवीस्थ पदार्थों का बल, विज्ञान द्वारा जानकर उन्नति करें ॥ ४॥

यावत्तत्तस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।

तावत् समैस्त्रिन्द्रियं मयि तद्वस्तिवर्चसम् । ५॥

भाषार्थः—(यावत्, जितनी दूर (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) महादिशाएँ हैं, और (यावत्) जितनी दूर (चक्षुः) आँख [दर्शन शक्ति] (समश्नुते) फैलती है, (तावत्) वहाँ तक (मयि) मुझमें (तत्) वह (हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल वाला (इन्द्रियम्) परम ऐश्वर्य (समेत्) आकर मिले ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य सब पार्थिव और दिव्य पदार्थों के यथावत् ज्ञान से सामर्थ्य बढ़ा कर उन्नति करें ॥५॥

हस्ती मृगाणां सुषदाप्रतिष्ठावान् बभूव हि ।

तस्य भगेन वर्चसामि पिञ्चामि मामहम् । ६॥

भाषार्थः—(हि) क्योंकि (सुषवाम्) सुखसे चढ़ने योग्य (मृगाणाम्) पशुओं में (हस्ती) हाथी (अतिष्ठावान्) प्रतिष्ठा वाला (बभूव) हुआ है, (तस्य) उसके (भगेन) सेवनीय (वर्चसामि) कान्ति से (अहम्) मैं (माम्) अपने को (अभिपिञ्चामि) भले प्रकार सींचूँ [शुद्ध करूँ] ॥६॥

भाषार्थः—जैसे हाथी में अन्य पशुओं से अधिक बुद्धि बल होता है, वैसे ही प्रचान पुरुष अन्य पुरुषों से अधिक बुद्धिबल वाला होवे ॥६॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ माता वेवता । १—४ अनुष्टुप्, ५ पङ्क्तिः, ६ पूर्वापंक्तिद्वय,
उत्तरार्धोऽनुष्टुप् ।

वीरसन्तानोत्पादनोपदेशः—वीर सन्तान उत्पन्न करने के उपदेश ॥

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।

इदं तदन्यत्र त्वदपं दूरे नि दध्मसि । १॥

भाषार्थः—[हे स्त्री] (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) बन्ध्या [बाँझ]
(बभूविथ) हुई है, (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझसे (नाशयामसि) हम नष्ट करते
हैं । (इदम् = इदानीम्) अभी (तत्) उस को (त्वत्) तुझसे (अन्यत्र) और कहीं
(दूरे) दूर (अप = अपहृत्य) हटा कर (निदध्मसि = ० - ध्मः) हम रखते हैं ॥१॥

भाषार्थः—सद्वेद्य पुत्रेष्टि यज्ञ करके श्रोषधि द्वारा बाँझपन मिटा कर
वीर सन्तान उत्पन्न करते हैं, देखो—श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कार विधि—
गर्भाधान प्रकरण ॥१॥

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाणं इवेषुधिम् ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥२॥

भाषार्थः—[हे सुभगे] (पुमान्) रक्षा करने वाला, पराक्रमी (गर्भः) गर्भ
(ते) तेरे (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे, (बाणः इव) जैसे बाण (इवेषुधिम्)
तूणीर [तीरों के धौले] में । (अत्र) इस घर में (दशमास्यः) दश महीने तक पुष्ट
हुआ, (ते) तेरा (वीरः) वीर, (पुत्रः) कुलशोधक बालक (आ जायताम्) अच्छे
प्रकार उत्पन्न हो ॥२॥

भाषार्थः—ब्रधू और वर यथाविधि ब्रह्मचारी रहकर युक्त आहार
विहार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे गर्भ अवश्य स्थिर रहे और पूर्ण
रीति से पुष्ट होकर वीर सन्तान उत्पन्न हो ॥२॥

यहाँ पर अथर्ववेद का० १ सू० ११ मन्त्र ६ का मिलान करो ।

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन है—

दश मासाञ्छयायानः कुमारो अधि मातरि ।

निरैतुं जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ऋ० ६।७।९॥

(मातरि अधि) माता के गर्भ में जो (कुमारः) बालक (दश मासान्) दश

महीनों तक (शशयानः) सोता रहा है, वह (जीवः) जीता हुआ (अक्षतः) घाव से रहित (जीवः) जीव (जीवन्त्याः अधि) जीवती हुई माता से (निरंतु) बाहिर आवे ।

श्री सायणाचार्य ने यह मन्त्र इस प्रकार श्लोक में लिखा है—

दश मासानुषित्वासौ जननीजठरे सुखम् ।

निर्गच्छतु सुखं जीवो जननी चापि जीवतु ॥ ऋ०। सा० भा०। ५। ७८। ९।

(जननीजठरे) माता के पेट में (सुखम्) सुख से (दश मासान्) दस महीनों तक (उषित्वा) मोकर (असौ जीवः) वह जीव (निर्गच्छतु) बाहिर आवे, (च) और (जननी अपि) माता भी (जीवतु) जीवित रहे ॥२॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३॥

भाषार्थः—[हे वधू] (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) बहुरक्षक, वीर सन्तान (जनय) उत्पन्न कर, (तम् अनु) उसके पीछे (पुमान्) रक्षा करने वाला वीर बालक (जायताम्) उत्पन्न होवे, । (जातानाम्, उत्पन्न हुए (पुत्राणाम्) नरक से बचाने वाले सन्तानों की (माता) माननीय माता (भवासि) हो, (च) और [उनकी भी] (यान्) जिनको (जनयाः) तू उत्पन्न करे ॥३॥

भाषार्थः—माता पिता ब्रह्मचर्य और इष्ट भोजन, छादन, व्यायाम आदि से प्रयत्न करें कि उनके सब पुत्र पुत्री सदैव पराक्रमी उत्पन्न होवें और माता पिता तथा संसार की सेवा करके 'पुमान्' रक्षक बने रहें ॥३॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रमृधेनुका भव ॥४॥

भाषार्थः—(च) और (यानि) जैसे (भद्राणि) माङ्गलदायक (बीजानि) बालकों को (ऋषभाः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि लोग, अथवा, ऋषभ ओषधि के रस (जनयन्ति) उत्पन्न करते हैं, (तैः) वैसे ही [सन्तानों] के साथ (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुल-शोधक या बहुरक्षक बालक को (विन्दस्व) प्राप्त कर, (सा = सा त्वम्) सो तू (प्रमृः) जनने वाली (धेनुका) दूध पिलाने वाली माता [अथवा दुधैल गौ के समान] (भव) हो ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य बड़े लोगों से ब्रह्मचर्य विद्या और ओषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करें । और बलवती माता अपने

बच्चों को अपना दूध पिला कर बलवान् करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है ॥४॥

शब्दकल्पद्रुम कोष में ऋषभ औषध को मधुर, शीतल, रक्तपित्तविकारनाशी वीर्य श्लेष्मकारी, और दाहज्वरहारी लिखा है ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते । विन्दस्व त्वं पुत्रं
नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

भाषार्थः—(ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) सन्तान रक्षक कर्म [गर्भाधान, पुंसवनादि संस्कार] (कृणोमि) मैं करता हूँ, (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे । (नारि) हे नर की हितकारिणी ! (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (विन्दस्व) प्राप्त कर (यः) जो (तुभ्यम्) तुझको (शम्) सुख-दायक (अस्तु) होवे, (उ) और (त्वम्) तू (तस्मै) उसको (शम्) सुख दायक (भव) हो ॥५॥

भाषार्थः—सब मनुष्य वैद्यक शास्त्र के अनुसार उचित काल में उचित रीति से अमोघ गर्भाधानादि संस्कार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे उस सन्तान का जन्म, आप उसको और माता पिता सबको सुखदायक हो ॥५॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्वा पुत्रविधाय देवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६॥

भाषार्थः—(यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली अन्नादि औषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली, और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ है, (ताः) वे (देवीः) दिव्य गुणवाली (औषधयः) औषधें (पुत्रविधाय) सन्तान पाने के लिये (त्वा) तेरी (प्र) अच्छे प्रकार (प्रावन्तु) रक्षा करें ॥६॥

भाषार्थः—अन्न आदि अनेक औषधियां सूर्य द्वारा दृष्टि और प्रकाश पाकर पृथिवी और जल के संयोग से उत्पन्न होती हैं, उनमें से उत्तम २ बलवर्धक औषधों के उचित खान पान से माता पिता उत्तम सन्तान उत्पन्न करें ॥६॥

सूक्तम् २४ ॥

१—७ ॥ प्रजापतिर्वेधता । १, ३—७ अनुष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

धान्यसमृद्धिकर्मोपदेशः—धान्य बढ़ाने के कर्म का उपदेश ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।

अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥१॥

भाषार्थः—(ओषधयः) ओषधियाँ, चावल जौ आदि वस्तुएँ (पर्यस्वतीः = ०—त्यः) सारवाली होवें, और (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (पर्यस्वत्) सार वाला होवे । (अथो) और भी (अहम्) मैं (पर्यस्वतीनाम्) सारवाली [ओषधियों] का (सहस्रशः सहस्रों प्रकार से (आ) यथा विधि (भरे) धारण करूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्यापूर्वक अन्न आदि पदार्थों को उत्तम बनावें और दृढ़ सत्य वचन बोलें । ऐसा करने से शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है ॥१॥

मनु महाराज का वचन है—

उज्जिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ मनु० १।४६ ॥

भूमि को फोड़कर उपजने वाले, और बीज वा शाखा से उगने वाले सब वक्ष हैं, फल पाक के साथ नष्ट होने वाली और बहुत फूल फल वाली ओषधियाँ [चावल, जौ आदि] हैं ॥१॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकरं धान्यं बहु । संभृत्वा नाम यो देवस्तं

वयं हवामहे यो यो अयं ज्वनो गृहे ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (पर्यस्वन्तम्) सार वाले परमेश्वर को (वेद) जानता हूँ । (बहु) बहुत सा (धान्यम्) धान्य (चकार) उसने उत्पन्न किया है । (यः) जो (देवः) दानवील ईश्वर (संभृत्वा) यथावत् पोषक (नाम) नाम (अयं ज्वनः) यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में (योयः = यस्-यः, गति वाला है, (तम्) उस [परमात्मा] का (वयम्) हम (हवामहे) आवाहन करते हैं ॥२॥

भाषार्थः—प्रत्येक प्राणी उस उत्तम पदार्थों के भण्डार परमात्मा को जानता है जो अनेक अन्न उपजा कर [धर्मात्माओं का तो क्या कहना है] पापियों तक के घर भोजन पहुँचाता है । हम उसकी उपासना नित्य किया करें ॥२॥

शेखसादी शीराजी ने अपनी पुस्तक पुष्पवाटिका [गुलिस्ता] में इस मन्त्र का आशय इस प्रकार दिखलाया है—

“ऐ करीमे कि अज खजानै गैब । गन्नो तसौ वजीफा खुरदारी ॥१॥

दोस्तां रा कुजा कुनी महरूम । तो कि बा दुश्मनां नजरदारी ॥२॥”

हे ऐसे उदार कि तू गुप्त कोष के विरोधी और नास्तिक को पेटियां खिलाता है । मित्रों को तू कब निराश करे, जब कि तू द्वेषियों पर आंख रखता है ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फाति समावहान् ॥३॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।

एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥४॥

भाषार्थः—(इमाः) यह (याः) जो (मानवीः = ०—व्यः) मानुषी (पञ्च) पांच भूत [पृथिवी आदि] से सम्बन्ध वाली (कृष्टयः) प्रजायें (पञ्च प्रदिशः) पांच फैली हुई दिशाओं में हैं, वे प्रजायें (शापम्) अनिष्ट वा मलिनता हटा कर (इह) यहां पर (स्फातिम्) बढ़ती को (समावहान्) यथावत् लावें, और (नदीः इव नद्यः इव) जैसे नदियां (बूढ़े) बरसने पर [अनिष्ट वा मलिनता हटा कर] (शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाले और (सहस्रधारम्) सहस्रों विधि से धारण करने वाले, (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने के साधन [भरना, कूप आदि] को (उत् = उबावहन्ति) निकालती हैं (एव = एवम्) ऐसे ही (अस्माक = अस्माकम्) हमारा (इवम्) यह (धान्यम्) धान्य (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाला और (अक्षितम्) अक्षय [होवे] ॥३, ४॥

भाषार्थः—मनुष्य लेती व्यापार आदि द्वारा पूर्वादि चार दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशा [वायु मण्डल वा पाताल] से बहुत धन प्राप्त करें और अनेक प्रयोगों से उसकी यथावत् वृद्धि करें, जैसे बरसा का जल नदियों में एकत्र होकर और भरनों, कूपों, नालियों से लेती आदि में पहुंच कर दरिद्रता आदि मिटा कर संसार को लाभ पहुंचाता है ॥३, ४॥

मन्त्र ३ व ४ युग्मक छन्द है ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किंर ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह ॥५॥

भाषार्थः—(शतहस्त) हे सैकड़ों हाथों वाले ! [मनुष्य !] [धान्य को—म० ४] (समाहर) बटोर कर ला, और (सहस्रहस्त) हे सहस्रों हाथों वाले (सम्) अक्षय

प्रकार से (फिर) फैला। (च) और (कृतस्य) किये हुए और (कार्यस्य) कर्तव्य कर्म की (स्फातिम्, बढ़ती को) इह। यहाँ पर (समाबह) मिलकर ला ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य सैकड़ों तथा सहस्रों प्रकार से कर्मकुशल होकर, और सहस्रों कर्मकुशलों से मिल कर धन धान्य एकत्र करे और उत्तम कर्मों में व्यय करके आगा पीछा सोच कर सदैव उन्नति करता रहे ॥५॥

तिस्त्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्याः ।

तासां या स्फातिमत्तमा तथा त्वाभिर्मृशामसि ॥६॥

भाषार्थः—(तिस्त्रः) तीन (मात्राः) मात्रायें [भाग] (गन्धर्वाणाम्) विद्या वा पृथिवी धारण करने वालों की, और (चतस्रः) चार (गृहपत्याः) गृहपत्नी [घर की पालन शक्ति] की [होवें], (तासाम्) उन सब [मात्राओं] में से (या) जो (स्फातिमत्तमा) उत्पन्न समृद्धि वाली है, (तया) उस [मात्रा] से (त्वा) तुभको (अभि) सब ओर से (मृशामसि = ०—मः) हम छूते [संयुक्त करते] हैं ॥६॥

भाषार्थः—सब कुटुम्बी लोग जो धन धान्य कमावें उसमें से उत्तम अधिकांश अनदेखे विपत्ति समय के लिए प्रधान पुरुष को सौंपें, और शेष के सात भाग करके तीन भाग विद्यावृद्धि और राजप्रबन्ध आदि और चार भाग सामान्य निर्वाह खान पान वस्त्र आदि में व्यय करें। यह वैदिक शिक्षा सब मनुष्यों के सुख का मूल है ॥६॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।

ताविहा वंहतां स्फातिं बहु भूमानमक्षितम् ॥७॥

भाषार्थः—(प्रजापते) हे प्रजापालक गृहस्थ ! (उपोहः) योग [प्राप्ति] (च) और (समूहः) संग्रह [क्षेम वा रक्षा] दोनों (च) निश्चय करके (ते) तेरे (क्षत्तारौ) क्षत्रिय [क्षति वा हानि से बचाने वाले] हैं। (तौ) वे दोनों (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती और (बहुम्) बहुत (अक्षितम्) अचूक (भूमानम्) अधिकाई (आ वहताम्) लावें ॥७॥

भाषार्थः - गृहस्थ लग पुरुषार्थ करके विद्या, धन, धान्य आदि जीवन सामग्री की १—प्राप्ति, २—रक्षा और ३—वृद्धि वा ऋद्धि सिद्धि करके आनन्द भोगें ॥७॥

यजुर्वेद में आया है—

योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२।२२॥

(नः) हमारा (योगक्षेमः) योग-अप्राप्त वस्तु का लाभ, और क्षेम-प्राप्त पदार्थ की रक्षा (कल्पताम्) समर्थ अर्थात् पर्याप्त होवे ॥

सूक्तम् २५ ॥

१—६ ॥ कामो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशेन विद्यालाभोपदेशः—अविद्या के नाश से विद्या की प्राप्ति का उपदेश ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥१॥

भावार्थः—[हे अविद्या !] (उत्तुदः, तेरा उखाड़ने वाला [विद्वान्] (त्वा) तुझको (उत् तुदतु) उखाड़ दे । (स्वे शयने) अपने शयन स्थान [हृदय] में (मा धृथाः) मत ठहर । (कामस्य) सुकामना का (या) जो [तेरे लिये] (भीमा) भयानक (इषुः) तीर है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बेधता हूँ ॥१॥

भावार्थः—सब स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्यादि तपोबल द्वारा अविद्या को हृदय से मिटावें, जैसे शूरवीर योद्धा शत्रु सेना को अस्त्रशस्त्रों से मार गिराता है ॥१॥

इस सूक्त में स्त्रीलिङ्ग शब्द अविद्या और विद्या के लिए आये हैं । पहले तीन मन्त्र अविद्यापरक, और पिछले तीन विद्यापरक हैं । अलङ्कार से अविद्या को दुःखदायिनी और विद्या को सुखदायिनी मानकर संबोधन किया है ॥

आधीपर्णा कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् ।

तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥

भावार्थः—(आधीपर्णाम्) अधिष्ठान वा प्रतिष्ठा के पंख वाले, (कामशल्याम्) वीर्य [तपोबल] की अणि वाले (संकल्पकुल्मलाम्) संकल्प के दंड छिद्र वाले (ताम्) उस [प्रसिद्ध, बुद्धि रूपी] (इषुम्) तीर को (सुसंनताम्) ठीक २ लक्ष्य पर सीधा (कृत्वा) करके (कामः) सुन्दर मनोरम (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यतु) बेधे ॥२॥

भावार्थः—ब्रह्मचारी योगी बुद्धि बल से अविद्या को हटाकर प्रतिष्ठावान् बलवान्, और सत्यसंकल्पी होता है ॥२॥

मुण्डकोपनिषद् का वचन है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्व्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ मुण्ड० उ० २।२।४॥

(प्रणवः) ओ३म् (धनुः) धनुष् (आत्मा हि) आत्मा ही (शरः) तीर, और (ब्रह्म) ब्रह्म (तल्लक्ष्यम्) उसका लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है, (अप्रमत्तेन) अप्रमत्त, अति सावधान मनुष्य (वेद्व्यम्) वेचे, और वह (शरवत्) तीर के समान (तन्मयः) उसमें लय (भवेत्) हो जावे ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्थेषुः सुसंनता ।

प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि स्वा हृदि ॥३॥

भाषार्थः—(कामस्थ) सुन्दर मनोरथ का (सुसंनता) ठीक २ लक्ष्य पर चलाया हुआ, (प्राचीनपक्षा) प्राचीन [वेदविज्ञान] का पंख रखने वाला, (व्योषा) विविध प्रकार से [अविद्या का] दाह करने वाला [बुद्धिरूपी] (या) जो (इषुः) तीर [अविद्या] की [प्लीहानम्] गति [वा तिल्ली नाम मर्मस्थान] को (शोषयति) सुखा देता है, (तया) उससे (स्वा) तुम्हें [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बेचता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और दृढ़ प्रतिज्ञा से वेदविज्ञान द्वारा अविद्या मिटाकर आनन्द भोगे, जैसे शूर वैरी का मर्मस्थान छेद कर सुखी होता है ॥३॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।

मृदुर्निर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥४॥

भाषार्थः—[हे विद्या,] (व्योषया) विशेष दाह करने वाली (शुचा) पीड़ा से (विद्धा) बिधी हुई, (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली, (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली (निर्मन्युः) निरभिमान, (केवली) सेवनीया, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलने वाली और (अनुव्रता) अनुकूल आचरण वाली [पतिव्रता स्त्री के समान] तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) चली आ ॥४॥

भाषार्थः—यहां से तीन मन्त्र विद्यापरक हैं । मन्त्र का आशय यह है, जो ब्रह्मचारी विद्या के लिए पूरी लालसा से यत्नपूर्वक परिश्रम करता है, विद्या शीघ्र ही उसको मिल कर हितकारिणी होती है, जैसे सती गुणवती स्त्री मन, वचन और कर्म से अपने पति की सेवा करती है ॥४॥

ऋग्वेद के परमब्रह्मज्ञान सूक्त वा विद्यासूक्त में भी विद्या की उपमा पतिव्रता स्त्री से दी है।

उत त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्वं १ विसस्त्रे जायेव पत्यं उशती सुवासाः ॥

ऋ० १० । ७१ । ४ ॥

(त्वः) एक पुरुष ने (पश्यन् उत) देखते हुए भी (वाचम्) वेद वाणी को (न ददर्श) नहीं देखा है, (त्वः) एक पुरुष (शृण्वन् उत) सुनता हुआ भी (एनाम्) इसको (न शृणोति) नहीं सुनता है। (उतो, किन्तु (त्वस्मै) एक पुरुष को [अपना] (तन्वम्) स्वरूप [परमज्ञान] (विसस्त्रे) उसने दिखाया है, (इव) जैसे (उशती) अनुरागवती (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र वाली (जाया) पत्नी [अपने] (पत्ये) पति को ॥

आजामि त्वार्जन्या परि मातुरथो पितुः ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायंसि ॥५॥

भाषार्थः—[हे विद्या !] (त्वा) तुझ को (आजन्त्या) पूरे उपाय से [अपनी] (मातुः) माता से (अथो) और (पितुः) पिता से (परि) सब ओर (आ) यथानियम (आजामि) प्राप्त करता हूँ, (यथा) जिससे (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥५॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष माता-पिता आदि से विद्या पाकर परीक्षा द्वारा साक्षात् करके हृदय में दृढ़ करें ॥५॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से अथर्व० १ । ३४ । २ में आया है ॥

ध्वंस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।

अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशै ॥६॥

भाषार्थः—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान (अस्यै) इस [विद्या] के लिए [मेरे] (हृदः) हृदय के (चित्तानि) विचारों को [वि अस्यतम्] फैलाओ। (अथ) और (एनाम्) इसको (अक्रतुम्) अहिंसिका [हितकारिणी] (कृत्वा) करके (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्) करो ॥६॥

भाषार्थः—सब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों को जीतकर अपने विचारों को बढ़ाकर महाहितकारिणी विद्या को उपयोगी बनावें ॥६॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता वेवताः । जगती त्रिष्टुप् वा छन्दः ॥

मुद्रणीतिः—मारु गीत ॥

ये १' स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्नि-
रिषवः । तेनो मृडत ते नोऽधिभूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः
स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व वा सम्मुख (दिशि) दिशा में (हेतयः) वज्र रूप (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले (स्थ) हो (तेषाम् वः) उन तुम्हारी (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार-पूर्वक (भूत) बोलो, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिए (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिए (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रणाम] होवे ॥१॥

भाषार्थः—सेनानी अपनी सेना का व्यूह करके आग्नेय अस्त्र वाले शूरवीरों को पूर्व दिशा में वा अपने सम्मुख स्थान में रखें, वे लोग सन्त्रुओं को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा करें, और राजा सत्कार-पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥१॥

ये ३' स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम
इषंवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः
स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी
(विशि) दिशा में (अविष्यवः) रक्षा की इच्छा वाले (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने
वाले वीर (स्थ) हा, (तेषाम् नः) उन तुम्हारा (कामः) मनोरथ (इषवः) तीर हैं,
(ते) वे तुम (नः) हमें.....[म० १] ॥२॥

भाषार्थः—दक्षिण दिशा वा दाहिनी ओर वाले रक्षक विजयी वीर
दृढ़ मनोरथ से शत्रुओं को जीतकर.....[म० १] ॥२॥

ये ३' स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां वः आप इषंवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे
वाली (विशि) दिशा में (वैराजाः) विविध ऐश्वर्य वाले क्षत्रिय (नाम, नाम (देवाः)
विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (आपः) जल [जल
विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें.....[म० १] ॥३॥

भाषार्थः—पश्चिम वा पीछे वाली दिशा के क्षत्रिय लोग वारुण्य वा
जलास्त्रों से शत्रुओं को जीतकर.....[म० १] ॥३॥

ये ३' स्यां स्थोर्दीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वः वात
इषंवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः
स्वाहा ॥४॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (उर्दीच्याम्) उत्तर वा बायीं ओर
वाली (विशि) दिशा में (प्रविध्यन्तः) वेधने वाले (नाम) नाम (देवाः) विजय
चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (वातः) पवन (इषवः) तीर
हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें.....[म० १] ॥४॥

भाषार्थः—उत्तर वा बायीं ओर वाली दिशा में बरछी, भाले, भोली
आदि से छेड़ने वाले वायु विद्या में कुशल योद्धा, वायव्य शास्त्र शास्त्र,
विमानों द्वारा बैरियों को जीत कर.....[म० १] ॥४॥

ये ३ 'स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधी-
रिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः
स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिर वा निश्चित
(दिशि) दिशा में (निलिम्पाः) लेप करने वाले बँध (नाम) नाम (देवाः) विजय
चाहने वाले वीर (स्थ) हों, (तेषाम् वः) उन तुम्हारी (ओषधीः) अन्न, सोमलतादि
ओषधियां (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें [म० १] ॥५॥

भाषार्थः—लेप पट्टी आदि करने वाले सद्यश्च दृढ़ निश्चित स्थान में
ओषधालय बना कर सैनिकों को स्वस्थ रख कर शत्रुओं को जीत कर.....
[म० १] ॥५॥

ये ३ 'स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पति-
रिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः
स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि)
दिशामें (अवस्वन्तः) रक्षा के अधिकारी (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले
वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (बृहस्पतिः) बड़ों का स्वामी, मुख्य
सेनापति (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम
(नः) हमारे लिए (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोलो, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे
लिए (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिए (स्वाहा) सुन्दर
वाणी [प्रशंसा] होवे ॥६॥

भाषार्थः—बड़े साहसी रक्षाधिकारी, युद्ध विद्या में कुशल योधा लोग
ऊँचे स्थान पर रहकर मुख्य सेनापति की सहायता से वैरियों को जीत कर
अपने राजा की दुहाई वा जय घोषणा करें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २
अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥६॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता वेदताः । प्रथमा पङ्क्तिः—द्विषदा द्विष्टुप्, द्वितीया
द्विषदा भुरिन् अगती, तृतीया द्विषदानुष्टुप् ॥

सेनाभ्यूहोपदेशः—सेना भ्यूह का उपदेश ॥

प्राची दिग्ग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधि-
पतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्टुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३ '
स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

भाषार्थः—(प्राची = प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या में निपुण सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (असितः) कृष्ण सर्प [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (आदित्याः) सूर्य से संबंध वाले (इषवः) बाण हों । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाताओं और (रक्षितृभ्यः) रक्षकों के लिये (नमो नमः) बहुत बहुत सत्कार वा अन्न और (एभ्यः) इन (इष्टुभ्यः) बाणों [बाण वालों] के लिये (नमोनमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे (यो) जो [वैरी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [वैरी से] (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, [हे शूरो] (तम्) उस को (वः) तुम्हारे जम्भे जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥१॥

भाषार्थः—(आदित्याः इषवः) बाण अर्थात् सब अस्त्र वास्त्र सूर्य वा बिजुली वा अग्नि के प्रयोग से चलने वाले हों । शत्रु दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो अपनी दुष्टता से धर्मात्माओं को बुरा जानते हैं, दूसरे वे जिनको धर्मात्मा लोग उनकी दुष्टता के कारण बुरा समझते हैं । उक्त दिशा में (अग्नि) पद वाला सेनापति (असित) नाम काले साँप के समान सेना व्यूह से ऐसे दुष्टों को जीतकर सैनिकों सहित यशस्वी होकर धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥१॥

दक्षिणा दिग्गन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्टुभ्यो नम एभ्यो
अस्तु । यो ३ ' स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

भाषार्थः—(दक्षिणा—०—णायाः) दक्षिण वा दाहिनी ओर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला इन्द्र [अधिकारी सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (तिरश्चिराजिः) तिस्त्री धारी वाले साप यद्वा पशु पक्षी आदि की पंक्ति [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (पितरः) रक्षा करने वाले (इषवः) बाण हों । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाताओं और.....
[म० १] ॥२॥

भाषार्थः—उक्त दिशा में [इन्द्र पदधारी सेनापति] (तिरश्चिराजिः) नाम सेना व्यूह करके शत्रुओं को जीतकर... [म० १] ॥२॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाक् रक्षितान्नमिष्वः । तेभ्यो नमो-
ऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इष्टुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३'
स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः । ३॥

भाषार्थः—(प्रतीची = ०—ऋषाः) पश्चिम वा पीछे की (दिक् = दिशः) दिशा का (वरुणः) शत्रुओं का रोकने वाला, वरुण [पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (पृदाक्) अजगर, बिच्छू, बाघ, चोता वा हाथी [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, और (अन्नम्) अन्न (इषवः) बाण हों। (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और... [म० १] ॥३॥

भाषार्थः—उक्त दिशा में (वरुण) नाम अधिकारी सेनापति (पृदाक्) नाम सेनाव्यूह बना कर, और अन्न आदि सामग्री एकत्र रखकर शत्रुओं को जीत कर... [म० १] ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता शनिरिष्वः । तेभ्यो नमो-
ऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इष्टुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३'
स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

भाषार्थः—(उदीची = ०—ऋषाः) उत्तर वा बाई ओर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (सोमः) प्रेरक वा उत्तेजक [सोम पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (स्वजः) आप उत्पन्न होने वाला वा बहुत दौड़ने वाले साँप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हों, और (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण हों। (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और... [म० १] ॥४॥

भाषार्थः—इस दिशा में (सोम) नाम अधिकारी सेनापति (स्वज) नाम सेना व्यूह रच कर बिजुली के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीतकर... [म० १] ॥४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इष्वः । तेभ्यो

नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो ३ स्मान द्वेष्टि यं वयं द्विष्यस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

भाषार्थः—(ध्रुवा = ध्रुवायाः) स्थिर (विक् = विद्वाः) दिशा का (विष्णुः) कामों में व्यापक [सद्वैद्य] (अधिपतिः) अधिष्ठाता होवे, (कल्माषघ्नीवः) चितकबरे वा काले गले वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (वीर्यधः) जड़ी वूटी औषधें (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और [म० १] ॥५॥

भाषार्थः—सद्वैद्य दृढ़ वा निश्चित स्थान में औषधालय से सैनिकों को स्वस्थ रखे और उसके साथ सेना 'कल्माषघ्नीवा' नाम व्यूह बनाकर रहे, और सब मिलकर शत्रुओं को जीत कर... [म० १] ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो
नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो ३ स्मान द्वेष्टि यं वयं द्विष्यस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

भाषार्थः—(ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (विक् = विद्वाः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़े २ शूरों का स्वामी, बृहस्पति [पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (श्वित्रः) श्वेत वर्णवाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, (वर्षम्) वर्षा [वृष्टि विद्वा] (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और रक्षकों के लिये (नमोनमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न, और (एभ्यः इषुभ्यः) उन बाणों [बाण वालों] को नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (यः) जो [वीर] (अस्मान् द्वेष्टि) हमसे बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम् द्विष्यः) हम बैर करते हैं, [हे शूरो!] (तम्) उसको (वः जम्भे) तुम्हारे जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥६॥

भाषार्थः—(बृहस्पति) मुख्य सेनापति पर्वत आदि उच्च स्थान में (श्वित्र) नाम सेनाव्यूह रचकर ठहरे और वारुण्य अर्थात् जल संदन्धी शस्त्र शस्त्रों से, अथवा अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके वरियों को मिटाकर संघा में सैनिकों को जीत पावे ॥६॥

टिप्पणी—यही मन्त्र [अथर्व० का० ३ सू० २७ म० १-६] महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत पुस्तक “पञ्चमहायज्ञविधिः” में “मनसा परिक्रमा मन्त्राः” के नाम से ईश्वरपरक अर्थ में आये हैं, वह अर्थ इस प्रकार होता है—

भाषार्थः—(प्राची=प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (असितः) बन्धन रहित (रक्षिता) रक्षक है, [जिसके] (आदित्याः) प्राण और किरणें (इषवः) बाण [के समान] हैं (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाता, (रक्षितुभ्यः) रक्षा करने वाले ईश्वरीय गुणों को (नमोनमः) बारम्बार नमस्कार, और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) बाणों [पापियों के लिये बाणरूप गुणों] को (नमोनमः) बारम्बार नमस्कार (भस्तु) होवे। (यः) जो [अज्ञानी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [अज्ञानी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, [हे ईश्वर गुणों !] (तम्) उस को (वः) तुम्हारे (जम्भे) मुख वा वश में (बध्मः) हम धरते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने सन्मुख और पूर्व दिशा में जगद्रक्षक परमात्मा को साक्षात् जानकर पापों में बचें और सब प्राणी अज्ञान और वैर छोड़ कर परस्पर मित्रवत् रहें। यही भाषार्थ अगले मन्त्रों में लगाले ॥१॥

भाषार्थः—(दक्षिणा=दक्षिणस्याः) दक्षिण वा दाहिनी (दिक्=दिशः) दिशा का (इन्द्रः) पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (तिरश्चिराजिः=०-जेः) तिरछे चलने वाले कीट, पतङ्ग, बिच्छू आदि की पंक्ति से (रक्षिता) बचाने वाला है, और (वितरः) ज्ञानी लोग (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन.....[म० १] ॥२॥

भाषार्थः—(प्रतीची=०-च्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (वरुणः) सब में उत्तम परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता, (पृदाकु=०-कुभ्यः) बड़े २ अजगर सर्पोंदि विपधारी प्राणियों से (रक्षिता) बचाने वाला है, (अन्नम्) जिसके अन्न [अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ] (इषवः) बाण [बाणों के समान श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के लिये] हैं। (तेभ्यः) उन....[म० १] ॥३॥

भाषार्थः—(उदीची=०-च्याः) उत्तर वा बाई (दिक्=दिशः) दिशा का (सोमः) सब जगत् का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (स्वप्नः) अच्छे प्रकार अज्ञाना (रक्षिता) बचाने वाला है, [जिसके] (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण हैं। (तेभ्यः) उन....[१] ॥४॥

भाषार्थः (ध्रुवा = ध्रुवायाः) नीचे वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (कल्माषघ्नीवः) हरित रंग वाले वृक्षादि की घीवा वाला (रक्षिता) बचाने वाला है, [जिसके] (वीर्यः) सब वृक्ष (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन... म० १] ॥१॥

भाषार्थः (ऊर्ध्वा = ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक् दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़ी धाणी अर्थात् वेदशास्त्र, और बड़े आकाशादि का स्वामी परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (शिवत्रः) ज्ञानमय और वृद्धिमय (रक्षिता) बचाने वाला है, जिसके (वर्षम्) बरसा के बिन्दु (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन... [म० १] ॥६॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६ ॥ यमिनी देवता ॥ भुरिप् जगती २, ३ अनुष्टुप्, ४ स्वराड् गायत्री। ५ त्रिष्टुप्। ६ पूर्वार्धः स्वराड् गायत्री, द्वितीयस्त्रिष्टुप् ॥

सुनियमेन सुखं भवति = उत्तम नियम से सुख होता है।

एकैक्यैषा सृष्ट्या संवभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।

यत्र विजायते यमिन्यपतुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥

भाषार्थः — (एषा) यह [साधारणी सृष्टि] (एकैक्या) एक एक (सृष्ट्या) सृष्टि [सृष्टि के परमाणु] से (सम् = संभूय) मिलकर (वभूव) हुई है, (यत्र) जिसमें (भूतकृतः) पृथ्वी आदि भूतों से बनाने वाले (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले [ईश्वर गुरुओं] ने (गाः) भूमि, सूर्य आदि लोकों को (असृजन्त) सृजा है। (यत्र) जहाँ पर (यमिनी) उत्तम नियम वाली [बुद्धि] (अपतुः) ऋतु अर्थात् क्रम वा व्यवस्था से विरुद्ध (विजायते) हो जाती है [वहाँ] (सा) वह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (रिफती) पीड़ा देती हुई और (रुशती) सताती हुई (पशून्) व्यक्त कारणी वाले और अव्यक्त कारणी वाले जीवों को (क्षिणाति) नष्ट कर देती है ॥१॥

भाषार्थः—ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से एक एक परमाणु के संयोग से नियमानुसार यह इतनी बड़ी सृष्टि रची है। जो प्राणी ईश्वरीय नियम तोड़ता है, वह दुःख उठाता है ॥१॥

एषा पशून् सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।

उत्तेनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥२॥

भाषार्थः—(एषा) यह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (क्रव्याद्) मांस खाने वाली और (व्यद्वरी) अनेक विधि से भक्षणशीला (भूत्वा) होकर (पशून्) दो पाए और चौपाये जीवों को (संक्षिणाति) सर्वथा नष्ट करती है। (उत्त) इस लिये (एनाम्) इस [अनिष्ट बुद्धि को] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [ईश्वर, वेद, वा ब्राह्मण को] दद्यात् वह सीपे, (तथा, तो वह (स्योना) सुखदायिनी और (शिवा) कल्याणी (स्यात्) हो जावे ॥२॥

भाषार्थः—कुबुद्धि पापी मनुष्य परमात्मा वा वेद वा उत्तम विद्वान् की शरण लेकर उत्तम कर्म करने से सुधर जाता है ॥२॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहेधि ॥३॥

भाषार्थः (हे यमिनी,) उत्तम नियमवालीबुद्धि ! (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवा) कल्याणी और (गोभ्यः) गौओं को और (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (शिवा) कल्याणी (भव) हो, (इह) यहाँ (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब क्षेत्र को (शिवा) कल्याणी और (नः) हमको (शिवा) कल्याणी (एधि) हो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर ज्ञान से उत्तम बुद्धि पाकर सब संसार को सुखदायी होता है ॥३॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रमातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ॥४॥

भाषार्थः—(इह) यहाँ पर (पुष्टिः) पुष्टि, और (इह) यहाँ पर ही (रसः) रस होवे। (यमिनि) हे उत्तम नियम वाली बुद्धि ! (इह) यहाँ पर (सहस्रमातमा) अत्यन्त करके सहस्रों प्रकार से धन देने वाली (भव) हो, और (पशून्) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीवों को (पोषय) पुष्ट कर ॥४॥

भाषार्थः—उत्तम नियम युक्त बुद्धि से मनुष्य अनेक प्रकार की बुद्धि,

और दूध, घी, आदि रस, और बहुत सा धन पाकर सब जीवों की रक्षा करता है ॥४॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व १ः स्वायाः ।

तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशुंश्च ॥५॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) सुकर्मी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) त्याग कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं । (तम्) उस (लोकम्) लोक [जनसमूह] को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है । (सा) वह [सुमति] (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों (च) और (पशून्, दोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥५॥

भाषार्थः—जिस घर में परस्पर हितैषी पुण्यात्मा स्त्री पुरुष नीरोग रहकर विद्या और धन को भोगते हैं, वह उनकी नियमवती सुमति देवी का साक्षात् फल है । वहाँ पर सब मनुष्य और गो, घोड़े आदि बहुत काल तक जीकर आपस में उपकारी होते हैं ॥५॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० का० ६ सू० १२० म० ३ में इस प्रकार है—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व १ः स्वायाः ।

अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहाँ पर सुन्दर हृदय वाले सुकर्मी लोग अपने शरीर का रोग त्याग कर आनन्द भोगते हैं, (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) बिना लंगड़े हुए और (अङ्गैः अहुताः) अंगों से बिना टेढ़े हुए हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) सन्तानों को (पश्येम) देखते रहें ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतोऽग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः । तं लोकं यमिन्य-

भिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशून्श्च ॥६॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दम्) सुन्दर हृदय वाले (सुकृताम्) सुकर्मीयों का और (यत्र) जहाँ पर (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र करने वालों का (लोकः) लोक [जन समूह] है, (तम् लोकम्) उस लोक को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसम्बभूव) साक्षात् आकर मिली है । (सा) वह

[सुमति] (नः पुरुषान्) हमारे पुरुषों (च) और (पञ्चन्) ढोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥६॥

भाषार्थः—जहां सब स्त्री पुरुष एक मन रह कर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते अर्थात् वेद मन्त्रों से अग्नि में मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चड़ा कर वायुशुद्धि करते और अग्निविद्या द्वारा अग्निनौका, अग्नियान, विमान आदि रचते, वहां (यमिनी) नियमवती सुमति के निवास से सब जने आनन्द भोगते हैं ॥६॥

सूक्तम् २६ ॥

१—८ ॥ १—६ अविद्वेयता, ७, ८ कामो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः । २, ४—६ अनुष्टुप् । ३ पङ्क्तिः । ७ साम्नी गायत्री । ८ पूर्वार्धो द्विपदानुष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्या सुखं लभते—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सुख पाता है ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्त्तस्य षोडशं यमस्यामी संभासदः ।

अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जिस कारण से (यमस्य) नियमकर्ता परमेश्वर के (अमी संभासदः) यह संभासद् (राजानः) ऐश्वर्य वाले राजा लोग (इष्टापूर्त्तस्य) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्न दानादि पुण्यकर्म के [फल], (षोडशम्) सोलहवें पदार्थ मोक्ष को [चार वर्ण, चार आश्रम, सुनता, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बड़े हुए का अच्छे मार्ग में व्यय करना, इन पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान से पाये हुए सोलहवें मोक्ष को] (विभजन्ते) विशेष करके भोगते हैं, तस्मात् उसी कारण से [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) उजियाले और अन्धेरे में गति वाला, (अविः) प्रभु (स्वधा) हमारे आत्मा को पुष्ट करने वाला वा धन का देने वाला अमृत रूप वा अन्न रूप होकर [पुरुषार्थी को] (प्र) अच्छे प्रकार से (मुञ्चति) मुक्त करता है ॥१॥

भाषार्थः—धर्मराज परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले पुरुषार्थी स्त्री पुरुष मोक्ष सुख भोगते रहते हैं, इसी से सब लोग उस अन्तर्यामी को हृदय में रख कर पुरुषार्थ से (स्वधा) अमृत अर्थात् आत्मबल और धनधान्य पाकर मोक्ष आनन्द भोगें ॥१॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।

आकूतिप्रोऽर्विर्दत्तः श्रित्तिपान्नोप दस्यति ॥२॥

भाषार्थः—(आकूतिप्रः) संकल्पों का पूरा करने वाला, [आत्मा को] (वत्तः) दिया हुआ, (श्रित्तिपात्) प्रकाश और अप्रकाश में गति वाला (अविः) रक्षक प्रभु (आभवन्) व्यापक, (प्रभवन्) समर्थ और (भवन्) वर्तमान होता हुआ (सर्वान् कामान्) सब सुन्दर कामनाओं को (पूरयति) पूरा करता है, और (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥२॥

भाषार्थः—उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इतना बड़ा कोश है कि सब सृष्टि की शुभ कामनाओं को पूरा करते करते भी भरपूर ही बना रहता है ॥२॥

बृहदारण्यकोपनिषद् में पाठ है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ बृहदा० ५।१।१॥

ओ३म् । वह [ब्रह्म] पूर्ण [भरपूर] है, यह [जगत्] पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है ॥१॥

यो ददाति श्रित्तिपाद्मार्वि लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अवलेन बलीयसे ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो कोई (लोकेन) संसार कर के (संमितम्) सम्मान किये गए, (श्रित्तिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (ददाति) दान करता है, (सः) वह पुरुष (नाकम्) दुःख-रहित स्वर्ग को (अभ्यारोहति) चढ़ जाता है, (तत्र) जहाँ पर (अवलेन) निर्बल कत्के (बलीयसे) अधिक बलवान् को (शुल्कः) शुल्क [कर] (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है ॥३॥

भाषार्थः—जो कोई सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म को अपने में ग्रहण करता है, वह सन्मार्गी बड़ों और छोटों के साथ एक सा न्याय करता हुआ सदा आनन्द भोगता है ॥३॥

पञ्चापुपं श्रित्तिपाद्मार्वि लोकेन संमितम् ।

प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥४॥

भाषार्थः—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्णं वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की पांचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सम्मान किये गए (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (दाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (पितृणाम्) रक्षक पुरुषों [बलवान् और विद्वानों] के (लोके) लोक में (अक्षितम्) अक्षयता [नित्य वृद्धि] को (उपजीवति) भोगता है ॥४॥

भाषार्थः—अक्षय शक्ति वाले, सृष्टि भर को नित्य नवीन भोजन देने वाले सर्वद्रष्टा परमेश्वर का उपासक माता पिता आदि विद्वान् वीर पितरों के साथ अक्षय (नित्य नवीन) सुख पाता है ॥४॥

पञ्चापूपं शितिपादमाध्वं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोपं जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥५॥

भाषार्थः—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्णं वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की पांचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सम्मान किये गए (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (प्रदाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (सूर्यामासयोः) सूर्य और चन्द्रमा में [उनके नियम में] (अक्षितम्) अक्षयता [नित्यवृद्धि] का (उप जीवति) भोगता है ॥५॥

भाषार्थः—सूर्य आकर्षण और वृष्टि आदि से पृथिवी आदि लोकों का धारण करता और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाकर हमें पुष्टि पहुँचाता है । इसी प्रकार जो मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अपने हृदय में रखकर परोपकार करता है उसका सुख नित्य बढ़ता है ॥५॥

इरैव नोपं दस्यति समुद्र इव पयो महत् ।

देवौ सवासिनो विव शितिपादोपं दस्यति । ६॥

भाषार्थः—(शितिपात्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाला परमेश्वर (इरा इव) भूमि वा विद्या के समान और (समुद्रः) समुद्र, अर्थात् (महत्) बड़े (पयः इव) जलराशि के समान (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है, और (देवौ) दिव्य गुण वाले (सवासिनौ इव) साथ साथ निवास करने वाले दोनों [प्राण और अपान वा दिन-रात] के समान वह (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥६॥

भाषार्थः—जैसे भूमि, विद्या, जल, वायु आदि उचित प्रयोग से अधिक अधिक उपकारी होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर का उपकारी कोश विज्ञान द्वारा मनुष्य को बढ़ाता चला जाता है ॥५॥

क इदं कस्मां अदात् कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् तै ॥७॥

भाषार्थः—(कः) किसने (इदम्) यह [कर्मफल] (कस्मै) किसको (अदात्) दिया है ? [इसका उत्तर] (कामः) मनोरथ [वा कामना योग्य परमेश्वर] ने (कामाय) मनोरथ [वा कामना करने वाले जीव] को (अदात्) दिया है ।

(कामः) मनोरथ [वा कमनीय ईश्वर] (दाता) देने वाला और (कामः) मनोरथ [वा कामना वाला जीव] (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है । (कामः) मनोरथ ने (समुद्रम्) समुद्र [पार्थिव समुद्र वा अन्तरिक्ष] में (आ विवेश, प्रवेश किया है ।

(काम) हे मनोरथ ! [वा कमनीय ईश्वर] (त्वा, तुमको (प्रति गृह्णामि) मैं जीव ग्रहण करता हूँ, (एतत्) यह [सब काम] (ते) तेरा है ॥७॥

भाषार्थः—संसार में देना लेना अर्थात् सब उपकारी काम कामना से सिद्ध होते हैं, कामना से ही प्रयत्न के साथ मन देने पर मनुष्य के सब कठिन कामों को परमेश्वर सुगम कर देता है ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ७ । ४८ में है । उसका अर्थ यहाँ श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के भाष्य के आधार पर किया है ।

कौऽदात् कस्मां अदात् कामोऽदात् कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्तै ॥ य० ७ । ४८ ॥

(कः) किसने [कर्मफल] (अदात्, दिया है, और [कस्मै) किसको [अदात्] दिया है । इन दो प्रश्नों के उत्तर, (कामः) कामना योग्य परमेश्वर ने (अदात्) दिया है, और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) दिया है । (कामः) योगीजनों के कामना योग्य परमेश्वर [दाता] देने वाला है । (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है । (काम) हे कामना करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये (एतत्) यह सब है ।

भूमिंष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजयां प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥८॥

भाषार्थः—(हे) काम (भूमिः) भूमि और (इदम्) यह (महत्) बड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (त्वा) तुझको (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे । (अहम्) मैं जीव, (प्रतिगृह्य) पाकर, (मा) न (प्राणेन) प्राण [शरीर बल] से, (मा) न (आत्मना) आत्मबल से, और (मा) न (प्रजया) प्रजा से, (वि राधिषि) अलग हो जाऊँ ॥८॥

भावार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य सत्य कामना से भूमि और आकाश का राज्य हस्तगत कर लेता है, और शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल दृढ़ करके संसार में सुखी रहता है ॥८॥

सूक्तम् ३० ॥

१—७ ॥ प्रजापतिर्वेवता ॥ १—४ अनुष्टुप् । ५ विराट् जगती वा ।

६ प्रस्तारपङ्क्तिः । ७ त्रिष्टुप् ।

परस्परप्रीत्युदेशः—परस्पर मेल का उपदेश ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यप्रभि हर्षत वत्सं जातमिवाध्या । १ ।

भाषार्थः—(सहृदयम्, एक हृदयता, (सांमनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्, निर्वेदता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं करता हूँ । 'अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (प्रभि) सब और से (हर्षत) तुम प्रीति से चाहो (अध्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को [प्यार करती है] ॥१॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है, सब मनुष्य वेदानुगामी होकर सत्य ग्रहण करके एकमता करें और आपा छोड़ कर सच्चे प्रेम से एक दूसरे को सुधारें, जैसे गौ आपा छोड़ कर तद्रूप होकर पूर्ण प्रीति से उत्पन्न हुए बच्चे को जीभ से चाट कर शुद्ध करती और खड़ा करके दूध पिलाती और पुष्ट करती है ॥१॥

१—तैत्तिरीयारण्यक में पाठ है—

ओ३म् । सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहे ।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे । तैत्ति० आ० १० । १ ॥

ओ३म् । (सह) वही (नौ) हम दोनों को (अवतु) बचावे । (सह) वही (नौ) हम दोनों को (भुनक्तु) पाले । हम दोनों (सह) मिलकर (वीर्यम्) उत्साह (करवावहे) करें । (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पड़ा हुआ (तेजस्वि) तेजस्वी (अस्तु) होवे । (मा विद्विषावहे) हम दोनों भगड़ा न करें ॥

२—भगवान् यास्क मुनि कहते हैं ।

(अघ्न्या) गौ का नाम है—निघ० २।११। वह अहन्तव्या, [अवध्या न मारने योग्य] अथवा, अघघ्नी [पाप अर्थात् शारीरिक दुःख अथवा दुर्भिक्षादि पीड़ा नाश करने वाली] होती है—निरुक्त ११।४३ ॥

श्रीमान् महीधर यजुर्वेदभाष्य अ० १ म० १ में लिखते हैं—अघ्न्या गौएँ हैं । गोवध उपपातक 'भारी पाप' है, इसलिये वे न मारने योग्य 'अघ्न्या' कही जाती हैं ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

भाषार्थः—(पुत्रः) कुल गोत्रक पवित्र, बहुरक्षक वा नरक से बचाने वाला पुत्र [सन्तान] (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल ब्रती होकर (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) होवे । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु में सनी और (शन्तिवाम्) शान्ति से भरी (वाचम्, वाणी (वदतु) बोले ॥२॥

भावार्थः—सन्तान माता पिता के आज्ञाकारी, और माता पिता सन्तानों के हितकारी, पत्नी और पति आपस में मधुरभाषी तथा सुखदायी हों । यही वैदिक कर्म आनन्द मूल है । मन्त्र १ देखो ॥२॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सम्पञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया ॥३॥

भाषार्थः—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम्) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं । (सम्पञ्चः) एक मत वाले और (सव्रताः) एक ब्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदतु) बोली ॥३॥

भावार्थः—भाई भाई, बहिन बहिन, और सब कुटुम्बो नियमपूर्वक मेल से वैदिक रीति पर चल कर सुख भोगें ॥३॥

येन देवा न वि॒यन्ति॒ नो च॒ विद्विष॑ते॒ मिथः॑ ।

तत् कृ॒ण्मो ब्र॒ह्म वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥४॥

भाषार्थः—(येन) जिस [वेद पथ] से (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (न) नहीं (वि॒यन्ति) विरुद्ध चलते हैं (च) और (नो) न कभी (मिथः) आपस में (विद्विष॑ते) विद्वेष करते हैं । (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (वः) तुम्हारे (गृ॒हे) घर में (पुरु॑षेभ्यः) सब पुरुषों के लिये (सं॒ज्ञानम्) ठीक ठीक ज्ञान का कारण (कृ॒ण्मः) हम करते हैं ॥४॥

भाषार्थः—सार्वभौम हितकारी वेद मार्ग पर चलकर घर के सब लोग आनन्द भोगें ॥४॥

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि॒ यौष्ट॑ सं॒राध॑यन्तः॒ सधु॑रा॒च्चर॑न्तः । अन्यो॒
अन्य॑स्मै॒ वल्गु॑ वद॑न्त॒ एत॑ स॒ध्रीची॑नान् वः॒ संम॑नसस्कृ॒णोमि॑ ॥५॥

भाषार्थः—(ज्याय॑स्वन्तः) बड़ों का मान रखने वाले (चि॒त्तिनः) उत्तम चित्त वाले, (सं॒राध॑यन्तः) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुए और (सधु॑राः) एक धुरा होकर (चर॑न्तः) चलते हुए तुम लोग (मा वि॒ यौष्ट॑) अलग अलग न होओ, और (अन्यो॒ अन्य॑स्मै) एक दूसरे से (वल्गु॑) मनोहर (वद॑न्तः) बोलते हुए (एत॑) आओ । (वः) तुमको (स॒ध्रीची॑नान्) साथ साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (संम॑नसः) एक मन वाले (कृ॒णोमि॑) मैं करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—वेदानुयायी मनुष्य विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्धों का आदर करके उत्तम गुणों की प्राप्ति, और मिलकर उद्योग से, धन धान्य राज आदि बढ़ाते और आनन्द भोगते हैं ॥५॥

स॒मानी॑ प्र॒पा सह॒ वोऽन्न॑भा॒गः स॒माने॑ योक्त्वै॒ सह॒ वो यु॑नज्मि ।

स॒म्यञ्च॒वोऽग्निं॑ संप॑र्य॒तारा॒ नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥६॥

भाषार्थः—(वः) तुम्हारी (प्र॒पा) जल जाला (स॒मानी) एक हो, और (अन्न॑भागः) अन्न का भाग (सह॒) साथ साथ हो, (स॒माने) एक ही [योक्त्रे] जोते मैं (वः) तुमको (सह॒) साथ साथ (यु॑नज्मि) में जोड़ता हूँ । (स॒म्यञ्चः) मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्नि॑म्) अग्नि [ईश्वर वा भौतिक अग्नि] की (संप॑र्य॒त) पूजा (इव) जैसे (आ॒रा॒) अरा [पहिले के बड़े] (नाभि॑म्) नाभि [पहिले के बीच वाले काठ] में (अ॒भितः) चारों ओर से [सटे होते हैं] ॥६॥

भाषार्थः—जैसे अग्नि एक नाभि में सटकर पहिये को रथ का बोझ सुगमता से ले चलने योग्य करते हैं, ऐसे ही मनुष्य एक वेदानुकूल धार्मिक रीति पर चल कर अपना खान पान मिलकर करें मिल कर रहें और मिलकर ही (अग्नि) को पूजें अर्थात् १— परमेश्वर की उपासना करें, २ शारीरिक अग्नि को, जो जीवन और वीरपन का चिह्न है, स्थिर रखें ३— हवन करके जलवायु शुद्ध रखें, और ४— शिल्प व्यवहार में प्रयोग करके उपकार करें और सुख से रहें ॥६॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकंशुष्टीनःसंवननेन सर्वान् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वा अस्तु ।७॥

भाषार्थः—(संवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (वः सर्वान्) तुम सबको (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा ज्ञान] वाले, (संमनसः) एक मन वाले और (एकशुष्टीन्) एक भोजन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ । (देवाः इव) विजय चाहने वाले पुरुषों के समान (अमृतम्) अमरपन [जीवन की सफलता] को (रक्षमाणाः) रखते हुए तुम [बने रहो] (सायं प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल में (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (वः) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥७॥

भाषार्थः—‘देव’ पुरुषार्थी विजयी पुरुष मिलकर मृत्यु के कारण अलस्य आदि छोड़ने से अमर अर्थात् यशस्वी होते हैं । इसी प्रकार सब मनुष्य आपस में मिलकर उद्योग करके सुखी रहें और सायं प्रातः दो काल परमेश्वर की आराधना करके चित्त प्रसन्न करें ॥७॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—११ ॥ प्रजापतिर्देवता । १—४, ६ ११ अनुष्टुप्, ५ बृहती ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने का उपदेश ॥

वि देवाः जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।

व्य १' हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (जरसा) आयु के घटाव से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं । (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (त्वम्) तू (अरात्या) कंजूसी वा शत्रुता से (वि=वि वतस्व) अलग रह । (अहम्) मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप कर्म से (वि) अलग और (यक्ष्मेण) राजरोग, क्षयी आदि से

(वि=विवर्त्त) अलग रहूँ और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम्बर्त्त) मिला रहूँ ॥१॥

भावार्थः—पुरुषार्थी लोग ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से सदा बलवान् रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य मानसिक पाप और शारीरिक रोग के त्याग और शुभ गुणों के सेवन से बल बढ़ाकर अपना जीवन सफल करें ॥१॥

व्या॒र्त्या प॒र्वमा॒नो वि श॒क्रः पा॒पकृ॒त्ययां ।

व्य॑१ 'हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥२॥

भाषार्थः—(पवमानः) शोधन करने वाला पुरुष (आर्त्या) पीड़ा से (वि) अलग, और (शक्रः) शक्तिमान् पुरुष (पापकृत्यया) पाप क्रिया से (वि=वि वर्त्तताम्) अलग रहे। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से..... [म० १] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य शुद्ध आचरण से सामाजिक आत्मिक और शारीरिक पीड़ा मिटावे और बलवान् होकर पाप को हटावे ॥२॥

वि ग्राम्याः प॒शव॑ आ॒र॒ण्यैर्व्या॑प॒स्तृष्ण॑यासरन् ।

व्य॑१ 'हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥३॥

भाषार्थः—(ग्राम्याः) ग्राम वाले (पशवः) जीव (आरण्यैः) जङ्गली जीवों से (वि) अलग, और (आपः) जल (तृष्णया) पियास से (वि) अलग, (असरन्) चले हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से... [म० १] ॥३॥

भावार्थः—जैसे ग्राम्य पशु जङ्गली जीवों से अलग रहकर प्रसन्न रहते हैं और जल की उपस्थिति में पियास से निवृत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य पाप से निवृत्त होकर सब के सुख में प्रवृत्त हों ॥३॥

वी॒३ 'मे द्या॒वापृ॒थिवी॒ इतो॒ वि प॒न्थानो॒ दिश॑दिशम् ।

व्य॑१ 'हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥४॥

भाषार्थः—(इमे) यह दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वि) अलग अलग (इतः) चलते हैं, (पन्थानः) सब मार्ग (दिशदिशम्) दिशा दिशा को (वि=विमन्ति) अलग अलग जाते हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से... [म० १] ॥४॥

भाषार्थः—सूर्यं पृथिवी और मागं अलग अलग रहकर संसार का क्लेश हरते हैं, ऐसे ही सब मनुष्य दुःख का नाश करके सुख भोगें ॥४॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वियाति ।

व्य१ ' इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥५॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी को (वहतुम्) दायज [स्त्री धन] (युनक्ति = वि युनक्ति) अलग करके देता है । (इति) इसी प्रकार (इदम् विश्वम्) यह प्रत्येक (भुवनम्) लोक (वि याति) अलग अलग चलता है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से -- [म० १] ॥५॥

भाषार्थः—जैसे पिता पुत्री को दायज देकर सदा हित करता रहता है, सब लोक और पदार्थ अलग अलग रहकर परस्पर उपकार करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष हटाकर परस्पर सुख बढ़ावें ॥५॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद १० । १७१ । १ । में इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ॥

(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी के लिये (वहतुम्) दायज (कृणोति) करता है, (इति) इस प्रकार (इदम् विश्वम् भुवनम्) यह सब जगत् (समेति) मिलकर चलता है ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।

व्य१ ' इं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥६॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि (प्राणान्) प्राणों, जीवन शक्तियों को (सम् = सम्भूय) मिलकर (दधाति) पुष्ट करता है, और (चन्द्रः) चन्द्र (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) गन्धि वाला है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से -- [म० १] ॥६॥

भाषार्थः—सूर्य का ताप स्वास प्रस्वास द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर नेत्र आदि इन्द्रियो को अन्न रस पहुँचाता है, और चन्द्रमा की शीतलता प्राण द्वारा रुधिर प्रादि में प्रणित रस से इन्द्रियों को पुष्ट करती है । ऐसे ही मनुष्य अपने दोष मिटा कर शुभ गुणों से युक्त हों ॥६॥

मन्त्र १—५ में दोषों से (वि) वियोग के और मन्त्र ६—१० में पुरुषार्थ से (सर्व) संयोग के वर्णन से आयु बढ़ाने का उपदेश है ।

प्राणेन विश्वतोर्वीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।

व्य १ 'हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥७॥

भाषार्थः—(देवाः) विजय चाहने वाले महात्माओं ने (विश्वतोर्वीर्यम्) सब ओर से वीर्यवान् (सूर्यम्) सर्वप्रेरक वा सर्वत्रगति परमेश्वर वा सूर्य को (प्राणेन) प्राण से (सम्) मिलकर (ऐरयन्) पाया है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से... [म० १] ॥७॥

भाषार्थः—जितेन्द्रिय वीरों ने आत्मा के सहारे, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मबल से, परमात्मा को पाकर और सूर्य आदि लोकों तक गति करके परम पद पाया है । मनुष्य आत्मिक और शरीरिक दोष मिटाकर जीवन सफल करें ॥७॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।

व्य १ 'हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥८॥

भाषार्थः - (आयुष्मताम्) बड़ी आयु वाले, और [दूसरों की] (आयुष्कृताम्) बड़ी आयु करने वाले [देवताओं] के (प्राणेन) प्राण के साथ (जीव) जीता रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से... [म० १] ॥८॥

भाषार्थः - मनुष्य अपने और दूसरों के सुधारने वाले वीर योगियों [देवताओं— म०.] के अनुकरणी होकर पुरुषार्थ करें और आलस्य आदि में वार्थ जन्म न लोव ॥८॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।

व्य १ 'हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥९॥

भाषार्थः - (प्राणताम्) जीते हुआओं के (प्राणेन) श्वास से (प्राण) श्वास ले, (इह) यहाँ पर (एव ही भव) रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से... [म० १] ॥९॥

भाषार्थः - मनुष्य पुरुषार्थियों के समान अपने श्वास श्वास पर कर्तव्य करे और संसार में रहकर भूल, आलस्य आदि दोष छोड़कर कीर्ति पावे ॥९॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।

व्य १ ' हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१०॥

भाषार्थः—(आयुषा) जीवन [उत्साह] के साथ (उत्=उद्भव) खड़ा हो (आयुषा) जीवन के साथ (सम्=सम् भव) पराक्रमी हो । (ओषधीनाम्) ओषधियों अन्न आदि के (रसेन) रस [भोग] से (उत्=उद्भव) ऊँचा हो । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब कर्म से...[म० १] ॥१०॥

भाषार्थः - मनुष्य जीवन भर उद्योगी तथा पराक्रमी रहे, और अन्न आदि पदार्थों के भोगों के अनुसार उपकार का प्रतिफल देकर जीवन सुफल करे ॥१०॥

इस मन्त्र में 'भव' पद की अनुवृत्ति मन्त्र ६ से आती है ॥

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।

व्य १ ' हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥११॥

भाषार्थः --(वयम्) हम (अमृताः) अमर होकर (पर्जन्यस्य) सींचने वाले मेघ की (वृष्ट्या) बरसा से [जैसे] (आ) सब ओर से (उत् अस्थाम) उठ खड़े हुए हैं, (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से (वि) अलग, और (यक्ष्मेण) राज-रोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्त्ते) अलग रहूँ, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम् = सम् वर्त्ते) मिला रहूँ ॥११॥

भाषार्थः—मनुष्य इस सूक्त में वर्णित उपदेश के अनुसार ब्रह्मज्ञान के श्रवण मनन, और निदिध्यासन [विचार] से ऐसे हर्ष में बड़ें हैं जैसे अन्न आदि ओषधें जल की बरसा से नवीन जीवन पाकर उगती हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष छोड़कर अपना जीवन का लाभ उठावे ॥११॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति तृतीयं काण्डम्

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

चतुर्थं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सुखतम् ॥१॥

सृष्टिविद्यया ब्रह्मविचारः—सृष्टि विद्या से ब्रह्म का विचार।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसंतश्च वि वः ॥१॥

भावायं: - जैसे उत्पन्न होने से पहिले बालक के लिए माता के स्तनों

में दूध हो जाता है, ऐसे ही जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्रत्येक शरीरी के लिये प्रभूत (ब्रह्म) भन्न वा पालन शक्ति और पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदि को बनाया, जो परस्पर आकर्षण से स्थिर हैं। यही सब लोक कार्य वा मूर्त और कारण वा अमूर्त दो प्रकार के जगत् के भण्डार हैं ॥१॥

यह मन्त्र यजुर्वेद अ० १३ म० ३ और सामवेद पूर्वाचिक प्र० ४ द० ३ म० ६ में है ॥

इयं पित्र्या राष्ट्रयेत्वयं प्रथमायं जनुषे भुवनेष्ठाः ।

तस्मा एतं सुरुचं ह्यारमन्धं धर्मं श्रीणन्तु प्रथमायं धास्यवे ॥२॥

भाषार्थः—(पित्र्या) पिता [जगत् पिता परमेश्वर] से आई हुई, (भुवनेष्ठाः) सब जगत् में ठहरी हुई (इयम्) यह (राष्ट्री) राजराजेश्वरी शक्ति [वेद वाणी] (प्रथमाय) सबसे उत्तम (जनुषे) जन्म के लिये (अये) हमारे आगे (एतुः आये, [अर्थात्] “(तस्मै) उस (प्रथमाय) सबसे ऊपर विराजमान (धास्यवे) संसार का धारण पोषण चाहने वाले परमात्मा के लिये (एतम्) इस (सुरुचम्) बड़े रुचिर (ह्यारम्) अनिष्ट को भुका देने वाले (अह्यम्) प्राप्ति के योग्य, वा प्रति दिन वर्तमान (धर्मम्) यज्ञ को (श्रीणन्तु) सब लोग परिपक्व करें” ॥२॥

भाषार्थः—जैसे पतृक घन सब सन्तानों को यथावत् मिलता है वैसे ही जगत् पिता परमेश्वर की सर्वव्यापिनी, सर्वनियन्त्री यह वेदवाणीरूप शक्ति सबके हृदय में बसे कि सब मनुष्य अपना यज्ञ अर्थात् पुरुषार्थ परमात्मा को समर्पण करें जिससे मनुष्य-जन्म सफल होवे ॥२॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जहार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्यौ ॥३॥

भाषार्थः—(यः विद्वान्) जो विद्वान् परमेश्वर (अस्य) इस [जगत्] का (बन्धुः, बन्धन वा नियम करने वाला, अथवा, बन्धु हितकारी) (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) प्रकट हुआ था, और जो (देवानाम्) भूमि, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा = विद्वानि) सब (जनिमा) जन्मों को (विवक्ति) बतलाता है। उसने (ब्रह्मणः) ब्रह्म [अपने परब्रह्म स्वरूप] के (मध्यात्) मध्य से (ब्रह्म) वेद को (उज्जहार उभारा था, वही (नीचैः) नीचे और (उच्चैः) ऊँचे (स्वधाः, अनेक अमूर्तों वा अन्तों को (अभि = अभिलक्ष्य) सम्मुख करके (प्र) उत्तमता से (तस्यौ) स्थित हुआ था ॥३॥

भाषार्थः—अनादि, सर्वज्ञ सर्वोत्तम परमात्मा ने सब चराचर जगत् को यथानियम रचा और वेद विद्या को अपने में से प्रकट करके नीचे ऊँचे लोकों की सृष्टि के अनुकूल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न किये हैं, सब मनुष्य उस जगत् नियन्ता की उपासना द्वारा पुरुषार्थ करके आनन्द भोगें ॥३॥

इस मन्त्र का 'विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति' यह पाद अ० २ । २५ । २ । में आया है ।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्य पार्थिवं च रजः ॥४॥

भाषार्थः—(सः) उस (सः) विष्णु वा शिव ने (हि) ही (दिवः) सूर्य के और (पृथिव्याः) पृथिवी के (ऋतस्थाः+सन्) सत्य वा कारण में स्थित होकर (मही = मह्यौ) विशाल (रोदसी = ०-स्यौ) सूर्य और पृथिवी को (क्षेमम्) क्षेम के साथ (अस्कभायत्) ठहराया । (महान्) उस विशाल परमेश्वर ने (जात + सन्) प्रकट होकर (मही = मह्यौ) दोनों विशालों, अर्थात् (घाम्) सूर्यरूप (सद्य) घर (च) और (पार्थिवम्) पृथिवी वाले (रजः) लोक को (वि) अलग अलग (अस्कभायत्) स्थिर किया ॥४॥

भाषार्थः—सूर्य आदि के (ऋतस्थाः) कारण के कारण परमेश्वर ने सूर्य आदि लोकों को रचा, और परस्पर आकर्षणरूप डोरी लगाकर उनको पृथक् पृथक् कर दिया । उस परमेश्वर की ऐसी बड़ी महिमा देखकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥४॥

स बुध्यादध्रुं जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सभ्राद् ।
अह्यर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्ठार्थं शुमन्तो वि वंसन्तु विप्राः ॥५॥

भाषार्थः—(सः) ईश्वर (जनुषः) उत्पन्न जगत् के (बुध्यात्) मूल देश से लेकर (अध्रम् अभि) उपरि भाग तक (भ्राष्ट्र = भ्राष्ट्र) व्याप्त हुआ । (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी (देवता) प्रकाशमान परमेश्वर (तस्य) उस [जगत्] का (सभ्राद्) सभ्राद् [राजराजेश्वर] है । (यत्) क्योंकि (ज्योतिषः) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर से (शुक्रम्) चमचमाता हुआ (अहः) दिन [सूर्य] (जनिष्ठः=अजनिष्ठ) उत्पन्न हुआ, (अथ) तभी (विप्राः) इन्द्रियां वा बुद्धिमान् लोग (शुमन्तः) प्रकाशमान होकर (वि) विविध प्रकार से (वसन्तु) निवास करें ॥५॥

भाषार्थः—परमेश्वर इस सब जगत् के आदि अन्त में विराजमान है,

वही सावर्भौम शासक है, उसी ने सूर्य को बनाया है जिससे इन्द्रियां प्रकाश पाकर अपना व्यापार करती हैं। उसी से पंडित जन विद्या प्रकाश करके कीर्तिमान होते हैं ॥१॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता और सायणभाष्य में 'आष्ट' के स्थान में 'आष्ट' है।

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्यस्य धाम ।

एष जज्ञे बहुभिः साकमित्या पूर्वं अर्थे विषिते ससन् नु ॥६॥

भाषार्थः—(काव्यः) स्तुति योग्य परमेश्वर [वेनः, म० १] (अस्य) इस (पूर्यस्य) समग्र जगत् के हित करने वाले (देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के (तत्) उस (महः) विशाल (धाम) तेज को (नूनम्) अवश्य (हिनोति) भेजता है। (ससन्) सोता हुआ (एषः) यह परमेश्वर (पूर्वं) समस्त (अर्थे) प्रबृद्ध जगत् के (विषिते) खुलने पर (इत्या) इस प्रकार से [जैसे सूर्य] (बहुभिः साकम्) बहुत [लोकों] के साथ (नु) शीघ्र (जज्ञे) प्रकट हुआ है ॥६॥

भाषार्थः—परमेश्वर प्रलय की अवस्था में सोता हुआ सा था, उसने सृष्टि उत्पन्न करने पर, आकर्षण, आतप वृष्टि आदि द्वारा संसार के हित के लिए सूर्य, पृथिवी, बृहस्पति, शुक्र आदि असंख्य लोक रचे। उस जगदीश्वर का सामर्थ्य विचार कर हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करें ॥६॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसां च गच्छात् ।

त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥७॥

भाषार्थः—(यः) गतिवाला, पुरुषार्थी पुरुष (अथर्वाणम्) निश्चल, (पितरम्) पिता, (देवबन्धुम्) विद्वानों वा सूर्यादि दिव्य लोकों का बन्धु वा नियामक, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के स्वामी परमेश्वर को (नमसा) नमस्कार के साथ (च) निश्चय करके (अथ गच्छात्) पहिचाने। [हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) सब [लोकों] का (जनिता) उत्पादक (असः) हो, (यथा) क्योंकि (कविः) मेधावी, (स्वधावान्) अन्नवान् वा स्वयं धारण सामर्थ्य वाला (देवः) परमेश्वर (न) कभी नहीं (दभायत्) डगता है ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य विश्वास करके सत्य स्वभावरूप परमेश्वर से प्रार्थना करें—“हे ईश्वर आप दुःखों से मुक्ति दाता हैं और आप कभी किसी

को नहीं सताते" और पुरुषार्थ से पाप कर्मों को त्यागकर सुख प्राप्त करें ॥७॥

सूक्तम् ॥२॥

१—८ ॥ कः प्रजापतिर्देवता । १—७ त्रिष्टुप्छन्दः; ८ आपो वत्समिति अनुष्टुप्, कस्मै देवायेति त्रिष्टुप् पादः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यो ३' स्येशं द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (आत्मदाः) प्राण [आत्मबल] का देने वा शुद्ध करने वाला और (बलदाः) शारीरिक बल का देने वा शुद्ध करने वाला है, (यस्य) जिस (यस्य) व्यापक वा पूजनीय के (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (विश्वे) सब (देवाः) देवता [सूर्य चन्द्रादि सब लोक] (उपासते) सेवते हैं (यः) जो (यः) व्यापक वा पूजनीय (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये और (चतुष्पदः) चौपाये जीव समूह का (ईशे = ईश्वरे) ईश्वर है, उस (कस्मै = काय) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुरु के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥१॥

भावार्थः—जिस परमात्मा की आज्ञा में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब देवता [यजु० १४ । २०] और मनुष्य गौ आदि सब प्राणी चलते हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके हम लोग आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर सुख भोगें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । २, और य० २५ । १३ में है ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।

यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो (महित्वा = ० स्वेन) अपनी महिमा से (प्राणतः) श्वास लेते हुए, चेतन और (निमिषतः) आँग मूँदे हुए, अचेतन (जगतः) जगत् का (एकः) एक (राजा) राजा (बभूव) हुआ है (यस्य) जिसकी (छाया) छाया [छाया समान अनुगामी अथवा आश्रय वा कान्ति अर्थात् ज्ञान] (अमृतम्) अमरपन [जीवन वा पुरुषार्थ वा जीवन की सफलता, मोक्ष पद] है और (यस्य = यस्यच्छाया) जिसकी [छाया अर्थात् छाया समान अनुगामी अथवा आनाश्रय, वा प्रकाश का ढकना,

अज्ञान] (मृत्युः) मरण [शरीर त्याग वा निरुत्साह, वा जीवन की विफलता, नरक] है, उस (कस्मै) प्रजापति मुखदाता परमेश्वर की (देवाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) सेवा किया करें ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य सब चेतन और अचेतन जगत् के एक स्वामी परमेश्वर की आज्ञा में चलता है, वह जीते जागते हृदय वाला पुरुष पुरुषार्थ करके अमर [यशस्वी वा मुक्त] हो जाता है और इसके विपरीत मरे मन वाला निरुत्साही मृतक सा होकर नरक भोगता है ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ३, और यजु० २५ । ११, में है ॥

यं कन्दसी अवन्तश्चस्कमाने भियसाने रोदसी अह्वयेयाम् ।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

भाषार्थः—(यम्) जिसको (चस्कमाने) परस्पर रोकती हुई (कन्दसी) ललकारती हुई दो सेनायें (अवन्तः) प्राप्त होती हैं, और [जिसको] (भियसाने) हे डरती हुई (रोदसी) सूर्य और भूमि ! (अह्वयेयाम्) तुम दोनों ने पुकारा है । (यस्य) जिसका (असौ पन्थाः) यह मार्ग (रजसः) संसार का (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला वा विमान रूप है, उस (कस्मै) प्रजापति मुखदाता परमेश्वर की (देवाय) उत्तम गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया कर ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर को ही दो लड़ती हुई सेनायें पुकारती हैं, उसी की आज्ञा में सूर्य आदि लोक रहते हैं, उसी की व्याप्ति संसार भर में है, उसी परब्रह्म की भक्ति करके सब मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ६ और यजु० ३२ । ७ और उत्तरार्ध यजु० ३२ । ६ में है ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वश् 'न्तरिक्षम्' ।

यस्यासौ सूर्यो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

भाषार्थः—(यस्य) जिसकी (महित्वा = ०—त्वेन) महिमा से (उर्वी) विस्तीर्ण (द्यौः) सूर्य (च) और (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी है, (यस्य) जिसकी [महिमा से] (अदः) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक है (यस्य) जिसकी [महिमा से] (असौ) यह (सूरः) धर्म प्रचारक विद्वान् मनुष्य (विततः) विस्तार वाला है,

उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥४॥

भावार्थः—जिस परमात्मा ने सूर्य आदि अनेक लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थिर किया है, और जिसने मनुष्य को अद्भुत शक्तियां देकर ऐश्वर्यवान् और प्रतापी बनाया है, उसकी भक्ति करके हम पुरुषार्थ के साथ अपनी उन्नति करें ॥४॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।

इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

भाषार्थः—(यस्य) जिसकी (महित्वा = ० - त्वेन) महिमा से (विश्वे) सब (हिमवन्तः) हिम वाले पहाड़ हैं, और (यस्य) जिसकी [महिमा से] (समुद्रे) समुद्र [अन्तरिक्ष, वा पार्थिव समुद्र] में (रसाम्) नदी को (इत्) भी (आहुः) बताते हैं । (च) और (इमाः) यह (प्रदिशः) बड़ी दिशाएँ (यस्य) जिसकी (बाहू) दो भुजाएँ हैं, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥५॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य अपनी दो भुजाओं के बल से अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य से राजा पालन आदि बड़े २ बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर ने दिशाओं अर्थात् अवकाश के भीतर सब लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थापित किया है, उस जगदीश्वर की आज्ञा में चलकर हम यज्ञ से उत्तम गुण प्राप्त करें ॥५॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ४ और यजु० २५ । १२ में है ॥

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।

यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

भाषार्थः—(गर्भम्) बीज को (दधानाः) धारण करते हुए, (अमृताः) मरण रहित [जीवन शक्ति वाले] (ऋतज्ञाः) सत्य नियम को जानने वाले (आपः) उन व्यापक जलों [वा तन्मात्राओं] ने (अग्रे) पहिले (विश्वम्) जगत् की (आवन्) रक्षा की थी, (यासु देवीषु अधि) जिन दिव्य गुण वालों के ऊपर (देवः) परमेश्वर (आसीत्) था उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥६॥

भावार्थः—सृष्टि की आदि में ईश्वर नियम से जल [वा तन्मात्रा]

के भीतर जगत् का बीज और जीवन सामर्थ्य था, जिससे यह सृष्टि हुई है। उसी परमात्मा के नियम पर चलकर हम अपने जीवन को पुरुषार्थ करके सुधारें ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १०।१२१।७, ८ और यजु० २७।२५, २६ में है।

मनु महाराज ने भी ऐसा कहा है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ मनु० १।८॥

उस परमात्मा ने सब ओर ध्यान करके अपने शरीर [अध्याकृत रूप वा सामर्थ्य] से नानाविध प्रजाएँ उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए जल हो पहिले उत्पन्न किया और उसमें बीज छोड़ दिया ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रं भूतस्य जातः पतिरेकं आसीत् ।

स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषां विधेम ॥७॥

भाषार्थः—(हिरण्यगर्भः) तेज वाले लोकों का आधार (अग्रे) पहिले ही पहिले (सम्) ठीक ठीक (अवर्तत) वर्त्तमान था। वही (जातः) प्रकट होकर (भूतस्य) पृथिवी आदि पंचभूत का (एकः) एक (पतिः) पति, ईश्वर (आसीत्) हुआ, (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥७॥

भावार्थः—सर्वशक्तिमान् अविनाशी परमात्मा प्रलय काल में विद्यमान था। उसके कर्मों से जात होता है कि उस अकेले ने सूक्ष्म पंचभूत का यथावत् संयोग वियोग करके पृथिवी, सूर्य आदि सृष्टि को रचा और धारण किया है, उसकी उपासना से उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १०।१२१।१, यजु० १३।४ तथा २५।१० और निरु० १०।२३ में है ॥

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् । तस्योत जायमानस्योल्बं

आसीद्धिरण्यः कस्मै देवाय हविषां विधेम ॥८॥

भाषार्थः—(अग्ने) पहिले ही पहिले (वत्सम्) निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को (जनयन्तीः=० न्त्यः) उत्पन्न करते हुए (आपः) जल-धाराओं [वा तन्मात्राओं] ने (गर्भम्) बालक [रूप संसार] को (समैरयन्) यथा-वत् प्रकट किया, (उत) और (तस्य) उस (जायमानस्य) उत्पन्न होते हुए [बालक, संसार] का (उत्बः) जरायु [गर्भ की भिल्ली] (हिरण्यः) तेजोमय परमात्मा (आसीत्) था, इस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥८॥

भावार्थः—जल [वा तन्मात्राओं] की उत्पादन शक्ति से यह संसार उत्पन्न हुआ है और सृष्टि का आदिकारण परमेश्वर है, जो सृष्टि को सब ओर से गर्भ की भिल्ली के समान ढके हुए है और बीज में भी उत्पादन शक्ति देने वाला वही है—मन्त्र ६ देखो ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ७ और यजु० २७ । २५ में है ॥

मनु भगवान् ने इस प्रकार कहा है—

तदण्डमभवद्गैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।

तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ मनु० १ । ९ ॥

वह [बीज] सूर्य के समान प्रकाशवाला चमकीला अंडा हो गया, उस [अण्डे] में ब्रह्मा [परमात्मा] सब लोकों का पितामह [दादा] अपने आप प्रकट हुआ [अर्थात् उसमें परमात्मा की महिमा जान पड़ी] ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १ पथ्या पङ्क्तिः, २-४-७ अनुष्टुप्, ३ गायत्री ॥

शत्रुनाशोपदेशः=वैरी के नाश का उपदेश ॥

उदितस्त्रयीं अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः । हिरुगि यन्ति सिन्धवो

हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥१॥

भाषार्थः—(त्रयः) तीनों, (व्याघ्रः) सूँघकर पकड़ने वाला, बाघ, (पुरुषः) आगे बढ़ने वाला, [चोर] मनुष्य, और (वृकः) हुंड़ार वा भेड़िया (इतः) यहाँ से (उदक्रमन्) फलांगकर निकल गए । (सिन्धवः) नदियाँ (हि) अवश्य (हिरुक्) नीचे को (यन्ति) जाती हैं, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवकों का रक्षक, वृक्ष भी (हिरुक्) नीचे को, [इसी प्रकार] (शत्रवः) हमारे वैरी (हिरुक्) नीचे को (नमन्तु) भुक्के ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करे कि हिंसक मनुष्य और अन्य प्राणी वशीभूत होकर भुके रहें, जैसे नदी और वृक्ष नोचे को भुंकते हैं ॥१॥

परैणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।

परैण दत्वती रञ्जुः परैणाघायुर्षतु ॥२॥

भाषार्थः—(वृकः) हुण्डार वा भेड़िया (परैण) दूर (पथा) मार्ग से (एतु) चला जावे, (उत) और (तस्करः) पीड़ा देने वाला चोर (परमेण) अधिक दूर मार्ग से (दत्वती) दान्त वाली (रञ्जुः) रसरी अर्थात् साँप (परैण) दूर से, और (अघायुः) बुरा चीतने वाला पापी (परैण) दूर से (अर्षतु) भाग जावे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने घर ऐसे बनावें और ऐसा प्रबन्ध करें जिससे दुष्ट मनुष्य और हिंसक जीवों से रक्षा रहे ॥२॥

अक्षयौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।

आत् सर्वान् विशति नखान् ॥३॥

भाषार्थः (व्याघ्र) हे बाघ ! (ते) तेरी (अक्षयौ) दोनों [हृदय और मस्तक की] आँखों को (च) और (च) भी (ते मुखम्) तेरे मुख को, (आत्) और भी (सर्वान्) सब (विशतिम्) बीसों (नखान्) नखों को (जम्भयामसि=०—मः) हम नष्ट करते हैं ॥३॥

भाषार्थः—जैसे हिंसक जन्तुओं को अंग भंग करके नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने अपने शत्रुओं को सेनादि और शरीर के अंगों से नष्ट करके प्रजा में शान्ति रखे ॥३॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।

आहुं ह्रेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥४॥

भाषार्थः—(दत्वताम्) दान्त वालों में से (प्रथमम्) पहिले (व्याघ्रम्) बाघ, (आत् उ) और भी (अहिम्) साँप, (अथो) और भी (वृकम्) भेड़िये, (स्तेनम्) चोर (अथो) और भी (यातुधानम्) पीड़ा देने वाले राक्षस को (वयम्) हम (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक दुष्ट जन्तुओं और उनके समान दुष्ट स्वभाव वाले चोर डाकुओं और रोगों तथा दोषों को नष्ट करें ॥४॥

यो अद्य स्तेन आरयति स संपिष्टो अपायति ।

पयामपध्वसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् । ५॥

भाषार्थः—(यः स्तेनः) जो कोई चोर (अद्य) आज (आरयति) आवे, (संपिष्टः) चूर चूर किया हुआ (सः) वह (अप अरयति) हट जावे, और (पयाम्) मार्गों के (अपध्वसेन) विनाश से (एतु) चला जावे, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रतापी मनुष्य (वज्रेण) वज्र से (तम्) उसको (हन्तु) मार डाले ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य घर और रक्षकों का ऐसा प्रबन्ध करें कि यदि चोर आदि आ भी जावें तो मार्ग भूलकर निराश होकर भागने लगे, और राजा पकड़ कर उसे यथोचित दंड देवे ॥५॥

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्ठयः ।

निम्नक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥६॥

भाषार्थः—[हे चोर !] (मृगस्य) पशु [अर्थात् तेरी गाह] के (दन्तः) दान्त (मूर्णा) बन्द वा मोथरे (उ) और (पृष्ठयः) पसलियां (अपि शीर्णाः) चूर चूर [हो जावें], (ते) तेरी (गोधा) गोह (निम्नक्) नीचे (भवतु) हो जावे, और (मृगः) वह पशु (शशयुः) सोता हुआ [निरुद्धमी होकर] (नीचा) नीचे (अर्थात्) आ जावे ॥६॥

भावार्थः—(गोधा) गोह वा गेसांप एक छपकली जाति का जन्तु होता है, चोर उसकी पूंछ में डोरी बांधकर ऊंचे घरों पर फेंक देते, और उसे पकड़कर ऊपर चढ़ जाते हैं । मनुष्य घर ऐसे चिकने और दृढ़ बनावें और सावधानी रखें कि चोर, डाकुओं की गोह आदि फंदे घरों पर न विपट सकें किन्तु निकम्मे होकर नीचे फिसल पड़ें ॥६॥

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

इन्द्रजा. सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम् । ७॥

भाषार्थः—(यत्) जिससे (इन्द्रजाः) परमेश्वर से प्रकट हुआ, और (सोमजाः) मंथन करने वाले तत्त्ववेत्ताओं अथवा सर्वप्रेरक शूरवीर पुरुषों से प्रकाशित हुआ (संयमः) यथावत् नियम (वि यमः) विरुद्ध नियम (न, नहीं होता, और (यत्) जिससे (वि यमः) विरुद्ध नियम (संयमः) यथावत् नियम (न) नहीं होता है, [इसलिये हे मनुष्य तू] (आथर्वणम्) निश्चल वा मंगलप्रद परमेश्वर से आया हुआ

(व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रों [व्याघ्र स्वभाव वाले शत्रुओं और विघ्नों] के नाश का सामर्थ्य (असि) है ॥७॥

भाषार्थ:—ईश्वर ने, और वेदवेत्ता प्राप्त पुरुषों ने जिन कर्मों को सत्य, और जिनको विरुद्ध वा असत्य बताया है, वे सर्वदा वैसे ही हैं, इस-लिये मनुष्य विवेकपूर्वक विघ्नों को निर्मूल करके सदा आनन्द भोगें ॥७॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१-८ ॥ वृषेन्द्रश्च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यो बलं वर्धयेत्—मनुष्य बल को बढ़ावे ।

यां त्वा गन्धर्वो अस्वन्द् वरुणाय मृतभ्रजे ।

तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेषहर्षणीम् ॥१॥

भाषार्थ:—(याम् त्वा) जिस तुभको (गन्धर्वः) वेद विद्या धारण करने वाले पुरुष ने (मृतभ्रजे) नष्ट बल वाले (वरुणाय) उत्तम गुणयुक्त मनुष्य के लिये (अस्वन्त्) खना है, (ताम् त्वा) उस तुभ (शेषहर्षणीम्) सामर्थ्य बढ़ाने वाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खनते हैं ॥१॥

भाषार्थ:—जिस प्रकार पूर्व ऋषियों ने मनुष्य के हित के लिये परीक्षा करके श्रेष्ठ ओषधियों को प्राप्त किया है, उसी प्रकार हम उत्तम ओषधियों की परीक्षा और सेवन से बलवान् होकर सुखी रहें ॥१॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।

उदेजतु प्रजापतिर्दृषा शुष्मेण वाजिनां ॥२॥

भाषार्थ:—(वाजिना) वेग रखने वाले (शुष्मेण) बल वा प्रभाव से (उषाः) प्रभात वेला (उत्=उदेजतु) ऊंची होवे, (उ) और (सूर्यः) सूर्य (उत्) ऊंचा चढ़े, (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्) ऊंचा होवे, (प्रजापतिः) प्रजाओं की पालन करनेवाली (वृषा) बल बढ़ाने वाली [कोई ओषधि वा भूसाकन्ती ओषधि विशेष] (उदेजतु) ऊंची होवे ॥२॥

भाषार्थ:—मनुष्य प्रभात समय उठकर ईश्वर चिन्तनादि, सूर्य के उदय होने पर जीविकादि की प्राप्ति, और प्राप्त पुरुषों से वेद अध्ययनादि और बलवर्द्धक वृषा आदि ओषधि सेवन से बलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥२॥

वृषा 'स्त्रीलिंग' ओषधि के नाम अमरकोश में ये हैं—

चित्रोपचित्रा न्यग्रोधी द्रवन्ती शम्बरी वृषा ।

प्रत्यक्ष्रेणी सुतश्रेणी रण्डा मूषिकपर्ण्यपि ॥ अम० को० २।५॥

चित्रा, उपचित्रा, न्यग्रोधी, द्रवन्ती, शम्बरी, वृषा, प्रत्यक्ष्रेणी सुत-
श्रेणी, रण्डा, मूषिकपर्णी, ये दस नाम मूषापर्णी के हैं ॥

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।

ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कुणोत्वोषधिः ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (यथा स्म) जिस प्रकार से ही (ते विरोहतः) तुम्हें
वृक्षील का [मन विद्या से] (अभितप्तमिव) प्रतापयुक्त सा (अनति) चेष्टा करता
है, (ततः) उस प्रकार से ही (ते = त्वाम्) तुम्हें (इयम् ओषधिः) यह ओषधि (शुष्म-
वत्तरम्) अधिक बल युक्त (कुणोतु, करे ॥३॥

भाषार्थः—जिल प्रकार विद्याभ्यास से मनुष्यों का मन बढ़ता जावे
उसी प्रकार परीक्षित उत्तम उत्तम बलवर्धक वृषा आदि ओषधि और
यथावत् आहार विहार से अपना शरीर बल भी बढ़ावे ॥२॥

उच्छुष्मोषधीनां सारं ऋषभाणाम् ।

सं पुंसामिन्द्र वृण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥४॥

भाषार्थः—(ऋषभाणाम्) श्रेष्ठ [अथवा कांकड़ासिगी आदि] (ओषधीनाम्)
ओषधियों में से (शुष्मा) बल वाली (सारा) श्रेष्ठ [वा वृषा नाम ओषधि] (उत् =
उद्वेजतु) उदय हो । (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में रखने वाले (इन्द्र) बड़े
ऐश्वर्य वाले सद्ब्रह्म ! (पुंसाम्) रक्षाशील पुरुषों के मध्य (वृण्यम्) बल (अस्मिन्)
इस मनुष्य में (धेहि) यथावत् धारण कर दे ॥४॥

भाषार्थः—सद्ब्रह्म प्रयत्न करें कि उत्तम सारवती बलवर्धक [वृषा
आदि] ओषधियों के सेवन से मनुष्य ऐसे वीर्यवान् हों कि शूरवीरों के मध्य
उनके बल की प्रशंसा होवे ॥४॥

'ऋषभ' और 'सारा' श्रेष्ठ वाचक हैं और ओषधि विशेष भी हैं ॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।

उत सोमस्य आतास्युताशंसि वृण्यम् ॥५॥

भाषार्थः [हे ओषध !] तू (अपाम्) व्यापन शील जलों का (अधो) और भी (वनस्पतीनाम्) अपने सेवा करने वालों के पालक वृक्षों का (प्रथमजः) प्रथम उत्पन्न होने वाला (रसः) रस, (उत्त) और (सोमस्य) अमृत वा ऐश्वर्य का (भ्राता) प्रकाशक वा धारक और पोषक (असि) है, (उत्त) और (आशंम्) सूरों का हितकारक (वृण्यम्) बल (असि) है ॥५॥

भाषार्थः—उत्तम जल और उत्तम वृक्षों और अन्न आदिकों के यथावत् सेवन से मनुष्य ऐश्वर्यवान् और बलवान् होते हैं ॥५॥

अद्याग्ने' अद्य संवितरद्य देवि सरस्वति ।

अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुर्वा तानया पसः ॥६॥

भाषार्थः—(अद्य) आज (अग्ने) हे भौतिक अग्नि ! (अद्य) आज (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य ! (अद्य) आज (देवि) दिव्य गुण वाली (सरस्वति) विज्ञानवति विद्या ! (अद्य) आज (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद, वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समाव (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य यथावत् ओषधि-सेवन से अपना शारीरिक और मानसिक बल बढ़ाकर अग्नि, सूर्य आदि पदार्थों और अनेक उत्तम विद्याओं से नित्य उभार करता हुआ, ईश्वर के आश्रय से अन्न आदि प्राप्त करके अपना राज्य और सुख फलावे, जैसे धनुष् को लक्ष्य के लिये दृढ़ तानते हैं ॥६॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।

क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥७॥

भाषार्थः (अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूँ (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि) धनुष् में । (अनवग्लायता) बिना भ्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (अशः इव) जैसे हिसकजन्तु, सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥७॥

भाषार्थः—जैसे लक्ष्य वेधने के लिये धनुष् में डोरी को दृढ़ कसते हैं, वैसे ही बलवान् पुरुष राज्य प्रवन्ध को प्रजा के सुख के लिये यथाशास्त्र दृढ़ रखे, और जैसे सिंह आदि हरिण आदि को दबोच लेते हैं, वैसे ही शत्रुओं पर धावा करके कुरीतियों को मिटावे ॥७॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्यस्य च ।

अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥८॥

भाषार्थः—(अश्वस्य) घोड़े के, (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (च) और (पेत्यस्य) भेड़ के, (अथ) और भी (ऋषभस्य) बलीबंद के (ये वाजाः) जो बल हैं, (तान्) उनको, (तनूवशिन्) हे शरीरों को वन में रखने वाले शूर ! (अस्मिन्) इस पुरुष में (धेहि) धारण कर ॥८॥

भावार्थः—शूरवीर पुरुष अश्व आदि उपकारी पशुओं को पालकर खेती, वाणिज्य, सेना आदि के यथायोग्य कामों में लगाकर संसार में सुख बढ़ावे ॥८॥

सूक्तम् ५ ॥

१—७ इन्द्रो देवता । १—६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः ॥

प्रजास्वापनार्थं गीतम्—बच्चों के सुलाने का गीत अर्थात् लोरी ।

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।

तेनां सहस्येना वयं नि जनान्स्वापयामसि ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (वृषभः) सुख बरसाने वाला (सहस्रशृङ्गः) सहस्रों अर्थात् तेज नक्षत्रों वाला चन्द्रमा [अथवा सहस्रों किरणों वाला सूर्य] (समुद्रात्) आकाश से (उदाचरत्) उदय हुआ है, (तेन) उस (सहस्येन) बल के लिये हितकारक [चन्द्रमा] से (वयम्) हम लोग (जनान्) सब जनों को (नि स्वापयामसि) सुला दें ॥१॥

भावार्थः—माता पिता आदि बच्चों को चन्द्रमा के दर्शन कराते हुए सुलावे, जिससे उनके शरीर की पुष्टि और नेत्रों की ज्योति बड़े (मह-स्रशृङ्गः) का अर्थ सूर्य भी है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश आने से यह घर स्वास्थ्यकारक है । हम सब सोवें ॥१॥

इस सूक्त के चार मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद म० ७ । सू० ५५ के हैं जिनका इन्द्र देवता है, इससे यहां भी सूक्त का इन्द्र ही देवता है । यह मन्त्र उक्त सूक्त का मन्त्र ७ है ॥

न भूमिं वातो अतिं वाति नातिं पश्यति कश्चन ।

द्विष्यं सर्वान् स्वापय शुनश्चेन्द्रं सखा चरन् ॥२॥

भाषार्थः—(न) न (वातः) पवन (भूमिम्) भूमि पर (अति) अत्यन्त (वाति) चलता है, और (न) न (कश्चन) कोई जन (अति) ऊपर से (पश्यति) देखता है [हे पवन !] (इन्द्रसखा) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को अपना सखा रखने वाला तू, (चरन्) चलता हुआ, (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों (च) और (शुनः) कुत्तों को (च) भी (स्वापय) सुला दे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करे कि रात्रि को सोते समय तीव्र वायु वा अन्य किसी तुच्छ कारण से निद्रा भंग न हो और न बाहरी पुरुष गुप्त बातें सुने ॥२॥

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीया वंशशीवरीः ।

स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ता सर्वाः स्वापयामसि ॥३॥

भाषार्थः—(प्रोष्ठेशयाः) बड़े घर वा बड़े आंगन में सोने वाली, (तल्पेशयाः) छाटों पर सोने वाली, और (वृक्षशीवरीः—०—यः) हिडोला आदि में सोने वाली (याः) जो (नारीः=नार्यः) नारियाँ हैं, और (याः) जो (स्त्रियः) स्त्रियाँ (पुण्यगन्धयः) पुण्य गति वाली हैं, (ताः सर्वाः) उन सबको (स्वापया—मसि=०—मः) हम सुलाते हैं ॥३॥

भाषार्थः—गृहस्थ लोग स्त्रियों के रहने के घर ऐसे उत्तम बनावें जिससे रात्रि को वे सुखपूर्वक सोया करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ७।५५।५ में है ॥

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमनग्रभम् ।

अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ।४॥

भाषार्थः—(एजदेजत्) इधर उधर पड़ी हुई प्रत्येक वस्तु को (अजग्रभम्) मैंने संग्रह कर लिया है, (चक्षुः) नेत्र और (प्राणम्) प्राण मार्ग [नासिका] को (अजग्रभम्) मैंने ग्रहण कर लिया है, और (रात्रीणाम्) रात्रियों के मध्य (अतिशर्वरे) अत्यन्त अन्धकार में (सर्वा=सर्वाणि) सब (अङ्गानि) अङ्गों को (अजग्रभम्) मैंने धाम लिया है ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य इन्द्रिय निग्रह करके शान्तचित्त होकर रात्रि में सोवें ॥४॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।

तेषां सं दध्मो अक्षीणि ययेदं हर्म्यं तथा ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जो कोई (आस्ते) बैठता है, (यः) जो (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो (तिष्ठन्) खड़े होकर (विपश्यति) विविध प्रकार से देखता है, (तेषाम्) उनकी (अक्षीणि, आँखों को (तथा) उस प्रकार से (संबन्धः) हम मूँदते हैं, (यथा) जैसे (इदम् इस, हृम्यम् हृम्यं [धनियों के मनोहर घर] को ॥५॥

भाषार्थः—जैसे धनिक लोगो के घर सुरक्षित होते हैं, जिन्हें बन्ध करके सुखपूर्वक वे सोते हैं वैसे ही घर सब गृहस्थ बनावें, जिनमें निर्भय होकर रात्रि को आनन्द से सोवें ॥५॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद मं० ७।५५।६। में है ॥

स्वप्नुं माता स्वप्नुं पिता स्वप्नुं श्वा स्वप्नुं विशपतिः ।

स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥६॥

भाषार्थः—(अस्यै) इस [मन्त्रति, पुत्री वा पुत्र के हित] के लिये (माता) माता (स्वप्नु) सोवे, (पिता) पिता (स्वप्नु) सोवे, (श्वा) कुत्ता (स्वप्नु) सोवे, (विशपतिः) प्रजापालक गृहपति (स्वप्नु) सोवे । (ज्ञातयः) जाति के लोग (स्वपन्तु) सोवें, और (अयम्) यह (जनः) सब जने (अभितः) चारों ओर (स्वप्नु) सोवें ॥६॥

भाषार्थः—अब रात्रि में लोग चुपचाप सो जावें खलबल न मचावें जिससे यह बालक सुखपूर्वक सो जावे ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ७।५५।५ में है ॥

स्वप्नं स्वप्नाभिकरणेन सर्वं निष्वापया जनम् । ओत्सूर्य-

मन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्रावारिष्टो अक्षितः ॥७॥

भाषार्थः (स्वप्नं) हे निद्रा ! (स्वप्नाभिकरणेन) नींद के उपाय वा साधन से (सर्वं जनम्) सब जनों को (नि, स्वापय) मुलादे । (मन्यान्) दूसरे पुरुषों को (ओत्सूर्यम्) सूर्य उदय तक (स्वापय) मुला, (अहम्) मैं (इन्द्रः इव) प्रतापी मनुष्य के समान (अरिष्टः) नाश रहित और (अक्षितः) हानि रहित (आव्युषम्) प्रभात तक (जागृतात्—जागराणि) जागरण करूँ ॥७॥

भाषार्थः—घर के अन्य सब स्त्री पुरुष अपने अपने स्थानों पर सो जावे और निद्रपति यथावत् जागकर सावधानी रखे ॥७॥

(अक्षितः)

(जागृतात्)

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ विषं देवता । १, ३—८ अनुष्टुप्, २ पावतीति त्रिष्टुप्, वाचमित्यनुष्टुप् ॥

विषनिवारणायोपदेशः—विष दूर करने के लिये उपदेश ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।

स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् । १॥

भावार्थः—(प्रथमः) सब वर्णों में प्रधान, (दशशीर्षः) दस प्रकार के [१—दान, २—शील, ३—क्षमा, ४—वीर्य, ५—ध्यान, ६—बुद्धि, ७—सेना, ८—उपाय, ९—गुप्तद्वार, और १०—ज्ञान] बलों में शिर रखने वाला और (दशास्यः) दस दिशाओं में मुख के समान पोषण शक्ति वाला वा दश दिशाओं में स्थिति वाला (ब्राह्मणः) ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । (सः प्रथमः) उस प्रधान पुरुष ने (सोमम्) सोम नाम ओषधि का रस (पपौ) पिया, और (सः) उसने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्गुण कर दिया ॥ १॥

भावार्थः—जैसे वेदवेत्ता सद्ब्रह्मों ने पूर्ण विद्या प्राप्त करके सब दिशाओं में खोजकर संसार के उपकार के लिये सोम रस को पाया और आरोग्यनाशक और शरीरविकारक विष को हटाया है, हम लोग इसी-प्रकार सोमलता आदि औषधों की प्राप्ति और परीक्षा करके संसार का कष्ट मिटाकर सबको सुख पहुंचावें और ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता होकर अगुआ बनें ॥ १॥

सोम का विशेष वर्णन ऋग्वेद मण्डल ६, और सामवेद उत्तराचिक प्रपाठक १ आदि में है, यहाँ दो मन्त्र लिखते हैं ।

स्वादिंष्टया मदिंष्टया पवंस्व सोम धारंया ।

इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोदतम् ।

द्रुणां सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

ऋग्वेद ६।१।१, २॥ यजु०।२६।२५, २६॥ साम उत्तरा० प्र० १
अ०१ त्रिक १५॥

(सोम) हे सोम रस (स्वादिष्ठया) बड़ी स्वादिष्ठ और (मदिष्ठया) अति
आनन्द कारक (धारया) धारा से (इन्द्राय) बड़े प्रतापी इन्द्र, पुरुष के लिये (पातवे)
पीने को (सुतः) छनकर (पवस्व) शुद्ध हो ॥१॥

(रक्षोहा) रोगादि दुष्ट राक्षसों के नाश करने वाले (विश्वचर्वणिः) सब
मनुष्यों के हितकारक उस [सोम] ने (अयोहतम्) सुवर्ण से बने हुए (सधस्थम्)
एक साथ ठहरने योग्य (योनिम्) स्थान (द्रुणा = द्रोणे) द्रोण कलश में (अभि)
ध्याप कर (आ असदत्) पाया है ॥२॥

सोम का वृत्तांत सुश्रुत चरक आदि वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तार है वहाँ देख
लेवें ॥

याव॑न्ती द्यावा॑पृथि॒वी व॑रि॒म॒णा याव॑त् स॒प्त सि॑न्ध॒वो वि॒त॒ष्टिरे॒ ।

वाचं॑ वि॒षस्य॑ द्रू॒षणीं॑ ता॒मितो॑ नि॒र॒वादि॑षम् ॥२॥

भावार्थः—(द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक (वरिम्णा)
अपने विस्तार से (यावतो = ०—त्यौ) जितने हैं, और (सप्त) जीव से मिली हुई
वा गमन शील, वा सात (सिन्धवः) बहने वाली नदी रूप इन्द्रियां [दो कान, दो
नखने, दो आँखें और एक मुख] (यावत्) जितने (वितष्टिरे) फैलकर स्थित हैं।
(इतः) इस स्थान से (विषस्य) विष की (द्रूषणीम्), खंडन करने वाली (ताम्) उस
(वाचम्) वाणी को (निरवादिषम्) मैंने कह दिया है ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य उपाय करें कि आकाश और पृथिवी के सब गोचर
पदार्थों में विष का संसर्ग न हो और पुष्टिकारक और बलवर्धक वस्तुओं
के स्पर्श, दर्शन, श्रवण, मनन, संमोग आदि से आनन्द प्राप्त हो ॥२॥

सु॒पर्ण॑स्त्वा ग॒रुत्मा॑न् वि॒ष प्र॒थम॑मावयत् ।

नामी॑मदो॒ नारू॑रुप॒ उता॑स्मा॒ अभवः॑ पि॒तुः ॥३॥

भावार्थः—(विष) हे विष ! (सुपर्णः) शीघ्रगामी (गरुत्मान्) सुन्दर पंख
वाले गरुड़ ने (प्रथमम्) प्रसिद्ध (त्वा) तुझ को (आवयत्) खाया, तूने [उसे] (न)
न तो (अमीमदः) मत्त किया और (न) न (गरुरूपः) घबरा दिया, (उन) किन्तु
तू (अस्मै) उसके लिये (पितुः) अन्न (अभवः) हुआ है ॥३॥

भावार्थः—जैसे गरुड़, मोर आदि पक्षी अपनी विष पाचक शक्ति से
विषधारी सप को खाकर अपना शरीर पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सदैव

श्लोषधि द्वारा विषजनक रोगों का नाश करके संसार में नीरोगता फैलाते हैं ॥३॥

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वकाच्चिदधि धन्वनः ।

अपस्कम्भस्य शल्यान्तिरवोचमहं विषम् ॥४॥

भावार्थः - (यः) जिस किसी पुरुष ने (पञ्चाङ्गुरिः) पाँचों अंगुली जमा कर (वकात्) टेढ़े (चित्) ही (धन्वनः अधि) धनुष पर से (अपस्कम्भस्य) तीर के बन्धन की (शल्यात्) अणि व पैनी कील से (ते) तेरे लिये [विष] (आस्यत्) चलाया है, (अहम्) मैंने (विषम्) उस विष को (निः) निकाल कर (अवोचम्) वचन बोला है ॥४॥

भावार्थः—यदि शत्रु अपने छल बल से दूढ़ हाथ से छोड़े हुए विष में बुझे तीर से किसी वीर मनुष्य के शरीर में विष प्रवेश करदे, चतुर वैद्य उसकी चिकित्सा करके यश प्राप्त करे ॥४॥

श्लयाद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।

अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥५॥

भावार्थः—(शल्यात्) बाण की अणि से, (प्राञ्जनात्) लेप से (उत) और (पर्णधेः) पंख वाले तीर के भाग से (विषम्) विष को (निः) निकाल कर (अवोचम्) मैंने वचन बोला है । (शृङ्गात्) तीक्ष्ण (अपाष्ठात्) बाण के फल से और (कुल्मलात्) बाण छिद्र से (विषम्) विष को (निः=निर्गम्य) निकाल कर (अहम्) मैंने (अवोचम्) वचन कहा है ॥५॥

भावार्थः—विषैले बाण के जिस जिस खंड से जहाँ जहाँ शरीर में घाव हों, बुद्धिमान् वैद्य वहाँ वहाँ से सावधानी के साथ विष निकालकर घायल पुरुष का स्वस्थ करे ॥५॥

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम् ।

उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥६॥

भावार्थः—(इषो) हे हिंसक वीर ! (ते) तेरे (शल्यः) बाण की अणि (अरसः) निबल, (अथो) और भी (ते) तेरा (विषम्) विष (अरसम्) निबल [हो जावे] । (उत) और (अरस) हे निबल शत्रु ! (अरसस्य) निबल (वृक्षस्य) वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष (अरसम्) निकम्मा [हो जावे] ॥६॥

भाषार्थः—चिकित्सक लोग ऐसी उत्तम संजीवनी औषधें उपस्थित रखें जिनसे शत्रुओं के अस्त्र शस्त्रों के घाव योधाओं के अंगों में भर कर तुरन्त अच्छे हो जावें ॥६॥

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।

सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जिन शत्रुओं ने [विष को] (अपीषन्) पीसा है, (ये) जिन्होंने (अदिहन्) लेप किया है, (ये) जिन्होंने (आस्यन्) दूर से फेंका है, और (ये) जिन्होंने (अवासृजन्) पास से छोड़ा है। (ते सर्वे) वे सब (वध्रयः) असमर्थ (कृताः) कर दिये गये, और (विषगिरिः) विष पर्वत भी (वध्रिः) निर्वीर्य (कृतः) कर दिया गया है ॥७॥

भाषार्थः—राजा विष प्रयोगी पुरुषों को यथावत् दंड देकर सर्वथा बलहीन कर देवे, और विष के उत्पत्ति स्थानों को भी नियमबद्ध रखें ॥७॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।

वध्रिः स पर्वतो गिरिर्येतौ जातमिदं विषम् ॥८॥

भाषार्थः (ओषधे) हे दाह [जलन] के धारण करने वाले विष ! (ते) तेरे (खनितारः) खोदने वाले (वध्रयः) असमर्थ [हो जावें] और (त्वम्) तू भी (वध्रिः) निर्वीर्य (अस्ति) है। (सः) वह (पर्वतः) अवयव वाला (गिरिः) पहाड़ (वध्रिः) असमर्थ [हो जावे] (यतः) जिससे (इदम् विषम्) यह विष (जातम्) उत्पन्न हुआ है ॥८॥

भाषार्थः—राजा विष व्यापारियों और विष स्थानों को नीति, विधान से अपने वश में रखे ॥८॥

सूक्तम् ७॥

१—७ ॥ विषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विषनाशायोपदेशः—विष नाश करने का उपदेश ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।

तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥१॥

भाषार्थः—(वरणावत्याम् अधि) उत्तम गुण वाली क्रिया में [अथवा वरुण नाम वाली ओषधि में] वर्तमान (इदम्) यह (वाः) जल (वारयाते) [विष को] हटावे ! (तत्र) उस [जल] में (अमृतस्य) अमृत अर्थात् स्वास्थ्य का (आसिक्तम्) रस है । (तेन) उस [जल] से (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) मैं हटाता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—(१) यथावत् क्रिया के किये हुए जल के अभिषेक आदि से और (२) वरुण नाम ओषध के रस प्रयोग से विष और विष जनक रोगों की निवृत्ति होती है ॥१॥

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् ।

अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥२॥

भाषार्थः—(प्राच्यम्) पूर्व वा सम्मुख दिशा का (विषम् विष (अरसम्) अरस होवे, और (यत्) जो (उदीच्यम्) उत्तर वा बायीं दिशा में है [वह भी] (अरसम्) अरस होवे । (अथ) और (इदम्, यह (अधराच्यम्) नीचे की दिशा का [विष] (करम्भेण) जल सेचन से [वा दही मिले सत्तुओं से] (विकल्पते) असमर्थ हो जाता है ॥२॥

भाषार्थः—विक्रिप्तक लोग विष और विषैले रोगों को यथावत् जल सेचन से अथवा सत्तुओं के प्रयोग से हटावें ॥२॥

‘करम्भ’ शब्द का अर्थ जल क्रिया वा जल सेचन अथवा दही मिले हुए सत्तुओं का है [करम्भो दधिसक्तवः—इत्यमरः, २।६।४८]

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदारथिम् ।

क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥३॥

भाषार्थः—(दुष्टनो) हे शरीर के दुःख दायक [विष !] (किल) तिरस्कार के साथ (त्वा) तेरे लिये [तेरे हटाने के लिये] (तिर्यम्) रोग जीतने में समर्थ, (पीवस्पाकम्) मुटाई वा चर्वी रोग पचाने वाले और (उदारथिम्) जाठर अग्नि बढ़ाने वाले (करम्भम्) जल सेचन [वा दही सत्तुओं] को (कृत्वा) बनाकर (क्षुधा) भूख के कारण (जक्षिवान् = यः जक्षिवान् तम्) जिसने खा लिया, उसको (सः = स त्वम्) उस तूने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्च्छित किया है ॥३॥

भाषार्थः—जल सेचन और सत्तुओं के सेवन से विषैले रोगों का नाश होता है ॥३॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।

प्र त्वां चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥४॥

भाषार्थः—(मदावति) हे मूर्छा करने वाली [विष पीड़ा] (ते) तेरे (मदम्) मद्यपन को (शरमिव) तीर के समान (वि) अलग (पातयामसि = ०—मः) हम फेंके देते हैं । और (येषन्तम्) खदबदाते हुए (चरुमिव) चरुये [वासन] के समान (त्वा) तुझ को (वचसा) वचन मात्र से [शीघ्र] (प्रस्थापयामसि = ०—मः) हम हटाते हैं ॥४॥

भाषार्थः—वैद्य लोग विषैली, मदकरी पीड़ाओं को बहुत शीघ्र प्रशस्तन करके हटावें, जैसे धनुष से तीर को फेंकते अथवा अतितप्त वरतन को आग पर से हटाते हैं ॥४॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।

तिष्ठा वृक्षइव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥५॥

भाषार्थः—(आचितम्) एकत्र हुए (ग्रामम् इव) जन समूह [शत्रु वृन्द] के समान [तुझको] (वचसा) वचन मात्र से (परि स्थापयामसि = ०—मः) हम धेरते हैं । (वृक्षः इव) वृक्ष के समान (स्थाम्नि) अपने स्थान पर (तिष्ठ) ठहर । (अभ्रिखाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तूने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥५॥

भाषार्थः—विद्वान् वैद्य विचारपूर्वक उपाय के साथ विष को प्रभाव रहित करके निकाल देते हैं जैसे शूर पुरुष शत्रुसेना को धेरकर हरा देते हैं ॥५॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शंभिरजिनैस्त ।

प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥६॥

भाषार्थः—(त्वा) तुझसे (पवस्तैः) मंडप वा घरों के लिये, (दूर्शंभिः = दूर्शैः) वस्त्र गृहों के लिये, (उत) और (अजिनैः) चर्म के लिये (परि अक्रीणन्) उन्होंने [पुरुषों ने] व्यापार किया है । (ओषधे) हे दाहधारण करने वाली ! (त्वम्) तू (प्रक्रीः) बिकाऊ वस्तु (असि) है । (अभ्रिखाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तूने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने लाभ के लिये विष का व्यापार भी करते हैं, विद्वान् लोग अपनी योग्यता से विष को निर्वल करके रखते हैं ॥६॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।

वीरान् नो अत्र मा दंभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहाँ पर (मा दंभन्) न मारें (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूँ ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करें कि जगत् हितकारी महात्मा लोग आनन्द प्राप्त करके सब की यथावत् रक्षा करते रहें ॥७॥

यह मन्त्र अ० ५।६।२। में भी है ।

सूक्तम् ८ ॥

१—७ ॥ भूतानामधिपतिर्देवता ॥ १, ३, ७ त्रिष्टुप् शिष्टानुष्टुप् ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राजतिलक यज्ञ का उपदेश ॥

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।

तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥१॥

भाषार्थः—(भूतः) विभूति वा ऐश्वर्य वाला पुरुष (भूतेषु) सब स्थावर जंगम पदार्थों में (पयः) दूध, अन्न जल आदि (आ) अच्छे प्रकार (दधाति) धारण करता है, (सः) वही (भूतानाम्) प्राणी और अप्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता (बभूव) हुआ है । (मृत्युः) मृत्यु [मारणसामर्थ्यं] (तस्य) उसके (राजसूयम्) राजतिलक यज्ञ में (चरति) अनुचर होता है । (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) अङ्गीकार करे ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रतापी पुरुष को विद्वान् पुरुषों ने राजा बनाया है, वह अपनी बुद्धि, नीति और धीरता से प्रजा के प्राण और धन की रक्षा करता है, और वही शिष्टों का पालन करके मृत्यु से बचाता और दुष्टों को दण्ड देकर मारता है ॥१॥

अभि प्रेहि मापं वेन उग्रश्चेत्ता संपत्नहा ।

आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अर्धिं ब्रुवन् ॥२॥

भाषार्थः—[हे राजन्] (उग्रः) तेजस्वी, (चेत्ता) चैतन्य स्वभाव और

(सपत्नहा) शत्रुनाशक तू (अभि) सब ओर से (प्रेहि) आगे बढ़, (मा अप वेनः) पीछे न हट । (मित्रवर्धन) हे मित्रों के बढ़ाने हारे ! (आतिष्ठ) [सिंहासन वा हाथी आदि पर] आकर बैठ । (देवाः) विजय चाहने वाले वीर विद्वानों ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (अभिभूवन्) यह अनुग्रह वचन दिया है ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) मुख्य मुख्य शूर विद्वान् लोग राजा को सहाय वचन के साथ अभिनन्दन करके राजसिंहासन और हाथी आदि यान पर बिठलावें और (मित्रवर्धन) राजा माननीय पुरुषों का आदर मान करे ॥२॥

आ तिष्ठन्तं परि विश्वं अभूषञ् छिद्यं वसानश्चरति स्वरोचिः ।

महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ । ३॥

भाषार्थः—(विश्वे) सब जनों ने (आतिष्ठन्तम्) [सिंहासन आदि पर] बैठते हुए राजा को (परि अभूषन्) सब प्रकार से अलंकृत वा प्राप्त किया है । (धियम्) राजलक्ष्मी को (वसानः) धारण करता हुआ, (स्वरोचिः) स्वयं प्रकाशमान वह (चरति) वर्त्तमान होता है । (वृष्णः) उस ऐश्वर्य वाले (असुरस्य) प्राणदाता का (तत्) वह (महत्) विशाल (नाम) नाम है । (विश्वरूपः) अनेक प्रकार के स्वभाव वाले उससे (अमृतानि) अनश्वर सुखों को (आ तस्थौ) प्राप्त किया है ॥३॥

भाषार्थः—प्रजा गण सिंहासन पर बैठे हुए राजा को भेंट आदि देकर सेवा करें, और राजा यथायोग्य सबसे बत्तीव करके आनन्द प्राप्त करे ॥३॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापों दिव्याः पयस्वतीः ॥४॥

भाषार्थः—[हे राजन्] (व्याघ्रः) बाघ के समान पराक्रमी तू (वैयाघ्रे अधि) बाघ के स्वभाव में [स्थित होकर] (महीः दिशः) बड़ी दिशाओं को (वि क्रमस्व) विक्रम से जीत । (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें, और (दिव्याः) उत्तम (पयस्वतीः = ०—त्यः) सार वाली (आपः) जल धारायें (त्वा) तुमको (वाञ्छन्तु) चाहें ॥४॥

भाषार्थः—राजा व्याघ्र के समान पराक्रमी और जल के समान उपकारी होवे, सब प्रजागण उससे प्रीति करें और राज्य में अनावृष्टि आदि न हो ॥४॥

या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।

तासां त्वा सर्वासामपाममि पिञ्चामि वर्चसा ॥५॥

भाषार्थः (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में की (उत वा) और भी (पृथिव्याम्) पृथिवी पर की (याः) जो (दिव्याः) दिव्य (आपः) जल धारायें (पयसा) अपने रक्त से (मदन्ति) [प्राणियों को] तृप्त करती हैं, (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब (अपाम्) जल धाराओं के (वर्चसा) बलदायक सार से (त्वा) तुम्हको (अभि धिञ्चामि) अभिषेक कराता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—राजगद्दी पर बैठने के समय राजा को ओषधियों के रस से मिले हुए वृष्टि, नदी, कूप आदि के उत्तम जलों से स्नान करावें, जिससे उसका शरीर पुष्ट रहे और जल के समान वह अपने प्रजा को सुख पहुँचावे ॥५॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।

यथासौ मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥६॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (त्वा) तुम्हको (दिव्याः) दिव्य (पयस्वतीः=० - रपः) सारयुक्त (आपः) जल धाराओं ने (वर्चसा) अपने बलदायक सार से (अभि असिचन्) सब प्रकार सींचा है, (यथा) जिससे तू (मित्रवर्धनः) मित्रों की वृद्धि करने वाला (असः) होवे । (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुम्हको (तथा) वैसे गुण वाला [जैसा जल] (करत्) करे ॥६॥

भाषार्थः - अभिषेक के उपरान्त सब लोग आशीर्वाद दें, हे राजन् ! तुम्हें यह अभिषेक वा स्नान इसलिये कराया है कि जैसे जल अन्न आदि उत्पन्न करके संसार का उपकार करता है, वैसे ही सर्वप्रेरक परमेश्वर के अनुग्रह से तू प्रजाप्र रक होकर अपने हितैषी जनों की सदा रुन्नति करता रहे ॥६॥

एना व्याघ्रं परिष्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।

समुद्रं न सुभुवंस्तस्थिवांसं समृज्यन्ते द्वीपिनमस्व १ न्तः ॥७॥

भाषार्थः—(परिष्वजानाः) सब ओर से चिपटे हुए लोग (एना=एनम्) इस (व्याघ्रम्) व्याघ्ररूप और (सिंहम्) सिंह समान [पराक्रमी राजा] को (महते) बहुत ही (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, और (सुभुवः) सुन्दर जन्म वा बड़ी भूमिवाले पुरुष (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (तस्थिवासम्) स्थित हुए, (समुद्रम् न) समुद्र के समान [गम्भीर स्वभाव] और (द्वीपिनम्) चीते [के तुल्य पराक्रमी राजा] को (समृज्यन्ते) अनेक प्रकार से शृद्ध करते वा सजाते हैं ॥७॥

भावार्थः—अभिषेक विधि के समाप्त हो चुकने पर बड़े बड़े लोग प्रशंसा करके राजा का उत्साह बढ़ावें और अलंकार आदि से उसको यथावत् शोभायमान करें ॥७॥

सूक्तम् ६ ॥

१—१० ॥ आञ्जनं देवता ॥ १, २, ४—१० अनुष्टुप् । ३ पद्या पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।

विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥१॥

भावार्थः—(एहिं) आ (जीवम्) जीव को (त्रायमाणम्) पालता हुआ (पर्वतस्य) पूति करने वाले वा अवयवों वाले मेघ के (अक्ष्यम्) व्यवहार के लिये हितकारक, (विश्वेभिः) सब (देवैः) दिव्य गुणों के साथ (दत्तम्) दिया हुआ (कम्) तू मुख स्वरूप ब्रह्म (जीवनाय) हमारे जीवन के लिये (परिधिः) परकोटा रूप (असि) है ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर मेघ के समान जगत् की रक्षा करने वाला हमारे हृदयों में विराजमान होकर हमारा प्राणाधार है, ऐसा समझ कर हम पुरुषार्थ के साथ सुख प्राप्त करें ॥१॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।

अश्वानामर्षतां परिपाणाय तस्थिषे ॥२॥

भावार्थः—तू (पुरुषाणाम्) अश्वगामी मनुष्यों का (परिपाणम्) रक्षासाधन, और (गवाम्) गौश्रों का (परिपाणम्) रक्षा साधन (असि) है । और (अश्वानाम्) शीघ्रगामी (अश्वानाम्) घोड़ों के (परिपाणाय) पूर्ण रक्षा के लिये (तस्थिषे) तू ही स्थित हुआ है ॥२॥

भावार्थः—वह परब्रह्म कृपा करके हमसे सब पदार्थों की रक्षा कराता है, इस कारण अभिमान छोड़कर हम पुरुषार्थ करते रहें ॥२॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन । उतामृतस्य त्वं वेत्थायौ

असि जीवभोजनमर्थो हरितमेपजम् ॥३॥

भाषार्थः—(उत) और (आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्मा ! तू (परिपाणम्) हमारी रक्षा का साधन, (यातुजम्भनम्) पीड़ाओं का नाश करने वाला (असि) है, (उत) और (त्वम्) तू (अमृतस्य) अमृत अर्थात् मोक्ष सुख का (वेत्थ) ज्ञाता है, (अथो) और भी तू (जीवभोजनम्) जीवों का पालने वाला (अथो) और भी (हरितमेघजम्) रोग से उत्पन्न पीतरंग की ओषधि (असि) है ॥३॥

भाषार्थः—संसार के कर्ता धर्ता परमेश्वर के उपकारों को देखकर मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्यादि सुखसाधनों की प्राप्ति से मोक्षानन्द भोगें ॥३॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुषरुः ।

ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥४॥

भाषार्थः—(आञ्जन) हे संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्मा ! तू (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में और (परुषरुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) व्याप जाता है, (ततः) उस पुरुष से (यक्ष्मम्) राजरोग को (विबाधसे) तू सर्वदा हटा देता है, (इव) जैसे (उग्रः) प्रबल (मध्यमशीः) विचौलिया पुरुष ॥४॥

भाषार्थः—जो पुरुष पूर्ण भक्ति से परमात्मा को अपने रोम २ में व्यापक जानकर पुरुषार्थ करता है। परमात्मा उसके सब विघ्नों का नाश कर देता है, जैसे सदैव बड़े बड़े रोगों को, और नीतिकुशल मध्यस्थ राजा आदि वादी और प्रतिवादी के टंटों को मिटा देता है ॥४॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभि शोचनम् ।

नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा विभर्त्याञ्जन ॥५॥

भाषार्थः—(न) न तो (एनम्) इस [पुरुष] को (शपथः) क्रोध वचन, (न) न (कृत्या) हिंसा क्रिया और (न) न (अभिशोचनम्) महाशोक (प्राप्नोति) पहुँचता है, और (न) न (एनम्) इसको (विष्कन्धम्) विघ्न (अश्नुते) व्यापता है, (यः) जो [पुरुष] (आञ्जन) हे संसार को व्यक्त करने वाले ब्रह्मा ! (त्वा) तुझको (विभर्ति) धारण करता है ॥५॥

भाषार्थः—जो मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा को आत्मा में स्थिर करता है, उसको आध्यात्मिक शान्ति होने से आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति भी मिलती है ॥५॥

असन्मन्त्राद् दुष्पण्याद् दुष्कृताच्छर्मलादुत ।

दुर्हर्दिश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥६॥

भाषार्थः—(आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! तू (असन्मन्त्रात्) असत्य भाषण से (दुःस्वप्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुए कुविचार से, (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्म से, (शर्मलात्) अशुद्धता से (उत) और (दुर्हर्दिः) दुष्ट हृदय वाले (घोरात्) घोर वा भयानक (चक्षुषः) नेत्र से (तस्मात्) इस सबसे (नः) हमें (पाहि) बचा ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के सहाय से प्रयत्न करें कि वे कभी मिथ्या न बोलें, स्वप्न में बुरा विचार न करें, और दुष्कर्मों से बच कर शुद्ध आचरण रखें तथा नेत्र आदि इन्द्रियों से कुचेष्टा न करें ॥६॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।

सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पुरुष ॥७॥

भाषार्थः—(आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! तेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (सत्यम्) सत्य (वक्ष्यामि) बोलूंगा, (नानृतम्) असत्य (न) नहीं । (पुरुष=पुरुष) हे सबके अगुआ पुरुष, परमेश्वर ! (तव) तेरे [दिये हुए] (अश्वम्) घोड़े, (गाम्) गौ वा भूमि और (आत्मानम्) आत्मबल को (अहम्) मैं (सनेयम्) सेवन करूँ ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा देख कर सुधा सत्य ही बोले और पुरुषार्थ पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवे ॥७॥

इस मन्त्र का उत्तरार्थ ऋ० १० । ६७ । ४ और यजु० १२ । ७८ में इस प्रकार है—

सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तव पुरुष ॥

हे पुरुष ! तेरे [दिये हुए] घोड़े, गौ वा भूमि वस्त्र और आत्मबल को सेवन करूँ ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य तवमा बलास आदहिः ।

वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिकुन्नाम ते पिता ॥८॥

भाषार्थः—(तवमा) जीवन को कष्ट देने वाला ज्वर, (बलासः) बल का निगाने वाला संनिपात, कफादि रोग, (आत्) और (अहिः) जीवों को मारने

वाला सांप, (त्रयः) यह तीनों (आञ्जनस्य) संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म के (दासाः) दास हैं। [हे आञ्जन, ईश्वर !] (वर्षिष्ठः) सबमें बृद्ध, (पर्वतानाम्) अवयव वाले स्थूल लोकों का (पिता) पालनकर्त्ता, (त्रिकुत्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] सुखों का पहुँचाने वाला यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाला (ते) तेरा (नाम) नाम है ॥६॥

भावार्थः—ईश्वरीय नियम तोड़ने वाले मनुष्यों को परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से रोग आदि कष्ट देता है, और अपने आज्ञाकारियों को वह अत्यन्त सुख पहुँचाता है ॥६॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।

यातूश्च सर्वान् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥९॥

भावार्थः—(यत्) सबका पूजनीय वा पदार्थों की संगति करने वाला, (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुँचाने वाले यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर, (जातम्) सबमें प्रसिद्ध, (हिमवतः) हिमालय के कर्म से (परि) पृथक् वर्त्तमान, (आञ्जनम्) संसार का व्यक्त करने वाला ब्रह्म (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ा देने वाले दुष्टों (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः=०—तीः) पीड़ा देने वाली शत्रु सेनाओं को (च) भी (जम्भयत्) नाश करने वाला है ॥९॥

भावार्थः—जो पुण्यात्मा पुरुष विद्याबल से सब प्रकार के सुखों को पहुँचाते, और तीनों द्वावापृथिवी और अन्तरिक्ष लोकों, और तीनों भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालों के वृत्तान्त जानते हैं, वे परब्रह्म की छत्र छाया में रह कर सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगते हैं ॥९॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।

उमे तै भद्रे नाम्नी ताभ्या नः पाद्याञ्जन ॥१०॥

भावार्थः—(यदि वा) चाहे तू (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों को पहुँचाने वाले, यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर (असि) है, (यदि=यदि वा) चाहे तू (यामुनम्) यमों, नियन्ताओं, न्यायकारियों का हितकारी (उच्यसे) कहा जाता है, (उमे) दोनों (ते) तेरे (नाम्नी) नाम (भद्रे) कल्याण कारक हैं, (आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! (ताभ्याम्) उन दोनों से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम उत्तम गुणों का चिन्तन करके पुरुषार्थ के साथ दुष्कर्मों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥१०॥

सूक्तम् १० ॥

१-७ । शङ्खो देवता ॥ १-५ अनुष्टुप्, ६ पथ्या पङ्क्तिः, ७ पञ्चपदा त्रिष्टुप् ॥

विघ्ननिवारणायोपदेशः—विघ्नों के हटाने के लिए उपदेश ।

वाताञ्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषपरि ।

स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशः पातवंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(वातात्) पवन से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (विद्युतः) बिजुली से, और (ज्योतिषः) सूर्य से, (परि) ऊपर (जातः) प्रकट होने वाला, (सः) दुःख नाशक ईश्वर (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (कृशः) सूक्ष्म रचना करने वाला, (शङ्खः) सबों का विवेचन करने वाला वा देखने वाला, वा शान्ति देने वाला परमेश्वर (नः) हमको (अंहसः) रोगजनक दुष्कर्म से (पातु) बचावे ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर संसार के सब सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों का रचने वाला और हमारे गुप्त प्रकट कर्मों का देखने और विचारने वाला है, उसका सदा ध्यान करके हम दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्म करते रहें ॥१॥

यो अग्रतो रौचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।

शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षंहामहे ॥२॥

भाषार्थः (यः=यः त्वम्) जो तू (रौचनानाम्) प्रकाशमान लोकों के (अग्रतः) आगे और (समुद्रात्) जल समूह समुद्र से भी (अधि) ऊपर [देश और काल में] (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, [उस तुझ] (शङ्खेन) सबों के विवेचन करने वाले, वा देखने वाले, वा शान्ति देने वाले, परमेश्वर [के आश्रय] से (रक्षांसि) जिनसे रक्षा की जावे उन राक्षसों को (हत्वा) मारकर (अत्रिणः) पेटाधियों को (वि) विविध प्रकार से (सहामहे) हम दबाते हैं ॥२॥

भाषार्थः—सर्वदा सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर की महिमा और उपकारों को विचारकर, हम लोग कुव्यवहार से बचकर पुरुषार्थ के साथ आनन्द भोगें ॥२॥

शङ्खेनामीवाममति शङ्खेनोत सदान्वाः ।

शङ्खो नो विश्वमेषजः कृशः पातवंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(शङ्खेन) सबों के विचार करने वाले परमेश्वर से (अमीवाम्) अपनी पीड़ा और (अमतिम्) कुमति को (उत) और भी (शङ्खेन) सबों के देखने वाले परमेश्वर से (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, यद्वा, दानवों, दुष्टों के साथ रहने वाली निर्धनता आदि विपत्तियों को [विषहामहे म० २] [हम दबाते हैं म० २] । (शङ्खः) शान्ति देने वाला, (विश्वमेधजः) सब भय का जीतने वाला, (कृशानः) सूक्ष्म रचना करने वाला परमात्मा (नः) हमको (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य जगदीश्वर के सर्वोपकारक गुणों को विचारता हुआ प्रयत्न करके दुष्कर्मों से अपनी रक्षा करे ॥३॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्माभृतः ।

स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्रतरणो मणिः ॥४॥

भाषार्थः—(दिवि) सूर्यमण्डल में (जातः) प्रकट, (समुद्रजः) अन्तरिक्ष में प्रकट, (सिन्धुतः) पार्थिव समुद्र से (परि) ऊपर (आमृतः) सर्वथा पुष्टि को प्राप्त, (सः) दुःखनाशक, (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला (शङ्खः) शान्तिकारक, (मणिः) प्रशंसा योग्य परमेश्वर (नः) हमारा (आयुष्रतरणः) जीवन बढ़ाने वाला है ॥४॥

भाषार्थः—परमात्मा सबके ऊपर, नीचे, मध्य में विराजमान होकर अपनी न्यायव्यवस्था से हमारे उत्तम कर्मों के अनुसार हमें उत्तम फल देता है ॥४॥

समुद्राज्जातो मणिवृत्राज्जानो दिवाकरः ।

सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥५॥

भाषार्थः—(वृत्रात्) दकने वाले मेघ से (जातः) प्रकट हुए (दिवाकरः) सूर्य [के समान] (समुद्रात्) अन्तरिक्ष से (जातः) प्रकट हुआ, (मणिः) प्रशंसा योग्य (सः) दुःखनाशक, विष्णु (अस्मान्) हमको (सर्वतः) सब ओर से (हेत्या) अपने वज्र द्वारा (देवासुरेभ्यः) देवताओं के गिराने वाले शत्रुओं से (पातु) बचावे ॥५॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य मेघमंडल से निकल कर देदीप्यमान होता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तरिक्षस्थ प्रत्येक पदार्थ से विज्ञानियों को प्रकाशमान दीखता है । वह जगदीश्वर दुष्टों को दण्ड और शिष्टों को आनन्द देता है ॥५॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।

रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्रण आयूषि तारिषत् ॥६॥

भाषार्थः—(हिरण्यानाम्, सूर्यादि तेजों के बीच तू (एकः) एक (असि) है, (त्वम्) तू सोमात्) सूर्य लोक से (अधि) ऊपर (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, (त्वम्) तू (रथे) रथ में (दर्शतः) दृश्यमान और (त्वम्) तू (इषुधौ) तूणीर में (रोचनः) प्रकाशमान (असि) है । [आप] (नः) हमारे (आयूषि) जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावें ॥६॥

भाषार्थः—अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्यादि लोकों से काल और विस्तार में बड़ा है, वही रथारूढ़ और बाणधारी शूर को रणक्षेत्र में बल देता है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम अपना जीवन धार्मिक बनाकर आनन्द भोगें ॥६॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व १'न्तः । तत् ते बध्नाभ्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभिरक्षतु ॥७॥

भाषार्थः—(कृशनम्) सूक्ष्म रचना करने वाला ब्रह्म (देवानाम्) दिव्य गुणों और प्रकाशमान पदार्थों का (अस्थि) प्रकाशक (बभूव) हुआ था । (तत्) विस्तृत ब्रह्म (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर [ठहरे हुए] (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत् में (चरति) विचरता है । [हे प्राणी !] (तत्) उस ब्रह्म को (ते) तेरें (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) तेज वा यश के लिये (बलाय) बल के लिये, और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये [अन्तः करण के भीतर] (बध्नामि) मैं बांधता हूँ । (कार्शनः) अनेक सुवर्णादि धनों और तेजों वाला परमेश्वर (त्वा) तुझको (अभि) सब प्रकार (रक्षतु) पाले ॥७॥

भाषार्थः—विश्वकर्मा ब्रह्म ने बुद्धि आदि गुण और मनुष्य शरीर आदि दिव्य पदार्थ रचे हैं, वही सबमें रम कर जीवन शक्ति दे रहा है, उसी को मनुष्य हृदय में धारण करके पुरुषार्थ के साथ यशस्वी होकर आनन्द भोगें ॥७॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—१२ ॥ अनङ्वान् देवता ॥ १—६ त्रिष्टुप्, ७ षट्पदा त्रिष्टुप्,
८ १२ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्या पुरुषार्थश्चोपदिश्येते । ब्रह्मविद्या और पुरुषार्थ का उपदेश ॥

अनङ्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनङ्वान् दाधारोर्व १'न्तरिक्षम् ।

अनङ्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनङ्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥१॥

भाषार्थः—(अनङ्वान्) प्राणी जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया था । (अनङ्वान्) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर ने (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक वा आकाश को (दाधार) धारण किया था । (अनङ्वान्) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर ने (षट्) पूर्वादि, नीचे और उपकारी छह (उर्वीः) चौड़ी (प्रदिशः) महादिशाओं को (दाधार) धारण किया था । (अनङ्वान्) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर ने (विश्वं भुवनम्) सब जगत् में (आ विवेश) सब प्रकार प्रवेश किया था ॥१॥

भाषार्थः—पुनरुक्ति निश्चय द्योतक है, अर्थात् एक परमात्मा ही सब जीवन साधन देकर सब पदार्थों को रचता है । सब मनुष्य भक्तिपूर्वक उसकी अपार महिमा को विचार कर सदा पुरुषार्थ करें ॥१॥

अनङ्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो विमिमीते अध्वनः ।

भूतं भविष्यद् भुवना दृहानः सर्वा देवानां चरन्ति व्रतानि ॥२॥

भाषार्थः—(सः) वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (अनङ्वान्) प्राण और जीविका पहुँचाने वाला परमेश्वर (पशुभ्यः) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों के लिए (वि) विविध प्रकार से (चष्टे) देखता है (शक्रः) वह समर्थ परमात्मा (त्रयान्) तीन अवयव [भूमि सूर्य और अन्तरिक्ष] वाले (अध्वनः) मार्गों को (वि) विशेष करके (मिमीते) नापता है । (भूतम्) भूल, (भविष्यत्) भविष्यत् और (भुवनाः) ०—नि) लोकों वा वर्त्तमान वस्तुओं को (दृहानः) परिपूर्ण करता हुआ वह (देवानाम्) इन्द्रियों के (सर्वा व्रतानि) सब कामों को (चरन्ति) सिद्ध करता है ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वर संसार के कर्मों का साक्षी होकर तीनों लोकों और तीनों कालों की सुधि रखता, और देखना आदि सब काम करता है ॥२॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्धर्मस्तत्तश्चरति शोशुचानः ।

सुप्रजाः सन्तस् उदारे न सर्पद् यो नास्नीयादन्डुहो विजानन् ॥३॥

भावार्थः—(तप्तः) तपते हुए (धर्मः) सूर्य के समान (शोशुचानः) अत्यन्त प्रकाशमान (इन्द्रः) परमेश्वर (मनुष्येषु अन्तः) मननशील मनुष्यों के भीतर (जातः) प्रकट होकर (चरति) विचरता है । (यः) जो पुरुष (अनडुहः) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर का (न विजानन्) विज्ञान न रखता हुआ (अस्नीयात्) भोजन करे, (सः) वह (सन्) विद्यमान पुरुष (उदारे) बड़े पद पर वर्तमान (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा गणों को (न सर्पत्) न पावे ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा मनुष्यादि प्राणियों में निःसन्देह प्रकाशमान है, जो अज्ञानी पुरुष उसकी महिमा को नहीं जानता, वह दुष्ट आप, और उसके साथी प्रजा गण महा दुःख भोगते हैं ॥३॥

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।

पर्जन्यो धारां मुक्त ऊर्धो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥४॥

भावार्थः—(अनड्वान्) प्राण वा जीविका पहुँचाने वाला परमेश्वर (सुकृतस्य) पुण्य के (लोके) स्थान में (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है, (पवमानः) शुद्ध करने वाला परमात्मा (पुरस्तात्) पहिले से ही (एनम्) इस [जीव] को (आ प्याययति) सब प्रकार बढ़ाता है । (अस्य) इस [परमेश्वर] की (धाराः) धारण शक्तियाँ (पर्जन्यः) मेघ [के समान] हैं और (ऊर्धः) वहन वा ले चलने का सामर्थ्य (मरुतः) पवन [के समान] है, (अस्य) इस की (यज्ञः) संगति क्रिया (पयः) दूध [के समान] है, और (दक्षिणा) दान शक्ति (दोहः) दोहनी [के समान] है ॥४॥

भावार्थः—वह जगदीश्वर पुण्यात्माओं की इच्छा पूर्ण करता है, और सृष्टि की आदि में वेद देकर सबकी वृद्धि करता है, और जैसे मेघ, वायु आदि पदार्थ उपकारी हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा मेघ, पवन आदिकों का धारण करने वाला आदिमूल है ॥४॥

यस्य नेशं यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता ।

यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा धर्म नो ब्रूत यत्तमश्चतुष्पात् ॥५॥

भाषार्थः—(न) न तो (यज्ञपतिः) संगतिकर्ता पुरुष, और (न) न(यज्ञः) संगतिकर्म (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (ईशे—ईष्टे) ईश्वर है, (न) न तो (दाता) दाता (न) न (प्रतिग्रहीता) ग्रहणकर्ता (अस्य) इस का (ईशे) ईश्वर है, (यः) जो (विश्वजिद्) सबका जीतने वाला, (विश्वभृद्) सबका पोषण करने वाला, (विश्वकर्मा) सब काम करने वाला, और (यत्तमः) जौन सा (चतुष्पात्) चारों दिशाओं में स्थित वा गति वाला है, (धर्मम्) उस प्रकाशमान सूर्यसदृश परमात्मा को (नः) हमें, [हे ऋषियो !] (ब्रूत) बताओ ॥५॥

भाषार्थः—उस परमात्मा का शासक कोई अन्य नहीं है, वह सर्वशक्तिमान्, सर्वरक्षक, सर्वव्यापक, प्रकाशस्वरूप है। उसकी उगासना और अन्वेषणा से सब अनुष्य अपनी उन्नति करें ॥५॥

येन देवाःस्व राखुर्द्दृष्ट्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।

तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य ब्रतेन तपसा यशस्यवः ॥६॥

भाषार्थः—(येन) जिस [परमात्मा] के द्वारा (देवाः) व्यवहारकुशल पुरुष (शरीरम्) नाशमान शरीर [देह अभिमान] (हिप्वा) छोड़ कर (अमृतस्य) अमरपन के (नाभिम्) केन्द्र (स्वः) स्वर्ग को (आखुर्द्दृष्ट्वा) चढ़े थे। (तेन) उसी [ईश्वर] के सहारे से (यशस्यवः) यश चाहने वाले हम लोग (धर्मस्य) दीप्यमान सूर्य के [समान] (ब्रतेन) कर्म और (तपसा) सामर्थ्य से (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक [परमात्मा] को (गेष्म) खोजें ॥६॥

भाषार्थः—जैसे पूर्वज महात्मा परमात्मा की भक्ति से मोक्ष मुक्त पाकर अमर अर्थात् कीर्तिमान हुए हैं, उसी प्रकार हम परमेश्वर की आज्ञा पाल कर संसार में उपकार करके यशस्वी होंगे, जैसे सूर्य अपने तेज से वृष्टि दान और आकर्षण आदि करके लोक का उपकार करता है ॥६॥

इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् । विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतान्दुह्यक्रमत । सौदह्यत सौभारयत् ॥७॥

भाषार्थः—(प्रजापतिः) उत्पन्न पदार्थों का रक्षक, (परमेष्ठी) ऊँचे स्थान पर ठहरने वाला, (विराट्) विशेष प्रकाशमान, (अग्निः) व्यापक वा अग्निरूप (इन्द्रः)

सूर्य (रूपेण) अपने रूप से और (वहेन) चलाने के सामर्थ्य से (विश्वानरे) सबके नायक परमात्मा में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ, (वैश्वानरे) सब नायकों के हितकारी परमेश्वर में (अक्रमत) प्राप्त हुआ, (अनडुहि) जीवन पहुँचाने वाले जगदीश्वर में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ है। (सः) उस [जगदीश्वर] ने [सूर्य को] (अदृह्यत) दृढ़ किया और (सः) उसने ही (अधारयत) धारण किया है ॥७॥

भाषार्थः—सूर्य अर्थात् सूर्य आदि बड़े बड़े लोक अपने आकर्षण आदि शक्तियों के साथ सर्वनियन्ता जगदीश्वर में स्थित हैं, वही उनका धारण पोषण करता है। उसी की उपासना हम सदा करें ॥७॥

मध्यमेतदनुडुहो यत्रैव वह आहितः ।

एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ।८॥

भाषार्थः (अनडुहः) जीविका पहुँचाने वाले परमात्मा का (एतत्) यह [स्थान वा काल] (मध्यम्) मध्य है (यत्र) जहाँ (एषः) यह (वहः) [आकर्षित] भार (आहितः) धरा हुआ है। (अस्य) सर्वव्यापक वा सर्वरक्षक विष्णु का (एतावत्) उतना ही (प्राचीनम्) प्राचीन काल वा देश है, (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) आगामी काल वा देश (समाहितः) सिद्ध है ॥८॥

भाषार्थः—परमेश्वर की सर्वव्यापकता और नित्यता को विचार कर मनुष्य सावधानी से प्रयत्न करता रहे ॥८॥

यो वेदानुडुहो दोहान्तस्पतानुपदस्वतः ।

प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥९॥

भाषार्थः—(यः) जो कोई (अनडुहः) जीवन पहुँचाने वाले परमेश्वर के (दोहान्) पूति के प्रवाहों को (स्पत) नित्य संबन्ध वाले और (अनुपदस्वतः) अक्षय (वेद्य) जानता है, वह (प्रजाम्) प्रजा (च) और (लोकम्) लोक (च, भी) (आप्नोति) पाता है, तथा) ऐसा (सप्तऋषयः) सात व्यापनशील वा दर्शनशील, [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आँख और मुख यह सात छिद्र] (विदुः) जानते हैं [प्रत्यक्ष करते हैं] ॥९॥

भाषार्थः—विज्ञानी पुरुष जीवनदाता परमेश्वर के सर्वव्यापी और अनन्त कोश को अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा साक्षात् करके अपना आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाते हैं ॥९॥

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घामिरुत्खिदन् ।

श्रमेणान्द्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥१०॥

भाषार्थः—(कीनाशः) निन्दित कर्म का नाश करने वाला (अनद्वान्) जीवन पहुँचाने वाला परमेश्वर, (श्रमेण) परिश्रम से (अभिगच्छतः) चलते फिरते पुरुष के (सेदिम्) विषाद को (पद्भिः) अपनी स्थितियों से (अवक्रामन्) दबाता हुआ, (च, और (जङ्घामिः) अपनी अत्यन्त व्याप्तियों से [उसके] (कीलालम्) बन्ध के निवारण, अर्थात् (इराम्) अन्न को (उत् खिदन्) उत्पन्न करता हुआ [वर्तमान है] ॥१०॥

भाषार्थः—उद्योगी पुरुष सब स्थानों में परमेश्वर रचित पदार्थों से अन्नादि प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥१०॥

द्वादश वा एता राज्ञीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।

तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अननुहो व्रतम् ॥११॥

भाषार्थः—(द्वादश) बारह (एताः) प्राप्ति योग्य (राज्ञीः) विषय ग्रहण करने वाली और विज्ञान देने वाली मन बुद्धि सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को (प्रजापतेः) प्रजापालक परमात्मा के (व्रत्याः) व्रतयोग्य (वै) निश्चय करके [वे विज्ञानी] (आहुः) बताते हैं । (तत्र) उन [मन बुद्धि सहित इन्द्रियों] में (यः) गतिशील पुरुषार्थी पुरुष (अननुहः) जीवन पहुँचाने वाले परमेश्वर के (तत्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद विज्ञान और (व्रतम्) व्रत को (वै) निश्चय करके (उप) आदर से (वेद) जानता है ॥११॥

भाषार्थः—मन बुद्धि और इन्द्रियों से योगी पुरुषार्थी लोग परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव को जान कर संसार में उन्नति करते हैं ॥११॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यं दिनं परि ।

दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानु पदस्वतः ॥१२॥

भाषार्थः—वह [परमेश्वर] (सायम्) सायंकाल में (परि) सब ओर से (दुहे=दुधे) पूर्ण करता है । (प्रातः) प्रातः काल (दुहे) पूर्ण करता है । (मध्यंदिनम्) मध्याह्न में (दुहे) पूर्ण करता है । (अस्य) सर्वव्यापक वा सर्वरक्षक विष्णु के (ये) जो (दोहाः) पूति प्रवाह (संयन्ति) बटुरते रहते हैं । (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अक्षय (विद्य) हम जानते हैं ॥१२॥

भावार्थः—परमेश्वर का सदा अक्षय भण्डार है। ऐसा जानकर मनुष्य विज्ञानपूर्वक आगे बढ़ता रहे ॥१२॥

सूक्तम् १२ ॥

१—७ ॥ धाता वेवता । १ गायत्री, २—५ अनुष्टुप्, ६ पदपङ्क्तिः, ७ बृहती छन्दः ॥

स्वदोषनिवारणायोपदेशः—अपने दोष मिटाने का उपदेश ॥

रोह॑ण्य॒सि रोह॑ण्य॒स्थन्नि॒च्छि॒न्नस्य॒ रोह॑णी ।

रोह॑ये॒दम॑रु॒न्धति ॥१॥

भाषार्थः—[हे मानुषी प्रजा तू] (छिन्नस्य) टूटी (अस्थन्ः) हड्डी की (रोहणी) पूरने वाली (रोहणी) रोहिणी वा लाक्षा [के समान] (रोहणी) पूरने वाली शक्ति (असि) है। (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति तू ! (इदम्) ऐश्वर्य (रोह्य) सम्पूर्ण कर ॥१॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष विज्ञानपूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को मिटाने जैसे सर्वेश्वर रोहिणी वा लाक्षा [लाख वा लाख] आदि ओषधि से रोगों को निवृत्त करता है ॥१॥

सायण भाष्य में (रोहणी) पद के स्थान में [रोहिणी] मानकर “लाक्षा” अर्थ किया है ॥

यत् ते रि॑ष्टं यत् ते क्षु॑त्तमस्ति पे॑ष्टं त आ॒त्मनि॑ ।

धा॒ता तद् भ॒द्रया पुनः॑ सं द॑धत् पर॒षा परः॑ ॥२॥

भाषार्थः—[है मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा (रिष्टम्) टूटा हुआ और (यत्) जो (ते) तेरा (क्षुत्तम्) जलता हुआ, और जो (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पेष्टम्) पिसा हुआ (अस्ति) है। (धाता) पोषण करने वाला वैद्य (भद्रया) कल्याण करने वाली श्रिया से (तत् परः) उस जोड़ को (परषा) दूसरे जोड़ से (पुनः) फिर (सं दधत्) सन्धि कर देवे ॥२॥

भावार्थः—विचारवान् पुरुष आप ही अपने दोषों का वैद्य होता है ॥२॥

सं ते म॒ज्जा म॒ज्जा भ॑वतु॒ समुं ते॒ पर॒षा परः॑ ।

सं ते म॒ांसस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॑स्थ्यपि रोह॒तु ॥३॥

भाषार्थः—[हे विद्वान्] (ते) तेरे (मज्जा) हाड़ की मींग (मज्जा) हाड़ की मींग से (संभवत्) मिल जावे (उ) और (ते परः) तेरा जोड़ (परुषा) जोड़ से (सम् = संभवत्) मिल जावे। (ते) तेरे (मांसस्य) मांस का (विस्त्रस्तम्) हटा हुआ अंग (सम् = सं रोहतु) जुड़ जावे, और (अस्थि) हाड़ (अपि) भी (संरोहतु) जुड़ कर ठीक हो जावे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने चंचल मन को ज्ञान प्राप्ति में ऐसा जोड़ दे जैसे वैद्य विचलित श्रवणों को जोड़ देता है ॥३॥

मज्जा मज्जा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।

अमृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥४॥

भाषार्थः—(मज्जा) हाड़ की मींग (मज्जा) हाड़ की मींग से (सं धीयताम्) मिल जावे, (चर्म) चाम (चर्मणा) चाम के साथ (रोहतु) जमे जावे। (ते) तेरा (अमृक्) रविर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) जमे, और (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस के साथ (रोहतु) जमे ॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र ३ के समान ॥४॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।

अमृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेहोषधे ॥५॥

भाषार्थः—(ओषधे) हे वाप नाशक ओषधि [के समान मनुष्य !] (लोम) रोम को (लोम्ना) रोम के साथ (संकल्पय) जमा दे, (त्वचम्) त्वचा को (त्वचा) त्वचा के साथ (संकल्पय) जोड़ दे, (ते) तेरा (अमृक्) रविर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) जमे, (छिन्नम्) टूटा अंग भी (संधेहि) अच्छे प्रकार मिला दे ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर विचार से अपने दोषों की चिकित्सा करे जैसे वैद्य ओषधि करते हैं ॥५॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः ।

प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥६॥

भाषार्थः—(सः = स त्वम्) सो तू (उत्तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) आगे बढ़, (सुचक्रः) सुन्दर पहिये वाले, (सुपविः) दुढ़ नेमि वा पुट्टी वाले, (सुनाभिः) सुन्दर मध्य छिद्र वाले (रथः) रथ [के समान] (प्र द्रव) वेग से चल और (ऊर्ध्वः) ऊँचा होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त करे जैसे उत्तम शिल्पी का बनाया हुआ सुदृढ़ रथ अन्य रथों से आगे निकल जाता है ॥६॥

यदि कर्त पतित्वा संश्रे यदि वाश्मा महतो जघान ।

ऋभु रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥७॥

भाषार्थः—(यदि) यदि (कर्तम्) कटारी आदि हथियार ने (पतित्वा) गिर कर (संश्रे) काट दिया है, (यदि वा) अथवा (प्रहृतः) फेंके हुए (अश्मा) पत्थर ने (जघान) चोट लगाई है । (ऋभुः) बुद्धिमान् पुरुष (रथस्य अङ्गानि इव) रथ के अंगों के समान (परुः) एक जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (सं दधत्) मिला देवे ॥७॥

भाषार्थः—बुद्धिमान् पुरुष अपने विचलित मन को इस प्रकार ठीक करे, जैसे चिकित्सक चोट को, और शिल्पी टूटे रथ को फिर जोड़कर सुधार लेते हैं ॥८॥

सूक्तम् १३ ॥

१—७ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) हे व्यवहारकुशल (देवाः) विद्वान् लोगो । (अवहितम्) अधोगत पुरुष को (उत) अवश्य (पुनः) फिर (उन्नयथ) तुम उठाते हो (उत) और भी, (देवाः) हे दानशील (देवाः) महात्माओ ! (आगः) अपराध (चक्रुषम्) करने वाले प्राणी को (पुनः) फिर (जीवयथ) तुम जिलाते हो ॥१॥

भाषार्थः—महात्मा लोग स्वभाव से ही अधोगत पुरुषों को ऊँचा करते और मृतक समान अपराधियों को पाप से छुड़ा कर उनका जीवन सुफल कराते हैं । मनुष्य सत्पुरुषों के सत्संग से अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को त्याग कर जीवन सुधारे ॥१॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५, ७ ऋग्वेद १० । १३७ के म० १—५, ७ कुछ भेद से हैं ।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।

दक्षं ते अन्य आवातु व्यश्न्यो वातु यद् रपः ॥२॥

भाषार्थः—(इमौ) यह (द्वौ) दोनों (वातौ) पवन, अर्थात् प्राण और अपान वायु (आसिन्धोः) बहने वाले इन्द्रियदेश तक और (आ परावतः) बाहिर दूर स्थान तक (वातः) चलते रहते हैं । (अन्यः) एक [प्राण वायु] (ते) तेरा (दक्षम्) वृद्धि करने वाले बल को (आवातु) वह कर लावे और (अन्यः) दूसरा [अपान वायु] (यत् रपः) जो दोष है उसे (विवातु) बह कर निकाल देवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य शुद्ध स्थान में शुद्ध वायु के सेवन से प्राण वायु के सञ्चार द्वारा शरीर का बल बढ़ाकर और अपान से पसीना आदि मल दोष नाश करके स्वस्थ रहें ॥२॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।

त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥३॥

भाषार्थः—(वात) हे वायु (भेषजम्) स्वास्थ्य को (आ वाहि) वह कर ला और, (वात) हे वायु (यत् रपः = यत् रपः तत्) जो दोष है उसे (विवाहि) बह कर निकाल दे (हि) क्योंकि (विश्वभेषज) हे सर्वरोगनाशक वायु ! (त्वम्) तू (देवानाम्) इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच (दूतः) चलने वाला वा दूत [समान सन्देश पहुँचाने वाला] होकर (ईयसे) फिरता रहता है ॥३॥

भाषार्थः—वायु के संचार से शरीर का मल निकलकर स्वास्थ्य मिलता है और तार, विमान, ताप, वृष्टि आदि का संचार होता है ॥३॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।

त्रायन्तां विश्वां भूतानि यथायमरूपा असत् ॥४॥

भाषार्थः—(देवाः) इन्द्रियां (इमम्) - इस [जीव] को (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, और (मरुताम्) पवनों [श्वास प्रश्वासों] के (गणाः) प्रवाह (त्रायन्ताम्) रक्षा करें । और (विश्वा = ०—नि) सब (भूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, पांच तत्त्व (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (यथा) जिससे (अयम्) यह [प्राणी] (अरूपाः) दोष रहित (असत्) रहे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य इन्द्रियों के शोधन और श्वास प्रश्वास के यथावत् प्राणायाम से पंच भूतों को सम रख कर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥४॥

आ त्वांगमं शंतांतिभिरथो अरिष्टतांतिभिः ।

दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझको (शंतांतिभिः) शान्तिदायक कर्मों से (अथो) और भी (अरिष्टतांतिभिः) अहिंसाकारक कर्मों से (आगमम्) मैं प्राप्त हुआ हूँ । (ते) तेरे लिये (उग्रम्) उग्र (यक्षम्) वृद्धिकारक बल (आ अभारिषम्) मैं लाया हूँ, [उससे] (ते) तेरे (यक्षम्) महारोग को (परा सुवामि) दूर हटाता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य इवास प्रदवास और पंच भूतों की यथावत् समता और ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों द्वारा दुष्कर्मों से बच कर बलवान् धनवान् और तीरोग होवे ॥५॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिर्मर्शनः ॥६॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (मे) मेरा (हस्तः) [बायाँ] हाथ (भगवान्) भाग्यवान् है, और (अयम्) यह (मे) मेरा [दायाँ हाथ] (भगवत्तरः) अधिक भाग्यवान् है । (अयम्) यह (मे) मेरा [हाथ] (विश्वभेषजः) सर्वरोगनाशक, और (अयम्) यह (शिवाभिर्मर्शनः) छूने में मंगलदायक है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य इवास प्रदवास और पंच भूतों के परिज्ञान से स्पर्श द्वारा रोगों का निदान करके शरीर को रोग रहित और पुष्ट करे ॥६॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६० । म० १२ ।

हस्ताभ्यां दक्षशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।

अनामपित्तुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥७॥

भाषार्थः—(दक्षशाखाभ्याम्) दक्ष शाखा वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के द्वारा (जिह्वा) जिह्वा (वाचः) वाणी की (पुरोगवी) आगे ले चलने वाली है । (ताभ्याम्) उन (अनामपित्तुभ्याम्) आरोग्य देने वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (त्वा) तुझको (अभि मृशामसि) हम छूते हैं ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य प्राण अपान और पंच भूत परीक्षा द्वारा दस अंगुलियों से दस इन्द्रियों और दस दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करके दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति करें ॥७॥

सूक्तम् १४ ॥

१-६ ॥ अग्निदेवता ॥ १, ५-७ त्रिष्टुप् । २, ४, अनुष्टुप् । ३ प्रस्तार-
पङ्क्तिः । ८ पञ्चपदा जगती, ६ जगती ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

अजो ह्य॑ १ ग्नेरजनिष्ट॑ शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रं ।

तेन॑ दे॒वा दे॒वता॑मग्रं आयन् तेन॑ रोहान् रुरुदुर्मेध्यासः ॥१॥

भाषार्थः—(अजः) अजन्मा, वा गतिशील अज अर्थात् जीवात्मा (शोकात्) दीप्यमान (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि अर्थात् परमेश्वर से (हि) ही (अजनिष्ट) प्रकट हुआ । (सः) उस [जीवात्मा] ने (अग्रे) पहिले से वर्तमान (जनितारम्) अपने जनक [परमात्मा] को (अपश्यत्) देखा । (तेन) उस [ज्ञान] से (देवाः) देवताओं ने (अग्रे) पहिले ऋण में (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया, (तेन) उससे ही (मेध्यासः) मेधावी वा पवित्रस्वभाव पुरुष (रोहान्) चढ़ने योग्य पदों पर (रुरुदुः) चढ़े ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य आदि पिता जगदीश्वर से अपना शरीर और सामर्थ्य पाकर अपने जन्म और वंश का गौरव बढ़ाते हैं, जैसे पूर्वज महात्माओं ने परमात्मा की महिमा पहचान कर माक्ष आदि उच्च पद पाये हैं ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १३ । ५१ में है ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु विभ्रतः ।

दिवस्पृष्टं स्वर्गत्वा मिथ्रा देवेभिराध्वम् ॥२॥

भाषार्थः—[हे वीरो !] (उष्यान्) पके हुए आहारों को (हस्तेषु) हाथों में (विभ्रतः) भरे हुए तुम (अग्निना) अग्नि अर्थात् परमेश्वर के सहारे से [अथवा अपने शरीर की उष्णता वा बल से] (नाकम्) पूर्ण मुख (क्रमध्वम्) पराक्रम से प्राप्त करो । और (देवेभिः) विद्वानों के साथ (मिथ्राः) मिलते हुए तुम (दिवः) व्यवहार के (स्पृष्टम्) सींचने वा बढ़ाने वाले अथवा पीठ के समान सहायक (स्वः) मुखस्वरूप परमात्मा को (गत्वा) प्राप्त होकर (आध्वम्) बैठो ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की अपार सृष्टि में पुरुषार्थ पूर्वक परोपकार के लिये अन्न प्राप्त करें और विद्वानों से व्यवहार शिक्षा पाकर आनन्द भोगें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से य० १७ । ६५ में है ॥

पृष्ठात् पृथिव्याः अहमन्तरिक्षं मारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वं १ ज्योतिरगामहम् ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक, आकाश को (आ अरुहम्) चढ़ गया (अन्तरिक्षात्) आकाश लोक से (दिवम्) सूर्य लोक को (आ अरुहम्) मैं चढ़ गया । (नाकस्य) मुख देने हारे (दिवः) प्रकाशमान सूर्य लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैंने (स्वः) मुख स्वरूप और (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप परमात्मा को (अगाम्) प्राप्त किया ॥३॥

भाषार्थः—योगी पुरुष विद्याभ्यास और योगाभ्यास से पृथिवी, अन्तरिक्ष और सूर्यलोक में खोजता हुआ तुरीय अर्थात् इन तीनों से चौथे आनन्दधन, ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाता है ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० १७।६७ में है ॥

स्वं १ र्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥४॥

भाषार्थः—(ये) जो (सुविद्वांसः) बड़े विद्वान् योगी जन (द्याम्) अन्तरिक्ष और (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक तक (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, और जिन्होंने (विश्वतोधारम्) सब प्रकार से धारण शक्ति वाले (यज्ञम्) देव अर्थात् ब्रह्म के पूजन को (वितेनिरे) फैलाया है, वे ही योगी पुरुष (यन्तः न) चलते फिरते उद्योगी पुरुषों के समान (स्वः) मुखस्वरूप परब्रह्म को (अपेक्षन्ते) हृदय से चाहते हैं ॥४॥

भाषार्थः—जो विद्वान् योगी जन संसार के सब पदार्थों के विज्ञानी होकर परमात्मा की महिमा को विचारते हैं, वे ही उससे प्रीति करके आत्मबल पाकर यशस्वी होते हैं ॥४॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—य० य० १७ म० ६५ ॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।

इयंक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥५॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (प्रेहि) प्राप्त हो, तू (देवता-

नाम्) सब विद्वानों में (प्रथमः) पहिला और (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों का (उत्त) और भी (मानुषाणाम्) मनुष्य जातियों का (चक्षुः) नेत्र [के समान देखने वाला] है। (इयक्षमाणाः) संगति चाहने वाले (मृगुभिः) परिपक्व विज्ञानी वेदज्ञ ब्राह्मणों के साथ (सजोषाः) एक सी प्रीति करते हुए, (यजमानाः) दानशील यजमान लोग (स्वः) सुखस्वरूप परब्रह्म और (स्वस्ति) कल्याण को (यन्तु) प्राप्त होवें ॥१॥

भाषार्थः—परमात्मा सबका आदि गुरु है वही सबका साक्षी और नियन्ता है, पुरुषार्थी सदाचारी पुरुष विज्ञानी महात्माओं के सत्संग से ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति करके परमगति प्राप्त करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ६६ ॥

अजमनजिम पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।

तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ।६॥

भाषार्थः—(दिव्यम्) दिव्य गुण वाले, (सुपर्णम्) बड़े पूर्ण शुभ लक्षण वाले (पयसम्) गतिमान् वा उद्योगी (बृहन्तम्) बड़े बली (अजम्) जीवात्मा को (घृतेन) प्रकाशमान (पयसा) ज्ञान से (अनजिम) मैं [मनुष्य] संयुक्त करता हूँ। (तेन) उस [ज्ञान] से (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) दुःख रहित (स्वः) सुखस्वरूप परब्रह्म को (अभि—अभिलक्ष्य) लक्ष कर (आरोहन्तः) चढ़ते हुए हम (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य लोक को (गेष्म) खोजें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा की दी हुई अदभुत शक्तियों से अपना ज्ञान बढ़ावे और उस आनन्दस्वरूप जगत्पति की अनन्त महिमा को खोजता हुआ निरन्तर उन्नति करके मोक्ष पद प्राप्त करे ॥६॥

पञ्चौदनं पञ्चभिर्द्भुलिभिर्द्वयोद्धर पञ्चधैतमौदनम् । प्राच्यां

दिशि शिरौ अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥७॥

भाषार्थः—(एतम्) इस (पञ्चधा) पांच प्रकार पर (पञ्चौदनम्) पांच भूतों से सींचे हुए (ओवनम्) वृद्धि करने वाले आत्मा को (पञ्चभिः) विस्तृत (अद्भु-लिभिः) चेष्टाओं के साथ (द्वयोः) विदारण वा पृथक् करण शक्ति से (उद्धर—उत्-हर) ऊपर ला, (प्राच्याम्) अपने से पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा का (शिरः) शिर (धेहि) धर, (दक्षिणायाम् दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणम्) दाहिने (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर ॥७॥

भाषार्थः—पंच भूत निर्मित स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर वाला आत्मा इन्द्रियों सहित रहता है। योगी विवेक दृष्टि द्वारा आत्मा को स्थूल शरीर से पृथक् करे, और आत्मा के सूक्ष्म अवयवों को मन्त्र ७ व ८ के अनुसार स्थापित करके मन्त्र ९ के अनुसार मोक्षफल प्राप्त करे ॥७॥

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य ध्वेक्षुत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायां दिश्यं जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे
मध्यतो मध्यमस्य ॥८॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (अस्य) इस [जीवात्मा] के (भसदम्) दीप्ति वा कटि भाग को (धेहि) धर, (उत्तरस्याम्) उत्तर वा बाईं (दिशि) दिशा में (उत्तरम्) बायें (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर । (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा की (अनूकम्) रीढ़ को (धेहि) धर, (ध्रुवादाम्) स्थिर (दिशि) दिशा में (अस्य) इसके (पाजस्यम्) बल देने वाले उदर को, और (अन्तरिक्षे) आकाश में (मध्यतः) बीचोंबीच (मध्यम्) मध्य भाग को (धेहि) धर ॥८॥

भाषार्थः—मन्त्र ७ देखो ॥८॥

शृतपञ्च शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पञ्चिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥९॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (विश्वरूपम्) संपूर्ण रूप से (सर्वैः) सब (अङ्गैः) अंगों के साथ (संभृतम्) भले प्रकार पुष्ट और (शृतम्) परिपक्व [बढ़ जानी] (अजम्) जीवात्मा को (शृतया) परिपक्व (त्वचा) विस्तृत शक्ति से (प्र) भले प्रकार (ऊर्णुहि) ढक ले । (सः) सो तू (इतः) यहाँ से (उत्तमम्) सर्वोत्तम (नाकम्) मुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि—अभिलक्ष्य) लक्षकर (उत् तिष्ठ) उठ, और (चतुर्भिः पङ्क्तिः) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थों के सहित (दिक्षु) सब दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥९॥

भाषार्थः—मनुष्य उपरोक्त रीति से पंच भूत और जीवात्मा के विवेक से पक्का जानी होकर सब प्रकार पुष्ट और परमात्मा में लवलीन होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से संसार भर में प्रतिष्ठावान् होता है ॥९॥

सूक्तम् १५ ॥

१-१६ ॥ पजंय्यो देवता ॥ १-३, -५ जगती, ४, ७, ८, १३-१५ अनुष्टुप्,
६, १०, ११, १६ त्रिष्टुप् ॥ २ जगती ज्योतिष्मती ॥

वृष्टेः प्रार्थना गुणाश्चोपदिश्यन्ते—वृष्टि की प्रार्थना और गुणों का उपदेश ॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।

महृक्पभस्य नदतो नभस्वतो वाश्चा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(नभस्वतीः=०—त्यः) बादल से छापी हुई (प्रदिशः) दिशायें (समुत्पतन्तु) भले प्रकार उदय हों, (वातजूतानि) पवन से चलाये गये (अभ्राणि) जल भरे बादल (संयन्तु) छा जावें । (महृक्पभस्य) बड़े गमन शील (नदतः) गरजते हुए (नभस्वतः) आकाश में छाए [बादल] के (वाश्चाः) घड़ धड़ाती (आपः) जल धारार्यें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥१॥

भावार्थः—पवन द्वारा वर्षा होने से दिशायें निर्मल और पृथिवी अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य उपकारी बनें ॥१॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

भाषार्थः—(तविषाः) विशाल गुण वाले (सुदानवः) बड़े दान करने वाले [मेघ, हमें वृष्टि] (समीक्षयन्तु) दिखावें, (अपाम्) जल के (रसाः) रस (ओषधीभिः) अन्नादि ओषधियों से (सचन्ताम्) एक रस हो जावें । (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) धारार्यें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्वरूपाः) नाना रूप वाली (ओषधयः) चावल, यवादि ओषधें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उत्पन्न होवें ॥२॥

भावार्थः—जैसे मेघों की वर्षा से सब लोग आनन्द पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्वानों के सत्संग से लाभ उठावें ॥२॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगांसः पृथग्द विजन्ताम् ।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरूथो विश्वरूपाः ॥३॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] (गायतः) गान करने वाले लोगों को (नभांसि)

बादलों का (समीक्ष्यस्व) दर्शन करा । (अपाम्) जल के (वेगासः) प्रवाह (पृथक्) नाना प्रकार से (उद् विजन्ताम्) उमड़ कर चले । (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्वरूपाः) नाना रूप (वीरधः) भाड़ लतायें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उपजें ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र २ के समान है । ३॥

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।

सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥४॥

भाषार्थः—(पर्जन्य) हे मेघ ! (घोषिणः) आनन्द ध्वनि करते वाले (मारुताः) ऋत्विज् लोगों के (गणाः) समूह (त्वा) तेरा (पृथक्) नाना प्रकार से (उप) आदर पूर्वक (गायन्तु) गान करें । (वर्षतः) बरसते हुए (वर्षस्य) वृष्टि जल की (सर्गाः) धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥४॥

भाषार्थः—वृष्टि से अन्न आदि यज्ञ के पदार्थ उत्पन्न होते और याजक गण वृष्टि के गुणों को गा गाकर आनन्द मनाते हैं ॥४॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस् देशो अर्को नभ उत् पातयाथ ।

महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्वा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥५॥

भाषार्थः—(मरुतः) हे वायुवेगो ! (अर्कः=अर्कस्य) सूर्य के (स्वेषः=स्वेषेण) प्रकाश द्वारा (नभः) जल को (समुद्रतः) समुद्र से (उदीरयत) उठाओ और (उत् पातयाथ) ऊपर से जाओ । (महऋषभस्य) बड़े गमनशील, (नदतः) गरजते हुए, (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की (वाश्वाः) घड़घड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥५॥

भाषार्थः—जल, पवन और प्रकाश द्वारा पृथिवी से मेघमंडल में चढ़ता और फिर पृथिवी पर बरसकर अनेक पदार्थ उपजाता है, इसी प्रकार सज्जन पुरुष विज्ञान से परिपूर्ण होकर संसार में विद्या फैलाते हैं ॥५॥

अभि क्रन्द स्तनयादयोंदधि भूमिं पर्जन्य पयसा समद्धि ।

त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमांशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ॥६॥

भाषार्थः—(पर्जन्य) हे मेघ ! तू (अभि) सब और (क्रन्द) गड़गड़ कर, (स्तनय) गरज, (उदधिम्) समुद्र को (अदय) हिला दे, (भूमिम्) भूमि को (पयसा)

जल से (सम्भ्रष्टि) भरदे । (स्वया) तुम करके (सृष्टम्) मेजा हुआ (बहुलम्) बहुत पदार्थ लाने वाला, (वर्षम्) वृष्टि जल (ऐतु) आवे, (आशारंघी) शरण चाहने वाला, (कृशगुः) दुबली गौ बैल वाला किसान (अस्तम्) अपने घर (एतु) जावे ॥६॥

भावार्थः—पृथिवी पर वृष्टि होने से अनेक पदार्थ उपजते हैं, तब किसान आनन्दपूर्वक थके दुर्बल पशुओं को चराकर घर ले जाते हैं ॥६॥

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥७॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (सुदानवः) महा दानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) सोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें । (मरुद्भिः) पवन से (प्रच्युताः) चलाये गए (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य मेह के समान परस्पर उपकार करें ॥७॥

आशामाशां वि द्योततां वातां वान्तु दिशोदिशः ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः संयन्तु पृथिवीमनु ॥८॥

भाषार्थः—(वाताः) पवन (विशोदिशः) दिशा दिशा से (द्योतताम्) दीप्यमान (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा को (वि) विविध प्रकार से (वान्तु) चलें । (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गए (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (संयन्तु) उमड़ कर आवें ॥८॥

भावार्थः—जैसे मेह पवन द्वारा एक देश से दूसरे देश में बरसते हैं वैसे ही मनुष्य प्रयत्न करके देश देशान्तरों में वेद विद्या फैलावे ॥८॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥९॥

भाषार्थः—(आपः) जल धारायें, (विद्युत्) बिजुली, (अभ्रम्) जल से भरा मेह (वर्षम्) बरसा और (सुदानवः) महादानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) सोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें । (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गए (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनु) अनुकूल (प्र) भले प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें ॥९॥

भाषार्थः—जैसे जल, बिजुली आदि मिलकर जगत् का उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर मिलकर संसार का सुधार करें ॥६॥

मन्त्र ७ व ८ का मिलान करो ॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिषा बभूव ।

स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि । १०॥

भाषार्थः—(यः) जो (अग्निः) [सूर्य ताप] (अपाम्) जलों के (तनूभिः) विस्तारों से (संविदानः) मिलता हुआ (ओषधीनाम्) चावल, यथादियों का (अधिषाः) विशेष पालन कर्ता (बभूव) हुआ है । (सः) वह (जातवेदाः) घनों का उत्पन्न करने वाला, वा उत्पन्न पदार्थों में सत्ता वाला अग्नि (नः प्रजाभ्यः) हम प्रजाओं के लिये (दिवः) अन्तरिक्ष से (परि) सब और (वर्षम्) बरसा, (प्राणम्) प्राण और (अमृतम्) अमृत [मरण से बचाव का साधन] (वनुताम्) देवे ॥१०॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य जल को खींच लेकर फिर बरसा कर सब प्राणियों का जीवन आधार होता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धन प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥१०॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिर्मदयाति ।

प्रप्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङ्तेन स्तनयित्नुनेहि ॥११॥

भाषार्थः—(प्रजापतिः) प्रजापालक सूर्य (सलिलात्) व्यापक (समुद्रात्) आकाश से (आपः=अपः) जल (आ ईरयन्) भेजता हुआ (उदधिम्) [पान्थिव] समुद्र को (अर्वायाति) दबावे [जल खींचे] । (अश्वस्य) व्यापक (वृष्णः) बरसने वाले मेघ का (रेतां) जल (प्रप्यायताम्) अच्छे प्रकार बड़े । [हे पर्जन्य ! तू] (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) गर्जन के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख (आ इहि) आ ॥११॥

भाषार्थः—मन्त्र १० के समान है ॥११॥

इस मन्त्र का चौथा पाद 'अर्वाङ्तेन' ऋ० ५ । ८३ । ६ का तीसरा पाद है ॥

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गिरा अपां वरुणाव
नीचीरपः सृज । वदन्तु पृथिवीवाहवो मण्डूका इरिणानु ॥१२॥

भाषार्थः—(नः) हमारा (पिता) पालन करने वाला (असुरः) प्राण दाता मेघ(अपः) जल धारायें (निषिञ्चन्) उड़ेलता हुआ [वर्तमान हो] । (अपाम्)

जल के (गर्गराः) गड़गड़ाते हुए गगरे (श्वसन्तु) श्वास लेवें । (वरुण) हे वरुणीय मेघ ! (अपः) जलधाराओं को (नीचीः) नीचे की ओर (अव सृज) छोड़ दे । (पूद्गिनवाहवः) छोटी २ भुजा वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ाने वाले वा डुबकी लगाने वाले मेंढके (इरिणा = इरिणानि) ऊसर भूमियों को (अनु = अनुहाय) छोड़कर (वदन्तु) ध्वनि करें ॥१२॥

भावार्थः— बरसा होने पर जैसे मेंढकों में फिर प्राण आ जाते हैं इसी प्रकार अनेक पदार्थ उगकर आनन्ददायक होते हैं ॥१२॥

इस मन्त्र का पहिला पाद 'अपो' नः' (ऋ० ५।८३।६) का चौथा पाद है ।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यं जिन्वितां प्र मण्डूकां अवादिषुः ॥१३॥

भावार्थः— (संवत्सरम्) बोलने के समय तक (शशयानाः) शयन करने वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ाने वाले वा डुबकी लगाने वाले मेंढके, (व्रतचारिणः) व्रतधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों के समान, (पर्जन्यजिन्विताम्) मेघ से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र) अच्छे प्रकार (अवादिषुः) बोलें ॥१३॥

भावार्थः— जैसे वेदज्ञानी पुरुष वेदों में भौन [मनन] व्रत साधकर सत्य ज्ञान से तृप्त होकर संसार में उपदेश करते हैं, इसी प्रकार मेंढके वृष्टि होने से संतुष्ट होकर बोलते हैं ॥१३॥

यह मन्त्र ऋ० ७ । १०३ । १ में है और निरुक्त ६ । ६ में भी व्याख्यात है ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वंद तादुरि ।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरं पदः ॥१४॥

भावार्थः— (मण्डूकि) हे शोभा बढ़ाने वाली वा डुबकी लगाने वाली मेंढकी! (उप प्रवद, पास आकर बोल, (तादुरि) हे तैरने वाली वा उतने [शरीर जितना] उदरवाली (वर्षम्) वर्षा को (आवद) बुला (ह्रदस्य) पोखर के (मध्ये) बीच में (चतुरः) चारों (पदः) पदों को (विगृह्य) फैला कर (प्लवस्व) तैर ॥१४॥

भावार्थः— जैसे मेंढकी वर्षा होने पर आनन्द से जल के भीतर तैरती फिरती है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या में मग्न होकर विचरते हैं ॥१४॥

यह मन्त्र निरुक्त ६ । ७ में उदाहृत है ॥

खण्खा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि ।

वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥१५॥

भाषार्थः—(खण्खा ३ इ=खण्खाले) हे खनती में लंगड़ाने वाली (खैमखा ३ इ=खैमखे) हे कण्ट में ठहरी हुई (तदुरि=ददुरि) हे [भूमि वा कान] फोड़ने वाली दादुरी ! (मध्ये) [जल के] भीतर वर्तमान ! और (पितरः) हे पालन करने-वाले विद्वान् किसान आदि लोगो ! (वर्षम्) वर्षा का (वनुध्वम्) सेवन करो (मरुताम्) याजकों के (मनः) मन को (इच्छत) चाहो [प्रसन्न करो] ॥१५॥

भाषार्थः—वृष्टि होने से अन्न आदि पदार्थों की उत्पत्ति से सब प्राणी मेंडुकी के समान प्रसन्न होते हैं । और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं ॥१५॥

महान्तं कोशमुदचाभि पिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।

तन्वतां यज्ञं बहूधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु ॥१६॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (महान्तम्) बड़े (कोशम्) धन भण्डार को (उत् अच्) ऊंचा कर, (अभि) सब ओर से (सिञ्च) बरसा दे । (सविद्युतम्) समान विविध प्रकाशित [जगत्] (भवतु) होवे । (वातः) वायु (वातु) [अनुकूल] चले । (बहूधा) अनेक प्रकार से (विसृष्टाः) फैली हुई (आनन्दिनी) चाबल, यव आदि ओषधें (यज्ञम्) यज्ञ को (तन्वताम्) फैलावें, और (आनन्दिनीः=०—प्यः) आनन्द युक्त (भवन्तु) होवें ॥१६॥

भाषार्थः—परमात्मा के अनुग्रह से मनुष्य प्रयत्नपूर्वक धन संवय करें और वायु, वृष्टि आदि से उपकार लेकर यज्ञ अर्थात् अनेक विज्ञान युक्त कर्मों को फैलावें और अन्न आदि पदार्थ को पुष्टिकारक करें ॥१६॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद 'महान्तं'... 'पिञ्च' ऋ० ५ । ८३ । ८ में है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सुक्तम् १६ ॥

१—६ ॥ वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २—६ त्रिष्टुप् ७ जगती, ८, ९ त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

वरुणस्य सर्वव्यापकतोपदिश्यते—वरुण की सर्वव्यापकता का उपदेश ॥

बृहच्चैषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।

यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वे देवा इदं विदुः ॥१॥

भाषार्थः—(एषाम्) इन [लोकों] का (बृहन्) बड़ा (अधिष्ठाता) अधिष्ठाता [वह वरुण] (अन्तिकात् इव) समीप में वर्तमान सा (पश्यति) देखता है, (यः) जो [वरुण] (तायत्) विस्तार वा पालन (चरन्) करता हुआ (सर्वम्) सब जगत् को (मन्यते) जानता है । (देवाः) व्यवहार में कुशल देवता लोग (इदम्) यह बात (विदुः) जानते हैं ॥१॥

भाषार्थः—परमात्मा सर्वनियन्ता, सर्वज्ञाता, सर्वस्रष्टा और सर्व-रक्षक है, इस बात को ऋषि महत्मा साक्षात् करते हैं ॥१॥

यस्तिष्ठन्ति चरन्ति यश्च वञ्चन्ति यो निलायं चरन्ति यः प्रतङ्गम् ।

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेदं वरुणस्तृतीयः ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (तिष्ठति) खड़ा होता है, वा (चरन्ति) चलता है, (च) और (यः) जो पुरुष (वञ्चन्ति) ठगी करता है, और (यः) जो (निलायन्) भीतर घुस कर, और (यः) जो (प्रतङ्गम्) बाहिर निकल कर (चरन्ति) काम करता है और (द्वौ) दो जने (संनिषद्य) एक साथ बैठ कर (यत्) जो कुछ (मन्त्रयेते) कानाफूसी करते हैं, (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरणीय वा दुष्ट-निवारक वरुण परमेश्वर (तत्) उसे (वेद) जानता है ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर प्राणियों के गुप्त से गुप्त कर्मों को सर्वथा जानता और उनका यथावत् फल देता है ॥२॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राजं उतासौ द्यौर्वृहती दूरेअन्ता ।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्पे उदके निलीनः ॥३॥

भाषार्थः—(इयम् भूमिः) यह भूमि (उत्, भी, (उत्) और (असी) वह (बृहती) बड़ा, (दूरे अन्ता) [पृथिवी से] दूर गति वाला (षीः) प्रकाशमान सूर्य (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा का है, (उत्ते) और भी [पृथिवी और आकाश के] (समुद्रौ) दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं, (उत्) और वह (अस्मिन्) इस (अल्पे) थोड़े से (उबके, जल में भी (निलीनः) लीन हो रहा है ॥३॥

भाषार्थः—वरुण परमात्मा की ईश्वरता बड़ों से बड़े और छोटों से छोटे पदार्थों में है, अर्थात् यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् उसी के आकर्षण, धारण, संयोग, वियोग सामर्थ्य में स्थित है। उसकी उपासना करके सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥३॥

उत् यो द्याम॑ति॒सर्पा॑त् पर॒स्ता॒न्न स मु॑च्यातै॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञः॑ ।

दिव॒ स्पशः॑ प्र च॒रन्ती॒दम॑स्य॒ सह॑स्रा॒क्षा अति॑ पश्यन्ति॒ भूमि॑म् ॥४॥

भाषार्थः—(उत्) और (यः) जो [दृष्ट] (परस्तात्) दूर देश में (द्याम्) सूर्य लोक को (अतिसर्पात्) पार करके चुपके से रेंग जावे, (सः) वह पुरुष (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की (न मुच्यातै) मुक्ति न पा सके। (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) इस [वरुण] के (स्पशः) बन्धन सामर्थ्य (इयम्, इस [जगत्] में (प्र चरन्ति) चलते रहते हैं, [उनको] (सहस्राक्षाः) सहस्र प्रकार की दृष्टि वा व्यवहार वाले पुरुष (भूमिम् अति) भूमि के पार (पश्यन्ति) देखते हैं ॥४॥

भाषार्थः—चाहे कोई दुष्कर्म करके कहीं छिप जावे, तो भी वह वरुण परमेश्वर के अखंड दण्ड से नहीं बच सकता। वह अपनी करनी का फल इस जन्म वा परजन्म में अवश्य पाता है ॥४॥

सर्व॑ तद् राजा॒ वरु॑णो विच॑ण्टे॒ यद॑न्तरा॒ रोद॑सी॒ यत् पर॒स्तात् ।
संख्या॑ता अस्य॒ निमि॑षो॒ जनाना॑म॒क्षानि॑व श॒रणी॒ नि मि॑नोति॒ तानि॑ ॥५॥

भाषार्थः—(राजा वरुणः) राजा वरुण (तत् सर्वम्) वह सब (वि चण्टे) देखता रहता है, (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) सूर्य और भूमि के बीच में और (यत्) जो कुछ (परस्तात्) परे है। (जनानाम्) मनुष्यों के (निमिषः) पलक मारने (अस्य) इस [वरुण] के (संख्याताः) गिने हुए हैं, वह (तानि) हिंसा कर्मों को

(नि मिनोति) गिरा देता है (इवघ्नी इव) जैसे धन हारने वाला जुआरी (अक्षान्) पासों को [गिरा देता है] ॥१५॥

भाषार्थः—वरुण सर्वज्ञ सर्वनियन्ता है, वह दुष्टों को दण्ड देकर ऐसे गिरा देता है जैसे हारा जुआरी निर्धन होकर क्रोध से पासे घादि पटक देता है । वहां गिराने मात्र में दृष्टान्त है ॥१५॥

ये ते पाशां वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विपिता रुशन्तः ।

छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥१६॥

भाषार्थः—(वरुण) हे दुष्ट निवारक परमेश्वर ! (सप्तसप्त = सप्तसप्ताः) सात धाम [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट् अर्थात् स्थूल जगत्, परमाणु और प्रकृति] से सम्बन्ध वाले, (त्रेधा) तीन प्रकार से [भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में] (विपिताः) फैले हुए (रुशन्तः) [दुष्टों वा दोषों को] नाश करते हुए (ये) जो (ते) तेरे (पाशाः) फाँस वा जाल (तिष्ठन्ति) स्थित हैं । (सर्वे) वे सब [फाँस] (अनृतं वदन्तम्) मिथ्या बोलने वाले को (छिनन्तु) छिन्न भिन्न करें, और (यः) जो (सत्यवादी) है (तम्) उसको (अति) सत्कार पूर्वक (सृजन्तु) छोड़ें ॥१६॥

भाषार्थः—वह परमात्मा प्रत्येक वस्तु और काल में व्यापक होकर दुष्टों को यथावत् दण्ड और शिष्टों को यथावत् आनन्द देता है ॥१६॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा तं मोच्यनृत्वा नृचक्षः ।

आस्तां जालम उदरं श्रंसयित्वा कोशं इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥१७॥

भाषार्थः—(वरुणः) हे दुष्टनिवारक परमेश्वर ! (शतेन) सौ (पाशैः) फाँसों से (एनम्) इस [मिथ्यावादी] को (अभि धेहि) बाँध ले, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने वाले ! (अनृतवाक्) मिथ्यावादी पुरुष (ते) तेरी (मा मोचि) मुक्ति न पावे । (जालमः) नीच अन्यायी (उदरम्) युद्ध कर्म को (श्रंसयित्वा = लंसयित्वा) नीचे गिरा कर (परिकृत्यमानः) कटी हुई, (अबन्धः) अपने से खुटी (कोशः इव) फूल की कली के समान (आस्ताम्) बँटा रहे ॥१७॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के दण्ड से कोई मिथ्यावादी नहीं छूट सकता, और अघर्भी दुष्ट, धर्मात्माओं के सम्मुख ऐसा गिर जाता है, जैसे फूल की अघखिली कली अधिक पवन आदि के कारण गिर कर कुम्हला जाती है ॥१७॥

यः समाम्यो ३ 'वरुणो व्याम्यो ३' यः संदेश्यो ३ 'वरुणो
यो विदेश्यः । यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥८॥

भाषार्थः—(वरुणः) वरुण परमेश्वर (यः) व्यापक, (समाम्यः) समान सेवनीय, (यः) सर्वनियन्ता और (व्याम्यः) पीड़ा रहित है, (वरुणः) वरुण ही (यः) यत्नशील, (संदेश्यः) समान देशीय, (यः) संयोग और वियोग करने वाला, (विदेश्यः) विदेशीय है । (वरुणः) वरुण ही (यः) पूजनीय, (दैवः) दिव्य गुण वालों में वर्तमान, (च) और (यः) दाता, और (मानुषः) मननशील मनुष्यों में वर्तमान है ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा भले प्रकार जानकर अपने आत्मा की उन्नति करें ॥८॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ध्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र ।
तानु ते सर्वाननु संदिशामि ॥९॥

भाषार्थः—(असौ = असौ त्वम्) वह तू (आमुष्यायण) हे शमुक पिता के पुत्र ! और (अमुष्याः पुत्र) हे अमुक माता के पुत्र ! (त्वा) तुझको (तैः सर्वैः) उन सब (पाशैः) नियम बन्धनों से (अभि ध्यामि) मैं [वरुण] बाधता हूँ, और (तान् सर्वान्) उन सबों को (उ) अवश्य (ते) तेरे लिये (अनुसंदिशामि) समीप से समझाता हूँ ॥९॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने वेद द्वारा स्पष्ट दिखा दिया है कि सत्कर्म सुख के और दुष्कर्म दुःख के मूल हैं । इसलिये मनुष्य दुष्कर्मों को छोड़ कर सत्कर्म करके आनन्द भोगें ॥९॥

सूक्तम् १७ ॥

१—८ ॥ ओषधिर्वापामागो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रंभामहे ।

चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वेस्मा ओषधे त्वा ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (ईशानाम्) समर्थ (भेषजानाम्) भय निवारक पुरुषों में (त्वा) तेरा (उज्जेषे) [शत्रुओं को] जीतने के लिये (आरंभामहे) हम आश्रय लेते हैं । (ओषधे) हे ताप नाशक [वा अन्न आदि ओषधि के समान

उपकारक !] (सर्वस्मै) सब जनों के लिये (त्वा) तुम्हें (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाला (चक्रे) उस [परमात्मा] ने बनाया है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य पुरुषार्थियों में महापुरुषार्थी पुरुष को अपना प्रधान बनावे और उससे अपनी रक्षा का सहारा ले ॥१॥

सत्यजितं शपथयावर्नी सहमानां पुनः सराम् ।

सर्वाः समहृथोपधीरितो नः पारयादिति ॥२॥

भावार्थः—(सत्यजितम्) सत्य से जीने वाली, (शपथयावर्नीम्) शपथ वा क्रोध वचन हटाने वाली, (सहमानाम्) शत्रुओं को हराने वाली और (पुनः सराम्) बारंबार आगे बढ़ाने वाली सेना को, और (सर्वाः) सब (शोषधीः) ताप नाश करने वाली प्रजाओं को (सम् अह्नि) यथावत् मैंने आवाहन किया है, (इतः) इस [कठिन कर्म] से (नः) हमें (पारयात्) वह [पुरुषार्थी] पार लगावे, (इति) इस अभिप्राय से ॥२॥

भावार्थः—प्रजा प्रतिनिधि सब हितकारी सेना और प्रजा गणों को बुला कर शत्रुओं से बचाने के लिये राजा बनाने का प्रयोजन प्रकाशित करे ॥२॥

या शशाप शपनेन याधं मूरमादधे ।

या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमंचु सा ॥३॥

भावार्थः—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शपथ [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिसने (अधम्) दुःख देने वाली (मूरम्) मूल को (आदधे) जमा लिया है, और (या) जिसने (रसस्य) रस के (हरणाय) हरण के लिए (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) छूआ है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा संतान को (अंचु) ला लेवे ॥३॥

भावार्थः—जल शत्रु सेना दुर्बल बोलती और उपद्रव मचाती बढ़ती आवे, युद्धकुशल सेनापति उनमें भेद डाल दे कि वह लोग अपने संतान अर्थात् इष्ट मित्रों को ही नाश कर दें ॥३॥

यह मन्त्र पहले अ० १ । २८ । ३ में आ चुका है ॥

यां तं चक्ररामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तयां कृत्याकृतौ जहि ॥४॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हिंसाकारियों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (नीललोहिते = नीलरोहिते) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को [तेरे] (आमे) चलने में वा (मांसे) जान काल वा मांस में (चक्रुः) उन्होंने किया है, (तया) उस [हिंसा] के कारण (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) नाश करदे ॥४॥

भाषार्थः—जो दुष्कर्मी राजा के खान, पान, धनसंचय, मार्ग, तथा सत्य सत्य ज्ञानने, वा काल के सुप्रयोग एवं शरीर में विपत्ति डाले, राजा उन को यथावत् दंड देकर नाश कर दे ॥४॥

दौष्वप्यन्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वो दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥५॥

भाषार्थः—(दौष्वप्यन्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्षियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वोः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥५॥

भाषार्थः—राजा ऐसी नीति चलावे कि प्रजागण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिको से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥५॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।

अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥६॥

भाषार्थः—(क्षुधामारम्) भूख से मरना, (तृष्णामारम्) प्यास से मरना, (अगोताम्) गौधों की हानि, और (अनपत्यताम्) बच्चों का अभाव, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्गं) हे सर्वसंशोधक ! [वा अपामार्गं औषध के समान उपकारी राजन् !] (तया) तेरे साथ (वयम्) हम (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥६॥

भाषार्थः—राजा के सुप्रबन्ध से सूखा के समय भी अन्न, जल, गो, बैल आदि की बहुतायत से मनुष्य यथावत् बढ़ते रहते हैं ॥६॥

“अपामार्गं” का अर्थ सर्वथा शोधक है, और एक औषध भी है, जिससे कफ, बवासीर, खुजली, उदर रोग और विष रोग का नाश होता है ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।

अपामार्गं त्वया वयं सर्वे तदपं मृज्महे ॥७॥

भाषार्थः—(तृष्णामारम्) पियास से मरना, (क्षुधामारम्) भूख से मरना, (अथो) और भी (अक्षपराजयम्) व्यवहारों वा इन्द्रियों की हार, (तत् सर्वम्) इस सब को (अपामार्गं) हे सर्वसंशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम् अपमृज्महे) हम शोधते हैं ॥७॥

भाषार्थः—राजा के उत्तम प्रबन्ध से न तो जल, अन्न और दैनिक काम काज की हानि, और न शरीर और आत्मा की दुर्बलता होती है ॥७॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इदं वशी ।

तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमंगदश्चर ॥८॥

भाषार्थः—(अपामार्गः) सब दवाओं का शोधने वाला परमेश्वर (सर्वासाम्) सब (ओषधीनाम्) तापनाशक अन्न आदि पदार्थों का (एकः इत्) एक ही (वशी) वश में रखने वाला है । (तेन) उस [के आश्रय] से [हे राजन् !] (ते) तेरे (आस्थितम्) उपस्थित [भय] को (मृज्मः) हम शोधते हैं, (अथ) इस लिये (त्वम्) तू (अगदः) नीरोग होकर (चर) विचर ॥८॥

भाषार्थः—प्रजागण कहते हैं—“परमात्मा सब संसार का स्वामी है, उसी के सहारे से हम आप पर यह राज्यभार रखते हैं, आप भी उसी के सहारे से निश्चिन्त होकर अपना कर्तव्य करें” ॥८॥

सूक्तम् १८ ॥

१—८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्वा रात्रौ समावती ।

कृणोमि सत्यमृतयेऽरसाः संन्तु कृत्वरीः ॥९॥

भाषार्थः—(ज्योतिः) ज्योति (सूर्येण समम्) सूर्य के साथ साथ और (रात्रौ) रात्रि (अह्वा समावती) दिन के साथ वर्तमान है, [ऐसे ही] मैं (सत्यम्) सत्यकर्म को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणोमि) करता हूँ, (कृत्वरीः=कृत्वयः) कतरने वाली विपत्तियाँ (अरसाः) नीरस (सन्तु) हो जावें ॥९॥

भाषार्थः—जैसे प्रकाश के साथ सूर्य का और दिन के साथ रात्रि का नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही मनुष्य का सत्य के साथ नित्य सम्बन्ध है। इससे राजा और प्रजा सदा सत्य में प्रवृत्त होकर मिथ्या कामों की विपत्तियों से बचें ॥१॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविंदुपो गृहम् ।

वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (यः) जो पुरुष (कृत्याम्) हिंसा (कृत्वा) करके (अविन्दुयः) अज्ञान मनुष्य के (गृहम्) घर को (हरात्) हर लेवे। वह दुष्कर्म (प्रत्यक्) लौट कर (तम्) उसी [दुष्कर्मी] को (उप पद्यताम्) जा मिले (इव) जैसे (धारुः) दूध पीने वाला (वत्सः) बछड़ा (मातरम्) अपने माता [गौ के पीछे पीछे दौड़ता है] ॥२॥

भाषार्थः—दुष्ट मनुष्य को उसकी दुष्टता का दण्ड राजप्रबन्ध वा ईश्वर व्यवस्था से अवश्य पहुँचता है, जैसे छोटा बछड़ा अनेक गौओं में से अपनी ही माता को चिपट जाता है ॥२॥

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनायं जिघ्रांसति ।

अश्मानस्तस्यां दग्धायी बहुलाः फट् करिकति ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (तेन अमा) चोर वा म्लेच्छ के साथ होकर (पाप्मानम्) पाप कर्म (कृत्वा) करके (अग्न्यम्) दूसरे को (जिघ्रांसति) मारना चाहे, (बहुलाः) वृद्धि करने वाले (अश्मानः) व्यापनशील वा पाषाण के समान दृढ़स्वभाव पुरुष (तस्याम्) उस [दुष्क्रिया] के (दग्धायाम्) भस्म किये जाने पर (फट्) [उस दुष्ट का] नाश (करिकति) कर डालें ॥३॥

भाषार्थः—स्त्री पुरुष दुष्टों से मिल कर लोगों में उपद्रव मचावें, राजपुरुष अनुसन्धान करके उन दोनों को यथावत् दण्ड दें ॥३॥

सहस्रधामन् विशिखान् विघ्रीवाञ् छायया त्वम् ।

प्रतिं स चक्रुर्वै कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥४॥

भाषार्थः—(सहस्रधामन्) हे सहस्रों धारण, पोषण और दान वाले राजन् ! (त्वम्) तू (विशिखान्) विरुद्ध प्रकार से सोने वाले, वा विरुद्ध गति वाले, (विघ्रीवान्) विरुद्ध प्रकार से खाने वाले, [दुष्टों] को (शायय) सुला दे [गिरा

दे] । (कृत्याम्) दुष्क्रिया (चक्रुषे) करने वाले पुरुष को (प्रति) प्रत्यक्ष (स्म) अवश्य [वैसी ही दण्ड पीड़ा] (हर) पहुँचा [जैसे] (प्रियाम्) प्रिया, भार्या को (प्रियावते) उसके स्वामी के पास [प्रत्यक्ष पहुँचाते हैं] ॥४॥

भाषार्थ:—राजा अनेक प्रकार से प्रजा का रक्षण आदि करता हुआ दुष्टों को दण्ड पहुँचावे, जैसे भूली भटकी स्त्री को उसके स्वामी के पास प्रत्यक्ष पहुँचा देते हैं ॥४॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अद्रुदुषम् ।

यां क्षेत्रे चक्रुर्यी गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥५॥

भाषार्थ:—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधिरूप-[तापनाशक तुलू] राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अद्रुदुषम्) खंडित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गोश्यों में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥५॥

भाषार्थ:—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राजपुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥५॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।

चकारं भद्रमस्मभ्यमात्मने तपेन तु सः ॥६॥

भाषार्थ:—(यः) जिस दुष्ट ने (कर्तुम्) हिंसा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अङ्गुरिम्) अङ्गुरी (शश्रे) तोड़ ली । (सः) उसने (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्रम्) आनन्द, और (आत्मने) अपने लिये (तु) तो (तपेनम्) तपन (चकारं) कर लिया ॥६॥

भाषार्थ:—पापी का आत्मा दुर्बल होता है, वह दण्ड पाने से आप ही अपने हाथ पैर में कुल्हाड़ी मारता है । उससे शिष्टों को सुख और उस दुष्ट को दुःख होता है ॥६॥

अपामार्गोऽपि मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथंश्च यः ।

अपाहं यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥७॥

भाषार्थ:—(अपामार्गः) दोषों का शोधने वाला राजा (क्षेत्रियम्) वेह वा वंश के दोष को, (च) और (यः) जो कुछ (शपथः) दुर्वचन हो [उसे भी]

(अप माष्टु) शुद्ध कर देवे । (अह) अरे (यातुधानीः) यातना देने वाली शत्रु-सेनाओं को (अप = अप माष्टु) शुद्ध कर डाले, और (सर्वाः) सब (अराध्यः = अरायीः) अलक्ष्मियों को (अप = अप माष्टु) शुद्ध कर डाले ॥७॥

भावार्थः—राजा अपनी सुनीति से प्रजा के दुःखों का नाश करके उनके स्वास्थ्य और धन की वृद्धि करे ॥७॥

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराध्यः ।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥८॥

भाषार्थः—(यातुधानान्) पीड़ा देने वाले राक्षसों को (अपमृज्य) शोधकर, और (सर्वाः) सब प्रकार की (अराध्यः) दरिद्रताओं को (अप = अपमृज्य) शोधकर, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (तत् सर्वम्) उस सब [कष्ट कर्म] को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥८॥

भावार्थः—नीतिनिपुण राजा के शासन में सब प्रजागण अपने कष्टों को दूर करके आनन्द भोगते हैं ॥८॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध सूक्त १७ मन्त्र ६ में आया है ॥

॥ सूक्तम् १६ ॥

१—८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ १, ३ - ८ अनुष्टुप्, २ पद्या पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उतो अस्यबन्धुकुदुतो असि नु जामिकृत् ।

उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवाच्छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन्] तू (अबन्धुकृत्) अबन्धुओं का काटने वाला (उतो) भी (असि) है, (नु) और (जामिकृत्) बन्धुओं का बनाने वाला (उतो) भी (असि) है । (उतो) इससे (कृत्याकृतः) हिंसा करने वालों और (प्रजाम्) उनके सेवकों को (आच्छिन्धि) काट डाल, (इव) जैसे (वार्षिकम्) वर्षा में उत्पन्न (नडम्) नरकट घास को ॥१॥

भावार्थः—राजा अपने उत्तम शासन से हिंसक दुष्टों का नाश करके इष्ट मित्रों में मेल बढ़ावे ॥१॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कर्षेन नार्षदेन । सेनैवैषि त्वर्षामती

न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्यापये ॥२॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] तू (ब्राह्मणेन) वेदज्ञानी ब्राह्मण, (कण्वेन) मेधावी, (नापदेन) नायकों की सभा के हितकारी पुरुष करके (पर्युक्ता) उपदिष्ट [ओषध समान] (असि) है। (स्विधीमती) प्रकाशयुक्त (सेना) सेना अर्थात् सूर्य की किरण पुंज के (इव) समान (एषि) तू चलता है। (तत्र) वहाँ पर (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं होता, (यत्र) जहाँ पर (ओषधे) हे ओषधि तुल्य तापनाशक राजन् (प्राप्नोषि) तू व्यापक होता है ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सदैव की बतलाई ओषधि बड़ी गुणकारी होती है और जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार मिटाता है, वैसे ही राजा वेदज्ञानी बुद्धिमान् नरशिरोमणि पुरुषों के उपदेश और सत्संग से प्रतापी होकर शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख देता है ॥२॥

अग्रमेध्योषधीनां ज्योतिषेवामिदीपयन् ।

उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥३॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (ज्योतिषा इव) अपने तेज से जैसे (अभिदीपयन्) सब ओर प्रकाश फैलाता हुआ (ओषधीनाम्) ओषधि तुल्य उपकारी पुरुषों में (अग्रम्) आगे आगे (एषि) तू चलता है। (उत) और तू (पाकस्य) पक्का (दृढ़) करने योग्य अथवा रक्षा योग्य दुर्बल पुरुष का (त्राता) रक्षक (असि) है (अथो) और भी तू (रक्षसः) राक्षस का (हन्ता) हनन करने वाला (असि) है ॥३॥

भाषार्थः—प्रतापी राजा सब उपकारी पुरुषों में अग्रगामी होकर यथावत् शासन करता है ॥३॥

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रं निरकुर्वत ।

ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अंजायथाः ॥४॥

भाषार्थः—(अदः) वह (यत्) जो (अग्रे; पूर्वकाल में (त्वया) तेरे साथ होकर (देवाः) देवताओं [विद्वान् शूरो] ने (असुरान्) असुरों को (निरकुर्वत) निकाल दिया है, (तत्) उनी से (ओषधे) हे ओषधि समान तापनाशक राजन् ! (त्वम्) तू (अपामार्गः) संशोधक (अधि) अधिक करके (अंजायथाः) प्रकट हुआ है ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रशंसनीय काम करने से ही संसार में प्रशंसा पाते हैं ॥४॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।

प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति । ५॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (विभिन्दती) रोगों को छिन्न भिन्न करने वाली (शतशाखाः) सैकड़ों शाखा वाली [ओषधि के समान] (विभिन्दन्) शत्रुओं को छिन्न भिन्न करने वाला (नाम) प्रसिद्ध (ते) तेरा (पिता) पिता है । (त्वम्) तू भी (प्रत्यक्) लौटाकर (तम्) उसको (विभिन्धि) छिन्न भिन्न करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम को (अभिदासति) सताता रहता है ॥५॥

भाषार्थः—शूरवीर पिता का पुत्र भी अपने पिता के तुल्य शूरवीर होकर बैरियों का नाश करता है ॥५॥

असद् भूम्याः समभवत् तयामेति महद् व्यचः ।

तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ॥६॥

भाषार्थः—(तत्) वह (महत्) बड़ा (व्यचः) परस्पर मिला हुआ वा फैला हुआ (असत्) अनित्य जगत् (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न हुआ है, [जो जगत्] (याम्) जिस [भूमि] को (एति) चला जाता है । (ततः) उसी कारण से (तद्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) अवश्य (प्रत्यक्) लौटकर (कर्त्तारम्) हिंसक को (विधूपायत्) संताप देता हुआ [उसको ही] (मृच्छतु) पहुंचे ॥६॥

भाषार्थः—जैसे ईश्वर नियम से कार्य रूप स्थूल पदार्थ भूमि आदि तत्त्वों से उत्पन्न होकर फिर छिन्न भिन्न होकर भूमि आदि अपने कारणों में लौट जाते हैं, ऐसे ही राजा के दण्ड से दुष्ट की दुष्टता उसी को ही लौटती और सताती है ॥६॥

वम्बई गवर्नमेंट पुस्तक में टिप्पणी है कि जर्मनी के भट्ट रोथ और व्हिटनी महाशय के मत में 'याम्' के स्थान पर 'याम्' होना चाहिये और ग्रिफिथ महाशय ने भी 'याम्' मानकर स्वर्ग [heaven] अनुवाद किया है, परन्तु पदपाठ और सायण भाष्य में 'याम्' है, और हमारे मत में भी 'याम्' ही शुद्ध है ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।

सर्वान् मच्छथो अधि वरीयो यावया वधम् ॥७॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (त्वम्) तू (हि) ही (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूल गति में रहने वालों का नाश करने वाला (संबभूविथ) हुआ

है, [इस कारण] (मत्) मुझसे [शत्रु के] (सर्वान्) सब (शपयान्) शापों को और (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण (वधम्) हथियार को (अधि) अधिकार पूर्वक (यवय) पृथक् कर ॥७॥

भावार्थः—पराक्रमी विजयी राजा शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख पहुंचावे ॥७॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।

इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥८॥

भावार्थः—[हे राजन् !] (शतेन) सौ [उपाय] से (मा) मेरा (परि पाहि) सब प्रकार पालन कर, (सहस्रेण) सहस्र साधन से (मा) मेरी (अभि) सब ओर से (रक्ष) रक्षा कर । (वीरुधां पते) हे विविध प्रकार बढ़ने वाली प्रजाओं के पालक ! (उग्रः) महाबली (इन्द्रः) परमेश्वर (ते) तुमको (ओज्मानम्, पराक्रम (आ) यथावत् (दधत्) देता हुआ वर्तमान है ॥८॥

भावार्थः—राजा अपनी प्रजा की सदा रक्षा करे वह पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वर की न्याय व्यवस्था से सदा बल पाता रहता है ॥८॥

सूक्तम् २० ॥

१—६ । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।

दिवमन्तरिक्षमादभूमि सर्वं तद् देवि पश्यति ॥१॥

भावार्थः—(देवि) हे दिव्यशक्ति परमात्मन् ! तू, (तत्) विस्तार करने वाला वा विस्तीर्ण ब्रह्म आप (आ) अभिमुख (पश्यति) देखता है, (प्रति) पीछे से (पश्यति) देखता है, (परा) दूर से (पश्यति) देखता है, और (पश्यति) सामान्यतः देखता है । (दिवम्) सूर्य लोक, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (आत्) और भी (भूमिम्) भूमि अर्थात् (सर्वम्) सबको (पश्यति) देखता है ॥१॥

भावार्थः— वह ब्रह्म सब संसार को एकरस देखता रहता है इसलिए सब मनुष्य उसकी उपासना करके दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में रूढ़ रहें ॥१॥

तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।

त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यामि देव्योषधे ॥२॥

भाषार्थः—(देवि) हे दिव्यशक्ति, (ओषधे) तापनाशक परमात्मन् ! (त्वया) तेरे सहारे से (अहम्) मैं (तिस्त्रः) तीनों (दिवः) सूर्य लोकों, (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः) भूमियों (च) और (इमाः) इन (षट्) छह (प्रदिशः) फैली हुई दिशाओं और (सर्वा) सब (भूतानि) सृष्ट पदार्थों को (पृथक्) नाना प्रकार से (पश्यामि) देखूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा के साथ तीन उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार से संसार के सब पदार्थों को साक्षात् करके विज्ञान-पूर्वक उनसे उपकार लेवे ॥२॥

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।

सा भूमिमा रुरोहिष वह्म्यं श्रान्ता बभूव ॥३॥

भाषार्थः—(तस्य) उस (दिव्यस्य) दिव्य गुण वाले (सुपर्णस्य) यथावत् पालनीय जीव की, तु (ह) अवश्य (कनीनिका) कमनीया देवी, अथवा नेत्र तारा समान (असि) है । (सा = सा त्वम्) उस तुने (भूमिम्) हृदय भूमि को (आ रुरोहिष) प्राप्त किया है, (इव) जैसे (श्रान्ता) थकी हुई, शान्त स्वभाव, वा जितेन्द्रिय (बभूव) स्त्री (बह्म्यम्) अपने पाने योग्य पदार्थ को [प्राप्त करती है] ॥३॥

भाषार्थः—जैसे जैसे योगी समाधि लगाकर परमात्मा की महिमा देखता है वैसे वैसे ही परमात्मा उसके हृदय में दृढ़ भूमि होता है, जैसे जितेन्द्रिय स्त्री वा पुरुष ठिकाने पर पहुँचकर ठहर जाता है ॥३॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।

तयाहं सर्वं पश्यामि यश्चं शुद्र उतार्थः ॥४॥

भाषार्थः—(सहस्राक्षः) असंख्य दर्शन शक्तिवाला अथवा सहस्रों व्यवहारों वाला (देवः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा (दक्षिणे) प्रवृद्ध (हस्ते) प्रकाश के निमित्त (ताम्) उपकारशक्ति (मे) मुझको (आ) सब ओर से (दधत्, दान कर रहा है, (तया) उस [उपकारशक्ति] से (अहम्) मैं (सर्वम्) सबको (पश्यामि) देखता हूँ, (यः च) जो कोई (शुद्रः) शोचनीय शुद्र अर्थात् मूल (उत) अथवा (अर्थः) प्राप्त करने योग्य अर्थ अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥४॥

भाषार्थः—सर्व व्यवहार कुशल, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता जगदीश्वर की

दी हुई उपकारशक्ति द्वारा मनुष्य सब मनुष्यों और पदार्थों का यथावत् विवेक करके संसार की उन्नति करें ॥४॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमपे गृह्थाः ।

अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥

भाषार्थः—(रूपाणि) [पदार्थों के] रूपों अर्थात् बाहिरी आकार को (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर दे, (मात्मानम्) [वस्तुओं के] आत्मा अर्थात् भीतरी स्वभाव को (मा अप गृह्थाः) गुप्त मत रख (अथो, और भी (सहस्रचक्षो) हे असंख्य दशान शक्ति वाले परमात्मन् ! (त्वम्) तू (किमीदिनः) अब क्या, यह क्या हो रहा है, ऐसे गुप्त कर्म करने वाले को ज़ुतरे लोगों को (प्रति) प्रत्यक्ष (पश्याः) देख ले ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य पदार्थों के आकार और गुण को स्थूल और सूक्ष्म रीति से पहचान कर दोषों से बचें और दूसरों को बचावें ॥५॥

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।

पिशाचान्सर्वान् दर्शयेति त्वा रंभ ओषधे ॥६॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (यातुधानान्) यातना देने वाले दोषों को (मा) मुझे (दर्शय) दिखा, (यातुधान्यः—०—नोः) महापीड़ा देने वाली कुवासनाओं को (दर्शय) दिखा, (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस खाने वाले विष्णुओं को (दर्शय) दिखा, (ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (इति) इसके लिये (त्वा) तेरा (आरंभे) मैं सहारा लेता हूँ ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य की बाहिरी कुचेष्टाएं और भीतरी कुवासनाएं उसकी उन्नति के महाविघ्न हैं । इसलिये वह विवेकपूर्वक उनका संशोधन करे ॥६॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।

वीध्रे सूर्यमिव सर्पेन्तं सा पिशाचं तिरस्करः ॥७॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] तू (कश्यपस्य) रस पीने वाले सूर्य का (च) और (चतुरक्ष्याः) पूर्वादि चार प्रकार से व्याप्ति वाली (शुन्याः) बड़ी हुई दिशा का (चक्षुः) देखने वाला ब्रह्म (असि) है । (पिशाचम्) मांस खाने वाले [पीड़ादायक] विघ्न को (मा तिरस्करः) गुप्त मत रख [प्रकाश करदे] (वीध्रे) विशेष चमकने के

समय अर्थात् मध्याह्न में (सर्पन्तम्) चलते हुए (सूर्यमिव) सूर्य को जैसे [नहीं] छिपा सकते] ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा इस सब विशाल संसार को सर्वथा देखता है, और सबके दोषों को इस प्रकार जानता है, जैसे दोपहर के सूर्य को । इससे सब मनुष्य दोषों को त्याग कर सदा सुख से रहें ॥७॥

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।

तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥८॥

भावार्थः—(परिपाणात्) रक्षास्थान [अपने हृदय देश] से (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) पिशुन रूप अपने दोष को (उत् अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है । (तेन) उसी से (अहम्) मैं (सर्वम्) सबको (पश्यामि) देखता हूँ, (उत) जो कोई (शूद्रम्) शोचनीय शूद्र अर्थात् मूर्ख, (उत) अथवा (आर्यम्) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [आह्वय क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥८॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मदोष के निवारण और बुरे भले के विवेक से शिवसंकल्पी होकर अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश करके सुखी होता है ॥८॥

इस मन्त्र के उत्तरार्ध के लिए मन्त्र ४ देखो ॥

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।

भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥९॥

भावार्थः—(यः) जो [उपद्रवी] (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्ती हृदय अवकाश द्वारा (पतति) नीचे गिरता है, (च) और (यः) जो (बिबम्) व्यवहार वा प्रकाश को (अतिसर्पति) लांघकर रेंगता है, और (यः) जो (भूमिम्) अपनी सत्ता को [अहंकार से] (नाथम्) ईश्वर (मन्यते) मानता है, (तम्) उस (पिशाचम्) मांसभक्षक, दुःख-दायक, आत्मा को (प्रदर्शय) तू दिखा दे ॥९॥

भावार्थः—जो मनुष्य मनोविकार से वेद मर्यादा छोड़ कुकर्मी बन जाता है, वह मनुष्य ईश्वर भक्ति से अपने अविद्या दोषों को छोड़कर सुखी होवे ॥९॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-७ ॥ गावो देवताः । १, ५-७ त्रिष्टुप् २-४ जगती ॥

विद्यागुरोपदेशः—विद्या के गुरुओं का उपदेश ॥

आ गावो अगमन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।

प्रजावतीः पुरुषा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषो दुहानाः ॥१॥

भाषार्थः—(गावः) पाने वा स्तुति योग्य विद्याएं (आ अगमन्) प्राप्त हुई हैं, (उत) और उन्होंने (भद्रम्) कल्याण (अक्रन्) किया है। वे (गोष्ठे) हमारी गोठ अर्थात् विद्यासमाज में (सीदन्तु) प्राप्त होवें और (अस्मे) हमें (रणयन्तु = रमयन्तु) सुख देवें। वे (इह) यहाँ समाज में (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष के लिये (पूर्वाः) बहुत (उषसः) प्रभात बेलाओं तक (प्रजावतीः) उत्तम मनुष्यों वाली, (पुरुषाः) अनेक लक्षण वाली होकर (दुहानाः) [कामनाओं को] पूर्ण करती हुई (स्युः) रहें ॥१॥

भावार्थः—विद्याएं परमेश्वर से आकर संसार को महा उपकारी हुई हैं। मनुष्य ईश्वर विद्या, शिल्प विद्या आदि अनेक विद्याओं को प्राप्त कर और 'इन्द्र' महापुरुषार्थी प्रधान पुरुष के सहायक होकर बहुत काल तक सुख भोगें ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद, म० ६ सू० २८ म० १-७ में है। वहाँ सूक्त के भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं ॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षते उपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।

भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (यज्वने) यज्ञ करने वाले (च) और (गृणते) उपदेशक पुरुष को (शिक्षते) शिक्षा देता है, और (उप = उपेत्य) आदर करके (स्वम्) धन (ददाति) देता है, और (न) न (मुषायति) चुराता है, और (देवयुम्) दिव्य गुण वा विद्वानों के प्राप्त कराने वाले (रयिम्) धन को (भूयोभूयः) अधिक अधिक (इत्) ही (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (इत् अस्म्य) इस संसार के (अभिन्ने) अटूट (खिल्ये) कण कण प्राप्ति के लाभ में (निदधाति) निधि रूप से रखता है ॥२॥

भावार्थः—प्रतापी राजा स्वार्थ छोड़कर विद्यादानादि में धन को व्यय

करता है, विद्याबल से घन बढ़ाता हुआ संसार को बहुत लाभ पहुँचाता है ॥२॥

न ता न॑शन्ति न द॑भाति तस्करो॑ नासा॑मामित्रो॑ व्यथि॑रा द॑धर्षति ।
दे॒वांश्च॑ याभि॑र्यज॑ते ददा॑ति च॒ ज्यो॑गित् ताभिः॑ सच॑ते गोप॑तिः
सह ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(ताः) वे [विद्यार्थे] (न) नहीं (नशन्ति) नष्ट होती हैं, (न) न [उन्हें] (तस्करः) चोर (दभाति) ठगता है, (न) न (आमित्रः) पीड़ा देने वाला (व्यथिः) व्यथाकारी शत्रु (आसाम्) इनकी (आ दधर्षति) हंसी उड़ाता है । (च) और (गोपतिः) विद्याओं का स्वामी, वाचस्पति (याभिः) जिन [विद्याओं] से (देवान्) दिव्य गुणों को (यजते) पूजता (च) और (ददाति) देता है, (ताभिः सह) उन [विद्याओं] के साथ (ज्योक् इत्) बहुत ही काल तक वह (सचते) मिला रहता है ॥३॥

भाषार्थः—विद्या अक्षय्य कोश है । जो मनुष्य विद्याओं को सत्कार-पूर्वक ग्रहण करके संसार में फैलाता है, वह यशस्वी होकर सदा आनन्द भोगता है ॥३॥

न ता अ॒र्वा रेणु॑ककाटोऽश्नु॑ते न सं॒स्कृत॑त्रमुप॑ यन्ति ता अ॒भि ।
उरु॒गाय॑मभ्यं॑ तस्य॒ ता अनु॑ गावो म॒र्तस्य॑ वि च॒रन्ति॑ यज्व॑नः । ४॥

भाषार्थः—(न) न तो (अर्वा) धोड़े के समान विषयासक्त, अथवा हिंसक पुरुष, और (न) न (रेणुककाटः) धूलि के कूप के समान गिर जाने वाला मनुष्य (ताः) उन [विद्याओं] को (अश्नुते) पाता है । (ताः) वे विद्यार्थे (संस्कृतत्रम्) संस्कृत [शुद्ध] विद्याओं के रक्षक जन को (अभि) सब ओर से (उप यन्ति, आती) है । (ताः गावः) वे विद्यार्थे (तस्य) उस (यज्वनः) देवताओं के पूजने वाले (मर्तस्य) मनुष्य के (उरुगायम्) बड़े प्रशंसीय (अभयम्) निर्भय राज्य में (अनु) अनुकूलता से (विचरन्ति) विचरती हैं ॥४॥

भाषार्थः—विषयी, अदृढस्वभाव, दुष्ट जन विद्या के उत्तम फल को नहीं पा सकते हैं । जितेन्द्रिय, विद्वानों के सत्कार करने वाले राजा के सुरक्षित राज्य में अनेक उत्तम विद्यार्थे उन्नति को प्राप्त होती हैं ॥४॥

गा॒वो भ॒गो गा॒व इन्द्रो॑ म इच्छा॒द् गा॒वः सोम॑स्य प्रथ॒मस्य॑ भक्षः ।

इ॒मा या गा॒वः स ज॑नास॒ इन्द्रं॑ इच्छामि॒ हृदा॑ मन॒सा चिदिन्द्रं॑ ॥५॥

भाषार्थः—(गावः) विद्यार्थे ही (भगः) धन है, (गावः) विद्यार्थे (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य है, (गावः) विद्यार्थे (प्रथमस्य) अति श्रेष्ठ (सोमस्य) सोमरस अर्थात् अमृत वा मोक्ष का (भक्षः) सेवन है, [इति] (मे इच्छात्) [यह] मेरी इच्छा हो। (जनासः) हे मनुष्यो! (इमाः) ये (याः) जो (गावः) विद्यार्थे हैं, (सः) सो ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं। (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य की (चित्) ही (हृदा) हृदय अर्थात् आत्मा और (मनसा) विज्ञान के साथ (इच्छामि) मैं चाह करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्याओं को धन, ऐश्वर्य और मोक्ष का मुख्य साधन जानकर पूर्ण श्रद्धा से प्राप्त करें ॥५॥

यू॒यं गा॒वो मे॒दय॑था कृ॒शं चि॒दश्री॑रं चि॒त् कृ॒णु॑था सु॒प्रती॑कम् ।

भ॒द्रं गृ॒हं कृ॒णु॑थ भ॒द्रवा॑चो बृ॒हद् वो वयं॑ उच्य॒ते स॒भासु॑ ॥६॥

भाषार्थः—(गावः) हे विद्याओं! (यूयम्) तुम (कृशम्) दुर्बल से (चित्) भी, (अश्रीरम्) श्रीरहित निर्धन से (चित्) भी (मेदयथ) स्नेह करती हो और (सुप्रतीकम्) बड़ी प्रतीति वाला वा बड़े रूप वाला (कृणुथ) बना देती हो। (भद्रवाचः) हे कल्याणी विद्याओं! (गृहम्) घर को (भद्रम्) मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो, (सभासु) विद्वानों से प्रकाशमान सभाओं में (वः) तुम्हारा ही (वयः) बल (बृहत्) बड़ा (उच्यते) बखाना जाता है ॥६॥

भाषार्थः—विद्या से दुर्बल मनुष्य सबल, और निर्धन बड़ा विश्वासी और रूपवान् होता है, विद्वानों के घर में सदा आनन्द रहता, और विद्वानों की ही राजसभा और पंचायतों में बड़ाई होती है ॥६॥

प्र॒जाव॑न्तीः सू॒यव॑से रु॒शन्तीः॑ शु॒द्धा अ॒पः सु॒प्रपा॑णे पि॒बन्तीः॑ ।

मा व॑स्तेन ई॒शत॒ माघ॑शंसः॒ परि॑ वो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिवृ॑णक्तु ॥७॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य प्रजाओं!] (प्रजावन्तीः) उत्तम सन्तान वाली, (सूयवसे) सुन्दर वन आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतने वाला, डाकू उचक्का आदि [वश में करे]। (रुद्रस्य) (हेतिवृणक्तु)

पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्यायें उपाजैन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुए और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुए सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मान्वित रहें जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥७॥

‘मा वस्तेन ईणत माघशंथसः’ इतना मन्त्रांश य० १।१ और ‘परि नो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु’ यह मन्त्रांश य० १६।५० में है ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामजयायोपदेशः—संग्राम में जय के लिये उपदेश ॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामैकवृषं कृणु त्वम् ।

निरमित्रानरुणह्यस्य सर्वास्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (क्षत्रियम्) राज्य करने में चतुर राजा को (मे) मेरे लिये (वर्धय) बढ़ा, और (इमम्) इसको (विशाम्) मनुष्यों का (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान अर्थात् सार्वभौम शासक (कृणु) बना । (अस्य) इसके (सर्वान्) सब (अमित्रान्) वैरियों को (निररुणहि) निर्बल कर दे, और (तान्) उन्हें (अस्मै) इसके लिये (अहमुत्तरेषु) मैं ऊँचा होता हूँ, मैं ऊँचा होता हूँ ऐसे कथनस्थान रणक्षेत्रों में (रन्धय) नाश कर वा वश में कर ॥१॥

भाषार्थः—प्रजागण सर्वश्रेष्ठ पुरुष को राजा बनावें जो परमेश्वर में विश्वास करके युद्धभूमि में शत्रुओं को मारकर प्रजा को सुखी रखे ॥१॥

सायणाचार्य ने “अहमुत्तरेषु” पद को पदपाठ के विरुद्ध “अहम् उत्तरेषु” ऐसे दो पद मानकर व्याख्या की है ॥

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।

वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै ॥२॥

भाषार्थः—(इमम्) इसको (ग्रामे) ग्राम में, (अश्वेषु) घोड़ों में, और (गोषु) गौ आदिकों में (आभज) भाग्यवान् कर और (यः) जो (अस्य) इसका (अमित्रः) वैरी है, (तम्) उसको (निर्भज) अलग कर दे । (अयम्) यह (राजा)

राजा (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों का (वशम्) मस्तक [समान ऊँचा] (अस्तु) होवे ।
(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्र भगवान् ! (अस्मै) इसके लिये (सर्वम्) सब
(शत्रुम्) शत्रु को (रग्धये) वश में कर ॥२॥

भाषार्थः—राजा परमेश्वर में श्रद्धा रखता हुआ अपनी प्रजा, सेना,
और गो आदि पशुओं की रक्षा करता हुआ अपने सब शत्रुओं का नाश
करके क्षत्रियों का शिरोमणि बने ॥२॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विशपतिरस्तु राजा ।

अस्मिन्निन्द्र महि वर्चासि धेहवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥३॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (धनानाम्) बहुत प्रकार के धनों का (धनपतिः)
धनपति (अस्तु) होवे । (अयम्) यह (राजा) राजा (विशाम्) बहुत प्रजाओं का
(विशपतिः) प्रजापति (अस्तु) होवे । (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अस्मिन्) इस राज्य
में (महि = महोनि) बड़े बड़े (वर्चासि) तेजों को (धेहि) धारण कर, (अस्य)
इसके (शत्रुम्) वैरी को (अवर्चसम्) निस्तेज (कृणुहि) कर दे ॥३॥

भाषार्थः—राजा परमेश्वर के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक बहुत धन
एकत्र करके प्रजा की रक्षा करे और महा प्रतापी होकर शत्रुओं को वश में
रखे ॥३॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरिं वामं दुहाथां धर्मदुधे इव धेनू ।

अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥४॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों ! (अस्मै) इस
राजा के लिये (धर्मदुधे) यज्ञ की पूति करने वाली (धेनू इव) दो गौओं के समान
(भूरिं) बहुत (वामम्) उत्तम धन (दुहाथाम्) पूर्ण करो । (अयम्) यह (राजा)
राजा (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (प्रियो) प्रिय (गवाम्) विद्याओं का, (ओषधीनाम्)
सब अन्तों का और (पशूनाम्) दोपाये और चोपाये जीवों का (प्रियो) प्रिय
(भूयात्) होवे ॥४॥

भाषार्थः—राजा सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों और पदार्थों से विज्ञान
पूर्वक उपकार लेकर धन संचय करे, और अनेक विद्याओं और अन्तों और
सब प्राणियों की वृद्धि करके सुख प्राप्त करे ॥४॥

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।

यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥५॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (ते !) तेरे लिये (उत्तरावन्तम्) अत्यन्त उत्तम गुण वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूँ, (येन) जिसके साथ [शूर जन] (जयन्ति) जय पाते हैं, और (न) कभी नहीं (पराजयन्ते) हारते हैं । (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान, और (मानवानाम्) मननशील अथवा माननीय (राजाम्) राजाओं में (उत्तमम्) अतिश्रेष्ठ (करत्) करे ॥५॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुष राजा को परमेश्वर का उपदेश करें, जिसके आश्रय से वह राजा धीर वीर होकर प्रजा का पालन करे और उत्तमों में उत्तम राजा हो ॥५॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते ।

एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रयतामा भ्रा भोजनानि ॥६॥

भाषार्थः—[राजन् !] हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) अधिक ऊँचा हो, (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्ती शत्रु और (ते) तेरे (सपत्नाः) साथ भगड़ने वाले हैं, [वे] (अधरे) नीचे होंगे । (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रुओं जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन, धन धान्यों को (भ्राभर) लाकर भर दे ॥६॥

भावार्थः—राजा प्रतिकूलवर्ती सब शत्रुओं को परमेश्वर के सहाय से जीतकर सर्वथा निर्बल करे और प्रजा को सुख देवे ॥६॥

सिहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून् ।

एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रयतामा खिदा भोजनानि ॥७॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (सिहप्रतीकः) सिंह तुल्य पराक्रमी तू (सर्वाः) सब [शत्रुओं को] (विशः) मनुष्यों को (अद्धि) लाले, (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र समान भपट कर (शत्रून्) दुष्ट वैरियों को (अव बाधस्व) हटा दे । (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रु जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन धन धान्यों को (आ खिद) छीन ले ॥७॥

भावार्थः—राजा पूर्ण पराक्रम से शत्रुओं की सेनाओं और शत्रुओं का नाश करे और सब प्रकार से विजय प्राप्त करके उन्हें अपने आधीन रखे ॥७॥

सूक्तम् २३ ॥

१—७ ॥ अग्निर्वेवता । १, २, ५, ७, पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्,
३ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती ४ अनुष्टुप्, ६ पूर्वार्धे द्विष्टुप्, उत्तरोऽनुष्टुप् ॥

कण्ठनिवारणायोपदेशः—कण्ठ हटाने के लिये उपदेश ॥

अग्नेर्मेन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पार्श्वजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।

विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(प्रथमस्य) सबसे पहिले वर्तमान, (प्रचेतसः) बड़े ज्ञान वाले (पार्श्वजन्यस्य) पांच भूतों से उत्पन्न मनुष्य आदि के हितकारक (अग्नेः) सर्व-व्यापक अग्नि, अर्थात् परमेश्वर का (मेन्वे) मैं मनन करता हूँ, (यम्) जिसको [ऋषि लोग] (बहुधा) बहुत प्रकार से (इन्धते) प्रकाशित करते हैं (विशोविशः) सब प्रवेश स्थानों में (प्रविशिवांसम्) प्रवेश करने वाले परमेश्वर को (ईमहे) हम पहुँचते हैं । (सः) वह (नः) हमें (ग्रंहतः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥१॥

भाषार्थः—सबके आदि कारण, सर्वज्ञ, सर्वहितकारक, सर्वव्यापक परमेश्वर की महिमा विचारते हुए मनुष्य पुरुषार्थ करके अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर आनन्द भोगें ॥१॥

यथा हव्यं वहंसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन् ।

एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार से (हव्यम्) देने वा खाने योग्य अन्न को (वहंसि) तू पहुँचाता है, (यथा) जिस प्रकार से (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (प्रजानन्) अष्ट्रे प्रकार जानता हुआ (कल्पयसि) तू रचता है । (एव) वैसे ही (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिये (सुमतिम्) सुमति (नः) हमें (आवह) पहुँचा, (सः) वह (नः) हमें (ग्रंहतः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने पुष्टिकारक और सुखदायक अन्न सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न करके हम पर बड़ा उपकार किया है, उसके गुणों को जानकर विज्ञानपूर्वक अपनी धार्मिक बुद्धि बढ़ावें और दुष्कर्मों से पृथक् रहकर जीवनलाभ उठावें ॥२॥

यामंन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नामंगम् ।

अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(यामन् यामन्) प्रत्येक गति वा उद्योग में (उपयुक्तम्) उपयोग किये, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (आभगम्) अच्छे प्रकार से भक्ति योग्य, (वहिष्ठम्) अतिबली, (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करनेहारे, (यज्ञवृधम्) पूजनीय कर्म के बढ़ाने वाले, (घृताहुतम्) प्रकाश के भलीभाँति देनेवाले, (अग्निम्) सर्वज्ञ अग्नि, परमात्मा की (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य प्रत्येक कर्म में परमात्मा का ध्यान करके उद्योग करते हैं, वही बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को हटाकर संसार में सुख भोगते हैं ॥३॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।

हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(सुजातम्) बड़े प्रसिद्ध, (जातवेदसम्) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले अथवा धन प्राप्त कराने हारे (वैश्वानरम्) सब नरों [नायकों] के हित करने वाले, (विभुम्) सर्वशक्तिमान् (हव्यवाहम्) उत्तम अन्न पहुँचाने वाले (अग्निम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (हवामहे) हम पुकारते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर के गुण और कर्मों को जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावे और परस्पर उपकार करके आनन्दित रहें ॥४॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः ।

येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(येन) जिस (युजा) मित्र परमेश्वर के साथ (ऋषयः) ऋषि लोगों ने (बलम्) बल (अद्योतयन्) प्रकाशित किया है, और (येन) जिसके साथ (असुराणाम्) असुरों की (मायाः) मायाओं [छलों] को (अयुवन्त) हटाया है । और (येन) जिस (अग्निना) सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पणीन्) कुष्वहारी मनुष्यों को (जिगाय) जीता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥५॥

भावार्थः—जिस परमात्मा का आश्रय लेकर सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश किया है और जिसपर विश्वास करके प्रतापी मनुष्यों ने दुष्टों को जीता है, उसी परमात्मा की शरण लेकर हम विघ्नों को हटा कर सुख पावें ॥५॥

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।

येन देवाः स्वः १ रामरन्तस नो मुञ्चत्वंहंसः ॥६॥

भाषार्थः—(येन) जिसके द्वारा (देवाः) विद्वान् देवताओं ने (अमृतम्) अपरपन [मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष वा कीर्ति] को (अनु—अविग्वन्) अनन्तर पाया है, और (येन) जिसके आश्रय से (ओषधीः) यव आदि पदार्थों को (मधुमतीः) मधुर रस वाली (अकृण्वन्) बनाया है, और (येन) जिसके द्वारा (देवाः) देवताओं ने (स्वः) स्वर्ग अर्थात् महा आनन्द (आ अमरन्) यथावत् धारण किया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥६॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर की महिमा से महापुरुषों ने पुरुषार्थ करके अमरपन अर्थात् सुन्दर नाम प्राप्त किया है, और सांसारिक पदार्थों से विज्ञानपूर्वक उपकार लेकर अत्यन्त सुख पाया है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम भी उद्योग करके दुःख से छूटें ॥६॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जन्तुव्यं च केवलम् ।

स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहंसः ॥७॥

भाषार्थः—(केवलम्) केवल (यस्य) जिस परमेश्वर के (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह [जगत्] है, अर्थात् (यत्) जो कुछ (विरोचते) चमकता है और (यत्) जो कुछ (जातम्) उत्पन्न हुआ है (च) और (जन्तुव्यम्) उत्पन्न होगा । (नाथितः) मैं भक्त (अग्निम्) उम सर्वव्यापक परमेश्वर को (स्तौमि) सराहता हूँ और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूँ । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥७॥

भावार्थः—जगत्पिता परमेश्वर की आज्ञा में यह सब जगत् वर्तमान है, उसी की प्रार्थना उपासना करके मनुष्य अपने विघ्नों को हटाकर सदा धर्म में प्रवृत्त होकर प्रसन्न रहें ॥७॥

सूक्तम् २४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १, ४ पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, २, ३,

५—७ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः— पूर्ण सुख पाने का उपदेश ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उपमेम आगुः ।

यो दाशुपः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहंसः ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा का (मन्महे) हम मनन करते हैं, (शश्वत् इत्) सदा ही (अस्य) इस (वृत्रघ्नः) शत्रुनाशक वा अन्धकार निवारक का (मन्महे) हम मनन करते हैं । (इमे) ये (स्तोमाः) स्तुति के ज्ञान (मा) मुझको (उप आ अगुः) प्राप्त हुए हैं । (यः) जो परमेश्वर (दाशुपः) दानशील और (सुकृतः) सुकर्मी पुरुष के (हवम्) आवाहन को (एति) प्राप्त होता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहंसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर के गुणों को नित्य गाते हुए हम लोग पाप से बचकर धर्म प्रचार करें ॥१॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्वयुर्यो दानवानां बलमारुज ।

येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहंसः ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो (ययुः) शीघ्रगामी परमात्मा (उग्रीणाम्) प्रचण्ड सेनाओं की (उग्रबाहुः) भुजाओं को प्रचण्ड करने वाला है, (यः) जिसने (दानवानाम्) छेदनशील राक्षसों का (बलम्) बल (आरुज) तोड़ दिया है, (येन) जिस परमेश्वर करके (सिन्धवः) जल और (येन) जिस करके (गावः) वायु, सूर्य, और भूलोक (जिताः) जीते गये हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहंसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥२॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने सब विघ्नों का नाश करके जल पृथिवी आदि पदार्थों को उपकारी बनाया है, उसी की उपासना से हम सामर्थ्य बढ़ाकर क्लेशों से बचें ॥२॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।

यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहंसः ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो परमेश्वर (चर्षणिप्रः) उद्योगी पुरुषों का मनोरथ पूरा करने वाला, (वृषभः) मुल की वर्षा करने वाला, श्रेष्ठ और (स्वर्विद) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने हारा है । और (यस्मै) जिसके [आज्ञा पालन के] लिये (ग्रावाणः) शास्त्र वेत्ता पण्डित जन (नृम्णम्) बल वा धन (प्रवदन्ति) बताते

हैं। (यस्य) जिसका (अध्वरः) सन्मार्गदर्शक वा हिंसारहित व्यवहार (सप्तहोता) मातृहोताओं से [अर्थात् विषयों के ग्रहण करने और देने वाले त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि से] साक्षात् किया हुआ (मविष्टः) अतिशय आनन्द-दायक है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कण्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥३॥

भाषार्थः— मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सुखदायक गुणों को साक्षात् करके पुस्तुषार्थपूर्वक कण्टों को नाश करके आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

यहां पर 'सप्त प्राणान्' (अ० २। १२। ७) और 'सप्त ऋषयः' (अ० ४। ११। ६) इन पदों की भी व्याख्या देखो ॥

यस्य वशासं ऋषभासं उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे ।

यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(यस्य) जिस परमेश्वर के (वशासः) वशीभूत होकर (ऋषभासः) धर्म जानने वाले ऋषि लोग (उक्षणः) सुख की वर्षा करने वाले होते हैं, और (यस्मै) जिस (स्वर्विदे) सुख प्राप्त कराने वाले के लिये (स्वरवः) जयस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े जाते हैं। (यस्मै) जिसके लिये (ब्रह्मशुम्भितः) वेदों से कहा गया (शुक्रः) निर्मल सोम रस [अमृत वा मोक्षानन्द] (पवते) शुद्ध किया जाता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कण्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥४॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा की आज्ञा पालन से ऋषि महात्मा वेदों का उपदेश करके संसार को सुख देते हैं और शूरवीर लोग शत्रुओं पर जय पाते हैं तथा ब्रह्मजानी मोक्षसुख प्राप्त करते हैं, वही परमात्मा हमारे कण्टों को मिटावे ॥४॥

यस्य जुष्टि सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इष्टुमन्तं गविष्टौ ।

यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(सोमिनः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य वाले पुरुष (यस्य) जिस परमात्मा की (जुष्टिम्) प्रीति की (कामयन्ते) कामना करते हैं, (यम्) जिस (इष्टु-मन्तम्) दृष्टि वाले परमात्मा को (गविष्टौ) वज्रों के दान स्थान, संग्राम में [शूर लोग] (हवन्ते) पुकारते हैं। (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) अन्न और (यस्मिन्) जिसमें (प्रोजः) पराक्रम (शिश्रिये) आश्रित हुआ है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कण्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥५॥

भाषार्थः— जिस परमात्मा के आश्रय से ऐश्वर्य, विजय, अन्न और

पराक्रम प्राप्त होते हैं, उसी के विश्वास पर हम पुरुषार्थपूर्वक दुःखों का नाश करें ॥५॥

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।

येनोद्यतो वज्रो ऽभ्यायताहि स नो मुञ्चत्वंहसः । ६॥

भाषार्थः—(यः) जो (प्रथमः) मुख्य परमात्मा (कर्मकृत्याय) कर्म करने वाले के हित के लिये (जज्ञे) प्रकट हुआ है, (यस्य) जिस (प्रथमस्य) श्रेष्ठ परमात्मा का (वीर्यम्) सामर्थ्य (अनुबुद्धम्) सर्वत्र जाना गया है । (येन) जिस परमात्मा करके (उद्यतः) उठाये गए (वज्रः) वज्र ने (अहिम्) हनन करने वाले शत्रु को (अभ्यायत) हनन कर दिया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥६॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वैदिक कर्म करने वालों का सदा आनन्ददायक है, उसी शत्रुनाशक जगदीश्वर की कृपा से हम अपने दोषों को त्याग कर सदा प्रसन्न रहें ॥६॥

यः संग्रामान् नर्यति संयुधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि ।

स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥७॥

भाषार्थः—(यः) जो (वशी) स्वतन्त्र परमात्मा (संग्रामान्) संग्राम करने वाले योधायों को (युधे) युद्ध करने के लिये (संनयति) यथावत् ले चलता है, और (यः) जो (द्वयानि) दो प्रकार की [शारीरिक और आत्मिक] (पुष्टानि) पुष्टियाँ (संसृजति) यथावत् देता है । (नाथितः) मैं भक्त (इन्द्रम्) परमेश्वर्य वाले परमात्मा को (स्तौमि) सराहता हूँ और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूँ (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥७॥

भाषार्थः—जो परमेश्वर सत्यवादी शूरों का जय करता है और वेद द्वारा शरीर और आत्मा को सुख देता है, उसी परमात्मा की उपासना और प्रार्थना से सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर कष्टों को निवारें ॥७॥

सूक्तम् २५ ॥

१—७ ॥ वायुसवितारौ देवते १, २, ४—६ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्ति-
भोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ७ बृहती छन्दः ॥

वायुसूर्यगुणोपदेशः—पवन और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

वायोः सवितुर्विदधानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रसंथः ।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(वायोः) गतिशील वा दोषनाशक पवन के और (सवितुः) सर्वप्रेरक सूर्य के (विदधानि) कर्मों को (मन्महे) हम विचारते हैं । (यौ) जो तुम (यौ) गमन-शील होकर (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत् में (विशथः) प्रवेश करते हो (च) और (रसंथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दोनों (विश्वस्य) सब जग के (परिभू) सहारा देने वाले (बभूवथुः) हुए हो, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—वायु और सूर्य के यथावत् गुण जानकर मनुष्य आत्मिक शारीरिक और सामाजिक उन्नति करें ॥१॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजौ युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥२॥

भाषार्थः—(ययोः) जिन दोनों [वायु सूर्य] के (संख्याता) गिने हुए (पार्थिवानि) पृथिवी के (वरिमा) विस्तार हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों करके (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजः) जल वा जगत् (युपितम्) विमोहित किया गया [भेद मण्डल में ताड़न शक्ति से रोका गया] है । (ययोः) जिन दोनों की (प्रायम्) उत्तम गति को (कश्चन) कोई भी जीव (न) नहीं (अन्वानशे) पहुंचा है, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भाषार्थः—जगत् व्यापी वायु और सूर्य के प्रभाव से जल पृथिवी से आकाश पर और आकाश से पृथिवी पर आता है, और उनको मनुष्य जितना जितना खोजते हैं, उतना उतना ही अधिक उनका विषय जानते जाते हैं, उन वायु और सूर्य से यथावत् उपकार लेकर हम लाभ उठावें ॥२॥

तव व्रते निविशन्ते अनासस्त्वयुदिते प्रेरते चित्रभानो ।

युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥३॥

भाषार्थः—[हे वायु] (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अनासः) सब जने (निविशन्ते) प्रवृत्त होते हैं, और (चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश वाले सूर्य ! (त्वयि उदिते) तेरे उदय होने पर [कामों में] (प्रेरते) लगते हैं, (वायो) हे वायु ! (च) और (सविता) हे सूर्य ! (युवम्) तुम दोनों (भुवनानि) सब प्राणियों को

(रक्षयः) बचाते हो, (तौ) तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥३॥

भाषार्थः—वायुविद्या और सूर्यविद्या से उपकार लेकर मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ उठावे ॥३॥

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि क्षिमिदां च सेधतम् ।

संयुज्जयां सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(वायो) हे वायु (च) और (सविता) हे सूर्य ! तुम दोनों (इतः) यहां से (दुष्कृतम्) मलिन काम को (अप—अप सेधतम्) हटा दो, (रक्षांसि) निवारणीय रोगों (च) और (क्षिमिदाम्) कर्म छेदन करने वाली पीड़ा को (अप सेधतम्) निकाल दो । (हि) क्योंकि (अजंया) आत्मिक पुष्टि के साथ (संयुज्जयः) तुम दोनों मिलाते हो और (बलेन) शारीरिक बल के साथ (सम्—संयुज्जयः) तुम दोनों संयुक्त करते हो (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य पवन और सूर्य के यथावत् सेवन और उपयोग से दोषों और मलिनता को दूर करके स्वस्थ रहें और आत्मिक तथा शारीरिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥४॥

रयि मे पोषं सवितो वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।

अयक्ष्मतांति मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(सविता) सूर्य (उत) और (वायुः) पवन (मे) मेरे लिये (तनू—तन्वाम्) अपने शरीर में वर्तमान (सुशेवम्) अति सुखदायक (रयिम्) धन, (पोषम्) पुष्टि और (दक्षम्) बल को (आ सुवताम्) भेजें । (इह) यहां पर (अयक्ष्मतातिम्) नीरोगता और (महः) तेज (धत्तम्) तुम दोनों दान करो, (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य वायु और सूर्य के विज्ञान से ऋद्धि, सिद्धि, बल और स्वस्थता प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥५॥

प्र सुमतिं संवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मां दयायः ।

अर्वाग् वामस्य प्र वतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६॥

भाषार्थः—(सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे वायु ! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (सुमतिम्) सुमति और (महस्वन्तम्) तेज वाले (मत्सरम्) हर्ष को (प्र) अच्छे

प्रकार (मादयाथः) तुम दोनों परिपूर्ण करो । (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (प्रवतः) बढ़ाई वाले (वामस्य) घन का (नि) नियमपूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दान करो । (तौ) सो तुम दोनों (न) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य सूर्य और वायु के गुणों का यथावत् प्रयोग करके बुद्धि प्रताप और घन बढ़ा कर आनन्द भोग ॥६॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।

स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भावार्थः - (देवयोः) उन दोनों देवों की [= के लिये] (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (आशिषः) कामनायें (नः) हमारे (धामन्) देह में (उप अस्थिरन्) उपस्थित हुई हैं । (देवम्) दिव्य (सवितारम्) सूर्य (च) और (वायुम्) वायु की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूँ । (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य सूर्य और वायु से गुण ग्रहण करने के लिये पूरी इच्छा अपने हृदय में स्थित करके प्रयत्नपूर्वक लाभ उठावे और सदा सुखी रहे ॥७॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—७ ॥ द्यावापृथिव्यौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप् । शेषाः पादाः—
१ स्वरान् पद्याबृहती, २—५ त्रिष्टुप्, ६, ७ बृहती ॥

द्यावापृथिव्योर्गुणोपदेशः— सूर्य और पृथिवी के गुणों का उपदेश ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचैतसौ ये अग्रथेथाम् अमिता
योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवंतं वसूनां ते नौ मुञ्चतमंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(सुभोजसौ) हे उत्तम भोग देने वाली वा पालन करने वाली (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी ! (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, (ये) जिन तुम दोनों ने (अमिता) अगणित (योजनानि) संयोग कर्मों को (अप्रवेचाम्) प्रसिद्ध किया है और (हि) अवश्य ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवत्) हुई हो, (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से अन्न, धन और अनेक संयोग वियोग क्रियाएँ प्रकट होती हैं, मनुष्य उनके गुणों का यथावत् उपयोग करके आनन्द भोगें ॥१॥

प्रतिष्ठे ह्यभवत् वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः । २॥

भाषार्थः—(प्रवृद्धे) हे बड़ी वृद्धि वाली, (देवी) दिव्य स्वरूप (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाली, (उरूची) बहुत पदार्थ प्राप्त कराने वाली तुम दोनों (हि) ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवत्) हुई हो । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवत्) होओ । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य सूर्य और पृथिवी के विज्ञान से अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करके सुखी रहें ॥२॥

असंतापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(सुतपसौ) सुन्दर ताप रखने वाली, (असंतापे) संताप न देने वाली, (उर्वी) चौड़ी, (गम्भीरे) गहरी [शान्त स्वभाव वाली] (कविभिः) विद्वानों से (नमस्ये) नमस्कार योग्य तुम दोनों को (ग्रहम्) मैं (हुवे) पुकारता हूँ । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये..... म० २ ॥३॥

भाषार्थः—सूर्य के पिण्ड में ताप है जिससे पृथिवी तापयुक्त होती है । इस प्रकार दोनों के ताप से सब जगत् के पदार्थ रक्षित रहते हैं । उन दोनों के यथावत् ज्ञान से मनुष्य बुद्धिमान् होकर आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

ये अमृतं विभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या विभृथो ये मनुष्यान् ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो' मुञ्चतमंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम दोनों (अमृतम्) मृत्यु से बचने के साधन और (ये) जो तुम (हवींषि) देने और ग्रहण करने योग्य अन्न आदि पदार्थों को (विभृथः) धारण करती हो, (ये) जो तुम दोनों (स्रोत्याः) जल वा नदियों को और (ये) जो तुम दोनों (मनुष्यान्) मनुष्यों को (विभृथः) धारण करती हो । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये ...म० २ ॥४॥

भाषार्थः—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से वृष्टि होकर अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, जिनसे मनुष्य आदि प्राणियों को अमृत अर्थात् अन्न आदि पदार्थ मिलते हैं ॥४॥

ये उस्त्रियां विभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वा विश्वा भुवनान्यन्तः ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो' मुञ्चतमंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम दोनों (उस्त्रियाः) गौश्रां को और (ये) जो तुम दोनों (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (विभृथः) धारण करती हो, (ययोः वाम्) जिन तुम दोनों के (अन्तः) भीतर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक हैं । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये ...म० २ ॥५॥

भाषार्थः—सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से किरण द्वारा वृष्टि होकर गौ आदि सब पशु और सब वृक्ष पुष्ट होते हैं और सब लोक उनके ही प्रभाव में ठहरे हैं ॥५॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किञ्चन शक्नुवन्ति ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो' मुञ्चतमंहसः ॥६॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम दोनों (कीलालेन) जाठराग्नि के निवारण करने वाले अन्न से, और (ये) जो तुम दोनों (घृतेन) जल से (तर्पयथः) तृप्त करती हो, (याभ्याम् ऋते) जिन तुम दोनों के बिना [सब प्राणी] (किम् चन) कुछ भी (न) नहीं (शक्नुवन्ति) शक्ति रखते हैं । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छड़ाओ ॥६॥

भाषार्थः—सूर्य और पृथिवी के प्रभाव से अन्न और जल आदि

पदार्थ उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं। उनके विज्ञान से सब मनुष्य सुखी रहें ॥६॥

यन्मेदमभि॒शोच॑ति येन॒येन॒ वा कृ॑तं पौरु॒षेया॒च्च दै॒वात् ।

स्तौ॑मि द्यावा॒पृथि॒वी ना॒थितो॒ जोंह॒वीमि॒ ते नों मु॒ञ्च॒तमंह॑सः ॥७॥

भाषार्थः—(येनयेन) जिस किसी कारण से (पौरुषेयात्) पुरुष [इस शरीर] से किया हुआ (वा) अथवा (दैवात्) दैव [प्रारब्ध, पूर्वजन्म] के फल से प्राप्त हुआ (यत्) जो (इदम्) यह (कृतम्) कर्म (न) इस समय (मा) मुझको (अभि॒शोच॑ति) शोक में डालता है। [इसलिये] (नाथितः) मैं अधीन होकर (द्यावा॒पृथि॒वी) सूर्य और पृथिवी को (स्तौ॑मि) सराहता हूँ और (जोंह॒वीमि॒) बार-बार पुकारता हूँ (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंह॑सः) कष्ट से (मुञ्च॒तम्) छुड़ाओ ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुकर्म करके इस जन्म वा प्रारब्ध से प्राप्त हुए दुःख का नाश करके सूर्य पृथिवी आदि लोकों के उपयोग से सुख भोगें ॥७॥

सूक्तम् २७ ॥

१—७ ॥ मरुतो देवताः ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, शेषाः पादाः— १—४, ६, ७, त्रिष्टुप्, ५ बृहती छन्दः ॥

मरुतां गुरोपदेशः—पवन के गुरों का उपदेश ॥

म॒रुतां॑ म॒न्वे अ॒धि मे॒ ब्रुव॑न्तु प्रेमं॒ वाजं॒ वाज॑साते अव॒न्तु ।

आ॒शुनि॑व सुय॒मान॒ह् उ॒तये॒ ते नों मु॒ञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥१॥

भाषार्थः—(मरुताम्) दोष नाशक वायुओं का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ। (मे) मेरे लिये (अधि) अनुग्रह से (ब्रुवन्तु) बोलें और (इमम्) इस (वाजम्) बल को (वाजसाते) अन्न के सुख वा दान के निमित्त (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें। (आशून् इव) शीघ्रगामी घोड़ों के समान (सुयमान्) उन सुन्दर नियम वालों को (उतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्मे) मैंने पुकारा है। (ते) वे (नः) हमें (अंह॑सः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य प्राण अपान व्यानरूप वायुओं के शोषन, सेवन, और प्राणायाम से बल और अन्न प्राप्त करके अपनी रक्षा करें ॥१॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।

पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृस्ते नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो [मरुत् देवता] (सदा) सदा (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने वाले जल को (व्यचन्ति) विविध प्रकार से पहुंचाते हैं, और (ये) जो (रसम्) रस को (श्रोषधीषु) अन्न आदि श्रोषधियों में (आसिञ्चन्ति) सींच देते हैं । (पृश्निमातृन्) छूने योग्य पदार्थों को वा आकाश के नापने वाले (मरुतः) उन वायु देवताओं को (पुरो दधे) मैं सन्मुख रखता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहंसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य वायु के गुणों में विज्ञान प्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥२॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां ज्वमर्वतां कवयो य इन्वथ ।

शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (कवयः) चलने फिरने वाले अथवा सुखाने वाले [मरुत् देवता] (धेनूनाम्) गीओं का (पयः) दूध, (श्रोषधीनाम्) अन्न आदि श्रोषधियों का (रसम्) रस और (ज्वमर्वताम्) घोड़ों का (ज्वम्) वेग (इन्वथ) भर देते हो । (शग्माः) शक्ति वाले (मरुतः) वे आप दोषनाशक वायु गण (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुख दायक (भवन्तु) होंवें । (ते) वे (नः) हमें (अंहंसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥३॥

भाषार्थः—प्राण अपान आदि द्वारा सब पदार्थों में शक्ति पहुँचती है । उन वायु प्रवाहों का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।

ये अद्भिराशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥४॥

भाषार्थः—(ये) जो [वायुगण] (अपः) जल को (समुद्रात्) पार्थिव समुद्र से (दिवम्) आकाश में (उद्वहन्ति) उठाकर पहुंचाते हैं और (दिवः) आकाश से (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (सृजन्ति) छोड़ देते हैं । और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल के साथ (चरन्तु) चलते रहते हैं । (ते) वे (नः) हमें (अंहंसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥४॥

भाषार्थः—सूर्य के किरणों से मिल कर वायु गण जल आकाश में ले

जाते और पृथिवी पर बरसाते हैं। उनके उपकारों को समझ कर मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥४॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।

ये अद्भिरिष्टाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(ये) जो [मरुतगण] (वयः) जीवन को (कीलालेन) अन्न से और (ये) जो (घृतेन) जल से (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं, (वा) और (ये) जो (मेदसा) मेदा अर्थात् चर्बी से (संसृजन्ति) संयुक्त करते हैं। और (ये) जो (ईष्टानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल से [प्राणियों को] (वर्षयन्ति) सींचते हैं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥५॥

भाषार्थः—वायु वेग द्वारा अन्न, जल मिलकर शरीर रक्षा के लिये रक्त अस्थि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन वायु गणों के गुणों से हम सदा स्वस्थ और पुष्ट रहें ॥५॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदगारं ।

यूयमोशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥६॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विजयशील (मरुतः) दोषनाशक वायुगण ! (यदि) यत्नशील (इदम्) चलता हुआ जगत् (इत्) निषेध करके [तुम्हारे] (मारुतेन) दोषनाशक धर्म से और (दैव्येन) दिव्यपन से (ईदृक्) ऐसा (यदि) यत्नशील (आर) प्राप्त हुआ है। (वसवः) हे निवास कराने वाले ! (यूयम्) तुम (तस्य) उस जगत् के (निष्कृतेः) उद्धार के (ओशिध्वे) समर्थ होते हो। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥६॥

भाषार्थः—यह सब जगत् वायु के कारण चेष्टा करता हुआ उद्योगी रहता है, उस वायु के गुणों को जान कर सब मनुष्य प्रसन्न रहें ॥६॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्यः पृतनासूयम् ।

स्तौमि मरुतो नाथितो जाह्नवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥७॥

भाषार्थः—(मारुतम्) दोषनाशक वायु गणों का (अनीकम्) सेनादल और (शर्यः) बल (पृतनासु) संग्रामों में (तिग्मम्) तीक्ष्ण, (सहस्वत्) बड़ा साहसी और (उग्रम्) बड़ा प्रचण्ड (विदितम्) विदित है। (नाथितः) अधीन मैं (मरुतः) वायु गणों

को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥७॥

भाषार्थः—जो साहसी शूरवीर संग्रामों में अपने श्वास प्रश्वास को सावधान रखके वायु का यथावत् प्रयोग करते हैं, वे विजयी होकर आनन्द भोगते हैं ॥७॥

सूक्तम् २८ ॥

१—७ ॥ भवाशर्वो देवते ॥ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः - परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

भवाशर्वो मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वाभिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।

यावस्येशाये द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः । १॥

भाषार्थः—(भवाशर्वो) हे सुख उत्पन्न करने वाले और शत्रुनाशक [परमेश्वर के गुणों !] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं । (तस्य) उस [जगत्] का (वित्तम्) वे तुम दोनों ज्ञान रखते हो, (ययोःवाम्) जिन तुम दोनों के (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह (यत्) जो कुछ जगत् (विरोचते, प्रकाशमान है । (यौ, जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ, जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाये) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावें ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर सर्वजनक सर्वशासक और सर्वज है । उसकी उपासना करके सब मनुष्य सुखी रहें ॥१॥

इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी अर्थात् ईश्वर का ग्रहण है ॥

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविष्णुभृतामसिंघौ ।

यावस्येशाये द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः । २॥

भाषार्थः—(ययोः) जिन दोनों का [वह सब है] (यत् चित्) जो कुछ (अभ्यध्वे) समीप में (उत) और (दूरे) दूर देश में है । (यौ) जो तुम दोनों (इष्णुभृताम्) हिमाकारियों के (असिंघौ) अत्यन्त गिराने वाले (विदितौ) विदित हो । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये म० १ ॥२॥

भाषार्थः—परमेश्वर सर्व अन्तर्पामी और शत्रुनाशक है हम उसकी उपासना से सदा पुरुषार्थी रहें ॥२॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणां हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नैम्यश्रौ ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (स्तुवन्) स्तुति करता हुआ (उग्रौ) उग्र स्वभाव वाले, (सहस्राक्षौ) सहस्रों व्यवहारों में व्यापक रहने वाले वा दृष्टि रखने वाले, (वृत्रहणा = ० - णी) शत्रुओं वा अन्धकार के नाश करने वाले, (दूरेगव्यूती) दूर तक प्रकाश का संयोग रखने वाले, दोनों को (हुवे) मैं पुकारता हूं और (एमि) प्राप्त होता हूं । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये... म० १ ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वदर्शक, शत्रु वा अज्ञान नाशक और सूर्य आदि लोकों का प्रकाशक है, उसकी स्तुति उपासना करके हम सदा पुरुषार्थ करें ॥३॥

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्रचेदसाष्टमभिभां जनेषु ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(यौ) जिन तुम दोनों ने (बहु) बहुत सा जगत् (साकम्) एक साथ (अग्रे) पूर्वकाल में (आरेभाथे) आरम्भ किया (च) और जिन तुम दोनों ने (इत्) ही (जनेषु) प्राणियों में (अभिभाम्) प्रतिभा अर्थात् बुद्धि को (प्र असाष्टम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न किया । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये... म० १ ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न करके प्राणियों में इष्ट अनिष्ट और सुख दुःख जानने के लिये बुद्धि दी है, उसकी ही भक्ति से हम सदा प्रसन्न रहें ॥४॥

ययौर्विधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेपूत मानुषेषु ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(ययोः) जिन तुम दोनों के (वधात्) हनन सामर्थ्य से (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषेषु अन्तः) मनुष्यों के बीच (कश्चन) कोई भी (न) नहीं (अपपद्यते) छटकर जाता है । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये... म० १ ॥५॥

भाषार्थः—सर्व नियन्ता जगदोश्वर की आज्ञा पालन करके सब मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

यः कृत्याकुन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६॥

भाषार्थः—(यः) जो (कृत्याकुत्) हिंसाकारी, (मूलकृत्) मूल कतरने वाला और (यातुधानः) पीड़ा देने वाला पुरुष है, (तस्मिन्) उस पर (उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (वज्रम्) वज्र (निधत्तम्) गिराओ (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥६॥

भाषार्थः—परमेश्वर दुष्टनाशक और शिष्टरक्षक है, उसकी ही उपासना से मनुष्य बलवान् हों ॥६॥

अधिं नो ब्रूतं पृतनामुग्रौ संवज्रेण सृजतं यः किमीदी ।

स्तौमि भवाश्वौ नाथितो जोह्वीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भाषार्थः—(उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (नः) हमसे (पृतनासु) संग्रामों में (अधिं) अनुग्रह से (ब्रूतम्) बोलो और [उसको] (वज्रेण) वज्र के साथ (सम् सृजतम्) संयुक्त करो (यः) जो (किमीदी) अब क्या हो रहा है, यह क्या हो रहा है, ऐसा खोजने वाला लूटरा पुरुष है, (नाथितः) मैं अधीन होकर (भवाश्वौ) सुख उत्पन्न करने वाले और शत्रु नाश करने वाले तुम दोनों को (स्तौमि) सराहता हूँ और (जोह्वीमि) बारंबार पुकारता हूँ । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य सदाचारी और सत्यवादी होकर शत्रुओं को संग्राम में जीतें और परमेश्वर की उपासना करके सदा प्रसन्न रहें ॥७॥

सूक्तम् २६ ॥

१—७ ॥ मित्रावरुणी देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, ५—७ जगती ॥

पुरुषार्थकरणाद्योपदेशः—पुरुषार्थ कर्म्म का उपदेश ॥

मन्वे वा मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदेथे ।

प्र सत्यावां नमवंथो भरंषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(ऋतावधौ) हे सत्य के बढ़ाने वाले (सचेतसौ) समान ज्ञान

कराने हारे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण [प्राण और अपान अथवा दिन और रात] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, (यौ) जो तुम दोनों (ब्रह्मणः) ब्रह्मकारियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य प्राणायाम करके श्वास प्रश्वास पर दिन रात शुभ चिन्तन करते हैं, वे सत्यवादी सत्यसंकल्पी पुरुष आत्मदोषों को त्याग कर संसार में विजय पाते और आनन्द भोगते हैं ॥१॥

सचेतसौ ब्रह्मणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।

यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणां सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२॥

भाषार्थः—(सचेतसौ) हे समान ज्ञान कराने वाले ! (यौ) जो तुम दोनों (ब्रह्मणः) ब्रह्मकारियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखने वाले (यौ) जो तुम दोनों (बभ्रुणां) पोषण के साथ (सुतम्) उत्पन्न अगत् वा पराश्रमी वा पुत्र समान सेवक पुरुष को (गच्छथः) प्राप्त होते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य श्वास प्रश्वास और पल पल पर दृष्टि रख कर वैदिक कर्म करते रहते हैं, वे सत्यप्रतिज्ञ पुरुष बल पराक्रम प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहते हैं ॥२॥

यावद्भिरसमवथो यावगस्ति मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् ।

यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (अद्भिरसम्) उद्योगी वा जानी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (अगस्तिम्) वक्रगति पाप के गिरा देने वाले, (जमदग्निम्) [यज्ञ वा शिला सिद्धि में] प्रकाशमान अग्नि वाले और (अत्रिम्) दोष के नाश करने वाले, यद्वा निरन्तर गतिशील, यद्वा कायिक वाचिक और मानसिक तीन दोष रहित महात्मा को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (कश्यपम्) सोमरस पीने वाले वा सूक्ष्मदर्शी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (वसिष्ठम्) बड़े धनी और बड़े श्रेष्ठ जन को (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य (मित्रावरुणा) दिन रात अर्थात् समय, और प्राण, अपान अर्थात् इन्द्रियों के यथावत् प्रयोग से ज्ञानी, शुद्ध चित्त, और सूक्ष्मदर्शी होकर सदा आनन्द भोगते हैं ॥३॥

यौ श्यावाश्वमवन्थो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।

यौ विमदमवन्थः सप्तवध्रि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

भाषार्थः—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (श्यावाश्वम्) ज्ञान में व्याप्ति रखने वाले को, (वध्र्यश्वम्) मित भोजन करने वाले को, (पुरुमीढम्) बड़े धनी को और (अत्रिम्) नित्य उद्योगी को (अवन्थः) बचाते हो । (यौ) जो तुम दोनों (विमदम्) मदरहित वा अदीन पुरुष को और (सप्तवध्रिम्) [पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन] सात को संयम में रखने वाले पुरुष को (अवन्थः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य समय और प्राण के संयम से ज्ञानपूर्वक शुद्ध आहार विहार करके निरभिमानी और अदीन अर्थात् उँत्साही, स्वस्थ और धनी होकर सदा आनन्दित रहते हैं ॥४॥

यौ भरद्वाजमवन्थो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।

यौ कक्षीवन्तमवन्थः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

भाषार्थः—(यौ) जो (मित्र वरुण) मित्र और वरुण तुम दोनों (भरद्वाजम्) अन्न वा बल, वा ज्ञान के धारण करने वाले को, (यौ) जो तुम (गविष्ठिरम्) वेद वाणी में स्थिर को, (विश्वामित्रम्) सब के मित्र को, वा सब हैं मित्र जिसके उसको, और (कुत्सम्) संगतिशील वा दोषों के कतरने वाले को (अवन्थः) बचाते हो, (यौ) जो तुम दोनों (कक्षीवन्तम्) उद्योगी वा शासनशील (उत) और (कण्वम्) स्तुति करने वाले मेधावी पुरुष को (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्थः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कण्ठ से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥५॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी, वेदों की आज्ञा पालन करने वाले सर्वहितकारक आदि पुरुषों के लिये समय और आत्मबल सदा अनुकूल रहते हैं ॥५॥

यौ मेधातिथिमवन्थो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ ।

यौ गोतममवन्थः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६॥

भाषार्थः—(यौ) जो (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण और अपान तुम दोनों ! (मेधातिथिम्) धारणावली बुद्धि के नित्य प्राप्त करने वाले को और (यौ) जो तुम दोनों (त्रिशोकम्) कायिक, वाचिक, और मानसिक तीन दोषों पर शोक करने वाले को, और (यौ) जो तुम दोनों (उशनाम्) कामना योग्य नीति को और (काव्यम्) बुद्धिमानों के कर्म को (अवयः) बचाते हो । (यौ) जो तुम दोनों (गोतमम्) अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले को (उत्त) और (मुद्गलम्) मोक्ष अर्थात् हर्ष देने वाले को (प्र) अच्छे प्रकार (अवयः) बचाते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छड़ाओ ॥६॥

भाषार्थः—जो मनुष्य तपश्चर्या करके अपने समय और शारीरिक मानसिक शक्तियों का यथावत् उपयोग करते हैं वे उत्तम नीति और कर्म प्राप्त करके आनन्दित होते हैं ॥६॥

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरंश्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।

स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

भाषार्थः—(ययो) जिन दोनों का (सत्यवर्त्मा) सत्यमार्ग वाला, (ऋजुरंश्मिः) सरल व्याप्ति वा डोरी वाला (रथः) रथ (मिथुया) हिंसा के साथ (चरन्तम्) चलते हुए पुरुष को (दूषयन्) सताता हुआ (अभियाति) चढ़ाई करता है । (नाथितः) मैं प्रथीन होकर (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण अपान को (स्तौमि) सराहता हूँ । और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूँ, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छड़ाओ ॥७॥

भाषार्थः—जो मनुष्य समय और आत्मिक शक्तियों का कुप्रयोग करते हैं, वे ही कर्म उन दुराचारियों का नाश कर देते हैं, इसलिये मनुष्य अपने काल और सामर्थ्य को उत्तम कामों में लगाकर प्रसन्न रहें ॥७॥

सूक्तम् ३० ॥

१—८ ॥ राष्ट्री देवता । १—५, ७, ८ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः ।

अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं [परमेश्वर] (रुद्रेभिः) आनदाताओं वा दुःखनाशकों (वसुभिः) निवास कराने वाले पुरुषों के साथ (उत्त) और (अहम्) मैं ही

(विश्वदेवः) सब दिव्य गुण वाले (आदित्यः) प्रकाशमान, अथवा अदीन प्रकृति से उत्पन्न हुए सूर्य आदि लोकों के साथ (चरामि) चलता हूँ। (अहम्) मैं (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) दिन और रात को, (अहम्) मैं (इन्द्राग्नी) पवन और अग्नि को, (अहम्) मैं ही (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी को (विभमि) धारण करता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक और सर्वपोषक है, उसकी उपासना से सब मनुष्य नित्य उन्नति करें ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२५ में है। वहाँ सूक्त का वागाम्भृणी ऋषि और वागाम्भृणी ही देवता है ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्योवेश्यन्तः ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (वसूनाम्) धनों की (संगमनी) पहुँचाने वाली और (यज्ञियानाम्) संगति योग्य पूजनीय विषयों की (चिकितुषी) जानने वाली (प्रथमा) पहिली (राष्ट्री) नियम करने वाली शक्ति हूँ। (देवाः) विद्वानों ने (पुरुत्रा) बहुत प्रकारों से (भूरिस्थात्राम्) अनेक पदार्थों में ठहरी हुई (ताम् मा) उस मुझको (भूरि) अनेक विधि से (आवेश्यन्तः) [अपने आत्मा में] प्रवेश कराके (व्यदधुः) विविध प्रकार धारण किया है ॥२॥

भाषार्थः—अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वपोषक, सर्वनियन्ता परमेश्वर सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में विद्यमान है। विद्वान् लोग ही उसकी अपार महिमा का अनुभव करते हैं ॥२॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् । ३ ।

भाषार्थः—(अहम्) मैं (एव) ही (स्वयम्) आप (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषाणाम्) मतनशील मनुष्यों का (जुष्टम्) प्रिय (इदम्) यह वचन (वदामि) कहता हूँ। [अर्थात्] (यम्) जिस जिसको (कामये) मैं चाहता हूँ (तम्-तम्) उस उस को ही [कर्मानुसार] (उग्रम्) तेजस्वी, (तम्) उसको ही (ब्रह्माणम्) वृद्धिशील ब्रह्मा, (तम्) उसी को (ऋषिम्) सन्मार्गदर्शक ऋषि, (तम्) उसी को (सुमेधाम् = ०—धम्) उत्तम बुद्धि वाला (कृणोमि) बनाता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—परमात्मा सब लोकों और प्राणियों को शरण में रखकर

उपदेश करता है कि मैं अपने 'आज्ञाकारियों' को प्रीतिपूर्वक उत्तम गति देता हूँ ॥३॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यन्ति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥४॥

भाषार्थः—(मया) मेरे द्वारा ही (सः) वह (अन्नम्) अन्न (अति) खाता है (यः) जो कोई (विपश्यति) विशेष करके देखता है, (यः) जो (प्राणति) श्वास लेता है और (यः) जो (ईम्) यह (उक्तम्) वचन (शृणोति) सुनता है । (माम्) मुझे (अमन्तवः) न जानने वाले (ते) वे पुरुष (उप) हीन होकर (क्षियन्ति) नष्ट हो जाते हैं । (श्रुत) हे सुनने में समर्थ जीव ! (श्रुधि) तू सुन, (ते) तुमसे (श्रद्धेयम्) आदर योग्य सत्य (वदामि) बताता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—विवेकी पुरुष परमात्मा को जान कर आनन्द, और अज्ञानी नास्तिक उससे विमुख होकर दुःख भोगते हैं, यह परमेश्वर का उद्देश है ॥४॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥५॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (रुद्राय) दुःखनाशक शूर के लिये (ब्रह्मद्विषे) ब्राह्मणों के द्वेषी (शरवे) हिसक के (हन्तवै) मारने को (उ) ही (धनुः) धनुष (आ तनोमि) सब ओर से तानता हूँ । (अहम्) मैं (जनाय) भक्त जन के लिये (समदम्) आनन्द-युक्त [जगत्] (कृणोमि) करता हूँ । (अहम्) मैंने (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक में (आ) सब ओर से (विवेश) प्रवेश किया है ॥५॥

भाषार्थः—सर्वव्यापक परमेश्वर शिष्टों की रक्षा के लिये दुरष्टों का नाश करता है और अपने भक्तों को सब स्थानों में आनन्द देता है ॥५॥

अहं सोमपाहनसं विभर्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।

अहं दंशामि द्रविणा हविष्मते सुप्राच्या इ यजमानाय सुन्वते ।६॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (आहनसम्) प्राप्तियोग्य (सोमम्) ऐश्वर्य को (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) रसों के छिन्न भिन्न करने वाले सूर्य को (उत) और (पूषणम्) पोषण करने वाली पृथिवी को और (भगम्) सेवनीय चन्द्रमा को (विभमि) धारण करता हूँ । (अहम्) मैं (हविष्मते) भक्ति रखने वाले, (सुन्वते) विद्या रस का निचोड़ करने

हारे (यजमानाय) देवताओं की पूजा वा संगति करने हारे पुरुष को (सु प्राच्या = ०—
णि) सुन्दर सुन्दर रक्षा योग्य (द्रविणा) अनेक धन (वधामि) देता हूँ ॥६॥

भावार्थ:—परमेश्वर ने अनेक प्रकार के ऐश्वर्य और सूर्य आदि बड़े
उपकारी पदार्थ रचे हैं। विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा उनसे लाभ प्राप्त करके
आनन्द भोगते हैं ॥६॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व १' न्तः समुद्रे ।

ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोत्तामूं द्यां वर्ष्मणोपं स्पृशामि ॥७॥

भावार्थ:—(अहम्) मैं (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन्) नियम के निमित्त
(पितरम्) पालन करने वाले गुरु को (सुवे) उत्पन्न करता हूँ। (मम) मेरा (योनिः)
घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में वर्तमान (अप्सु अन्तः) व्यापनशील रचनाओं के भीतर है,
(ततः) इसी से (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (वितिष्ठे) व्यापक होकर
वर्तमान हूँ (उत) और (अमूम् द्याम्) उस प्रकाशमान सूर्य को (वर्ष्मणा) अपने
ऐश्वर्य से (उप स्पृशामि) छूता रहता हूँ ॥७॥

भावार्थ:—परमेश्वर सबमें व्यापक रहकर सबका पालन कर्ता और
नियन्ता तथा उपास्य है ॥७॥

अहमेव वातं इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वां ।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥८॥

भावार्थ:—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों को
(आरभमाणा=आलभमाना) छूती हुई शक्ति (वातः इव) पवन के समान (प्रवामि)
चलती रहती हूँ। (दिवा) सूर्य लोक से (परः) परे और (एना पृथिव्या) इस पृथिवी
से (परः) परे [वर्तमान होकर] (एतावती) इतनी बड़ी शक्ति (महिम्ना) अपनी
महिमा से (संबभूव) हो गई हूँ ॥८॥

भावार्थ:—जैसे वायु सब सांसारिक पदार्थों का अवलम्बन कर्ता है
उसी प्रकार परमात्मा वायु का भी आश्रय दाता है और वह इन्द्रियों के
विषय, सूर्य, पृथिवी आदि पदार्थों से अलग है। उसकी महिमा को जान
कर सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर आनन्दित रहें ॥८॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-७ ॥ मनुर्वेवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्, ४-७ जगती ॥

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

त्वयां मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासौ मरुत्वन् ।

तिग्मेष्व आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥१॥

भाषार्थः—(मरुत्वन्) हे शूरवीरता वाले (मन्यो) क्रोध ! (त्वया) तेरे साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़ कर [शत्रुओं को] (आरुजन्तः) तोड़ते फोड़ते हुए, (हर्षमाणाः) हर्ष मानते हुए, (हृषितासः) संतुष्ट मन, (तिग्मेष्वः) तीक्ष्ण बाणों वाले, (आयुधा) शस्त्रों को (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते हुए, (अग्निरूपाः) अग्निरूप [अग्नि तुल्य प्रचण्ड कर्मों वाले, अथवा समनद्ध कवच पहिने हुए] (नरः) हमारे नर [मुखिया लोग] (उप प्र यन्तु) व्यापकर चढ़ाई करें ॥१॥

भाषार्थः—जो शूरवीर दुष्टों पर क्रोध करके चढ़ाई करते हैं, वे विजयी होते हैं ॥१॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।

हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥२॥

भाषार्थः—(मन्यो) हे क्रोध ! (अग्निः इव) अग्नि के समान (त्विषितः) प्रज्वलित होकर (सहस्व) समर्थ हो, (सहुरे) हे प्रबल ! (हूतः) आवाहन किया हुआ तू (नः) हमारा (सेनानीः) सेनापति (एधि) हो । (शत्रून्) शत्रुओं को (हत्वाय) मारकर (वेदः) उनका धन (वि भजस्व) बांट दे, और (ओजः) बल (मिमानः) दिखता हुआ तू (मृधः) हिंसक लोगों को (वि नुदस्व) इधर उधर फेंक दे ॥२॥

भाषार्थः—सेनानी लोग क्रोध के साथ शत्रुओं को मारकर उनका धन बांट लें और उन्हें इतर बितर कर दें ॥२॥

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।

उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥३॥

भाषार्थः—(मन्यो) हे क्रोध (अस्मै) इस पुरुष के लिये (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) दबा दे, और (शत्रून्) वैरियों को (रुजन्) तोड़ता हुआ,

(मृणन्) भारता हुआ, (प्रमृणन्) कुचलता हुआ (प्रेहि) चढ़ाई कर । (ते) तेरे (उग्रम्) उग्र (पाजः) बल को (ननु) कभी नहीं (आ रुध्रे) वे रोक सकें । (एकज) हे एक [परमात्मा] से उत्पन्न हुए (वशी) बलवान् (त्वम्) तू [उनको] (वशम्) वश में (नयासं) ले आ ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य क्रोध करके अभिमान आदि शत्रुओं को जीतकर अपनी इन्द्रियों को वश में रखे ॥३॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विश्विशं युद्धाय संशिक्षाधि ।

अकृत्स्नस्त्वं त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृष्मसि ॥४॥

भावार्थः—(मन्यो) हे क्रोध ! (एकः) अकेला ही तू (बहूनाम्) बहुत से शूरों का (ईडिता) सत्कार करने वाला (असि) है । (विश्विशम्) प्रत्येक प्रजा वा मनुष्य को (युद्धाय) युद्ध के लिये (सम्) यथावत् (शिक्षाधि) शिक्षा दे वा तीक्ष्ण कर । (अकृत्स्नस्त्वं) हे पूर्ण कान्ति वाले ! (त्वया युजा) तुझ मित्र के साथ (वयम्) हम लोग (द्युमन्तम्) हर्षयुक्त (घोषम्) ध्वनि [सिंहनाद वा मारु गीत] (विजयाय) विजय के लिये (कृष्मसि) करते हैं ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य क्रोधपूर्वक शत्रुओं पर धावा करके स्तुति, विजय और कीर्ति पाते हैं ॥४॥

विजेषकृदिन्द्रं इवानवव्रजो ३ स्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।

प्रियं ते नामं सहुरे गृणीमसि विद्वा तमुत्सं यतं आवभूय ॥५॥

भावार्थः—(मन्यो) हे क्रोध ! (अनवव्रजः) नीच वचन न बोलने वाला, (विजेषकृत्) विजय करने वाला तू (इन्द्रः इव) बड़े प्रतापी पुरुष के समान (इह) यहां पर (अस्माकम्) हमारा (अधिपाः) बड़ा स्वामी (भव) हो । (सहुरे) हे शक्तिमान् (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय (नामं) नाम (गृणीमसि) हम सराहते हैं । (तम्) उस (उत्सम्) श्रोता [परमेश्वर को] (विद्य) हम जानते हैं (यतः) जिससे (आवभूय) तू आकर प्रकट हुआ है ॥५॥

भावार्थः—जो मनुष्य अदीन वचन बोलते हैं वे ही विजयी होकर कीर्ति पाते हैं ॥५॥

आभृत्या सहजा वंज सायक सहो विभर्षि सहभृत उत्तरम् ।

क्रत्वा नो मन्थो सह मेघंधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥६॥

भाषार्थः—(वज्र) वज्ररूप ! (सायक) हे शत्रुओं के अन्त करने वाले ! (सहभूते) हे सम्पत्ति के साथ वर्तमान ! (आभूत्या सहजाः) विभूति के साथ साथ उत्पन्न होने वाला तू (उत्तरम्) अधिक उत्तम (सहः) बल (विभवि) धारण करता है, (पुरुहूत) बहुतां से आवाहन किये हुए (मन्यो) क्रोध ! (महाधनस्य) बड़े धन प्राप्त कराने हारे संग्राम के (संसृजि) भिड़जाने पर (क्त्वा सह) बुद्धि के साथ (नः) हमारा (मेदी) स्नेही (एधि) हो ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य संग्राम में बुद्धिपूर्वक क्रोध करके विजयी होते हैं ॥६॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।

भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥७॥

भाषार्थः—(वरुणः) श्रेष्ठ शूर च) शौर (मन्युः) क्रोध (संसृष्टम्) संग्रह किया हुआ और (समाकृतम्) उगाही किया हुआ (उभयम्) दो प्रकार का [आत्मिक और सामाजिक] (धनम्) धन (अस्मभ्यम्) हमें (धत्ताम्) देवें । (पराजितासः) हारे हुए, और (हृदयेषु) हृदयों में (भियोः) अनेक भय (दधानाः) रखते हुए (शत्रवः) शत्रु लोग (अप=अपश्य) भागकर (नि लयन्ताम्) खिसक जावें ॥७॥

भाषार्थः—शूर पुरुष यथानीति क्रोध धारण करके शत्रुओं को हराते और बहुत धन प्राप्त करके अपनी और समाज की उन्नति करते हैं ॥७॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-७ ॥ मन्युर्वेता ॥ १ जगती, २-७ त्रिष्टुप् ॥

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

यस्तं मन्योऽविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।

साक्षाम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥१॥

भाषार्थः—(वज्र) हे वज्र रूप ! (सायक) हे शत्रुनाशक ! (मन्यो) दीप्तिमान् क्रोध ! (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरी (अविधत्) सेवा की है, वह (विश्वम्) सब (सहः) शरीर बल और (ओजः) समाज बल से (आनुषक्) लगातार, (पुष्यति) पुष्ट करता है । (सहस्कृतेन) बल से उत्पन्न हुए, (सहस्वता) बलवान्, (त्वया युजा) तुम सहायक के साथ (सहसा) बल से (वयम्) हम लोग (दासम्) दास, काम बिगाड़ देने वाले मूल्य और (आर्यम्) आर्य अर्थात् विद्वान् का (साक्षाम) निर्णय करें ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक क्रोध का आराधन करते हैं वे

भीतरी और बाहिरी बल बढ़ाकर मूर्खों का निरादर और विद्वानों का आदर करके कीर्ति पाते हैं ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १० । सू० ५३ में है । वहाँ सूक्त के ऋषि मन्यु तापस और देवता मन्यु हैं ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवासं देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।

मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥२॥

भाषार्थः—(मन्युः) प्रकाशमान क्रोध (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (मन्युः) क्रोध (एव) ही (देवः) दिव्यगुण वाला, (मन्युः) क्रोध (होता) दाता वा ग्रहीता, (वरुणः) वरणीय अङ्गीकारयोग्य, और (जातवेदाः) धन प्राप्त कराने वाला (आस) हुआ है । (मन्युः=मन्युम्) क्रोध को (याः) उद्योग करने वाली (मानुषी=०—ष्यः) मनुष्य जातीय (विशः) प्रजाएँ (ईडते) सराहती हैं । (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) ऐश्वर्य से (सजोषाः) प्रीति करता हुआ तू (नः) हमें (पाहि) बचा ॥२॥

भाषार्थः—यथावत् प्रयुक्त क्रोध के गुण पहिले से विदित हैं नीतिज्ञ पुरुष विधिपूर्वक क्रोध से ऐश्वर्य बढ़ाकर रक्षा करते हैं ॥२॥

‘मन्युर्विशः’ के स्थान में सायण भाष्य और ऋग्वेद में ‘मन्युं विशः’ पद हैं ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जंहि शत्रून् ।

अमित्रहा वृत्रहा दंस्युहा च विश्वा वसून्या मरा त्वं नः ॥३॥

भाषार्थः—(मन्यो) हे प्रकाशमान क्रोध (तवसः) महान् से भी (तवीयान्) अति महान् तू (अभीहि) इधर आ, (तपसा युजा) अपने ऐश्वर्य, मित्र के साथ (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) मिटा दे । (च) और (अमित्रहा) पीड़ा देने वालों का मारने वाला, (वृत्रहा) अन्धकार नाश करने वाला, (दंस्युहा) डाकुओं का मारने वाला (त्वम्) तू (विश्वा) सब (वसूनि) धन को (नः) हमारे लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥३॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य नीतिपूर्वक क्रोध से धन प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥३॥

त्वं हि मन्यो अभिभृत्योजाः स्वयंभूर्भाषो अभिमानिषाहः ।

विश्वचर्षणिः संहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥४॥

भाषार्थः—(मन्यो) हे क्रोध (स्वम् हि) तू ही (अभि भूत्योजः) शत्रु पराजय का सामर्थ्यवाला, (स्वयंभूः) अपने आप उत्पन्न होने वाला, (भामः) प्रकाशमान और (अभिमातिषाहः) अभिमानियों को हराने वाला है। (विश्वचर्षणिः) सब देखने वाला, (सहुरिः) शक्तिमान्, (सहोयान्) अधिक बलवान् तू (पृतनासु) संग्रामों के बीच (अस्मासु) हममें (ओजः) पराक्रम (धेहि) धारण कर ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य नीतिकुशल और कर्मकुशल होकर दुष्टों पर क्रोध करते हैं; वे ही संग्रामों में विजयी होते हैं ॥४॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव कृत्वा तविषस्य प्रचेतः ।

तं त्वां मन्यो अकृतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावां न एहि ॥५॥

भाषार्थः—(प्रचेतः) हे उत्तम ज्ञान वाले ! मैं (अभागः सन्) अभागा होकर (तव तविषस्य) तुझ बलवान् के (कृत्वा) कर्म वा बुद्धि से (अप = अपेत्य) हटकर (परेतः) दूर पड़ा हुआ (अस्मि) हूँ। (मन्यो) हे क्रोध (अकृतुः) बुद्धिहीन वा कर्म हीन (अहम्) मैंने (तम् त्वा) उस तुझको (जिहीड) क्रुद्ध कर दिया है, (बलदावा) बलदाता तू (स्वा तनूः) अपने स्वरूप से (नः) हमको (आ इहि) प्राप्त हो ॥५॥

भाषार्थः—अनीतिज्ञ पुरुष यथावत् क्रोध न करके दरिद्र और बुद्धिहीन हो जाते हैं इससे मनुष्यों का यथावत् वर्तना चाहिये ॥५॥

अयं ते अस्म्युप न एष्ट्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।

मन्यो वज्रिन्नाभि न आ वष्टस्व हनाव दस्यूक्त बोध्यापेः ॥६॥

भाषार्थः—(अयम्) यह मैं (ते) तेरा (अस्मि) हूँ। (सहुरे) हे समर्थ ! (विश्वदावन्) हे सर्वदाता ! (प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलता हुआ तू (नः) हमारे (एष्ट्वाङ्) सन्मुख होकर (उप एहि) समीप आ (वज्रिन्) हे वज्रधारी (मन्यो) क्रोध ! (नः अभि) हमारी ओर (आ वष्टस्व) वर्तमान हो जा, (उत) और (आपेः) अपने वन्धु का (बोधि) बोधकर, [जिससे हम दोनों] (दस्यूक्त) दुष्टों को (हनाव) मारें ॥६॥

भाषार्थः—जो मनुष्य सब प्रकार विचार करके दुष्टों पर क्रोध करते हैं, वे विजयी होते हैं ॥६॥

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।

जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभातुपांशुमथमा पिवाव ॥७॥

भाषार्थः—(अभि प्र इहि) आगे आ, और (नः) हमारी (दक्षिणतः)

दाहिनी ओर (भव) वर्तमान हो, (अथ) तब (भूरि) बहुत से (वृत्राणि) अन्ध-
कारों को (जङ्घनाव) हम दोनों मिटा दें। (मध्वः) मधुर रस का (अग्रम्) श्रेष्ठ
(घरुणम्) धारण करने योग्य [स्तुतिरूप] रस (ते) तुम्हें (जुहोमि) भेंट करता
हूँ। (प्रथमा = ० - सौ) पहिले वर्तमान (उभौ) हम दोनों (उपांशु) एकान्त में
(पिबाव) [रसपान] करें ॥७॥

भावार्थः—महात्मा पुरुष आत्मदोषों पर क्रोध करके अनेक अन्धकारों
को मिटाते हैं और वे ही इस मन्थुस्तुति को एकान्त में सूक्ष्म रूप से विचार-
कर अधिक आनन्द भोगते हैं ॥७॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—५ ॥ अग्निदेवता । गायत्री छन्दः ॥

सर्वरक्षणोपदेशः—सब प्रकार की रक्षा का उपदेश ॥

अपं नः शोशुचदघमर्गे शुशुग्ध्या रयिम् ।

अपं नः शोशुचदघम् ॥१॥

भावार्थः—(नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ।
(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (रयिम्) धन को (आ) अच्छे प्रकार (शुशुग्धि)
पवित्र करो । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचारते हुए दुष्कर्म के त्याग
और सुकर्म के ग्रहण से विद्यारूप और सुवर्ण आदि रूप धन प्राप्त
करें ॥१॥

यह सूक्त कुल भेद से ऋग्वेद म० १ सू० ६७ में है ॥

सुश्रेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।

अपं नः शोशुचदघम् ॥२॥

भावार्थः—(सुश्रेत्रिया) उत्तम खेत के लिये, (सुगातुया) उत्तम भूमि के
लिये (च) और (वसूया) धन के लिये (यजामहे) हम [परमेश्वर को] पूजते हैं ।
(नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर अनिष्टों को मिटा-
कर पुरुषार्थ से अपनी प्रभुता बढ़ावें ॥२॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।

अपं नः शोशुचदधम् ॥३॥

भाषार्थः—(यत्) जिस प्रकार से (एषाम्) इन प्राणियों के मध्य (भन्दिष्ठः) अत्यन्त सुखी होकर (प्र) प्रकृष्ट [हो जाऊँ] (च) और (अस्माकासः) हमारे (सूरयः) विद्वान् लोग (प्र) प्रकृष्ट [होवें] [उसी प्रकार से] (नः) हमारा (अधम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर दरिद्रता आदि दु.खों को मिटावें ॥३॥

प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।

अपं नः शोशुचदधम् ॥४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् (सूरयः) विद्वान् लोग (यत् ते) जिस तेरे (प्र = प्रजायस्ते) प्रजा हैं, (ते) उस तेरे ही (वयम्) हम लोग (प्र जायेमहि) प्रजा होवें । (नः) हमारा (अधम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥४॥

भाषार्थः—सब मनुष्य विद्वानों के समान परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर सदा सुखी रहें ॥४॥

प्र यदग्नेः सहस्रतो विश्वतो यन्ति भानवः ।

अपं नः शोशुचदधम् ॥५॥

भाषार्थः—(यत्) जिस कारण से (सहस्रतः) बलवान् (अग्नेः) परमात्मा के (भानवः) अनेक प्रकाश (विश्वतः) सब ओर (प्र) भली प्रकार (यन्ति) चलते रहते हैं । (नः) हमारा (अधम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की अनेक सूक्ष्म और स्थूल रचनाओं को देखकर अपने विघ्नों को मिटावें ॥५॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अपं नः शोशुचदधम् ॥६॥

भाषार्थः—(हि) जिस कारण से (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (त्वम्) तू (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः) व्यापक (असि) है । (नः) हमारा (अधम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥६॥

भावायः—मनुष्य परमेश्वर के समान 'विश्वतोमुख' होकर सदा चैतन्य रहें और अनिष्टों को मिटाकर अपनी वृद्धि करें ॥६॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय । अप नः शोशुचदघम् ॥७॥

भाषार्थः—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान, सर्वोपदेशक सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (द्विषः) द्वेषियों को (अति=अतीत्य) लांघ कर (नः) हमें (पारय) पार लगा, (नावा इव) जैसे नाव से [समुद्र को पार करते हैं], (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥७॥

भावायः—जैसे पोत द्वारा समुद्र पार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से सब दोषों को हटाकर सुखी रहें ॥७॥

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये । अप नः शोशुचदघम् ॥८॥

भाषार्थः—(सः) सो तू (नः) हमें (स्वस्तये) आनन्द के लिये (पर्षा) पार लगा, (इव) जैसे (नावा) नाव से (सिन्धुम्) समुद्र को (अति=अतीत्य) लांघ कर [पार करते] हैं, (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥८॥

भावायः—मनुष्य परमेश्वर में निष्ठा करके पुरुषार्थपूर्वक दुःख-सागर से पार होकर सुखी होवें जैसे नाव के आश्रय से जलयात्री समुद्र पार करके प्रसन्न होते हैं ॥८॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—८ ॥ ओदनो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५ एव यज्ञानामिति त्रिष्टुप्, एतास्वेति द्विपदा जगती, ६, ७ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

ब्रह्मास्य श्रीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरंमोदनस्य ।

छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥१॥

भाषार्थः—(अस्य) इस (ओदनस्य) सेचनसमर्थ वा अन्नरूप परमेश्वर का (श्रीर्षम्) शिर (ब्रह्म) वेद है, (अस्य) इसकी (पृष्ठम्) पीठ (बृहत्) प्रवृद्ध जगत् और (उदरम्) उदर (वामदेव्यम्) मनोहर परमात्मा से जताया गया [भूतपञ्चक] है । (अस्य) इसके (पक्षौ) दोनों पार्श्व (छन्दांसि) आनन्दप्रद वा पूजनीय कर्म और (मुखम्) मुख (सत्यम्) सत्य है । (विष्टारी) वह विस्तार वाला (यज्ञः) पूजनीय परमात्मा (तपसः) अपने ऐश्वर्य से (अधि) सब से ऊपर (जातः) प्रकट हुआ है ॥१॥

भावार्थः - परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, उसकी उपासना सब मनुष्य नित्य करें ॥१॥

अनस्थाः पूताः पर्वनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।

नैषां शिश्नं प्र दंहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्वैर्णमेषाम् ॥२॥

भाषार्थः—(अनस्थाः) न गिराने योग्य (पर्वनेन) शुद्ध आचरण से (पूताः) शुद्ध किये गए, (शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव, (शुचयः) प्रकाशमान महात्मा लोग (अपि) ही (शुचिम्) ज्योतिःस्वरूप (लोकम्) लोक [परमात्मा] को (यन्ति) पाते हैं । (जातवेदाः) प्राणियों का जानने वाला परमेश्वर (एषाम्) इनकी (शिश्नम्) गति वा सामर्थ्य को (न) नहीं (प्रदंहति) जलाता है । [इसलिये कि] (एषाम्) इन [महात्माओं] का (स्वैर्णम्) सृष्टि का हितकर्म (स्वर्गे) अच्छे प्रकार पाने योग्य सुखदायक (लोके) लोक [परमात्मा] में (बहु) बहुत है ॥२॥

भावार्थः—जितेन्द्रिय शुद्ध स्वभाव योगी जन ही परमात्मा को पाते हैं, और उस जगदीश्वर के सहारे में रह कर संसार का हित करते हुए सर्वत्र गतिमान् होते हैं ॥२॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।

आस्ते यम उप याति देवान्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जो महात्मा लोग (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्) सेचन समर्थ वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) परिपक्व करते हैं, (एनान्) इन लोगों को (अवर्तिः) दरिद्रता (कदा चन) कभी भी (न) नहीं (सचते) मिलती है । [जो पुरुष] (यमे) नियम वा न्यायकारी परमात्मा में (आस्ते) रहता है, [वह] (देवान्) उत्तम गुणों को (उप) अधिक अधिक (याति) पाता है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी आदि लोकों वा वेदवाणियों को धारण करने वाले (सोम्येभिः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य योग्य महात्माओं से (सम्) मिल कर (मदते) आनन्द भोगता है ॥३॥

भावार्थः—योगी जन परमात्मा में श्रद्धा रखकर सदा उदारचित्त रहते हैं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष ही विद्वानों के सत्सङ्ग से उत्तम उत्तम गुण पाकर आनन्द भोगते हैं ॥३॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः ।

स्थी इ भूत्वा स्थयान ईयते पक्षी इ भूत्वाति दिवः समेति ॥४॥

भाषार्थः—(ये) जो महात्मा (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (श्रोतृन्) सेचन-शील वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पक्वन्ति) पक्का करते हैं, (एनान्) इनसे (यमः) नियम (रेतः) सामर्थ्य को (न) नहीं (परि मुह्णाति) मूस लेता है। वह पुरुष (रथयाने) शरीर से चलने योग्य संसार में (ह) निश्चय करके (रथी) क्रीडाशील (भूत्वा) होकर (ईयते) विचरता है और (ह) अवश्य (पक्षी) सबका पक्ष करने वाला (भूत्वा) होकर (अति) अत्यन्त (दिवः) प्रकाशमान लोकों को (सम्) यथावत् (एति) पाता है ॥४॥

भाषार्थः - परमात्मा में पूर्ण श्रद्धालु शूरवीर महात्मा सदा बलवान् होकर संसार को सहारा देते हुए सूर्य समान प्रकाशित रहते और आनन्द भोगते हैं ॥४॥

एष यज्ञानां विततो बहिष्ठी विष्टारिणं पक्त्वा दिवमाविवेश । आण्डीकं कुमुदं सं तनोति विसं शालूकं शफको मुलाली । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥५॥

भाषार्थः—(एषः) यह (यज्ञानाम्) उत्तम कर्मों के बीच (विततः) फैला हुआ (बहिष्ठः) अत्यन्त बहुत शुभ गुणों वाला पुरुष (विष्टारिणम्) बड़े विस्तार वाले परमात्मा को [हृदय में] (पक्त्वा) पक्का, दृढ़ करके (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है ।

(शफकः) शान्ति की कामना करने वाला, (मुलाली) कर्म फल के रोपण, उत्पत्ति को सुधारने वाला पुरुष (आण्डीकम्) प्राप्तियोग्य (कुमुदम्) पृथिवी में आनन्द करने वाली वस्तु को, (विसम्) बलदायक गुण को (शालूकम्) वेगशील कर्म को (सम्) यथावत् (तनोति) फैलाता है ।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुम्हको (पिन्वमानाः) सौंचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०—१५ः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुम्हमें (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥५॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की महिमा में लवलीन होकर मधुमती नाम प्रजा की प्राप्ति से संसार का पूरा उपकार करता है ॥५॥

घृतहंदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना । एतास्त्वा
धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिबन्माना उप त्वा तिष्ठन्तु
पुष्करिणीः समन्ताः ॥६॥

भाषार्थः—(घृतहृदाः) प्रकाश की ध्वनि वाली, (मधुकूलाः) मधु अर्थात्
ज्ञान के रक्षा साधन वाली, (सुरोदकाः) सुरा अर्थात् ऐश्वर्य वा तत्त्व मथन का सेवन
करने वाली, (क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि साधन से और
(दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णाः) परिपूर्ण,

(एताः) वे (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियाँ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक
में (मधुमत्) मधुनाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझको (पिबन्मानाः) सींचती हुई,
(उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०—ण्यः)
पोषणवती शक्तियाँ (त्वा) तुझमें (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य योगसाधन से अपनी अनेक शक्तियाँ बढ़ाकर
संसार का उपकार करके आनन्द भोगता है ॥६॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना । एतास्त्वा
धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिबन्माना उप त्वा तिष्ठन्तु
पुष्करिणीः समन्ताः ॥७॥

भाषार्थः—(क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि साधन
से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णाः) परिपूर्ण (कुम्भान्) भूमि को
पूर्ण करने वाले (चतुरः) चार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को (चतुर्धा) चार
प्रकार से अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम वा चारों वेद द्वारा
(ददामि) दान करता हूँ ।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियाँ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक
में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझको (पिबन्मानाः) सींचती
हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०—
ण्यः) पोषणवती शक्तियाँ (त्वा) तुझमें (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥७॥

भाषार्थः—परमेश्वर ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम द्वारा और चारों
वेद द्वारा धर्म अर्थ आदि चार पदार्थ देता है । इसलिये मनुष्य चारों
आश्रम और चारों वेदों के यथावत् सेवन से चारों पदार्थ प्राप्त करके सदा
आनन्दित रहें ॥७॥

इमोदं न निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् । स मे मा
क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥८॥

भाषार्थः—(ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों के बीच (विष्टारिणम्) विस्तार वाले (लोकजितम्) सब लोक के जीतने वाले (स्वर्गम्) सुख स्वरूप (इमम्) इस (श्रोतनम्) सींचने वा बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा को (नि) निरन्तर (दधे) धरता है । (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पिन्वमानः) बढ़ता हुआ (सः) वह ईश्वर (मे) मेरे लिये (मा क्षेष्ट) कभी न घटे । (विश्वरूपा) सब अन्तों से सिद्ध (धेनुः) यह तृप्त करने वाली वेदवाणी (मे) मेरे लिये (कामदुघा) उत्तम कामनाओं को पूर्ण करने वाली (अस्तु) होवे ॥८॥

भाषार्थः—ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग परमात्मा की महिमा को साक्षात् करके सुखी होते हैं, सब मनुष्य परमकल्याणी वेदवाणी को प्राप्त कर उस जगदीश्वर के ज्ञान से सदा आनन्द भोगें ॥८॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—७ ॥ श्रोतनो देवता । १, २, ५—७ त्रिष्टुप् ३, ४ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः— ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

यमोदं न प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणोऽपचत् ।

यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनोदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥९॥

भाषार्थः—(ऋतस्य) सत्य के (यम्) जिस (श्रोतनम्) वृद्धि करने वाले परमात्मा को (प्रथमजा) प्रख्यात पुरुषों में उत्पन्न हुए, (प्रजापतिः) प्रजापालक योगी जन ने (तपसा) अपने तप, सामर्थ्य से (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिये (अपचत्) परिपक्व अर्थात् हृदय में दृढ़ किया है । (यः) जो परमात्मा (लोकानाम्) सब लोकों का (विधृतिः) विधाता (न) कभी नहीं (अभिरेषात्) घटता है, (तेन) उस (श्रोतनेन) बढ़ाने वाले वा अन्न रूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मृत्यु के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लाँघकर (तराणि) मैं तर जाऊँ ॥९॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्मा लोग साक्षात् करते चले आये हैं, उसी के गुणों को हम जानकर पुरुषार्थ के साथ अपने जीवन को सुधारे ॥९॥

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।

यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥२॥

भाषार्थः—(येन) जिस परमात्मा के साथ (भूतकृतः) प्राणियों को [उत्तम] बनाने वाले पुरुष (मृत्युम्) मृत्यु के कारण निरुत्साह आदि को (अति=अतीत्य) लांघकर (अतरन्) तर गये हैं, और (यम्) जिसको (तपसा) ब्रह्मचर्य आदि तप और (श्रमेण) परिश्रम से (अम्वविन्दन्) उन्होंने अनुक्रम से पाया है और (यम्) जिसको (ब्रह्मणे) ब्रह्मा, [वेदज्ञानी] के लिये (ब्रह्म) वेद में (पूर्वम्) पहिले ही (पपाच) परिपक्व वा दूढ़ किया था । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ.....म० १ ॥२॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा को पाकर महा उपकारी जनों ने तप और परिश्रम से अनेक विघ्नों को हटाकर सुख प्राप्त किया है और जिसका प्रतिपादन वेदों ने किया है, उसी के ज्ञान से सब मनुष्य अपने क्लेश टालकर आनन्द पावें ॥२॥

यो दाधारं पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।

यो अस्तम्नाद् दिवमुर्ध्वं महिम्ना तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जिस परमेश्वर ने (विश्वभोजसम्) सबका पालन करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (यः) जिसने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रसेन) रस अर्थात् अन्न वा जल से (आ अपृणात्) भर दिया है । (यः) जिसने (महिम्ना) अपनी महिमा से (ऊर्ध्वः) ऊँचा होकर (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य को (अस्तम्नात्) ठहराया है । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ.....म० १ ॥३॥

भाषार्थः—परमात्मा ने पृथिवी आदि लोकों और सब चराचर जगत् को रचकर धारण किया है और जो सबसे ऊपर विराजमान है, उसकी महिमा को विचार कर हम अपनी उन्नति करें ॥३॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।

अहोरात्रा यं परिपन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥४॥

भाषार्थः—(यस्मात्) जिस [परमात्मा] से (त्रिंशदराः) तीस अरों वाले (मासाः) महीने (निर्मिताः) बने हैं, (यस्मात्) जिससे (द्वादशारः) बारह अरों [के

समान महीनों] वाला (संवत्सरः) संवत्सर (निमित्तः) बना है । (यम्) जिसको (परियन्तः) घूमते हुए (अहोरात्राः) दिन रात (न) नहीं (आपुः) पकड़ सके हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ ० १ ॥४॥

भाषार्थः—परमात्मा ने दिन रात आदि कालचक्र बनाया है परन्तु वह अनादि अनन्त होने से काल के अधिकार से बाहिर है । उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥४॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।

ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जो परमेश्वर (प्राणदः) प्राण देने वाला और (प्राणदवान्) प्राणदाताओं [सूर्य पृथिवी वायु आदि] का रखने वाला (बभूव) हुआ, और (यस्मै) जिसके लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान वा सारवान् (लोकाः) सब लोक (क्षरन्ति) बहते हैं । और (यस्य) जिसकी ही (सर्वाः) सब (ज्योतिष्मतीः = ०—त्यः) तेजोमय (प्रदिशः) बड़ी दिशाएँ हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ ० १ ॥५॥

भाषार्थः—सब लोक लोकान्तर और सब पदार्थ परमेश्वर के वशवर्ती हैं । उसकी आज्ञा पालन से हम सदा सुखी रहें ॥५॥

यस्मात् पक्वाद्भूतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् । ६॥

भाषार्थः—(यस्मात् पक्वात्) जिस परिपक्व परमात्मा से (अभूतम्) मोक्ष (संबभूव) उत्पन्न हुआ, (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री [स्तुति वा वेदवाणी] का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (यस्मिन्) जिसमें (विश्वरूपाः) सबसे कीर्तन योग्य अथवा सब का निरूपण करने वाले (वेदाः) वेद (निहिताः) निधिरूप से स्थित हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मरण के कारण [निस्त्याह आदि दोष] को (अति = अतीत्य) लांघ कर (तराणि) मैं तर जाऊँ ॥६॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा ने कल्याणमयी वेदवाणी देकर मनुष्यों को मोक्ष का अधिकारी किया है । उसके गुण कर्म स्वभाव को पहिचान कर हम सदा पुरुषार्थ करते रहें ॥६॥

अवं वाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।

ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्धाधानस्य देवाः ॥७॥

भाषार्थः—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले (देवपीयुम्) देवताओं के हिंसक को (अव वाधे) मैं हटाता हूँ । (ये) जो (मे) मेरे (सपत्नाः) प्रतियोगी हैं, (ते) वे (अप भवन्तु) हट जावें । (विश्वजितम्) संसार के जीतने वाले (ब्रह्मौदनम्) सबसे बड़े सींचने वाले वा अन्नरूप परमात्मा को (पचामि) पक्का [हृदय में दृढ़] करता हूँ । (देवाः) व्यवहारकुशल विद्वान् लोग (श्रद्धाधानस्य) श्रद्धा रखने वाले (मे) मेरी [वार्ता] (शृण्वन्तु) सुनें ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य जगदीश्वर में पूरी भक्ति करके पुरुषार्थपूर्वक अपने सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगे ॥७॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—१० । अग्निर्वैवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

तान्सत्यौजाः प्र दहस्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।

यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥१॥

भाषार्थः—(सत्यौजाः) सत्य बल वाला, (वैश्वानरः) सब नरों का हित करने वाला, (वृषा) सुल वधनि वाला वा ऐश्वर्यवान् (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तान्) उन सबको (प्रदहतु) भस्म कर डाले । (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यात्) दुष्ट माने, (अथ) और जो (दिप्सात्) मारता चाहें, (अथो) और भी (यः) जो (नः) हमसे (अरातियात्) बैरी सा बर्ताव करे ॥१॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके धर्म के विघ्नकारियों को नष्ट करें ॥१॥

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।

वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (अदिप्सतः) न सताने वाले (नः) हमको (दिप्सत्) सताना चाहे, (च) और (यः) जो (दिप्सतः) सताने वाले [हम] को (दिप्सति) सताना चाहता है, (तम्) उसको (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) जानी पुरुष के (दंष्ट्रयोः) दोनों डाढ़ों के बीच जैसे (अपि) अवश्य (दधामि) धरता हूँ ॥२॥

भाषार्थः - जो मनुष्य धर्मात्माओं को विना कारण सतावे, और जो दुष्ट धर्मात्माओं को उनके दण्ड देने पर भी दुष्ट आचरण करे, उन शत्रुओं को राजा परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से ऐसे कुचल डाले जैसे डाढ़ों के बीच अन्न को ॥२॥

य आगरे भृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये ।

क्रव्यादौ अन्यान् दिप्सतः सर्वास्तान्सहसा सहे ॥३॥

भाषार्थः (ये) जो दुष्ट (आगरे) घर में (प्रतिक्रोशे) गूँजते हुए (अमावास्ये) अमावस के अन्धकार में (भृगयन्ते) खोजते फिरते हैं। (अन्यान्) दूसरों को (दिप्सतः) सताने वाले (तान् सर्वान्) उन सब (क्रव्यादः) मांसभक्षी सिंह आदिकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूँ ॥३॥

भाषार्थः - रात्रि के अन्धकार में जो सिंह आदि हिंसक पशु वा मनुष्य सतावें, राजा उनका यथावत् प्रबन्ध करे ॥३॥

सहं पिशाचान्सहसैषां द्रविणं ददे ।

सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥४॥

भाषार्थः—(पिशाचान्) मांसभक्षकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूँ, और (एषाम्) इनका (द्रविणम्) धन [सुपात्रों को] (ददे) मैं देता हूँ, (दुरस्यतः) सताने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारता हूँ। (मे) मेरा (आकूतिः) शुभ संकल्प (सम् ऋध्यताम्) यथावत् सिद्ध होवे ॥४॥

भाषार्थः—राजा दुष्टों का हनन करके उनका धन सेनापति आदि

योग्य पुरुषों को पारितोषिक में देवे और प्रयत्नपूर्वक अपना शुभ संकल्प सिद्ध करे ॥४॥

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।

नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥५॥

भाषार्थः—(ये) जो (देवाः) विजयी धूर (तेन) पुष्प के साथ (हासन्ते) चलना चाहते हैं, और (ये) जो (नदीषु पर्वतेषु) नदियों और पर्वतों पर (सूर्येण) सूर्य के साथ (जवम्) अपना वेग (मिमते) करते हैं (तैः) उन (पशुभिः) दृष्टि वाले देवताओं से (सम् विदे) मैं मिलता हूँ ॥५॥

भाषार्थः - जो महात्मा लोग सूर्य के समान शीघ्रगामी होकर बड़े बड़े कठिन कामों को सिद्ध करते हैं, उनसे मिलकर सब मनुष्य उत्तम गुण प्राप्त करें ॥५॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।

श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् । ६॥

भाषार्थः—मैं (पिशाचानाम्) मांसाहारियों का (तपनः) संताप देने वाला (अस्मि) हूँ, (इव) जैसे (व्याघ्रः) बाघ (गोमताम्) गौ वालों का होता है । (ते) वे लोग (न्यञ्चनम्) छिपने का स्थान (न) नहीं (विन्दन्ते) पाते हैं, (इव) जैसे (श्वानः) कुत्ते (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देखकर [घबड़ा जाते हैं] ॥६॥

भाषार्थः—दण्डवान् प्रतापी पुरुष के सम्मुख हिंसक जीव नहीं ठहरते हैं ॥६॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः ।

पिशाचास्तस्माच्चश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥७॥

भाषार्थः - (न) न तो (पिशाचैः) पिशाचों के साथ, (न) न (स्तेनैः) चोरों के साथ, और (न) न (वनर्गुभिः) वनचर डाकुओं के साथ (सम् शक्नोमि) रह सकता हूँ । (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम में (अहम्) मैं (आविशे) घुसता हूँ, (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ॥७॥

भाषार्थः—राजा प्रबन्ध करे कि बस्तियों में हिंसक चोर आदि लूट खसोट न करें ॥७॥

यं ग्राममाविशतं इदमुग्रं सहो मम ।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥८॥

भाषार्थः—(यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (इदम्) यह (उग्रम्) उग्र (मम) मेरा (सहः) बल (आ विशते) प्रवेश करता है । (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं और (पापम्) पाप को (न) नहीं (उप जानते) जानते हैं ॥८॥

भाषार्थः—प्रतापी नीतिनिपुण राजा के शासन में दुष्ट लोग उपद्रव नहीं मचाते हैं ॥८॥

ये मां क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।

तानहं मन्ये दुहितान् जने अल्पशयूनिव ॥९॥

भाषार्थः—(ये) जो (लपिताः) वक्त्रवादी लोग (मा) मुझे (क्रोधयन्ति) क्रोध करते हैं, (मशकाः इव) जैसे मच्छड़ (हस्तिनम्) हाथी को । (तान्) उन (दुहितान्) दुष्कर्मियों को (जने) मनुष्यों के बीच (अल्पशयून् इव) थोड़े सोने वाले कीट पतंगों के समान (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूँ ॥९॥

भाषार्थः—वतबने दुराचारियों को दण्ड देकर राजा सदा दुर्बल रखे ॥९॥

अभि तं निर्वृत्तिर्धत्तामश्वमिवाश्वमिधान्या ।

मल्हो यो मल्लं क्रुध्यति स उ पाशान् मुच्यते ॥१०॥

भाषार्थः—(तम्) उसको (निर्वृत्तिः) अलक्ष्मी (अभिधत्ताम्) बांध लेवे (अश्वम् इव) जैसे घोड़े को (अश्वमिधान्या) घोड़ा बांधने की रस्सी से । (यः मल्हः) जो मलिन पुरुष (मल्लम्) मुक्क पर (क्रुध्यति) क्रोध करता है, (सः) वह (पाशात्) फांसी से (उ न) कभी नहीं (मुच्यते) छुटता है ॥१०॥

भाषार्थः—राजा कुकर्मी दुष्टों को यथावत् दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करे ॥१०॥

सूक्तम् ३७ ॥

१—१२ ॥ १, २, ६, १० ओषधिः, ३, ४, ५ अप्सरसः, ८, ९, इन्द्रः, ११ गन्धर्वः, ७, १२, गन्धर्वाप्सरसो देवताः ॥ १-४, ६, ८-१५ अनुष्टुप्, ५ पद्या पङ्क्तिः, ७ उज्जिक् ॥

गन्धर्वाप्सरसां गुणोपदेशः— गन्धर्वं और अप्सराओं के गुणों का उपदेश ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नृ रक्षांस्योषधे ।

त्वया जघान कश्यपस्त्वया कर्णो अगस्त्यः ॥१॥

भाषार्थः (ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (त्वया) तेरे सहारे से (पूर्वम्) पहिले (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले अथवा मंगल के लिये व्यापक महात्माओं ने (रक्षांसि) राक्षसों को (जघ्नृः) मारा था । (त्वया) तेरे साथ ही (कश्यपः) तत्त्वदर्शी पुरुष ने, और (त्वया) तेरे साथ ही (कर्णः) मेधावी, तथा (अगस्त्यः) कुटिलगति, पाप के फेंकने में समर्थ जीव ने (जघान) मारा था ॥१॥

भाषार्थः—जैसे पूर्वज ऐतिहासिक जितेन्द्रिय पुरुषों ने जगत् का उपकार किया है, वैसे ही सब मनुष्य ज्ञानपूर्वक दोषों का नाश करके परस्पर उपकार करें ॥१॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।

अजशृङ्गयज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥२॥

भाषार्थः—(अजशृङ्गि) हे जीवात्मा के दुःखनाशक शक्ति परमेश्वर ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों को और (गन्धर्वान्) विद्या वा पृथिवी धारण करने वाले गुणों को (चातयामहे) मांगते हैं । (गन्धेन) अपनी व्याप्ति से (सर्वान्) सब (रक्षः) राक्षसों को (अज) हटा दे और (नाशय) नाश कर दे ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके पुरुषार्थ करते हैं, वे ही संसार को सुख देते हैं । [अजशृङ्गी एक प्रोषध भी है] ॥२॥

इन मन्त्रों के साथ अ० २ सू० २ का मिलान करो ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् । गुल्गुलूः पीलां नलद्यौ३-

क्षगन्धिः प्रमन्दनी । तत्परैताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥३॥

भाषार्थः—(अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण, और प्रजाओं में व्यापक शक्तियां (अपाम्) जल के (तारम्) तट को (अवश्वसम्) भरती हुई (नदीम्) नदी [नदी के समान पूर्णता] को (यन्तु) प्राप्त हों ॥

[जो प्रत्येक] (गुल्गुलूः) रक्षा साधन से रक्षित, (पीला) सबको घेरने वाली,

(नलदी) बन्धन काटने वाली, (श्रीक्षगन्धिः) बड़ों के योग्य गतिवाली, और (प्रमग्वनी) आनन्द देने वाली शक्ति है ।

(तत्) इसलिये (अप्सरसः) हे आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥३॥

भाषार्थः— परमेश्वर की अनन्त गुणवाली शक्तियाँ संसार में व्याप्त हैं । मनुष्य विज्ञानपूर्वक उनसे उपकार लेकर आनन्द पावें ॥३॥

यत्राश्चत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।

तत् परैताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥४॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ पर (अश्चत्थाः) वीरों में खड़े होने वाले, (न्यग्रोधाः) शत्रुओं को रोक देने वाले, (महावृक्षाः) अत्यन्त स्वीकार करने योग्य, और (शिखण्डिनः) अत्यन्त उद्यमी पुरुष हों ।

(तत्) वहाँ (अप्सरसः) हे आकाश आदि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर महा-पुरुषार्थी हों ॥४॥

यत्र वः प्रेङ्क्षा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।

तत् परैताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥५॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ (प्रेङ्क्षाः) उत्तम गतिवाली, (हरिताः) स्वीकार करने योग्य, (अर्जुनाः) उपाजर्ज करने वाली, (उत) और (यत्र) जहाँ (आघाटाः) चेष्टा करती हुई (कर्कर्यः) उत्तम कर्म ग्रहण करने वाली प्रजायें (वः) तुम्हारा (संवदन्ति) सम्वाद करती हैं ।

(तत्) वहाँ (अप्सरसः) हे आकाशादि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥५॥

भाषार्थः— उद्योगी पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वर की महिमा साक्षात् करके आनन्दित होते हैं ॥५॥

ए॒यम॒ग॒न्धोष॒धीनां॑ वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती ।

अ॒ज॒शृङ्ग॒र्यं रा॒टकी॑ ती॒क्ष्णशृ॒ङ्गी व्यृ॑षतु ॥६॥

भाषार्थः—(गोधनीनाम्) ताप नाशक (वीरुधाम्) विविध प्रकार से उगने वाली प्रजाओं के बीच (वीर्यावती) बड़ी सामर्थ्य वाली (इयम्) यह शक्ति (या अगन्) प्राप्त हुई है । वही (अजशृङ्गी) जीवात्मा का दुःख काटने वाली, (अराटकी) शीघ्र प्राप्त होने वाली, (तीक्ष्णशृङ्गी) बड़े तेज वाली शक्ति परमेश्वर (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥६॥

भाषार्थः—परम पिता परमेश्वर की शक्ति सब पदार्थों में व्यापक है, उसके ज्ञान से हम लोग अपनी उन्नति करें ॥६॥

आ नृ॒त्यतः॑ शि॒खण्डि॑नों गन्ध॒र्वस्या॑प्स॒राप॒तेः ।

भि॒नद्भि॑ मु॒ष्काव॑पि॒ यामि॑ शेषः ॥७॥

भाषार्थः—(आनृत्यतः) सब ओर चेष्टा करने वाले (शिखण्डिनः) महा उद्योगी (गन्धर्वस्य) वेदवाणी और पृथिवी आदि को धारण करने वाले (अप्सरापतेः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों के रक्षक परमेश्वर का (शेषः) सामर्थ्य (यामि) मैं माँगता हूँ, [जिस से] (मुष्कौ) [काम क्रोध रूप] दो चोरों को (अपि) अवश्य (भिनद्भि) छिन्न भिन्न करूँ ॥७॥

भाषार्थः—सर्वव्यापक सर्वनिधामक परमेश्वर के विचार से मनुष्य जितेन्द्रिय होकर काम क्रोध आदि दोषों को मिटावे ॥७॥

भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॑ष्टी॒रंय॑स्मयीः ।

ताभि॑र्ह॒विर॒दान् गन्ध॑र्वान॒वका॑दान् व्यृ॑षतु ॥८॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हतन शक्तियाँ (अयस्मयीः) लोह की बनी हुई (ऋष्टीः) खड्गों के समान (भीमाः) भयानक हैं । (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिताओं के नाश करने वाले, (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥८॥

भाषार्थः—परमेश्वर दुराचारियों को अनेक प्रकार से दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करता है ॥८॥

मी॒मा इन्द्र॑स्म हे॒तयः॑ श॒तमृ॑ष्टीर्हि॒र॒ष्ययीः॑ ।

ताभि॑र्हिवि॒र॒दान् गन्ध॑र्वा॒नव॑का॒दान् व्यृ॑षतु ॥९॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (हिरष्ययीः) तेजोमयी (ऋष्टीः) तलवारों के समान (भीमाः) भयानक हैं । (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं को नाश करने वाले (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [बहु परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥९॥

भाषार्थः—म० ८ के समान ॥९॥

अ॒व॒का॒दान्भि॑शो॒चान्पु॒सु ज्यो॑तय॒ माम॒कान् ।

पि॒शा॒चान् सर्वा॑नोष॒धे प्र॒ मृ॒णीहि॒ सह॑स्व च ॥१०॥

भाषार्थः—(अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (अभिषोचान्) सब और प्रकाशमान (मामकान्) मेरे पुरुषों को (अप्सु) व्याप्यमान प्रजाओं के बीच (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (ओषधे) हे औषध समान तापनाशक परमेश्वर (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांसभक्षक रोग वा जीवों को (प्रमृणीहि) मार डाल (च) और (सहस्व) हरा दे ॥१०॥

भाषार्थः—परमेश्वर की प्रार्थनापूर्वक धर्मात्मा पुरुष दुष्ट स्वभावों रोग और दुष्ट जीवों का नाश करें ॥१०॥

इ॒षेवै॑कः क॒पिरि॑वैकः कु॒मारः॑ सर्व॑केश॒कः । प्रि॒यो दृ॒श इ॒व भू॒त्वा
गन्ध॑र्वः स॒ंचते॒ स्त्रिय॑स्तमि॒तो ना॑शयाम॒सि ब्र॒ह्म॑णा वी॒र्या॑वता ॥११॥

भाषार्थः—(एकः इव) एक ही परमेश्वर (इवा) गतिशील वा वृद्धिशील है, (एकः इव) एक ही (कपिः) कपाने वाला वा क्रोधशील, (कुमारः) कामना योग्य, (सर्वकेशकः) सर्व प्रकाशक है । (प्रियः इव) प्रिय ही परमेश्वर (गन्धर्वः) वेदवाणी वा पृथिवी का धारण करने वाला (भूत्वा) होकर (दृशे) सबके देखने के लिये (स्त्रियः) आपस में संगति रखने वाले समूहों में (संचते)मिला रहता है । (वीर्यावता) उस सामर्थ्य वाले (ब्रह्मणा) परब्रह्म के साथ (तम्) चोट करने वाले चोर को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥११॥

भाषार्थः—परमात्मा को सर्वद्रष्टा आदि गुण विशिष्ट जानकर मनुष्य ज्ञानपूर्वक अपने दुष्कर्मों का नाश करें ॥११॥

जाया इदू वौ अप्सरसो गन्धर्वाः पतंयो यूयम् ।

अपं धावतामर्त्या मर्त्यान् मा संचध्वम् ॥१२॥

भाषार्थः—(गन्धर्वाः) हे वेदवाणी वा पृथिवी लोक को धारण करने वाले पुरुषो ! (अप्सरसः) आकाश आदि में व्यापक शक्तियां (वः) तुम्हारे लिये (इत्) ही (जायाः) सुख उत्पन्न करने वाली हैं (यूयम्) तुम [उनके] (पतयः) रक्षक [बनो] । (अप) आनन्द से (धावत) धावो और (अमर्त्याः) हे अमर [नित्य उत्साही] पुरुषो ! (मर्त्यान्) मरते हुए [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले पुरुषों को (मा=मया) लक्ष्मी के साथ (संचध्वम्) सदा मिलो ॥१२॥

भाषार्थः—परमेश्वर की अनन्त अद्भुत शक्तियां संसार में उपस्थित हैं, उत्साही पुरुष उनसे उपकार लेकर सदा परस्पर उन्नति करें ॥१२॥

सूक्तम् ३८ ॥

१—७ ॥ अप्सरा देवतां ॥ १-४ अनुष्टुप्, ५, ७ जगती, ६ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

उद्भिन्वती संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।

ग्लहे कृतानि कृष्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥१॥

भाषार्थः—(उद्भिन्वतीम्) [शत्रुओं को] उखाड़ने वाली, (संजयन्तीम्) पयावत् जीतने वाली, (अप्सराम्) अद्भुत रूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे=ग्रहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (कृष्णानाम्) करती हुई (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक [परमेश्वर] शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर की अद्भुत शक्तियां सब व्यवहारों में व्याप्त हैं मनुष्य उनका खोज लगा कर सदा सुखी रहें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० २ सू० २ और पिछले सूक्त से करो ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।

ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥२॥

भाषार्थः—(विचिन्वतीम्) [पदार्थों को] समेटने वाली, (आकिरन्तीम्) फँलाने वाली, (अप्सराम्) अद्भुत रूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (गृह्णानाम्) ग्रहण करती हुई (ताम्)

उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहाँ पर (हुवे) में बुलाता हूँ ॥२॥

भावार्थ:—सब मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्तियों से अपने कार्य सिद्ध करके आनन्द प्राप्त करें ॥२॥

यार्थैः परि॒नृ॒त्यं॒त्याद॒दा॒ना कृ॒तं ग॒ल्हा॒त् ।

सा नः॑ कृ॒तानि॑ सी॒षती॑ प्र॒हामा॒प्नोतु॑ मा॒यया॑ ।

सा नः॑ प॒र्य॒स्व॒त्यैतु॑ मा नो॑ जैषु॒रिदं॑ ध॒नम् ॥३॥

भावार्थ:—(या) जो शक्ति (अर्थः) मङ्गल अनुष्ठानों के साथ (गल्हात्) [अपने] अनुग्रह से (कृतम्) कर्म (आददाना) स्वीकार करती हुई (परिनृत्यति) सब ओर घेष्टा करती है । (सा) वही (नः) हमारे (कृतानि) कर्मों को (मायया) बुद्धि के साथ (सीषती) नियमबद्ध चाहती हुई (प्रहाम्) उत्तम गति (आप्नोतु) प्राप्त करे [अर्थात् प्रसन्न हो] (सा) वही (नः) हमारे लिये (पर्यस्वत्यैतु) अन्न वाली होकर (ऐतु) आवे । (नः) हमारे (इदम्) इस (धनम्) धन को [शत्रु लोग] (मा जैषुः) न जीतें ॥३॥

भावार्थ:—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों को जानकर पुष्कल अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके बलवान् हों ॥३॥

या अ॒क्षेष्ु॑ प्र॒मोद॑न्ते शु॒चं क्रो॒धं च॒ विभ्र॑न्ती ।

आ॒न॒न्दिनी॑ प्र॒मोदि॑नीम॒प्सरां॑ ता॒मिह॑ हु॒वे ॥४॥

भावार्थ:—(याः=या) जो शक्ति (शुचम्) शुद्धि (च) और (क्रोधम्) क्रोध (विभ्रन्ती) धारण करती हुई 'अक्षेष्ु' सब व्यवहारों में (प्रमोदन्ते=०-दते) हर्ष पाती है । (आनन्दिनीम्) आनन्द दायिनी, (प्रमोदिनीम्) हर्ष कारिणी (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहाँ पर (हुवे) में बुलाता हूँ ॥४॥

भावार्थ:—न्यायस्वरूप परमात्मा की महिमा जानकर मनुष्य सब व्यवहारों में आनन्द प्राप्त करें ॥४॥

पण्डित सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (विभ्रन्ती) के स्थान पर 'विभूति' पद है ॥

सूर्यस्य॒ रश्मी॑ननु॒ याः संच॑रन्ति॒ मरी॑ची॒र्वा या अनु॑संचरन्ति ।

यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्तसद्यः सर्वान् लोकान् पर्येति रक्षन् ।
स न ऐतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥५॥

भाषार्थः—(याः) जो [शक्तियाँ] (सूर्यस्य) सूर्य की (रक्षामोन्) व्यापक
किरणों के साथ साथ (संचरन्ति) चलती रहती हैं, (वा) और (याः) जो (मरीचीः)
सब प्रकाशों के (अनुसंचरन्ति) साथ साथ फिरती हैं ।

(यासाम्=तासाम्) उनका (ऋषभः) दर्शक परमेश्वर (वाजिनीवान्)
अन्नवती किया धारण करता हुआ (दूरतः) दूर से (सद्यः) तुरन्त ही (सर्वान्
लोकान्) सब लोकों को (रक्षन्) पालता हुआ (पर्येति) घेरकर आता है ।

(अन्तरिक्षेण सह) सबमें दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवान्) बलवती
क्रिया वाला (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे (इयम्) इस (होमम्) आत्मदान को
(जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (ऐतु) आवे ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर अपनी शक्ति से सब दूर और निकट के पदार्थों
में व्यापक होकर रक्षा करता है । मनुष्य उसमें पूर्ण श्रद्धा करके पुरुषार्थ-
पूर्वक अपनी उन्नति करें ॥५॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में 'पर्येति' के स्थान पर 'पर्येति' और
पद पाठ में 'परि-एति' पद है ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् कर्का वत्सामिह रक्ष वाजिन ।
इमे ते स्तोका बहुला एहर्वाडियं ते कर्काह ते मनोऽस्तु ॥६॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजि-
नीवान्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन) हे बलवान् परमेश्वर !
(इह) यहाँ पर (कर्का) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली
शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर । (इमे) यह सब (ते) तेरे (स्तोकाः) अनुग्रह (बहुलाः)
बहुत पदार्थ देने वाले हैं । (एहर्वाडि) सम्मुख (एहि) तू आ । (इयम्) यह (ते)
तेरी (कर्का) रचना शक्ति है । (इहि) इसमें (ते) तेरा (मनः) मनन (अस्तु)
होवे ॥६॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने अपनी व्यापकता और कृपा से सब संसार
हमारे लिये रचा है । हम उसका गानन करके सदा सुखी रहें ॥६॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् कर्का वत्सामिह रक्ष वाजिन । अयं

घासो अयं वज्र इह वत्सां नि बन्धीमः । यथानाम व ईशमहे
स्वाहा ॥७॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षेण सह) सबमें दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनोवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन्) हे बलवान् परमेश्वर (इह) यहाँ पर (कर्कोम्) अपनी बनाने वाली श्रीर (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर । (अयम्) यह (घातः) भोजन है, (अयम्) यह (वज्रः) शाने जाने का स्थान है, (इह) यहाँ पर [हृदय में] (वत्साम्) तेरी निवास देने वाली शक्ति को (नि) निरन्तर (बन्धीमः) हम बांधते हैं ।

(वः) तुम्हारा (यथानाम) जैसा नाम है, [वैसे ही] (ईशमहे) हम ऐश्वर्यवान् होवें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥७॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने अपने अन्नत् सामर्थ्य से अन्न, शरीर, घर आदि पदार्थ हमें दिये हैं, हम उनका यथावत् उपयोग करके सदा ऐश्वर्यवान् होवें ॥७॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—१० ॥ १, २, ६, १० अग्निः, ३, ४ वायुः, ५, ६ आदित्यः, ७, ८ चन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ७ त्रिपदजगती, २, ४, ६, ८ संस्तरपङ्क्तिः, ९, १० त्रिष्टुप्छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ।

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आध्नीत् ।

यथा पृथिव्यामग्नये सपनमन्नेवा महीं संनमः सं नमन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) भौतिक अग्नि के लिये वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमं हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आध्नीत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) अग्नि के लिये वे (सम् अनमन्) यथावत् नमं हैं । (एव) वैसे ही (मह्यम्) मेरे लिये (संनमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमं ॥१॥

भाषार्थः—जैसे पूर्व ऋषियों ने शिल्प आदि में भौतिक अग्नि के प्रयोग से यज्ञ सिद्ध करके अनेक सम्पत्तियां प्राप्त की हैं, वैसे ही हम भी प्राप्त करें ॥१॥

पृथिवी धेनुस्तस्यां अग्निर्वत्सः ।

सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(पृथिवी) पृथिवी (धेनुः) दुधैल गौ के समान है, (तस्याः) उस [धेनु] के (वत्सः) बच्चा सदृश (अग्निः) है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चे रूप (अग्निना) अग्नि के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार बछड़े द्वारा गौ से दूध लेते हैं, इसी प्रकार अग्नि विद्या द्वारा पृथिवी के पदार्थों से अनेक कला-कौशल सिद्ध करके मनुष्य समृद्ध हों ॥२॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्तस आध्नोत् ।

यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मर्द्धं संनमः सं नमन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमते हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आध्नोत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को (सम् अनमन्) वे यथावत् नमते हैं, (एव) वैसे ही (मर्द्धम्) मुझको (सन्तमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमते ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्वज ऋषियों के समान सबमें वर्तमान वायु से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥३॥

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः ।

सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥४॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है । (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (वायुः) वायु है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (वायुना) वायु के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥४॥

भाषार्थः—वायु से अनेक प्रकार उपकार लेकर मनुष्य सुखी हों ॥४॥

दिव्यादित्याय समनमन्तस् आर्ध्नीत् ।

यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥५॥

भाषार्थः—(दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमै हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नीत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमै हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियाँ (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमैं ॥५॥

भाषार्थः—पहिले ऋषि महात्माओं के समान सूर्य के प्रकाश आदि से उपकार लेकर आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

द्यौर्धेनुस्तस्यां आदित्यो वत्सः ।

सा मं आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥६॥

भाषार्थः (द्यौः) सूर्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है, (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (आदित्यः) सूर्य है। (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (आदित्येन) सूर्य के साथ (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराश्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण, और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥६॥

भाषार्थः - मनुष्य सूर्यलोक और सूर्य का पृथिवी से संबन्ध जानकर अनेक लाभ उठाकर सुखी होवें ॥६॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्तस् आर्ध्नीत् ।

यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु । ७॥

भाषार्थः—(दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमै हैं। (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नीत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमै हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझको (सन्नमः) सब सम्पत्तियाँ (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमैं ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य चन्द्रमा के पुष्टिकारक गुणों से उपकार लेकर आनन्दित हों ॥७॥

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।

ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमुर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥८॥

भाषार्थः—(विशः) सब दिशाएँ (धेनवः) दुर्बल गीओं के समान हैं । (तासाम्) उन [गी रूपों] का (वत्सः) बच्चा रूप (चन्द्रः) चन्द्रमा है । (ताः) वे [गी रूप] (मे) मुझे (वत्सेन, बच्चा रूप (चन्द्रेण) चन्द्रमा के साथ (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्, उत्तम मनोरथ (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्=दुहताम्) परिपूर्ण करें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य चन्द्रमा के गुणों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध जान कर अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करके आनन्द भोगें ॥८॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।

नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९॥

भाषार्थः—(ऋषीणाम्) धर्म के साक्षात् करने वाले मुनियों वा विषय देखने वाली इन्द्रियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला, (अभिशस्तिपाः) हिंसा के भय से बचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उ) निश्चय करके (अग्नौ) सूर्य, अग्नि आदि तेज में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुए (चरति) चलता है । (ते) [उस] तुझको (नमस्कारेण) नमस्कार और (नमसा) आदर के साथ (जुहोमि) मैं आत्मदान करता हूँ । (देवानाम्) महात्माओं के (भागम्) ऐश्वर्य वा सेवनीय कर्म को (मिथुया=मिथुना) दुष्टता से (मा कर्म) हम नष्ट न करें ॥९॥

भाषार्थः—सब मनुष्य परब्रह्मा जगदीश्वर को पूर्ण भक्ति से सर्वत्र व्यापक जानकर महात्माओं के समान शुभ कर्म करके सदा ऐश्वर्यवान् हों ॥९॥

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

सप्तास्यानि तवं जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् ! (देव) हे प्रकाशवान् परमेश्वर ! तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) जानों को (विद्वान्) जानने वाला है । (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! [मेरी] (सप्त) सात (आस्यानि) [मस्तक की] गोलकें (तव)

तेरी [तिरे तत्पर हों] । (तैत्थ्यः) उनके हित के लिये (हुवा) हृदय और (मनसा) मन से (पूतम्) मोचे हुए कर्म को (जुहोमि) समर्पण करता हूँ । (सः) सो तू [मेरे] (हव्यम्) आवाहन को (जुषस्व) स्वीकार कर ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा में लगा कर सदा आनन्द भोगें । मस्तक की सात इन्द्रियों के जीतने में ही सब प्राणी आनन्द पाते हैं जैसा “कः सप्तस्त्रानि वि ततर्द शीर्षणि...” अ० १० । २ । ६ में वर्णन है । “सप्त आस्यानि” पद की व्याख्या में “सप्त ऋषयः” पद अ० ४ । ११ । ६ देखो ॥१०॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद ‘विश्वानि देव’... ‘विद्वान्’ य० ४० । १६ में है ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—८ ॥ जातवेदा देवता ॥ १-७ त्रिष्टुप्, ८ ये विशामित्यस्य जगती छन्दः । ब्रह्मेत्यस्य त्रिष्टुप् छन्दः ।

शत्रुनाशनायोपदेशः— शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वन्ति जातवेदः प्राच्यां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥१॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पुरस्तात्) सम्मुख होकर (प्राच्याः) पूर्व वा सम्मुख (विशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वन्ति) खाते और (अभिदासन्ति) चढाई करते हैं । (ते) वे (अग्निम्) [तुम्हें] सर्वव्यापक को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें । (एनान्) इनको (प्रतिसरेण) [तुम्हें] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर से भक्ति करके पुरुषार्थपूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक शत्रुओं का नाश करें । ऐसा ही भाव अन्य मन्त्रों का समर्थ ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अथर्व ३ । २६ तथा २७ से करो ॥

ये दक्षिणतो जुह्वन्ति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

यममृत्वा तु पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥२॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (विशः) दिशा से (अस्मान्) हम

को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (यमम्) [तुभ्] धर्मराज न्यायकारी को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥२॥

ये पश्चाज्जुह्वन्ति जातवेदः प्रतीच्यां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

वरुणमृत्वा ते पराङ्मो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेणं हन्मि ।३॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पश्चात्) पीछे की ओर में (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे वरुणम् [तुभ्] सर्वश्रेष्ठ को (ऋत्वा) पाकर म० १ ॥३॥

य उत्तरतो जुह्वन्ति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

सोममृत्वा ते पराङ्मो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेणं हन्मि ॥४॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उत्तरतः) बायीं ओर में (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (सोमम्) [तुभ्] ऐश्वर्य वाले को (ऋत्वा) पाकर म० १ ॥४॥

ये ३ धस्ताज्जुह्वन्ति जातवेदो ध्रुवायां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

भूमिमृत्वा ते पराङ्मो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेणं हन्मि ॥५॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अधस्तात्) नीचे की ओर में (ध्रुवायाः) स्थिर (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (भूमिम्) [तुभ्] सर्वाधार को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥५॥

ये ३ न्तरिक्षाज्जुह्वन्ति जातवेदो व्यध्वायां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

वायुमृत्वा ते पराङ्मो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेणं हन्मि ॥६॥

भाषार्थः (जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष वा आकाश से (अध्वायाः) विविध मार्ग वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (वायुम्) [तुभ्] बलवानों में महाबलवान् को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥६॥

य उपरिष्ठाञ्जुहति जातवेद ऊर्ध्वायां दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥७॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उपरिष्ठात्) ऊँचे स्थान में (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति, चढ़ाई करते हैं) । (ते) वे (सूर्यम्) [तुम्हें] सर्वव्यापक वा सर्वप्रेरक को (ऋत्वा) पाकर म० १ ॥७॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुहति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् । ब्रह्मत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥८॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्य देशों से (सर्वाभ्यः) सब (दिग्भ्यः) दिशाओं से (अस्मान्) हम को (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (ब्रह्म) [तुम्हें] ब्रह्म को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़े । (एनान्) इनको (प्रतिसरेण) [तुम्हें] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूँ ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य उस स्वर्नियन्ता परब्रह्म का आश्रय लेकर विचार-पूर्वक अपने सब विघ्नों का नाश करके आनन्द भोगें ॥८॥

इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥



• ओ३म् •

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:०ॐ:०ॐ:०ॐ:०ॐ:—

पञ्चमं काण्डम् ॥

—: ॐ :—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

— ॐ:०ॐ:०ॐ:०ॐ —

सूक्तम् १॥

मन्त्राः १—६ ॥ त्रित इन्द्रो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

ऋधेऽमन्त्रो योनिं य आवभूवाभृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।

अदब्धासुभ्राजमानोऽहैव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (ऋधेऽमन्त्रः) सत्य मन्त्र वा मनन वाला, (अभृतासुः) धमर प्राण वाला, (वर्धमानः) बढ़ता हुआ, (सुजन्मा) अद्भुत जन्म वाला (योनिम्) प्रत्येक धर वा कारण में (आवभूव) व्यापक हुआ है । उस (अदब्धासुः) अचूक बुद्धि वाले, (अहा इव=अहानि इव) दिनों के समान, (भ्राजमानः) प्रकाशमान, (धर्ता) सब के धारण करने वाले, (त्रितः) पालन करने वाले वा सब से बड़े वा तीनों कालों वा लोकों में फैले हुए त्रित परमात्मा ने (त्रीणि) तीनों [धामों, अर्थात् स्थान, नाम और जन्म वा जाति] को (दाधार) धारण किया था ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्य परमात्मा की अनन्त शक्तियों का विचार करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥१॥

इस काण्ड पर सायण भाष्य नहीं है ॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद् ततो वपूषि कृणुषे पुरुणि ।

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेश यो वाचमनुदितां चिकेत ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जिस (प्रथमः) प्रख्यात परमेश्वर ने (धर्माणि) धारण योग्य धर्मों वा व्यवस्थाओं को (आ) यथावत् (ससाद्) प्राप्त किया, (ततो) उसी [धर्म] से वह [संसार के] (पुरुणि), अनेक (वपूषि) रूपों को (कृणुषे=कृणुते) बनाता है । (प्रथमः) उस पहिले (धास्युः) धारण की इच्छा करने वाले परमेश्वर ने (योनिम्) प्रत्येक कारण में (आ) यथावत् (विवेश) प्रवेश किया, (यः) जिसने (अनुदिताम्) बिना कही हुई (वाचम्) वाणी को (आ) ठीक ठीक (चिकेत, जाना वा ॥२॥

भाषार्थः—परमात्मा ने नियम स्थापन करके सृष्टि रची है, और वह सब का अन्तर्यामी हो कर सब के हृदयों को जानता है ॥२॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरिच क्षरद्विरण्यं शुचयोऽनु रवाः ।

अत्रां दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश पर्यन्ताम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरा (शोकाय) प्रकाश पाने के लिये (तन्वम्) अपना शरीर (रिरिच) जोड़ दिया है, [क्योंकि] (शुचयः) शुद्धस्वभाव (स्वाः) बन्धु लोग (क्षरत्) चलते हुए (हिरण्यम्) कमनीय ज्योतिःस्वरूप परमात्मा के (अनु) पीछे पीछे वर्तमान रहते हैं । (अत्र) इस पुरुष में ही (अमृतानि) अमर (नाम=नामानि) नामों को (दधेते) वे दोनों [सूर्य पृथिवी लोक] धरते हैं । (विशः) सब प्रजाएं (अस्मे) हमारे लिये (वस्त्राणि) ओढ़ने वा निवासस्थान आदि (आ ईरयन्ताम्) लावे ॥३॥

भाषार्थः—जो पुरुष प्रकाशमय परमात्मा के स्वरूप जानने में अपना सामर्थ्य लगाते हैं वे संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर यश पाते और सुख भोगते हैं । ३॥

प्र यदेते प्रतरं पूर्य गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुषम् ।

कविः शुषस्य मातरां रिहाणे जाम्यै धुर्य पतिमेरयेयाम् ॥४॥

भाषार्थः—(यत्) जिस कारण से कि (एते) इन [शुद्धस्वभाव बन्धुओं] ने (अजुयम्) जरा रहित (सबःसबः) पाने योग्य पदार्थों में पाने योग्य मोक्ष पद पर (प्रातिष्ठन्तः) चढ़ कर (प्रतरम्) अति उत्तम (पूर्वम्) सबके हितकारक परमात्मा को (प्र गुः) प्राप्त किया है। (कविः=कवेः) बुद्धिमान् (शुष्यम्) बलवान् पुरुष के (मातरा=०-रौ) माताओं, (धुयम्) धुरन्धर (पतिम्) जगत्पति परमात्मा की (रिहाणे) स्तुति करती हुई तुम दोनों [सूर्य और पृथिवी लोक] (जाम्यै) भगिनी के समान हितकारक प्रजा के लिये (आ ईरयेथाम्) प्राप्त कराओ ॥४॥

भाषार्थः—जिस प्रकार से पूर्वज महाशय अक्षय मोक्ष पद पाकर परमात्मा को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार हम भी सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों का ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा से मिलें ॥४॥

तदूषु तै महत् पृथुञ्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि ।

यत् सम्यञ्चावभि यन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥५॥

भाषार्थः—(तत्) उस कारण से (पृथुञ्मन्) हे विस्तृत गतिवाले परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (उ) ही (कविः) मैं बुद्धिमान् पुरुष (काव्येन) बुद्धिमत्ता के साथ (सु) सुन्दर रीति से (महत्) बहुत बहुत (नमः) नमस्कार (कृणामि) करता हूँ (यत्) जिससे (सम्यञ्चाव) आपस में मिले हुए (अभिपन्तौ) सब ओर गति वाले [दोनों लोक अर्थात्] (मही) विशाल (रोधचक्रे) [प्राणियों को] रोकने के कर्म वाले [सूर्य पृथिवी अर्थात् ऊँचे नीचे लोक] (क्षाम अभि) हमारे निवास, उद्योग, वा ऐश्वर्य के लिये (अत्र) यहाँ पर (वावृधेते) बढ़ते हैं ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य विज्ञानपूर्वक परमपिता जगदीश्वर का धन्यवाद करें उसने हमारे ऐश्वर्य के लिये संसार में अनेक पदार्थ रचे हैं ॥५॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यङ्गुरो गात् ।

आयोर्है स्कम्भ उपमस्य नोडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ।६॥

भाषार्थः—(कवयः) ऋषि लोगों ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादायें [कुमर्यादायें] (ततक्षुः) ठहरायी हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्) एक पर (इत्) भी (अभि गात्) चलता हुआ पुरुष (अङ्गुरः) पापवान् [होता है] [क्योंकि] (आयोः) मार्ग [सुमार्ग] का (स्कम्भः) थांभने वाला पुरुष (ह) ही (पथाम्) उन मार्गों (कुमार्यो) के (विसर्गे) त्याग पर (उपमस्य) समीपवर्ती वा सब के निर्माता परमेश्वर के (नोडे) घाम के भीतर (धरुणेषु) धारण सामर्थ्यों में (तस्थौ) स्थित हुआ है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य निषिद्ध कर्मों से पापी होकर दुःख, और विहित कर्मों के करने से सुकर्मी होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख पाते हैं ॥६॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या भगवान् यास्क ने—निरु० ६। २७ में इस प्रकार की है—[सप्तैव] सात ही [मर्यादाः] मर्यादायें [कवयः] ऋषियों ने [चक्रुः] बनायी हैं, [तासाम्] उनमें से [एकामपि] एकपर भी [अभि गच्छन्] चलता हुआ [अंहस्वान् भवति] पापी होता है। [स्तेयम्] चोरी (तत्पारोहणम्) व्यभिचार, [ब्रह्महत्याम्] ब्रह्महत्या, [भ्रूणहत्याम्] गर्भहत्या [सुरापानम्] सुरापान, [दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्] दुष्ट कर्म का बार बार सेवन, और [पातकेऽनृतोद्यम्] पातक लगाने में भूँठ बोलना [इति] यह सात मर्यादा बताई हैं ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० सू० ५। म० ६ ॥

उतामृतासुर्वत एमि कृष्वन्नसुरात्मा तन्व १ स्तत् सुमद्गुः ।

उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत् सचते हविर्दाः ॥७॥

भाषार्थः—(अमृतासुः) अमर बुद्धि वा प्राण वाला, (वतः) उत्तम कर्म वाला मैं (कृष्वन्) कर्म करता हुआ (उत) ही (एमि) चलता हूँ, (तत्) तब (असुः) मेरी बुद्धि (आत्मा) आत्मा और (तन्वः=तनूः) देह (सुमद्गुः) उत्तम मननशील वा तृप्ति कारक विद्यायुक्त [होता है] (उत) और (वा) अवश्य (शक्रः) शक्तिमान् परमेश्वर (रत्नम्) रत्न (दधाति) देता है, (यत्) जब (हविर्दाः) भक्ति का देने वाला पुरुष (ऊर्जया) बल के साथ (वा) निश्चय करके [उत्तको] (सचते) सेवता है ॥७॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य सब प्रकार सावधान होकर परमेश्वर की भक्ति से संसार में अनेक सुख प्राप्त करते हैं ॥७॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्स्तये ।

दर्शन् तु ता वरुण यास्तं विष्ठा आवर्ततः कृण्वो वपृषि ॥८॥

भाषार्थः—(पुत्रः) मैं पुत्र (पितरम्) पालनकर्ता पिता परमेश्वर से (उत) ही (क्षत्रम्) धन (ईडे) मांगता हूँ। (ज्येष्ठम्) अत्यन्त बृद्ध (मर्यादम्) मर्यादा वाले परमात्मा को (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अह्वयन्) [ऋषियों ने] आवाहन किया है। (वरुण) हे वरणीय परमेश्वर ! (याः) जो (ते) तेरी (विष्ठाः) व्यवस्थायें हैं (ताः) उन्हें (तु) शीघ्र (दर्शन्) वे लोग देखें, (आवर्ततः) यथावत् अनेक प्रकार घूमनेवाले [संसार] के (वपृषि) रूपों को (कृण्वः) तू प्रकट कर ॥८॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य पिता से मर्यादापूर्वक पेटुक धन प्राप्त करके

प्रसन्न होते हैं वैसे ही सब लोग परमात्मा के रचे पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द पावें ॥८॥

अर्धमर्धेन पर्यसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर । अविं वृधाम शग्मियं
सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् । कविशस्तान्यस्मै वपुष्यवोचाम
रोदसी सत्यवाचा ॥९॥

भाषार्थः—(शुष्म) है बलवान् ! (अमुर) हे किसी से न घरे गये परमेश्वर ! (अर्धम्) बढ़े हुए संसार को (अर्धेन) बढ़े हुए (पर्यसा) अपने व्यापक-पन से (पृणक्षि) तू संयुक्त करता है और उस (अर्धेन) बढ़े हुए [व्यापकपन] से (वर्धसे) तू बढ़ता है । (अविम्) रक्षक, (शग्मियम्) सुखवान्, (सखायम्) सब के मित्र, (वरुणम्) सब में श्रेष्ठ, (पुत्रम्) सब के ण्ड करने हारे, और (अदित्याः) अखण्ड प्रकृति के (इषिरम्) चलाने वा देखने वाले परमेश्वर को (वृधाम) हम बड़ा मानें । (कविशस्तानि) बुद्धिमानों से बढ़े माने गये (वपुषि) रूपों को (अस्मै) इस [परमेश्वर] के लिये (अवोचाम) हम ने कथन किया है, (रोदसी) सूर्य और पृथिवी दोनों (सत्यवाचा) सत्य बोलने वाले हैं ॥९॥

भाषार्थः—परमेश्वर सब संसार में सर्वथा भरपूर है, वही महाबली प्रत्येक परमाणु में संयोग वियोग शक्ति देकर संसार को रचता है । उसकी महिमा सब बुद्धिमान् लोग गाते हैं जो सूर्य और पृथिवी अर्थात् ऊंचे नीचे और प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों से प्रकट है ॥९॥

सूक्तम् २ ॥

१—९ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्नु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥१॥

भाषार्थः—(तत्) विस्तीर्ण ब्रह्म (इत्) ही (भुवनेषु) लोकों के भीतर (ज्येष्ठम्) सब में उत्तम और सब में बड़ा (आस) प्रकाशमान हुआ (यतः) जिस ब्रह्म से (उग्रः) तेजस्वी (स्त्वेषनृम्णः) तेजोमय बल वा घन बाला पुरुष (जज्ञे) प्रकट हुआ । (सद्यः) शीघ्र (जज्ञानः) प्रकट होकर (शत्रून्) गिराने वाले विघ्नों को

(निरिणाति) नाश कर देता है। (यत्) जिससे (एनम् धनु) इस [परमात्मा] के पीछे पीछे (विश्वे) सब (ऊमाः) परस्पर रक्षक लोग (भवन्ति) हर्षित होते हैं ॥१॥

भावायः—आदि कारण परमात्मा की उपासना से मनुष्य वीर होकर शत्रुओं को मारता है जिसके कारण सब लोग प्रसन्न होते हैं। उस जगदीश्वर की उपासना सब लोग किया करें ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १२०। वहाँ बृहद्देव आथर्वण ऋषि हैं। यह मन्त्र कुछ भेद से यजु०—अ० ३३ म० ८० में है ॥

वावृधानः शर्वसा भूर्योजाः शत्रुदासाय भियसं दधाति ।

अव्यनच्च व्यनच्च सस्ति सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥२॥

भावायः—(शर्वसा) बल से (वावृधानः) बढ़ता हुआ, (भूर्योजाः) महाबली, (शत्रुः) हमारा शत्रु (दासाय) दानपात्र दास को (भियसम्) भय (दधाति) देता है। (अव्यनत्) गतिशून्य, स्थावर(च) और(व्यनत्)गतिवाला जङ्गम जगत् (च) निश्चय करके [परमात्मा में] (सस्ति) लपेटा हुआ है, (प्रभृता) अच्छे प्रकार पुष्ट किये हुए प्राणी (मदेषु) आनन्दों में (ते) तेरी (सम् नवन्त=० न्ते) यथावत् स्तुति करते हैं ॥२॥

भावायः—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत् में व्यापक होकर सब को धारण करता है। उसी की महिमा को जानकर सब मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक अपने विघ्नों का नाश करके प्रसन्न हों ॥२॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदे ते त्रिर्भेवन्त्यूमाः । स्वादोः

स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधोः ॥३॥

भावायः—[हे परमात्मन् !] (त्वे अपि) तुझ में ही (क्रतुम्) अपनी बुद्धि को (भूरि) बहुत प्रकार से [सब प्राणी] (पृञ्चन्ति) जोड़ते हैं। (एते) यह सब (ऊमाः) रक्षक प्राणी (द्विः) दो बार [स्त्री पुरुष रूप से] (त्रिः) तीन बार (स्थान, नाम और जन्म रूप से) (भवन्ति) रहते हैं। (यत्) क्योंकि (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिक स्वादु मोक्ष सुख को (स्वादुना) स्वादु [सांसारिक सुख] के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर (अदः) उस (मधु) मधुर मोक्ष सुख को (मधुना) मधुर [सांसारिक] ज्ञान के साथ (सु) भले प्रकार (अभि) सब ओर से (योधोः) तूने पहुंचाया है ॥३॥

भावायः—लिङ्ग रहित आत्मा कभी स्त्री कभी पुरुष होकर अपने

कर्मानुसार मनुष्य आदि शरीर, नाम और जाति भोगता है। सब प्राणी परमेश्वर की महिमा जानकर सांसारिक व्यवहार द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करें जैसे कि पूर्वज ऋषियों ने वेद द्वारा प्राप्त किया है ॥३॥

यदि चिन्तु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः । ओर्जीयः
शुष्मिन्तिस्थरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥४॥

भाषार्थः—(यदि) जो (चित्) निश्चय करके (विप्राः) पंडित जन (रणेरणे) प्रत्येक रण में (सु) शीघ्र (धना) धनों को (जयन्तम्) जीतने वाले (त्वा) तेरे (अनु मदन्ति) पीछे पीछे आनन्द पाते हैं। (शुष्मिन्) हे बलवन् परमात्मन् ! (ओर्जीयः) अधिक बलवान् (स्थिरम्) स्थिर मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (तनुष्व) फैला। (दुरेवासः=दुरेवाः) दुष्ट गतिवाले (कशोकाः) परसुख में शोक करने वाले जन (त्वा) तुझ को (मा दभन्) न सतावें ॥४॥

भाषार्थः—बुद्धिमान् मनुष्य विघ्नों को हटाकर कठिन-कठिन कार्य सिद्ध करके स्थिर सुख पाते हैं ॥४॥

त्वया वयं शाश्वद्गहे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।

चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं तं शिशामि ब्रह्मणा वयोसि ॥५॥

भाषार्थः—(भूरि) बहुत से (युधेन्यानि) युद्धों के (प्रपश्यन्तः) देखते हुए (वयम्) हम लोग (त्वया) तेरे साथ (रणेषु) रणक्षेत्रों में [शत्रुओं को] (शाश्वद्गहे) मार गिराते हैं। (ते) तेरे (वचोभिः) वचनों से (आयुधा) अपने शस्त्रों को (चोदयामि) मैं आगे बढ़ाता हूँ और (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वयोसि) अपने जीवनों को (सम्) यथावत् (शिशामि) तीक्ष्ण करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—शूरवीर मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके पुरुषार्थ पूर्वक बड़े बड़े कार्य सिद्ध करते हैं ॥५॥

नि तद् दधिषेऽवरे परं च यस्मिन्नाविथावंसा दुरोणे ।

आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमतं इन्वत कर्वराणि भूरि ॥६॥

भाषार्थः [हे परमात्मन्] (अवरे) छोटे (च) और (परे) बड़े मनुष्य में (तद्) उस [घर] को (नि) निश्चय करके (दधिषे) तू ने पोषण किया है। (यस्मिन्) जिस (दुरोणे) कष्ट से भरने योग्य घर में (अवसा) अन्न से (आविध) तूने रक्षा की है। [हे मनुष्यो!] (जिगत्नुम्) सर्वव्यापक (मातरम्) माता

[परमेश्वर] को (आ) भली भाँति (स्थापयत) [हृदय में] ठहराओ और (अतः) इसी से (भूरि) बहुत से (कर्बराणि) कर्मों को (इन्वत) सिद्ध करो ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की उपासना/पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके अपने सब काम सिद्ध करें ॥६॥

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुषर्मानं सप्तृष्वाणमिन्तममाप्तमाप्त्यानाम् ।

आ दर्शति शर्वसा भूर्घोजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥७॥

भावार्थः (वर्ष्मन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (पुरुषर्मानम्) बहुत मार्ग वाले (अष्टृष्वाणम्) दूर दूर तक चमकने वाले, (इन्तमम्) महा प्रभु और (आप्त्यानाम्) आप्त [यथार्थवक्ता] पुरुषों में रहने वाले गुणों के (आप्तम्) यथार्थवक्ता परमेश्वर की (सम्) यथावत् (स्तुष्व) स्तुतिकर । (भूर्घोजाः) वह महाबली (शर्वसा) अपने बल से (आ) सब ओर (दर्शति) देखता है, और वह (पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रतिमानम्) प्रतिमान होकर (प्र) भली भाँति (सक्षति) व्यापता है ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव विचार कर अपनी उन्नति करें ॥७॥

(पृथिव्याः प्रतिमानम्) इसके साथ मिलान करो [पृथिवीव वरिम्णा] य० ३। ५। वह पृथिवी के समान अपने फैलाव से है ॥

इमा ब्रह्म बृहद्विः कृण्वदिन्द्राय शूषमग्निः स्वर्षाः ।

महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरंश्चिद् विश्वं र्णवत् तपस्वान् ॥८॥

भावार्थः—(बृहद्विः) बड़े व्यवहार वा गतिवाला, (अग्निः) अगुआ और (स्वर्षाः) स्वर्ग का सेवन करने वाला पुरुष (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (इमा) इन (ब्रह्म=ब्रह्मणि) बड़े स्तोत्रों को (शूषम्) अपना बल (कृणवत्) बनावे । (स्वराजा) वह स्वतन्त्र राजा परमेश्वर (महः) बड़े (गोत्रस्य) भूपति राजा का (क्षयति) राजा है, और वह (तुरः) शीघ्र स्वभाव, (तपस्वान्) सामर्थ्यवाला परमात्मा (चित्) ही (विश्वम्) सब जगत् में (अर्णवत्) व्यापता है ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य जगदीश्वर परम पिता के गुण ज्ञान कर अपना बल बढ़ावे ॥८॥

एवा महान् बृहद्विः अथर्वावोचत् स्वां तन्वंश्च मिन्द्रं मेव ।

स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिमे हिन्वान्ति चैने शर्वसा वर्धयन्ति च ॥९॥

भाषार्थः—(महान्) महान्, (बृहद्भिः) बड़े व्यवहार वाले, (अपनी) निश्चल स्वभाव पुरुष ने (स्वाम्) अपनी (तन्वम्) विस्तृत स्तुति (इन्द्रम्) परमेश्वर के लिये (एव) ही (एव) इस प्रकार से (अबोच्च) कही है । (मातरिभ्यरि) आकाश में वर्तमान (स्वसारी) अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले वा गति वाले [वा दो बहिनों के समान सहायकारी] दिन और रात (च) और (अरिभ्ये) निर्दोष (एने) यह दोनों [सूर्य और पृथिवी] (श्वसा) अपने सामर्थ्य से [उत्ती को] (ह्रिन्वन्ति) प्रसन्न करती (च) और (वर्धयन्ति) सराहती हैं ॥६॥

भाषार्थः—हम से पहिले ऋषियों ने भी उसी परमात्मा की स्तुति की है, और दिन रात आदि काल और सूर्य पृथिवी आदि सब लोक उसी के आज्ञाकारी हैं ॥६॥

सूक्तम् ३॥

१-११ ॥ विद्मे देवा देवताः ॥ १-६, ११ अष्टुप्, १० जगती ॥

रक्षोपायोपदेशः—रक्षा के उपाय का उपदेश ॥

ममाग्ने वचो विह्वेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशच्चतस्त्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (विह्वेषु) संग्रामों में (मम) मेरा (वचः) प्रकाश (अस्तु) होवे । (वयम्) हम लोग (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (तन्वम्) अपना शरीर (पुषेम) पोषें । (चतस्रः) चारों (प्रविशः) बड़ी दिशाएँ (मह्यम्) मेरे लिये (नमन्ताम्) नमैं, (त्वया) तुझ (अध्यक्षेण) अध्यक्ष के साथ (पृतनाः) संग्रामों को (जयेम) हम जीतें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके अपने सब बाहरी और भीतरी शत्रुओं को जीत कर आनन्द भोगें ॥१॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५, ६ का पूर्वार्ध, ७ का उत्तरार्ध, ८—१० कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० सू० १२८ ॥

अग्ने मन्तुं प्रतिनुदन् परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः ।

अपाञ्चो यन्तु निवतां दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नैशत् ॥२॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (परेषाम्) शत्रुओं के (मन्तुम्) कोध को (प्रतिनुदन्) हटाता हुआ, (गोपाः) रक्षक, (त्वम्) तू (नः) हम लोगों को

(विश्वतः) सब प्रकार से (परिवाहि) बचाले (अपाञ्चः) दूर हटे हुए (दुरत्ययः) अनिष्ट चितक लोग (निबता) नीचे की ओर से (यन्तु) चले जावें और (अमा) अपने घर में (प्रबुधाम्) जागने वाले (एषाम्) इन लोगों का (चित्तम्) चित्त (विनेशत्) नष्ट हो जावे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्न करें कि शत्रु लोग भाग जावें और अपने घर पर भी दुष्टता का विचार न करें ॥२॥

मम देवा विह्वे सन्तु सर्वे इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।

ममान्तरिक्षमुल्लोकमस्तु महां वातः पवतां कामां वास्ये ॥३॥

भावार्थः—(सर्वे) सब (देवाः) चाहने योग्य गुण (विह्वे) सग्राम में (मम) मेरे (सन्तु) हों, और (इन्द्रवन्तः) ऐश्वर्य युक्त (मरुतः) शूर देवता गुण और (विष्णुः) व्यापक सूर्य और (अग्निः) अग्नि [भी मेरे हों] । (उल्लोकम्) विस्तीर्ण लोकों वाला (अन्तरिक्षम्) आकाश (मम) मेरा (अस्तु) होवे, (अस्मै कामाय) इस कामना के लिये (वातः) पवन (मह्यम्) मेरे हित (पवताम्) शुद्ध चले ॥३॥

भावार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य सब उपकारी लोगों, सूर्य, अग्नि और वायु आदि पदार्थों से उपकार लेकर अपनी उन्नति करता हुआ संसार भर में बढ़ता चले ॥३॥

महीं यजन्तां मम यानीष्टाकृतिः सत्या मनसो मे अस्तु ।

एनो मा नि गां कतमत्तनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥४॥

भावार्थः—(मम) मेरा (यानि) पाने योग्य (इष्टा—इष्टानि) इष्ट कर्म (मह्यम्) मुझ को (यजन्ताम्) मिलें, (मे) मेरे (मनसः) मन का (आकृतिः) संकल्प (सत्या) सत्य (अस्तु) होवे । (अहम्) मैं (कतमत्तन) किसी भी (एनः) पाप कर्म को (मा नि गाम्) कभी न प्राप्त होऊँ, (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (मा) मेरी (इह) इस विषय में (अभि) सब ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से विचारपूर्वक शुभ कर्मों को प्रतिज्ञा करके पूरा करें, और छल कथट आदि पाप छोड़ कर सब उत्तम उत्तम गुण प्राप्त करें ॥४॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मयाशीरस्तु मयि देवाहृतिः ।

देवा होतांसः सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वां सुवीराः ॥५॥

भाषार्थः—(देवाः) सब उत्तम गुण (मयि) मुझ में (द्विषाम्) घन (आ यजन्ताम्) लाकर दें। (मयि) मुझ में (आशीः) आशीर्वाद, और (मयि) मुझ में (देवहूतिः) विद्वानों का आवाहन (अस्तु) होवे। (देवाः) दिव्य गुण वाले (होतारः) दाता पुरुष (नः) हमें (एतत्) यह [दान] (सनिधन्) देव—(तन्वा) अपने शरीर से (अरिष्टाः) निर्दुःखी और (सुवीराः) बड़े बड़े वीरों वाले (स्याम) हम होवें ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शिल्प आदि उत्तम गुणों से घन एकत्र करके विद्वानों में बुलाये जाकर सत्कार पावें और अपने शरीर से हृष्ट पुष्ट रह कर अपने सन्तान आदि को उत्तम वीर बनावें ॥५॥

देवीः षड्वीरु रु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् ।

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वजिना द्वेष्ट्या या । ६॥

भाषार्थः—(देवीः) हे दिव्य गुण वाली (षट्) छह [पूर्वादि चार और ऊँची नीची दो] (उर्वीः) फैली हुई दिशाओं ! (नः) हमारे लिये (उरु) फैला हुआ स्थान (कृणोत) करो। (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोगो ! (इह) इस विषय में [हम] (मादयध्वम्) आनन्दित करो। (अभिभाः) सम्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े, और (मो = मा उ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति, और (या) जो (द्वेष्ट्या) द्वेष योग्य (वजिना) वर्जनीय पाप बुद्धि है, [वह भी] (नः) हम पर (मा विदत्) न आपड़े ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य सब दिशाओं में शान्ति रखे, जिससे विद्वान् लोग उपकार करते रहें और सब प्रकार की विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति से दूर रहें ॥६॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध अ० १। २०। १ में आया है।

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।

मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रंधाम द्विषते सोम राजन् । ७ ।

भाषार्थः—(तिस्रः देवीः) हे तीनों कमनीय गुण वाली शक्तियों ! (नः) हमें (महि) बड़ी (शर्म) शरण वा सुख, (च) और (नः) हमारी (प्रजायै) प्रजा के लिये और (तन्वे) शरीर के लिये और (यत्) जो कुछ (पुष्टम्) पोषण है [वह भी] (यच्छत) दान करो। (प्रजया) प्रजा से (मा हास्महि) हम न छूटें और (मा) न (तनूभिः) अपने शरीरों से, (सोम) हे ऐश्वर्य वाले (राजन्) राजन् परमेश्वर ! (द्विषते) वैरी के लिये (मा रंधाम) हम न दुःखी होवें ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य तीन उत्तम शक्तियों अर्थात् उत्तम विद्या, संग्रह शक्ति और पृथिवी पालन से अपनी और प्रजा की उन्नति करें ॥५॥

तीनों उत्तम शक्तियों का वर्णन य० २७ । १६ में इस प्रकार है ।

तिस्रो देवी र्वर्हिरेद थं सन्दन्तिवडा सरस्वती भारती । मही गृणाना ॥

(तिस्र देवीः) तीन उत्तम शक्तियां, अर्थात् (मही) बड़ी पूजनीय और (गृणाना) उपदेश करने वाली (इडा) स्तुति योग्य भूमि, (सरस्वती) प्रशस्त विज्ञान वाली विद्या और (भारती) धारण पोषण शक्ति (इदम् बहिः) इस वृद्धि कर्म में (आ सदन्तु) आवें ॥

उरुव्यचां नो महिषः शर्मै यच्छत्वस्मिन् हवै पुरुहूतः पुरुक्षु ।

स नः प्रजायै हर्यश्च मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥८॥

भाषार्थः—(उरुव्यचाः) बड़ी व्याप्ति वाला, (महिषः) पूज्य, (पुरुहूतः) अत्यन्त करके पुकारा गया परमेश्वर (अस्मिन् हवै) इस आवाहन में (नः) हमें (पुरुक्षु) बहुत अन्तों से युक्त (शर्मै) घर (यच्छतु) देवे । (सः) सो तू (हर्यश्च) हे याकपंग विकपंग से व्यापक (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमारी (प्रजायै) प्रजा के लिये (मृड) सुखी हो, (नः) हमें (मा रिरिषः) मत दुःख दे और (मा परा दाः) मत त्याग कर ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्नपूर्वक अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करें जिससे प्रजा लोग सदा प्रसन्न रहें और कभी दुःख न पावें ॥८॥

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः ।

आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥९॥

भाषार्थः—(धाता) धारण करने वाला, (विधाता) सृष्टि करने वाला (देवः) प्रकाशमान, (सविता) सबका चलाने वाला, (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का जीतने वाला परमेश्वर, (यः) जो (भुवनस्य) संसार का (पतिः) पति है, और (आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) दुःख नाश करने वाले विद्वान् शूर पुरुष, (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी लोक, और (देवाः) सब दिव्य पदार्थ (यजमानम्) यजमान को (निर्ऋथात्) विनाश से (पान्तु) बचावें ॥९॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर विद्वानों के सत्सङ्ग और सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ।९॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव वाधामह एनान् ।

आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशौ न उग्रं चैत्तारमधिराजमक्रत ॥१०॥

भाषार्थः—(ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु हैं (ते) वे (अपभवन्तु) दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्याम्) वायु और अग्नि [प्राण और पराक्रम] द्वारा (एनान्) इनको (अव वाधामहे) हम हटाते हैं (आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) दुःख नाशक, (उपरिस्पृशः) उच्च पद धारण करने वाले पुरुषों ने (चैत्तारम्) सर्वज्ञ, (उग्रम्) तेजस्वी परमात्मा को (नः) हमारा [अधिराजम्] राजाधिराज (अक्रत) बनाया है ॥१०॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्माओं ने सब संसार का स्वामी साक्षात् किया है, उसी परमात्मा के आश्रय से हम अपने शत्रुओं को जीतें ॥१०॥

अर्वाञ्चमिन्द्रमुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।

इमं नो यज्ञं विह्वे शृणोत्वस्माकमभूर्यश्व मेदी ॥११॥

भाषार्थः—(अमुतः) वहां से (अर्वाञ्चम्) सम्मुख विराजमान (इन्द्रम्) इन्द्र परमेश्वर को (हवामहे) हम पुकारते हैं, (यः) जो (गोजिद्) पृथिवी जीतने वाला, (धनजिद्) धन जीतने वाला और (यः) जो (अश्वजिद्) घोड़ों का जीतने वाला है। वह (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) देवपूजन को (विह्वे) संग्राम में (शृणोतु) सुने। (हयंश्व) हे आकर्षण और विकर्षण शक्ति से व्यापक इन्द्र ! (अस्माकम्) हमारा (मेदी) स्नेही (अभूः) तू रहा है ॥११॥

भाषार्थः—जो अन्तर्गामी परमात्मा संसार के सब पदार्थों में उत्कृष्ट है, उसका सदा स्मरण करके मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥११॥

सूक्तम् ४ ॥

१—१० ॥ कुष्ठो देवता ॥ ६ गायत्री, शिष्टानुष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेष्टाः—राजा के धर्म का उपदेष्टा

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।

कुष्ठेहि त्वमनाशन त्वमानं नाशयन्नितः ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो तू (गिरिषु) स्तुति योग्य पुरुषों में (वीरुधाम्) विविध उत्पन्न प्रजाओं के बीच (बलवत्तमः) अत्यन्त बलवान् (अजायथाः) उत्पन्न हुआ है।

(तवमनाशन) हे दुःखित जीवन नाश करने वाले (कुष्ठ) गुणपरीक्षक पुरुष (इतः) यहां से (तवमानम्) दुःखित जीवन को (नाशयन्) नाश करता हुआ (आ इहि) तू आ ॥१॥

भावार्थः—प्रतापी राजा प्रजा के दुःखों का नाश करके उन्नति करे [कुष्ठ वा कूट एक प्रोषधि का भी नाम है जो राजयक्ष्म, कुष्ठ आदि रोगों को शान्त करती है] ॥१॥

सुप॑र्ण सु॒वने॑ गि॒रौ जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।

धनै॑रभि श्रु॒त्वा य॑न्ति वि॒दुर्हि त॑व॒मना॑शनम् ॥२॥

भाषार्थः (सुपर्णसुवने) उत्तम पालन सामर्थ्य उत्पन्न करने हारे (गिरौ) स्तुति योग्य कुल में (हिमवतः) उद्योगी पुरुष से (परि) अच्छे प्रकार (जातम्) उत्पन्न पुरुष को (धनैः) धनों के साथ वर्तमान (श्रुत्वा) सुनकर [विद्वान् लोग] (अभि यन्ति) सन्मुख पहुँचते हैं, [और उस को] (तवमनाशनम्) दुःखित जीवन नाश करने हारा (हि) निश्चय करके (विदुः) जानते हैं ॥२॥

भावार्थः—विद्वान् लोग उत्तम कुल में उत्पन्न प्रतापी, धनी पुरुष को अपना राजा बनाते और उस पर प्रजा की रक्षा का भार रखते हैं ॥२॥

अ॒श्वत्थो॑ दे॒वस॑दन॒स्तृती॑यस्या॒भितो॑ दि॒वि ।

तत्रा॒मृत॑स्य च॒क्षणं॑ दे॒वाः कु॑ष्ठम॒वन्व॑त ॥३॥

भाषार्थः—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होता है, (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत के (चक्षणम्) दर्शन, (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥३॥

भावार्थः—विद्वानों ने निश्चय किया है कि मनुष्य सर्वोत्तम पुरुषार्थ से सर्वजन हितैषी होता है ॥३॥

हि॒र॒ण्य॒यी नौ॑र॒चर॒द्दि॒र॒ण्य॒बन्ध॑ना दि॒वि ।

तत्रा॒मृत॑स्य पु॒ष्पं दे॒वाः कु॑ष्ठम॒वन्व॑त ॥४॥

भाषार्थः—(हिरण्ययी) तेजोमयी, (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नोः) नाव (दिवि) प्रकाशलोक में (अचरत्) चलती थी । (तत्र) वहाँ पर (अमृतस्य)

अमृत के (पुष्पम्) विकास, (कुण्डम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अश्वम्बत) मांगा है ॥४॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा उत्तम विद्या का प्रकाश करके आनन्द पाते हैं ॥४॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।

नावो हिरण्यया रासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् । ५॥

भाषार्थः—(हिरण्ययाः) तेजोमय (पन्थानः) मार्ग और (हिरण्यया) तेजोमय (अरित्राणि) बलियाँ वा डाँड़ (आसन्) थे । (हिरण्ययाः) तेजोमय (नावः) नावें (आसन्) थीं, (याभिः) जिनसे (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (निरावहन्) वे निश्चय करके लाये हैं ॥५॥

भाषार्थः—महात्मा लोग विद्वान् का आदर करके आनन्दित होते हैं ॥५॥

इयं मे कुष्ठं पुरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।

तमुं मे अगदं कृधि ॥ ६॥

भाषार्थः—(कुष्ठं) हे गुण परीक्षक पुरुष ! (मे) मेरे (इयम्) इस (तम्) पीड़ित (पुरुषम्) पुरुष को (आ वह) ले, और (तम्) उसको [दुःख से] (निष्कुरु) बाहिर कर । (तम् उ) उसको ही (मे) मेरे लिये (अगदम्) नीरोग (कृधि) कर ॥६॥

भाषार्थः—राजा प्रयत्नपूर्वक प्रजा के मानसिक और शारीरिक रोगों को हटावे ॥६॥

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।

स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृद ॥ ७॥

भाषार्थः—(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों से (अधि) ऐश्वर्य के साथ (जातः असि) तू उत्पन्न है, और (सोमस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (हितः) हितकारी (सखा) मित्र (असि) तू है । (सः) सो तू (मे) मेरे (प्राणाय) प्राण के लिये, (व्यानाय) व्यान के लिये और (चक्षुषे) नेत्र के लिये (अस्मै) इस पुरुष पर (मृद) सुखी हो ॥७॥

भाषार्थः—कुलीन ऐश्वर्यवान् राजा कुलीन ऐश्वर्यवान् पुरुषों का सत्कार करता हुआ उनकी सर्वथा रक्षा करता रहे ॥७॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।

तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेंजिरे ॥८॥

भाषार्थः—(सः) सो तू (हिमवतः) उद्योगी पुरुष से (जातः) उत्पन्न होकर और (उदङ्) ऊंचा पद पाकर (प्राच्याम्) प्रकृष्ट गति के बीच (जनम्) मनुष्यों में (नीयसे) लाया जाता है । (तत्र) वहाँ पर (कुष्ठस्य) गुणपरीक्षक राजा के (उत्तमानि) उत्तम उत्तम (नामानि) यशों का (वि) विविध प्रकार से (भेंजिरे) उन्होंने ने सेवन किया है ॥८॥

भाषार्थः—प्रजा गण उत्तम राजा को पाकर सदा उसका नाम गाते रहते हैं ॥८॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।

यक्ष्मं च सर्वं नाशय त्वमानं चारसं कृधि ॥९॥

भाषार्थः—(कुष्ठ) हे गुण परीक्षक राजन् ! तू (नाम) अवश्य (उत्तमः) अतिश्रेष्ठ (अस्ति) है, (ते) तेरा (पिता) पिता (नाम) प्रसिद्ध (उत्तमः) अति उत्तम है । (सर्वम्) सब (यक्ष्मम्) राज रोग को (च) अवश्य (नाशय) नाशकर (च) और (त्वमानाम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (अरसम्) असमर्थ (कृधि) यना ॥९॥

भाषार्थः—उत्तम गुणी राजा अपने उत्तम कुल का स्मरण करके प्रजा की दुःखों से सदा रक्षा करे ॥९॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो ३' रपः ।

कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद दैवं समह वृण्यम् ॥१०॥

भाषार्थः—(शीर्षामयम्) शिर के रोग, (अक्ष्योः) दोनों नेत्र के (उपहत्याम्) उपद्रव और (तन्वः) शरीर के (रपः) दोष, (तत् सर्वम्) इस सबको (कुष्ठः) गुण-परीक्षक पुरुष (निष्करत्) बाहिर करे । (समह) हे सत्कार के साथ वर्तमान राजन् ! तेरा (वृण्यम्) जीव का हितकारक बल (दैवम्) दिव्य गुण वाला है ॥१०॥

भाषार्थः—राजा प्रजा के स्वास्थ्य-रक्षा का सदा उपाय करता रहे ॥१०॥

सूक्तम् ५ ॥

१-६ ॥ लाक्षा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्म विद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

रात्रौ माता नमः पितार्यमा तै पितामहः ।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥१॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (रात्रौ) विश्राम देने वाली रात्रि समान, (पिता) पालने वाला गुण (नमः) आकाश वा मेघ के समान, और (पितामहः) हमारे पालने वाले का पालने वाला तेरा गुण (अयंमा) विघ्नों को रोकने वाले सूर्य के समान है । (सिलाची) सब में मेल रखने वाली शक्ति (नाम) नाम (वं) अवश्य ही (असि) तू है, (सा) मो तू (देवानाम्) दिव्य गुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली शक्ति (असि) है ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर ही, जो शक्तिविशेष है, संसार के सब पदार्थों का कर्ता घर्ता है ॥१॥

यस्त्वा पिबेति जीवन्ति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।

भर्त्रा हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (त्वा) तेरा (पिबति) पान करता है, वह (जीवति) जीता है । (त्वम्) तू (पुरुषम्) उस पुरुष की (त्रायसे) रक्षा करनी है । (शश्वताम्) अनेक (जनानाम्) जनों की (हि) निश्चय करके (भर्त्रा) पालन करने-हारी (च) और (न्यञ्चनी) नित्य व्यापक शक्ति (असि) है ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जान कर सदा उद्योग करे, वही सब व्यापक सब सृष्टि को पालता है ॥२॥

वृक्षं वृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।

जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्पर्णी नाम वा असि ॥३॥

भाषार्थः—(वृक्षं वृक्षम्) प्रत्येक स्वीकार योग्य पदार्थ में (आ) सब प्रकार (रोहसि) तू प्रकट है, (वृषण्यन्ती इव) जैसे ऐश्वर्यवान् सूर्य को चाहने वाली (कन्यला) प्रकाश पाने वाली उषा [सूर्य में] है । (जयन्ती) जय करने वाली (प्रत्या-तिष्ठन्ती) प्रत्यक्ष स्थिर रहने वाली और (स्पर्णी) प्रीति करने वाली शक्ति (नाम) नाम (वं) अवश्य (असि) तू है ॥३॥

भावार्थः—वह सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी प्रत्येक वस्तु में ऐसा प्रीति से रम रहा है जैसे उषा सूर्य में ॥३॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुहरेसा कृतम् ।

तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पुरुषम् ॥४॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ (दण्डेन) दण्डे से, (यत्) जो कुछ (इष्वा) तीर से, (वा) यथवा (यत्) जो कुछ (अरुः) घाव (हरसा) बल से (कृतम्) किया गया है । (तस्य) उस की (त्वम्) तू (निष्कृतिः) चंगा करने वाली शक्ति (असि) है, (सा) सो तू (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (निष्कृधि) चंगा करदे ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने प्रत्येक रोग के लिये ओषधि उत्पन्न की है, मनुष्य उसके प्रयोग से यथावत् सुख प्राप्त करें ॥४॥

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खंदिराद्धवात् ।

भद्रान्न्यग्नोधात् पर्णात् सा न एह्यन्धति ॥५॥

भाषार्थः—(प्लक्षात्) परिपूर्ण, (अश्वत्थात्) वीरों में रहने वाले, (खदि-
रात्) स्थिर, (धवात्) शुद्ध (भद्रात्) कल्याण से, (न्यग्नोधात्) शत्रुओं को नीचे
रोकने वाले (पर्णात्) पालन करने वाले (भद्रात्) आनन्द से (निः) निश्चय करके
(तिष्ठसि) तू टहरी है । (सा) सो तू, (अन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति !
(नः) हम में (आइहि) तू आ ॥५॥

भाषार्थः—परमेश्वर अपने उत्तम गुणों से सब स्थान में वर्तमान है,
पुरुषार्थी मनुष्य उसका आश्रय लेकर अपने विघ्न हटावें ॥५॥

लोक में (भद्र) मोथा, (प्लक्ष) पाकर (अश्वत्थ) पीपल, (खदिर) खैर (धव)
धव, (न्यग्नोध) गूलर, और (पर्ण) पनाश वा ढाक के पेड़ को भी कहते हैं ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।

रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ॥६॥

भाषार्थः—(हिरण्यवर्णे) हे सुवर्ण के रूप वाली ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य
वाली ! (सूर्यवर्णे) हे सूर्य समान वर्ण वाली ! (वपुष्टमे) हे अतिशय उत्तम रूप वाली !
(निष्कृते) हे उद्धारशक्ति ! (रुतम्) हमारे दुःख में (गच्छासि) तू पहुंच
(निष्कृतिः) उद्धार शक्ति (नाम वै) अवश्य ही (असि) है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के उपकार विचार के निर्धनता, रोग
आदि बलेशों को प्रयत्नपूर्वक हटावें ॥६॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुभे लोमशवक्षणे ।

अपामंसि स्वसां लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥७॥

भाषार्थः—(हिरण्यवर्णे) हे तेजः स्वरूपिणी ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (शुभे) हे महाबल वाली ! (लोमशवक्षणे) हे छेदनशीलों पर रोष वाली ! (लाक्षे) हे दर्शनीय शक्ति परमात्मन् ! तू (अपाम्) व्यापक प्रजाओं की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली (असि) है। (ते) तेरा (आत्मा) आत्मा (ह) निश्चय करके (वातः) व्यापक (बभूव) हुआ है ॥७॥

भावार्थः—महाधनी सर्वशक्तिमान् सर्वजनक परमेश्वर दुष्टों पर क्रोध करता है, इससे हम सदा उत्तम कर्म करते रहें ॥७॥

लोक में (लाक्षा) लाख वा लाह को भी कहते हैं ॥

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रुं पिता तव ।

अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥८॥

भाषार्थः—(सिलाची) सब में मेल रखने वाली शक्ति (नाम) तू प्रसिद्ध है। (तव) तेरा (पिता) पालने वाला गुण (कानीनः) कन्या अर्थात् कमनीय शक्ति [परमेश्वर] से आया हुआ, (अजबभ्रु) जीवात्माओं का पोषक है। (यमस्य) सर्वनियामक परमेश्वर का (यः) जो (श्यावः) गतिशील (अश्वः) व्यापक गुण है, (तस्य) उसके (हास्ना) प्रकाश से (ह) निश्चय करके तू (उक्षिता) सींची हुई (असि) है ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर के सर्वरक्षक आदि गुणों को विचार कर मनुष्य सदा उन्नति करें ॥८॥

अश्वस्यास्नः संपत्तिता सा वृक्षां अभि सिष्यदे ।

सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एहंरुन्धति ॥९॥

भाषार्थः (अश्वस्य) उस व्यापक गुण के (अस्नः) प्रकाश से (संपत्तिता) अच्छे प्रकार प्राप्त हुई (सा) उस [शक्ति] ने (वृक्षान्) सब स्वीकार करने योग्य पदार्थों को (अभि) भले प्रकार से (सिष्यदे) सींचा है। (सा) वह तू, (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! (पतत्रिणी) नीचे गिरने वाले (सरा) भरने के समान (भूत्वा) होकर (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो ॥९॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की शक्ति द्वारा उत्पन्न हुए उत्तम पदार्थों से उन्नति करके सदा सुखी रहें ॥६॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१ - १४ ॥ १-४ ब्रह्म देवता, ५-८ सोमाह्वी देवते, ९-१४ अग्निदेवता ॥
१, ६ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३, ४ जगती, ५-७, १० त्रिपदा त्रिष्टुप्, ८ द्विपदा जगती,
११-१४ पङ्क्तिः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः - सब सुख प्राप्ति का उपदेश ॥

ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥१॥

भावार्थः—(वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्) पहिले कालमें (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म) वृद्धि के कारण अन्नको और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतः) सीमाओं से (विआवः) फैलाया है । (सः) उसने (बुध्न्याः) अन्तरिक्ष में वर्तमान (उपमाः) [परस्पर आकर्षण से] तुलना रखने वाले (विष्ठाः) विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चय करके (वि वः) खोला है ॥१॥

भावार्थः—जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्राणियों के लिये अन्न आदि पदार्थ बनाये और मूर्त और अमूर्त जगत् के भण्डार आकाश पृथिव्यादि लोक रचे ॥१॥

यह मन्त्र पहिले आ गया है—अ० ४। १। १॥ यह मन्त्र यजु० १३। ३। और सामवेद पूर्वाचिक अ० ४ द० ३। म० ६ में है ॥

अना॒न्ता ये वः प्रथ॒मा या॒नि कर्मा॑णि च॒क्रिरे ।

वी॒रान् नो अत्र॒ मा दं॒भन् तद् वं ए॒तत् पुरो॑ द॒धे ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहाँ पर (मा दंभन्) न मारें, (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक जगत् हितकारी महात्माओं का अनुकरण करें और दुष्ट कर्म छोड़कर श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥२॥

यह मन्त्र पहिले आ चुका है—अ० ४।७।७॥

सहस्र॑धार ए॒व ते सम॑स्वरन् दि॒वो नाके॑ मधु॒जिह्वा अस॑श्चतः । तस्य॑
स्प॒शो न नि मिष॑न्ति भू॒र्णयः॑ प॒देप॑दे पा॒शिनः॑ स॒न्ति सेत॑वे ॥३॥

भाषार्थः—(दिवः) प्रकाश के (सहस्रधारे) सहस्र प्रकार से धारण करने वाले (नाके) दुःख रहित परमात्मा में (एव) ही (ते) उन (मधुजिह्वाः) ज्ञान से जीतने वाले वा मधुर भाषी (असश्चतः) निश्चल स्वभाव वाले पुरुषों ने (सम्) यथावत (अस्वरन्) शब्द किया है । (तस्य) उसके (भूर्णयः) बुझाने वाले (स्पशः) बन्धन गुण (न) कभी नहीं (नि मिषन्ति) आशि मीचते हैं, (पाशिनः) फांस रखने वाले वे (पदेपदे) पद पद पर (सेतवे) बांधने के लिये (सन्ति) रहते हैं ॥३॥

भाषार्थः—वह तेजोमय, आनन्दस्वरूप परमात्मा दुष्टों को सर्वदा सब स्थानों में दण्ड देता है ऐसा ऋषियों ने निश्चय किया है ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १।७३।४

पर्ण॑षु प्र ध॒न्वा वाज॑सातये परि॑ वृ॒त्राणि स॒क्षणिः॑ । द्वि॒ पस्त॑दध्य॒र्ण
वे॒नैय॑से स॒नि॒स्रसो॑ ना॒र्मासि॑ त्रयो॒दशो॑ मा॒स इन्द्र॑स्य गृहः ॥४॥

भाषार्थः—(वृत्राणि) घेरने वाले राक्षसों को (परि) सब ओर से (सक्षणिः) हराने वाला (वाजसातये) हमें अन्न देने के लिये (उ) अवश्य ही (सु) अच्छे प्रकार (परि प्र धन्व) सब ओर से प्राप्त हो । (तत्) इसी लिये (अर्णवेन) जलसे भरे समुद्र द्वारा (द्विषः) बैरियों पर (अधि) ऐश्वर्य से (ईयसे) तू पहुंचाता है । (सनिस्त्रसः) शत्रुओं का अतिशय नीचे गिराने वाला तू (नाम) प्रसिद्ध (त्रयोदशः) दश इन्द्रिय

मन और बुद्धि से परे तेरहवां परमेश्वर, (मासः) परिमाण करने वाला (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (गृह) घर (असि) है ॥४॥

भावार्थः—सर्वव्यापक परमेश्वर के आश्रय से हम समुद्रादि में भी सब विघ्न हटाकर पुरुषार्थ करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ११० । १ ।

न्ये ३ ' तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती
सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥५॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने (नु) शीघ्र [धर्मात्मा को] (अरात्सीः) समृद्ध किया है (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी वा स्तुति है (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले, (तिग्महेती) पने वज्रों वाले, (सुशेवौ) बड़े सुख वाले (सोमारुद्रौ) ऐश्वर्य के कारण और ज्ञानदाता, अथवा चन्द्रमा और प्राण के तुल्य, राजा और वैद्य जनो तुम दोनों (इहि) यहां पर (सु) अच्छे प्रकार (नः) हमें (मृडतम्) सुखी करो ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर सदैव धर्मात्माओं पर दया करता है । इसी से राजा और वैद्य चन्द्रमा और प्राण के समान उपकार करके संसार में सुख बढ़ावें ॥५॥

(तिग्मायुधौ इत्यादि) ऋग्वेद में है—म० ६ सू० ७४ म० ४ ॥

अवै तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती
सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥६॥

भाषार्थः—हे परमेश्वर !] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने अधर्मी को (अव अरात्सीः) निर्धन बनाया है, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी वा स्तुति है । (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले.....म० ॥५ ॥६॥

भावार्थः—अधर्मात्मा अधर्मियों को निर्धनी रखता है, सो राजा और वैद्य धार्मिक होकर प्रजा में सुख बढ़ाते रहें ॥६॥

अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती
सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥७॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने [दुष्ट जन को] (अप अरात्सीः) अपराधी ठहराया है, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी

वा स्तुति है। (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले, (तिग्महेतौ) पैने वज्रों वाले, (सुमेवौ) बड़े सुख वाले, (सोमारुद्रौ) ऐश्वर्य के कारण और ज्ञानदाता, अथवा चन्द्रमा और प्राण के तुल्य, राजा और वंशजों तुम दोनों (इह) यहाँ पर (सु) अच्छे प्रकार (नः) हमें (मृडतम्) सुखी करो ॥७॥

भाषार्थः—परमेश्वर पापियों को अपराधी ठहराकर दण्ड देता है। राजा और वंश धन और नीरोगता राज्य में बढ़ावें ॥७॥

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवघ्राञ्जुषेथां यज्ञममृतमस्मात् धत्तम् ॥८॥

भाषार्थः—[हे ऐश्वर्य के कारण और ज्ञानदाता तुम दोनों!] (अस्मान्) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अवघ्रात्) शक्यनीय निन्दनीय कर्म से (मुमुक्तम्) छुड़ाओ, (यज्ञम्) देव पूजन को (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (अमृतम्) अमरण अर्थात् पुरुषार्थ अथवा अमरपन अर्थात् कीर्तिमत्ता (अस्मात्) हम में (धत्तम्) धारण करो ॥८॥

भाषार्थः—राजा और वंश के सुकर्मी से सब लोग आत्मिक और शारीरिक रोग छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर अमर अर्थात् पुरुषार्थी और यशस्वी हों ॥८॥

चक्षुषो हते मनसो हते ब्रह्मणो हते तपसश्च हते ।

मे न्या मे निरस्य मे नयस्ते सन्तु ये ३ स्माँ अभ्यघायन्ति ॥९॥

भाषार्थः—[हे अग्ने परमात्मन्!] (चक्षुषः) [शत्रुओं की] आंखि की (हते) बरछी! (मनसः) हे मन की (हते) बरछी! (ब्रह्मणः) हे ब्रह्म की (हते) बरछी! (च) और (तपसः) सामर्थ्य की (हते) बरछी! तू (मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (अस्ति) है। (ते) वे लोग (अमेनयः) वे वज्र (सन्तु) हों (ये) जो (अस्मान्) हमें (अभ्यघायन्ति) सताना चाहते हैं ॥९॥

भाषार्थः—जिस प्रकार चोर आदि दुष्टों को दण्ड देकर असमर्थ कर देते हैं इसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने दोषों को निर्वल कर दें ॥९॥

यो ३ स्माँश्चक्षुषा मनसा चित्याकृत्या च यो अघायुरंभिदासात् ।

त्वं तानग्ने मे न्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥१०॥

भाषार्थः—(यः) जो (यः) घबड़ा देने वाला (अघायुः) बुरा चीतने वाला (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) आंखि से, (मनसा) मन से, (चित्या) बुद्धि से (च) और

(आकूत्या) संकल्प से (अभिधासात्) सतावे । (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (तान्) उन्हें, (मेन्या) वज्र से (अमेनीन्) वज्र रहित (कृणु) कर, (स्वाहा) यह सुवाणी वा नम्र प्रार्थना है ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके प्रयत्नपूर्वक अपने दोषों का नाश करके बलवान् होवे ॥१०॥

इन्द्रस्य गृह्णीमि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विंशामि सर्वगुः

सर्वपुरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥११॥

भावार्थः—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (गृह्) आश्रय (असि) है । (सर्वगुः) सब गौ आदि पशुओं सहित, (सर्वपुरुषः) सब पुरुषों सहित, (सर्वात्मा) पूरे आत्मबल सहित, (सर्वतनूः) सब शरीर सहित मैं (तम् त्वा) उस तुझ का (प्र पद्ये) प्राप्त होता हूँ, (तम् त्वा) उस तुझ में (प्रविंशामि) प्रवेश करता हूँ । और (यत्) जो कुछ (मे) मेरा (अस्ति) है (तेन सह) उसके साथ भी ॥११॥

भावार्थः—मनुष्य सब प्रकार से आत्मसमर्पण करके परमेश्वर की आज्ञापालन में सदा प्रसन्नचित्त रहे ॥११॥

इन्द्रस्य क्षमीमि । म० ११ ॥१२॥

भावार्थः—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (क्षमं) क्षरण (असि) है म० ११ ॥१२॥

भावार्थः—मन्त्र ११ के समान है ॥१२॥

इन्द्रस्य वर्मीमि म० ११ ॥१३॥

भावार्थः—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (वर्मं) कवच (असि) है म० ११ ॥१३॥

भावार्थः—मन्त्र ११ के समान है ॥१३॥

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विंशामि सर्वगुः

सर्वपुरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥१४॥

भावार्थः—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (वरूथम्) ढाल (असि) है । (सर्वगुः) सब गौ आदि पशुओं सहित, (सर्वपुरुषः) सब पुरुषों सहित,

(सर्वात्मा) पूरे आत्मबल सहित, (सर्वतनूः) सब शरीर सहित मैं (तम् त्वा) उस तुझ को (प्र पद्ये) प्राप्त होता हूँ, (तम् त्वा) उस तुझ में (प्र विशामि) प्रवेश करता हूँ । और (यत्) जो कुछ (मे) मेरा (अस्ति) है (तेन सह) उसके साथ भी ॥१४॥

भावार्थः—मनुष्य सब प्रकार से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सदा प्रसन्नचित्त रहे ॥१४॥

सूक्तम् ७ ॥

१—१० ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पङ्क्तिः, ४, ६ पथ्या पङ्क्तिः, शिष्टानुष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणायोपदेशः—पुरुषार्थ करने के लिये उपदेश ॥

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम् ।
नमो वीत्सीया असमृद्धये नमो अस्त्वांते ॥१॥

भाषार्थः—(अराते) हे अदान शक्ति ! (नः) हमें (आ) आकर (भर) पुष्ट कर, (मा परि स्थाः) अलग मत खड़ी हो, (नः) हमारे लिये (नीयमानाम्) लायी हुई (दक्षिणाम्) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] को (मा रक्षीः) मत रख ले । (वीत्सीये) अवृद्धि इच्छा, (असमृद्धये) असम्पत्ति अर्थात् (अरातये) अदान शक्ति [निर्धनता] को [नमो नमः] बार-बार नमस्कार (अस्तु) होवे ॥१॥

भावार्थः—जो मनुष्य विपत्ति में निर्भय होकर धैर्य से उपाय करते हैं, वे उन्नति करते हैं अथवा मनुष्यों को निर्धन विपत्तिग्रस्तों का सत्कार-पूर्वक सहायक होना चाहिये ॥१॥

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम् ।

नमस्ते तस्मै कृणु मा वनि व्यथयीमम् ॥२॥

भाषार्थः—(अराते) हे अदान शक्ति ! (यम्) जिस (परिरापिणम्) वड़बड़िया (पुरुषम्) पुरुष को (पुरोधत्से) तू आगे धरती है । (ते) तेरे (तस्मै) उस पुरुष को (नमः) नमस्कार (कृणु) हम करते हैं, (मम) मेरी (वनिम्) भक्ति को (मा व्यथयीः) तू व्यथा में मत डाल ॥२॥

भावार्थः—वीर मनुष्य विपत्तिग्रस्त पुरुषों को उत्साहपूर्वक विपत्ति से निकालें ॥२॥

प्र णीं वनिद्वन्द्वता दिवा नक्तं च कल्पताम् ।

अरातिमनुप्रेमीं वयं नमीं अस्त्वेरांतये ॥३॥

भाषार्थः—(देवकृता) महात्माओं की उत्पन्न की हुई (नः) हमारी (वनिः) भक्ति (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) रात (प्र) अच्छे प्रकार (कल्पताम्) समर्थ होवे । (वयम्) हम लोग (अरातिम्) अदान शक्ति [मिथंनता] को (अनुप्रेमः) डूँड कर पावें, (अरांतये) अदान शक्ति को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर सदा परस्पर भक्ति बढ़ावे और धैर्य से विपत्तियों को सहकर उत्तम पुरुषार्थ करें ॥३॥

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तीं हवामहे ।

वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥४॥

भाषार्थः—(यन्तः) चलते फिरते हम लोग (सरस्वतीम्) विज्ञानवती विद्या, (अनुमतिम्) अनुकूल मति और (भगम्) सेवनीय ऐश्वर्य को (हवामहे) बुलाते हैं । (देवानाम्) महात्माओं की (जुष्टाम्) प्रीति युक्त, (मधुमतीम्) बड़ी मधुर (वाचम्) इस वाणी को (देवहूतिषु) दिव्य गुणों के बुलाने में (अवादिषम्) मैं बोला हूँ ॥४॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या से उत्तम बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं; यही वाणी उत्तम गुण पाने के लिये महात्माओं की संमत है ॥४॥

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनो युजा ।

श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥५॥

भाषार्थः—(यम्) जिस गुण को (अहम्) मैं (सरस्वत्या) विज्ञानयुक्त, (मनोयुजा) मन से जुड़ी हुई (वाचा) वाणी से (याचामि) माँगता हूँ । (बभ्रुणा) पोषण करने वाले (सोमेन) परमेश्वर करके (दत्ता) दी हुई (श्रद्धा) श्रद्धा (तम्) उस गुण को (अद्य) आज (विन्दतु) पावे ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा करके विज्ञान और पराक्रमयुक्त वाणी से अपना मनोरथ शीघ्र सिद्ध करते हैं ॥५॥

मा वनि मा वाचं नो वीत्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।

सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥६॥

भाषार्थः—[हे अदान शक्ति] (मा) न तो (नः) हमारी (वनिम्, भक्ति को और (मा) न (वाचम्) वाणी को (वि ईर्त्सीः) असिद्ध कर। (उभौ) दोनों (इन्द्राग्नी) जीव और अग्नि [पराक्रम] (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धन (आ भरताम्) लाकर भरें। (अद्य) आज (नः) हमें (दिस्तन्तः) दान की इच्छा करने वाले (सर्वे) हे सब गुरुो ! (अरातिम्) अदान शक्ति को (प्रति) प्रतिकूलपन से (हर्षत) प्राप्त हो ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्ण श्रद्धा और सत्य प्रतिज्ञा से आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन बढ़ाकर निर्धनता को हटावे ॥६॥

परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेति नयामसि ।

वेदं त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥७॥

भाषार्थः—(असमृद्धे) हे असमृद्धि ! (परः) परे (अप इहि) चली जा, (ते) तेरी (हेतिम्) बरछी को (वि नयामसि) हम अलग हटाते हैं। (अराते) हे अदान शक्ति ! [निर्धनता !] (अहम्) मैं (त्वा) तुम्हको (निमीवन्तीम्) निर्वेल करने वाली और (नितुदन्तीम्) भीतर चुभने वाली (वेद) जानता हूं ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य मेहादुःखदायिनी निर्धनता को प्रयत्नपूर्वक हटावे ॥७॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्न या संचसे जनम् ।

अराते चित्तं वीर्त्स न्त्याकूर्ति पुरुषस्य च ॥८॥

भाषार्थः—(उत) और (अराते) हे अदानशक्तिः [निर्धनता] (पुरुषस्य) मनुष्य के (चित्तम्) चित्त (च) और (आकूर्तिम्) संकल्प (वीर्त्सन्ती) असिद्ध करती हुई (नग्ना) लज्जित (बोभुवती) बार बार होती हुई तू (स्वप्नया) नींद [आलस्य] के साथ (जनम्) जनसमूह को (संचसे) प्राप्त होती है ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य निर्धनता के कारण अपने चित्त और संकल्प को नष्ट करते, लज्जित और आलसी होते हैं ॥८॥

या महती महोन्माणा विश्वा आशां व्यानशे ।

तस्यै हिरण्यकेश्यै निऋत्या अकरं नमः ॥९॥

भाषार्थः—(या) जो (महती) बलवती, (महोन्माणा) बड़े डीलवाली

[निर्धनता] (विश्वाः) सब (आशाः) दिशाओं में (व्यानशे) व्याप्त हुई है। (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण का प्रकाश कराने वाली (निष्कृत्यै) क्रूर विपत्ति को (नमः अकरम्) मैंने नमस्कार किया है ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य सर्वव्यापिनी निर्धनता में फँसकर और अन्त में उस का नाश करके सुवर्ण आदि धन प्राप्त करते हैं ॥६॥

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्महो ।

तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥१०॥

भावार्थः—[जो] (सुभगा) बड़े ऐश्वर्य वाली (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण का रूप रखने वाली (हिरण्यकशिपुः) सुवर्ण के वस्त्र वाली (महो) बलवती है। (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण द्वारा निन्दित गति से बचाने वाली (अरात्यै) अदान शक्ति [निर्धनता] को (नमः अकरम्) मैंने नमस्कार किया है ॥१०॥

भावार्थः - मनुष्य विपत्तियों का सहन करके अन्त में धनी, बली और सुखी होते हैं ॥१०॥

सूक्तम् ॥८॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ४, ६, ७ पथ्या पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ।

वै कङ्कतेने धमेन देवेभ्य आज्यं वह ।

अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥१॥

भावार्थः—(वैकङ्कतेन) विज्ञान सम्बन्धी (इधमेन) प्रकाश के साथ (देवेभ्यः) व्यवहारकुशल पुरुषों को (आज्यम्) पाने योग्य वस्तु (वह) पहुँचा। (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी राजन् ! (तान्) उन लोगों को (इह) यहाँ पर (मादय) प्रसन्न कर। (सर्वे) वे सब (मे) मेरी (हवम्) पुकार को (आ यन्तु) आकर प्राप्त हों ॥१॥

भावार्थः—राजा अनेक विद्याओं का प्रचार करके दिद्वानों का सत्कार करे, जिस से प्रजा में दुःख लेशमात्र न रहे ॥१॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।

इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।

तेभिः शकेम वीर्यं १ जातवेदस्तनू वशिन् ॥२॥

भाषार्थः— (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (मे हवम्) मेरी पुकार को (आ याहि) तू पहुँच । (इदम्) ऐश्वर्य सम्बन्धी कर्म (करिष्यामि) मैं करूँगा । (तत्) सो (शृणु) तू सुन (इमे) यह (ऐन्द्राः) ऐश्वर्यवान् राजा के (अतिसराः) प्रयत्न (मे) मेरे (आकूतिम्) संकल्प को (सम् नमन्तु) सिद्ध करें । (जातवेदः) हे बहुत धनवाले (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में रखने वाले राजन् ! (तेभिः) उन [प्रयत्नों] से (वीर्यम्) वीरपन (शकेम) पासकें ॥२॥

भाषार्थः—राजा प्रजागण की पुकार सुन कर प्रयत्नपूर्वक उनकी उन्नति करे ॥२॥

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्रिकीर्षति ।

मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवै देवा अस्य मोषं गुर्ममै व हवमेतन ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विजयी पुरुषो ! (असौ) वह (अदेवः सन्) राज-द्रोही होकर (अमुतः) उस स्थान से (यत्) जो कुछ [कुमन्त्र] (चिकीर्षति) करना चाहता है । (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी राजा (तस्य=तस्मै) उसको (हव्यम्) अन्न (मा वाक्षीत्) न पहुँचावे । (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (अस्य) इसकी (हवम्) पुकार को (मा उप गुः) न प्राप्त करें । (मम एव) मेरी ही (हवम्) पुकार को (आ-इतन) तुम आकर प्राप्त होओ ॥३॥

भाषार्थः—राजा और सब विद्वान् लोग राजविद्रोही पुरुष को यथावत् दण्ड देकर प्रजा में शान्ति फलावे ॥३॥

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत । अयि वृक इव

मथनीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नहत ॥४॥

भाषार्थः—(अतिसराः) हे उद्योगी यूरो ! (अति धावत) अत्यन्त करके धावा करो । (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले राजा के (वचसा) वचन से (हत) मारो । [उसे] (मथनीत) मथ डालो, (वृक इव) जैसे भेड़िया (अयिम्) भेड़ को । (सः) वो (जीवन्) जीता हुआ (वः) तुम्हारी (मा मोचि) मुक्ति न पावे । (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को (अपि) भी (नहत) बाँध लो ॥४॥

भाषार्थः—शूर वीर पुरुष राजा की आज्ञा से चढ़ाई करके शत्रुओं का सर्वथा नाश करें ॥४॥

यममी पुरो दधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।

इन्द्र स तै अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥५॥

भाषार्थः—(अमी) इन [शत्रुओं] ने (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) वृद्धिशील पुरुष को (अपभूतये) हमारी हार के लिये (पुरोदधिरे) उच्च पद पर रक्खा है । (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (सः) वह मैं (ते) तेरे (अधस्पदम्) पाँव के नीचे (तम्) उसको (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (प्रति) प्रतिकूलता से (अस्यामि) फेंकता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—शत्रु लोग जिस विद्वान् पुरुष को बहकाकर बड़ा पद देकर हमारी हानि करावें, हमारे राजपुरुष उसको पकड़ कर प्राणान्त तक दण्ड दें ॥५॥

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे । त नूपानं परिपाणं

कृण्वाना यदु पोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥६॥

भाषार्थः—(यदि) जो [शत्रुओं ने] (देवपुराः) राजा के नगरों पर (प्रेयुः) चढ़ाई की है, और (ब्रह्म) हमारे धन को (वर्माणि) अपने रक्षा-साधन (चक्रिरे) बनाया है । (तनूपानम्) हमारे शरीर रक्षासाधन को (परिपाणम्) अपना रक्षा साधन (कृण्वानाः) बनाते हुए उन लोगों ने (यत्) जो कुछ (उपोचिरे), डींग मारी है, (तत् सर्वम्) उस सब को (अरसम्) नीरस वा फीका (कृधि) करदे ॥६॥

भाषार्थः—राजा उपद्रवी शत्रुओं को जीतकर प्रजा की सदा रक्षा करे ॥६॥

यानसावतिसरांश्चकार कृणवंच यान् । त्वं तानिन्द्र

वृत्रहन प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहानं जनम् । ७॥

भाषार्थः (असौ) उसने (यान्) जिन (अतिसरान्) प्रयत्नों को (चकार) किया है, (च) और (यान्) जिनको (कृणवन्) करे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार नाशक (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले राजन् ! (त्वम्) तू (तान्) उन [प्रयत्नों] को (प्रतीचः) आँधे मुस करके (पुनः) अवश्य (आकृधि) तुच्छ करदे, (यथा) जिस से (अमुम् जनम्) उस जनसमूह को वे [हमारे लोग] (तृणहान्) मार डालें ॥७॥

भाषार्थः—राजा सेना आदि द्वारा शत्रुओं का नाश करता रहे ॥७॥

यथेन्द्रं उद्धाचनं लब्ध्वा चक्रे अंधस्पदम् ।

कृष्वे ३ 'हमधरां स्तथामूर्च्छंस्वतीभ्यः समाभ्यः ।' ८॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (उद्धाचनम्) ऊँचे घोलने वाले, बड़बड़ियां शत्रु को (लब्ध्वा) पाकर (अंधस्पदम्) पांव तले (चक्रे) किया है । (तथा) वैसे ही (अहम्) मैं (शस्वतीभ्यः) सनादन (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अमृन्) उन [शत्रुओं] को (अधरान्) नीचे (कृष्वे) करता हूँ ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्वज शूरवीरों के समान संसार के हित के लिये काम क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करें ॥८॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य ।

अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्रं मेघश्च तव ।

अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्यामं सुमतौ तव ॥९॥

भाषार्थः—(अत्र) यहाँ (वृत्रहन्) हे अन्धकार नाशक (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (उग्रः) तेजस्वी तू (एनान्) इन लोगों को (मर्मणि) मर्म स्थान में (विध्य) छेद । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अत्र एव) यहाँ पर ही (एनान्) इनको (अभि तिष्ठ) दबा ले । (अहम्) मैं (तव) तेरा (मेघो) स्नेही हूँ । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् राजन् ! (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (आरभामहे) हम आरम्भ करते हैं । (तव) तेरी (सुमतौ) सुमति में (स्यामं) हम रहें ॥९॥

भाषार्थः—राजा दुष्टों का सर्वथा नाश करके प्रजापालन करे ॥९॥

सूक्तम् ॥९॥

१—८॥ प्रजापतिर्वेता ॥ १, ५ देवी बृहती; २, ६ देवी पङ्क्ति; ३, ८ देवी जगती; ७ सूर्योम इति द्विपदा विराट्, अस्तृतो नामेति द्विपदा जगती; ८ पञ्चपदा विराट् ॥

आत्माः तस्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थः—(दिवे) प्रकाशमान परमेश्वर के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी

हे ॥१॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थः—(पृथिव्यै) विस्तृत नीति के लिये(स्वाहा) सुन्दर वाणी है ॥२॥

अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षाय) भीतर दिखाई देने वाले हृदय [की शुद्धि] के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥३॥

अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थः—(अन्तरिक्षाय) मध्य लोक, वायु मण्डल [के ज्ञान] के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥४॥

दिवे स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(दिवे) व्यवहार के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥५॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(पृथिव्यै) पृथिवी [के राज्य] के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी है ॥६॥

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् । अस्तुतो
नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीधाय ॥७॥

भाषार्थः—(मे) मेरा (चक्षुः) नेत्र (सूर्यः) सूर्य [के सदृश प्रकाशमान], (प्राणः) प्राण (वातः) वायु [के समान चलने वाला], (आत्मा) आत्मा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक [के समान मध्यवर्ती], (शरीरम्) शरीर (पृथिवी) पृथिवी [के समान सहनशील] है । (अयम्) यह (अहम्) मैं (अस्तुतः) बिना ढका हुआ (नाम) प्रसिद्ध (अस्मि) हूँ । (सः—सः अहम् वह मैं (आत्मानम्) अपना आत्मा (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और पृथिवी को (गोपीधाय) रक्षा [अथवा पृथिवी, इन्द्रिय आदि की रक्षा] के लिये (नि) नित्य (दधे) देता रहता हूँ ॥७॥

भाषार्थः—यांगी जन विद्याभ्यास और तपोबल से संसार के सब तत्त्वों से उपकार लेकर संसार की रक्षा करते हैं ॥७॥

उदायुरुद्बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।

आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्त गोपायतं मा ।

आत्मसदौ मे स्त मा मां हिंसिष्टम् ॥८॥

भाषार्थः—(आयुः) मेरा जीवन (उत्) उत्तम, (बलम्) बल (उत्) उत्तम, (कृतम्) किया हुआ काम (उत्) उत्तम, (कृत्याम्) कर्तव्य कर्म (उत्) उत्तम, (मनीषाम्) बुद्धि (उत्) उत्तम, (इन्द्रियम्) इन्द्रिय अर्थात् परम ऐश्वर्य (उत् = उत्कर्षतम्) उत्तम बनाओ । (आयुष्पत्नी, जीवन पालने वाली माता और (आयुष्कृत्) जीवन करने वाले पिता तुम दोनों (स्वधावन्तौ) अन्न वाले होकर (मे) मेरे (गोपा = गोपी) रक्षक (स्तम्) होओ । (मा) मुझको (गोपायतम्) बचाओ । (मे) मेरे (आत्मसदौ) आत्मा में रहने वाले (स्तम्) होओ । (मा) मुझे (मा हिंसिष्टम्) दुःखी मत होने दो ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम विद्या, पुरुषार्थ आदि प्राप्त करके संसार में सुखी रहते हैं ॥८॥

सूक्तम् ॥१०॥

१—८ ॥ ब्रह्म देवता ॥ १—७ पद पङ्क्तिः, ८ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मोत्कर्षोपदेशः—ब्रह्म की उत्तमता का उपदेश ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्यादिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुखवाली (दिशः) दिशा से (मा) मुझ पर (अभिदासात्) चढ़ाई करे, (सः) वह दुष्ट (एतत्) व्यापक दुःख (ऋच्छात्) पावे ॥१॥

भाषार्थः—सर्वव्यापक ब्रह्म प्रत्येक दिशा में दृष्टों को सर्वत्र दण्ड देकर शिष्टों की रक्षा करता है इसी प्रकार आगे समझो ॥१॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ २ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा सेम० १ ॥२॥

अश्मवर्मं मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से.....म० १ ॥३॥

अश्मवर्मं मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ४ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से.....म० १ ॥४॥

अश्मवर्मं मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (ध्रुवायाः) स्थिर वा नीचे वाली (दिशः) दिशा से.....म० १ ॥५॥

अश्मवर्मं मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ६ ॥

भाषार्थः [हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से.....म० १ ॥६॥

अश्मवर्मं मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्य देशों से (मा) मुझ पर (अभिदासात्) चढ़ाई करे, (सः) वह दुष्ट (एतत्) व्यापक दुःख (ऋच्छात्) पावे ॥७॥

भाषार्थः—म० १ । के समान ॥७॥

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥८॥

भाषार्थः—(बृहता) बड़े हुए ज्ञान के साथ (मनः) मन को, (मातरिश्वना) आकाशगामी वायु के साथ (प्राणापानौ) भीतर और बाहिर जाने वाले श्वास को, (सूर्यात्) सूर्य से (चक्षुः) दृष्टि, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति, और (पृथिव्याः) पृथिवी से (शरीरम्) शरीर को (उप ह्वये) मैं आदर से मांगता हूँ । (मनोयुजा) मन से जुड़ी हुई (सरस्वत्या) विज्ञान वाली विद्या के साथ (वाचम्) वाणी को (उप) आदर से (ह्वयामहे) हम मांगते हैं ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद विज्ञान द्वारा वायु, सूर्य, आकाश, और पृथिवी से उत्तम गुणों की प्राप्ति करके शारीरिक और मानसिक बल बढ़ावे ॥८॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥११॥

१-११ ॥ ब्रह्म देवता । ६ शक्वरी, ११ षट्पदा त्रिष्टुप्, अग्न्यत्र त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः— ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

कथं महे असुरायात्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेष नृमृणः ।

पृथिर्न वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥१॥

भाषार्थः—(त्वेषनृमृणः) तेजोमय बल वाले तूने (कथम् कथम्) कैसे कैसे (महे) महान् (असुराय) प्राणदाता वा बुद्धिमान्, (पित्रे) जगत्पिता, (हरये) दुःख

नाशक हरि, परमेश्वर [की प्राप्ति] के लिये (इह) यहाँ (अन्नवीः) कथन किया है ।
(वरुण) हे वरणीय विद्वान् ! तूने (पुनर्मन्त्रं) वेद विद्या और (वक्षिणाम्) प्रतिष्ठा
(वदावान्) दान की है । (पुनर्मन्त्रं) हे बार बार धन देने वाले पुरुष ! (त्वम्) तूने
(मनसा) मन से (अविक्रितोः) हमारी चिकित्सा की है ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् जन किठिन तपश्चर्या से परमेश्वर की विद्या प्राप्त
करके उसके उपदेश से संसार को सुखी करते हैं ॥१॥

न कामेन पुनर्मन्त्रो भवामि सं चक्षे कं पृथिनमेतामुपांजे ।

केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ॥२॥

भाषार्थः—(कामेन) शुभ कामना से (न) अब (पुनर्मन्त्रः) अथर्व धन देने
वाला मैं (भवामि) होता हूँ, [क्योंकि] (एताम्) इस (पृथिनम्) वेद विद्या को
(कम्) सुख से (सम्) ठीक ठीक (चक्षे) देखता हूँ और (उप) आदर से (अजे) प्राप्त
करता हूँ । (अथर्वन्) हे निश्चल स्वभाव वाले पुरुष ! (त्वम्) तू (नु) निश्चय करके
(केन) कामना योग्य (काव्येन) स्तुति योग्य (जातेन) प्रसिद्ध (केन) सुखप्रद प्रजा-
पति परमेश्वर के साथ (जातवेदाः) बहुत धन वा बुद्धिवाला (असि) है ॥२॥

भाषार्थः—योगी जन आदर से वेदविद्या प्राप्त करता, और उसके
प्रचार से संसार को सुखी करके आप सुखी होता है ॥२॥

सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः ।

न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं भीमाय यदहं धरिष्ये ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (सत्यम् सत्यम्) सत्य सत्य (काव्येन) स्तुति योग्य
(जातेन) प्रसिद्ध ब्रह्मा के साथ गभीरः) शान्त (जातवेदाः) बड़ी बुद्धि वाला (अस्मि)
हूँ । (न नार्यः) अनार्य, अविद्वान् (दासः) दास, शूद्र (मे) मेरे (व्रतम्) व्रत को
(न) नहीं (भीमाय) तोड़ सका, (यत्) जिसको (अहम्) मैं (महित्वा) बड़ेपन से
(धरिष्ये) धारण करूँगा ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मा विद्या से धीर ज्ञानी होता और कोई मूर्ख
उसके संकल्प में विघ्न नहीं डाल सकता ॥३॥

न त्वदन्यः क्विंतरो न मेधया धीरंतरो वरुण स्वधावन् ।

त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्तु त्वज्जनों मायी विभाय ॥४॥

भाषार्थः—(स्वधावन्) हे आत्मधारण वाले, स्वाधीन, (वरुण) श्रेष्ठ पुरुष !

(मेधया) अपनी बुद्धि के कारण (त्वत्) तुझ से (अन्यः) अन्य [मूलं] (न) न तो (कवितरः) अधिक सूक्ष्मदर्शी और (न) न (धीरतरः) अधिक बुद्धिमान् है। (त्वम्) तू (ता) उन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (वेत्थ) जानता है। (सः) वह (मायी) मायावी (जनः) जन (त्वत्) तुझ से (चित् नु) अवश्य ही (विभाय) भयभीत हुआ है ॥४॥

भावार्थः—जैसा आत्मबल और ज्ञान ईश्वरभक्तों में होता है वैसा नास्तिकों में कभी नहीं होता अर्थात् उनका आत्मा डरपोक होता है ॥४॥

त्वं ह्यं १ इह वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते ।

किं रजस एना परो अन्यदस्त्ये ना किं परेणावरममुर ॥५॥

भावार्थः—(अङ्ग) हे (स्वधावन्) आत्मधारण वाले, स्वाधीन (सुप्रणीते) हे उत्तम नीति वाले (वरुण) श्रेष्ठ पुरुष ! (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा) सब (जनिमा) उत्पन्न लोकों को (वेत्थ) जानता है (किम्) क्या (एना) इस (रजसः) लोक से (परः) परे (अन्यत्) और कुछ (अस्ति) है। (अमुर) हे गतिशील ! (किम्) क्या (एना) इस (परेण) पर की अपेक्षा (अवरम्) कुछ पीछे [अधिक दूर] रहने वाला ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य योगी ब्रह्मज्ञानियों से वार्तालाप करके अपनी ब्रह्म-विद्या बढ़ावें ॥५॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्ये ना पर एकैन दुर्णश्चिदवाक् । तत्
तं विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पण्यो भवन्तु नीचैर्दा सा उप
सर्पन्तु भूमिम् ॥६॥

भावार्थः—(एना) इस (रजसः) लोक से (परः) परे (अन्यत्) और कुछ (एकम्) अकेला [ब्रह्म] (अस्ति) है। (एना) इस (एकेन) अकेले ब्रह्म की अपेक्षा (परः) परे (दुर्णश्चम्) दुष्प्राप्य और (अवाक्) पीछे वर्तमान (चित्) भी [वही है]। (वरुण) हे श्रेष्ठ पुरुष ! (विद्वान्) विद्वान् में (ते) तुझको (तत्) वह बात (प्र) अच्छे प्रकार (ब्रवीमि) कहता हूँ। (पण्यः) कुव्यवहारी लोग (अधोवचसः) तुच्छ वचन वाले [असत्यवादी] (भवन्तु) हों। (दासाः) दास अर्थात् शूद्र (नीचैः) नीचे की ओर (भूमिम्) भूमि पर (उप) हीन हो कर (सर्पन्तु) रेंग जावें ॥६॥

भावार्थः—वह अकेला अद्भुतमूर्ति परब्रह्म हमारे गोचर और अगोचर

पदार्थों से भिन्न है, यह बात बुद्धिमान् लोग जानते हैं, और कुबुद्धि नास्तिक सदा नीचा देखते हैं ॥६॥

त्वं ह्यं१ इह वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि१ । मो घु पर्णी-
रभ्ये३ तावन्तो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७॥

भाषार्थः—(अङ्ग) हे (वरुण) वरुण श्रेष्ठ पुरुष ! (त्वम्) तू (हि) ही (पुनर्मघेषु) बार बार घन देने वालों के बीच [वर्तमान होकर] (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) अनिन्दनीय अर्थात् प्रशंसनीय वचनों को (ब्रवीषि) बोलता है । (एतावतः) इतने (पर्णीन् अभि) कुव्यवहारी पुरुषों की और (सु) अनायास [सहज स्वभाव से] (मो भूत्) कभी मत हो, [जिससे] (जनासः) लोग (त्वा) तुझको (अराधसम्) अदानी (मा वोचन्) न कहें ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्पुरुषों में उत्तम शिक्षाओं का प्रचार करें, क्योंकि दुष्ट पुरुषों और दुष्ट कर्मों में पड़कर अच्छा मनुष्य भी दोषी हो जाता है ॥७॥

मा मां वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि । स्तोत्रं मे
विश्वमा यांदि शचीभिरन्तर्विश्वांसु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

भाषार्थः—(जनासः) मनुष्य (मा) मुझको (अराधसम्) अदानी (मा वोचन्) न कहें । (जरितः) हे स्तुति करने वाले पुरुष ! (पुनः) अवश्य (ते) तुम्हें (पृश्निम्) वेदविद्या (ददामि) देता हूँ । (विश्वासु) सब (मानुषीषु) मनुष्य सम्बन्धिनी (दिक्षु-अन्तः) दिशाओं के भीतर (शचीभिः) बुद्धियों के साथ (मे) मेरे (विश्वम्) सब (स्तोत्रम्) स्तुतियोग्य कर्म को (आयाहि) प्राप्त हो ॥८॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष उदारचित्त होकर वेदविद्या संसार में फैलावे और सब लोग विवेकपूर्वक उसके उत्तम कर्म का अनुकरण करें ॥८॥

आ तं स्तोत्राण्युद्यंतानि यन्त्वन्तर्विश्वांसु मानुषीषु दिक्षु ।

देहि नु मे यन्मे अर्दत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥९॥

भाषार्थः—[हे विद्वन्] (विश्वासु) सब (मानुषीषु) मनुष्य सम्बन्धिनी (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर (ते) तेरे (उद्यंतानि) प्रवृत्त किये हुए (स्तोत्राणि) स्तुति योग्य कर्म (आ यन्तु) प्राप्त हों । (मे) मुझे (नु) निश्चय करके वह (देहि)

दे (यत्) जो कुछ (मे) मुझ को (अदत्तः असि) तू ने नहीं दिया है। (मे) मेरा (युज्यः) योग्य (सप्तपदः) अधिकार पाये हुए (सखा) सखा (असि) तू है ॥६॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष सब मनुष्यों में उत्तम कर्मों का प्रचार करे और विचारपूर्वक सब लोग उससे गुण प्राप्त करें ॥६॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।

ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥१०॥

भाषार्थः—(वरुण) हे श्रेष्ठ पुरुष ! (नौ) हम दोनों की (बन्धुः) बन्धुता (समा) एक ही है और (जा) जाति भी (समा) एक ही है। (अहम्) मैं (तत्) वह (वेद) जानता हूँ (यत्) जिससे (नौ) हम दोनों की (एषा) यह (जा) उत्पत्ति (समा) एक है। (तत्) वह (ददामि) देता हूँ (यत्) जो (ते) तुम्हें (अदत्तः) विना दिये हुए [अस्मि] हूँ। (ते) तेरा (युज्यः) योग्य (सप्तपदः) अधिकार पाये हुए (सखा) सखा (अस्मि) हूँ ॥१०॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष सब मनुष्यों और प्राणिमियों को अपने समान जान कर प्रीतिपूर्वक उनका हित करें ॥१०॥

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः । अजीजनो
हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम् । तस्मा उ राधः कृणुहि
सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥११॥

भाषार्थः—(स्वधावन्) हे आत्मधारण वाले, स्वाधीन (वरुण) श्रेष्ठ ! तू (गृणते) तेरी स्तुति करने वाले (देवाय) विद्वान् पुरुष को (वयोधाः) बल वा अन्न धारण करनेवाला (देवः) तू देव है। और (स्तुवते) तेरी स्तुति करने वाले (विप्राय) पंडित के लिये (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिवाला (विप्रः) पंडित है। तूने (हि) ही (पितरम्) हमारे पालनकर्ता (देवबन्धुम्) विद्वानों के बन्धु (अथर्वाणम्) निश्चलस्वभाव पुरुष को (अजीजनः) उत्पन्न किया है। (तस्मै) उसके लिये (उ) ही (सुप्रशस्तम्) अति उत्तम (राधः) धन (कृणुहि) कर, तू (नः) हमारा (सखा) सखा (च) और (परमम्) अतिशय करके (बन्धुः) बन्धु (असि) है ॥११॥

भाषार्थः—विद्वान् जन विद्वान् जन का सदा सत्कार करें, इसलिये कि विद्वानों से विद्वान् उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं ॥११॥

सूक्तम् १२ ॥

१—११ ॥ १, २, ६, १० विद्वान्, ३, ११, अग्निः, ४ बर्हि, ५ प्रजाः, ६, उपासनवृत्ता, ७ दंष्ट्या होतारा, ८ भारतीया सरस्वत्यो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्योन्मत्तपुपदेशः—मनुष्य की उन्मत्ति का उपदेश ॥

समिद्धो अथ मनुषो दुरोणे देशे देवान् यजसि जातवेदः ।

आ व वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः । १॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे बहुत ज्ञान वा धन वाले पुरुष ! (समिद्धः) प्रकाश युक्त (देवः) दाता तू (अथ) इस समय (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (देवान्) दिव्य गुणों से (यजसि) संगति रखता है । (मित्रमहः) हे मित्रों के सत्कार करने वाले ! [उत्त दिव्य गुणों को] (च) निश्चय करके (आवह) तू ला । (वह्म) तू (चिकित्वान्) विज्ञानवान् (दूतः) गमनशील वा दुष्टतापक, (कविः) बुद्धिमान् और (प्रचेताः) उत्तम चेतना वाला (असिः) है ॥१॥

भावार्थः—पुरुषार्थी धार्मिक विद्वान् मनुष्य अपने कुल में प्रकाशित होकर संसार का उपकार करे ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० ११० और यजुर्वेद में भी है—अ० २६ म० २५, २६, २८—३६ । ऋषि जमदग्नि हैं । देवता प्रायः दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के अनुसार हमने माने हैं । मन्त्र १—१० निरुक्त में भी व्याख्यात हैं—अ० ८ सू० ५, ६, ८ १४, १७ ॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।

मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुध्वरं नः ॥२॥

भाषार्थः—(तनूनपात्) हे विस्तृत पदार्थों के न गिराने वाले, (सुजिह्व) हे बड़े जयशील वा मधुरभाषी विद्वान् ! (ऋतस्य) सत्य के (यानान्) चलने योग्य (पथः) मार्गों को (मध्वा) ज्ञान से (समञ्जन्) प्रकट करता हुआ (स्वादय) स्वाद ले । (धीभिः) कर्मों के साथ (मन्मानि) ज्ञानों (उत) और (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (अृन्धन्) सिद्ध करता हुआ तू (देवत्रा) विद्वानों के बीच (नः) हमारे लिये (अध्वरम्) सम्मार्ग देने वाला वा हिंसा रहित व्यवहार को (च) अवश्य (कृणुहि) कर ॥२॥

भाषार्थः— आप्त विद्वान् पुरुष ज्ञानकाण्ड और वर्मकाण्ड में निपुण होकर संसार का उपकार करते हैं ॥२॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याङ्गने वसुभिः सजोषाः ।

त्वं देवानामसि यद्द होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥३॥

भाषार्थः— (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (आजुह्वानः) ललकारने वाला, (ईड्यः) स्तुति योग्य (च) और (वन्द्यः) वन्दना योग्य तू (वसुभिः) निवास के हेतु श्रेष्ठों के साथ (सजोषाः) समान प्रीति निवाहने वाला होकर (आयाहि) आ । (यद्द) हे पूजनीय ! (त्वम्) तू (देवानाम्) दिव्य गुरुओं का (होता) दाता (असि) है । (सः) सो तू (इषितः) इष्ट और (यजीयान्) अत्यन्त दाता हो कर (एनान्) इन [उत्तम गुरुओं] का (यक्षि) दानकर ॥३॥

भाषार्थः— मनुष्य विद्वानों में प्रशंसनीय होकर संसार में सर्व हितकारी होवे ॥३॥

प्राचीनं वहिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।

व्युप्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥४॥

भाषार्थः— (अह्नाम्) दिनों के (अग्रे) पहिले [वर्तमान] (प्राचीनम्) प्राचीन (वहिः) प्रबृद्ध ब्रह्म (प्रदिशा) अपने निर्देश वा शासन से (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वस्तोः) ढक लेने के लिये (वृज्यते) छोड़ा जाता है [वर्तमान रहता है] । (वितरम्) विशेष करतारने वाला, (देवेभ्यः) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों से (वरीयः) अधिक विस्तार वाला, (स्योनम्) सुखदायक ब्रह्म (अदितये) अष्टाण्ड मोक्ष सुख [देने] के लिये (वि उ) विशेष करके ही (प्रथते) फैलता है ॥४॥

भाषार्थः— वह परब्रह्म अपनी अनन्त सामर्थ्य से पृथिवी और सूर्य आदि लोकों को परस्पर आवर्णन में रखता और पुरुषार्थी विद्वानों को मुक्ति देता है ॥४॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।

देवांर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥५॥

भाषार्थः— (व्यचस्वतीः) व्याप्ति वाली प्रजायें (उज्या) विस्तीर्ण कर्म को (वि) विशेष करके (श्रयन्ताम्) सेवन करें, (न) जैसे (शुम्भमानाः) शोभायमान

(जनयः) स्त्रियां (पतिभ्यः) अपने पतियों के लिये । (देवीः) प्रकाशमान (बृहतीः) बड़ी (दिश्वमिन्वाः) सब व्यवहार में व्याप्ति रखने वाली प्रजाओं तुम (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (सुप्रायणाः) बड़े उत्तम घर वाले (द्वारः) द्वारों के समान (भवत) हो जाओ ॥५॥

भाषार्थः—जैसे गुणवती स्त्रियां अपने अपने पतियों का हित करती रहती हैं, और जैसे अच्छे घर वाले द्वारों से आना जाना सुगम होता है, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष उत्तम गुण ग्रहण करें और संसार में फैलावें ॥५॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उपासानक्ता सदतां नि योनीं ।

दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥६॥

भाषार्थः—(सुष्वयन्ती = सुसुष्वयन्त्यो) अति सुन्दरता से चलती हुई, (यजते) संगति योग्य, (उपाके) पास पास रहने वाली, (दिव्ये) दिव्य गुण वाली, (य षणे) सेवा योग्य, (बृहती) वृद्धि करने वाली (सुरुक्मे) सुन्दर शोभा वाली, (शुक्रपिशम्) शुद्ध रूप युक्त (श्रियम्) सेवनीय श्री को (अधि) अधिक (दधाने) धारण करने वाली (उपासानक्ता) रात और प्रभात बेलायें [दिन और रात] (योनीं) हमारे घर में (नि) नित्य (आ सदताम्) आवें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य रात दिन पुरुषार्थ करके विद्यारूपी और धनरूपी लक्ष्मी को अपने घरों में बढ़ावें ॥६॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमांसा यज्ञं मनुषो यजध्ये ।

प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥७॥

भाषार्थः—(प्रथमा) प्रख्यात, (सुवाचा) सुन्दर वाणी वाले, (दैव्या) दिव्य गुण वाले, (होतारा) दोनों दाता [अग्नि और वायु] (मनुषः) मनुष्य के (यज्ञम्) पूजनीय कर्ण को (यजध्ये) पूरा करने के लिये (मिमांसा) निष्कर्ष करते हुए (विदथेषु) विज्ञानों में (प्रचोदयन्ता) प्रेरणा करते हुए, (कारू) दो शिल्पी रूप, (प्राचीनम्) प्राचीन (ज्योतिः) ज्योति (प्रदिशा) अपने अनुशासन से (दिशन्ता) देते हुए [आवे— म० ६] ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य अग्नि और वायु से उपकार लेकर स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार के शिल्प आदि सिद्ध करके सुखी रहें ॥७॥

[दैव्या होतारा दैव्यो होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः] निरु० । ८ । ११ ।
इस वचन के अनुसार (होतारा) का अर्थ अग्नि और वायु लिया गया है ॥

आ नो यज्ञं भारती तूयमे त्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।

तिस्रो देवीर्व हिरिदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥८॥

भाषार्थः—(चेतयन्ती) चेताने वाली (भारती) पोषण करने वाली विद्या (नः) हमारे (यज्ञम्) पूजनीय, (मनुष्वत्) मनुष्यों से युक्त (तूयम्) वृद्धि करने वाले कर्म में (इह) यहाँ पर (आ एतु) आवे, (इडा) स्तुति योग्य नीति, और (सरस्वतीः = सरस्वती) विज्ञान वाली बुद्धि [भी आवे] । (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवियाँ (इदम्) इस (स्योनम्) सुखकारी (र्वाहः) बढ़े हुए काम में (स्वपसः) उत्तम कर्मों वाले पुरुषों को (आ सदन्ताम्) आकर प्राप्त होवें ॥८॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या, उत्तम नीति और उत्तम बुद्धि प्राप्त करके परस्पर उन्नति करें ॥८॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरापिशद् भुवनानि विश्वा ।

तम्य हौतरिषितो यजोयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥९॥

भाषार्थः—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (इमे) इन दोनों (जनित्री) उत्पन्न करने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को और (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (रूपैः) अनेक रूपों से (आपिशत्) अवयव वाला बनाया है । (होतः) हे दानशील पुरुष ! (यजोयान्) अधिक संगति करने वाला, (इषितः) प्रेरणा किया गया (विद्वान्) विद्वान् तू (अथ) आज (इह) यहाँ पर (तम्) उस (देवम्) प्रकाशमय (त्वष्टारम्) विश्वकर्मा को (यक्षि) पूज ॥९॥

भाषार्थः—मनुष्य जगत्पालक परमात्मा की अनेक रचनाओं को विचार कर अपनी उपकार शक्ति बढ़ावें ॥९॥

उपावसृजन्मन्यां समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।

वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥१०॥

भाषार्थः—[हे विद्वान् पुरुष तू] (मन्या) आत्म बल से (समञ्जन्) यथावत् प्रकट करता हुआ (देवानाम्) विद्वानों के (पाथः) रक्षा साधन अन्न और (हवींषि) देने लेने योग्य पदार्थों को (ऋतुथा) ऋतु ऋतु में (उप-अव-सृज) आदरपूर्वक दिया कर । (वनस्पतिः) किरनों का स्वामी सूर्य (शमिता) शान्तिकर्ता (देवः) दानशील मेघ और (अग्निः) अग्नि (हव्यम्) अन्न को (मधुना) मीठे रस वाले (घृतेन) जल के साथ (स्वदन्तु) स्वादु बनावें ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य आत्मबल से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सुपात्रों को सदा दान करें और सूर्य, जल, अग्नि द्वारा पदार्थों को उत्तम बनावें ॥१०॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।

अस्य होतुः प्रशिष्युतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥११॥

भाषार्थः—(सद्यः) शीघ्र (जातः) प्रसिद्ध होकर (अग्निः) विद्वान् पुरुष ने (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (वि) विशेष करके (अमिमीत) निर्माण किया, और (देवानाम्) विद्वान् लोगों का (पुरोगाः) अग्रगामी (अभवत्) हुआ। (अस्य) इस (होतुः) दानशील, (ऋतस्य) सत्यशील, पुरुष के (प्रशिषि) अनुशासन और (वाचि) वाणी में (देवाः) विद्वान् लोग (स्वाहाकृतम्) सुन्दर वाणी से सिद्ध किया हुआ (हविः) खाने योग्य अन्न आदि (अदन्तु) खावें ॥११॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम कर्म करने से विद्वानों का अग्रगामी होता है और उसी के शासन और वचन में चलकर विद्वान् लोग आनन्द भोगते हैं ॥११॥

सूक्तम् १३ ॥

१—११ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १, ३, जगती, २, ६, पथ्या पङ्क्तिः, ४, ६, अनुष्टुप्, ५, त्रिष्टुप्: ७, ८ उष्णिक्, १०, ११ गायत्री छन्दः ॥

दोषनिवारणायोपदेशः - दोष निवारण के लिये उपदेश ॥

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिस्तैर्नि रिणामि ते विषम् ।

खातमखातमुत सक्तमग्रममिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम् ॥१॥

भाषार्थः—(दिवः) व्यवहार की (कविः) बुद्धि वाला (वरुणः) श्रेष्ठ परमेश्वर (हि) ही (मह्यम्) मुझ को (दिवः) दाता है। उग्रैः) प्रचण्ड (वचोभिः) वचनों से [हे सपं] (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणामि, मिटाये देता हूँ। (खातम्) खुदे हुए (अखातम्) बिना खुदे (उत) और (सक्तम्) चिपटे हुए [विष] को (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है। (ते विषम्) तेरा विष (धन्वन्) रेतीले देश में (इरा इव) जल के समान (नि जजास) नष्ट हो गया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के दिये हुए ज्ञान से अपने शारीरिक और आत्मिक दोष मिटावें जैसे वृक्ष सपं आदि के विष को नाश करता है ॥१॥

यत् ते अपोंदकं विषं तत् तं ए त स्वग्रभम् ।

गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसां नेशदादुंते ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ (ते) तेरा (अपोदकम्) जल [रुधिर] का सुखाने वाला (विषम्) विष है, (ते) तेरे (तत्) उसको (एतासु) इन [नाडियों] के भीतर (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है। (ते) तेरे (मध्यमम्) मध्य के, (उत्तमम्) ऊपर के (उत) और (अवमम्) नीचे के (रसम्) रस को (गृह्णामि) मैं पकड़ता हूँ। (आत्) और (ते) वह तेरा (उ) निश्चय करके (भियसा) भय से (नेशत्) नष्ट हो जावे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य विषरूपी आत्म दोषों को सर्वथा नष्ट करे ॥२॥

वृषां मे रवो नमसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदुं ते ।

अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदंतु सूर्यः ॥३॥

भाषार्थः—(मे) मेरा (रवः) शब्द (नभसा) मेघ के साथ (तन्यतुः न) गर्जन के समान (वृषा) शक्ति वाला है। (आत् उ) और भी (वचसा) अपने वचन से (ते) तेरे, (ते) तेरे [रस को] (बाधे) हटाता हूँ। (अहम्) मैंने (नृभिः) मनुष्यों के साथ (अस्य) इसके (तम् रसम्) उस रस को (तमसः) अन्धकार से (ज्योतिः इव) ज्योति के समान (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है [अब] (सूर्यः) सूर्य (उदेतु) उदय होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य आत्मबल बढ़ाकर विषरूपी अज्ञान का नाश करके विद्यारूपी सूर्य का प्रकाश करें ॥३॥

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।

अहं क्षियस्व मा जीवोः प्रत्यगभ्येतु स्वा विषम् ॥४॥

भाषार्थः—(चक्षुषा) इस नेत्र से (ते) तेरे (चक्षुः) नेत्र को (हन्मि) नाश करता हूँ। (विषेण) इस विष से (ते) तेरे (विषम्) विष को (हन्मि) नाश करता हूँ। (अहे) हे बड़े हननशील, सर्प (क्षियस्व) तू मरजा, (मा जीवोः) मत जीता रह। (विषम्) विष (स्वा) तुझ को (प्रत्यक्) प्रतिकूल गति से (अभि) सब ओर (एतु) प्राप्त हो ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्परूपी कुस्युवहारों को खोज खोज कर हठ के साथ नाश करें जैसे बड़े एक विष से दूसरे विष को नाश करता है ॥४॥

कैरांत पृश्न उपतृष्य बभ्र आ मे शृणुतासिंता अलींकाः ।

मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥५॥

भाषार्थः—(कैरांत) हे किरांत अर्थात् शूकरादि के फिरने के स्थान में रहने वाले ! (पृश्ने) हे चिपटने वाले ! (उपतृष्य) हे बागड़ [घासस्थान] में दबक जाने वाले ! (बभ्रोः) हे भूरे रंग वाले ! (असिताः) हे काले वर्ण वाले ! (अलींकाः) हे तुच्छ जीवो ! तुम (मे) मेरी (आ) भले प्रकार (शृणुत) सुनो । (मे) मेरे (सख्युः) मित्र के (स्तामानम्) घर के (अपि=अभि) पास (मा स्वात) मत ठहरो । (आश्रावयन्तः) अच्छे प्रकार सुनते हुए तुम (विषे) इस विष में (नि रमध्वम्) चपचाप ठहरे रहो ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्प समान दुःखदायी कुविचारों को नाश करके सदा शान्तस्वभाव रहें ॥५॥

असितस्य तैमातस्य बभ्रोःपौदकस्य च । सात्रासाहस्याहं मन्योरव
ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथौ इव ॥६॥

भाषार्थः—(असितस्य) काले वर्ण वाले, (तैमातस्य) ओदे स्थान में रहने वाले, बभ्रोः) भूरे वर्ण वाले, (अपौदकस्य) जल से बाहर रहने वाले, (च) और (सात्रासाहस्य) मिलकर रहने वाली प्रजाओं के हराने वाले [सर्प] के (मन्योः) क्रोध के (रथान् इव) रथों को जैसे, (धन्वनः) धनुष की (ज्याम् इव) डोरी को जैसे (अहम्) मैं (अव) अलग (वि मुञ्चामि) ढीला करता रहूँ ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्प रूप भयंकर दुष्ट स्वभावों को ढीला कर दें जैसे चाप की डोरी को ढीला करके रखते हैं ॥६॥

आलिङ्गी च विलिङ्गी च पिता च माता च ।

विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥७॥

भाषार्थः—(च) और (आलिङ्गी) चारों ओर घूमने वाली (च) और (विलिङ्गी) टेढ़ी टेढ़ी चलने वाली [सापिनी] (च) और (पिता) उसका पिता [साप] (च) और (माता) उसकी माता [सापिनी] तुम सब, (वः) तुम्हारे (बन्धु) बन्धुपुत्र को (सर्वतः) सब प्रकार से (विष्य) हम जानते हैं । (अरसाः) निर्वीर्य तुम (किम्) क्या (करिष्यथ) करोगे ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य कुवासनाश्रों का और उनके कारणों का इस प्रकार नाश करें जैसे सांप और उनके माता पिता आदि का नाश करते हैं ॥७॥

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।

प्रतङ्गं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् । ८॥

भाषार्थः—(उरुगूलायाः) बहुत डसने वाली [सापिनी] की (दुहिता) पुत्री (असिक्न्या) उस काली [नागिनी] से (जाता) उत्पन्न हुई (दासी) डसने वाली [सापिनी] है । (सर्वासाम्) सब (दद्रुषीणाम्) दद्रु अर्थात् दुर्गति वा ख़ुजली देने वाली [सापिनी] (प्रतङ्गम्) जीवन को कष्ट देने वाला (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल है ॥८॥

भाषार्थः—जैसे सदैव की ओषधि से सर्प आदि का विष निष्फल होता है, वैसे ही मनुष्य सदज्ञान से कुवासनाश्रों की कुचालें मिटावें ॥८॥

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका ।

याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥९॥

भाषार्थः—(गिरेः) पहाड़ के (अवचरन्तिका) नीचे घूमने वाली (कर्णा) कान वाली (श्वावित्) साही (तत्) यह (अब्रवीत्) बोली, (याः काः) जो कोई (च) (इमाः) यह सब (खनित्रिमाः) खनती में रहने वाली [सापिनी] हैं, (तासाम्) उनका (विषम्) विष (अरसतमम्) अत्यन्त निर्बल होवे ॥९॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने हृदय की कुवासनाश्रों को नष्ट करे, जैसे वर्मले जन्तुओं के विष को ॥९॥

ताबुवं न ताबुवं न घेत् स्वमसि ताबुवंम् ।

ताबुर्वेनारसं विषम् ॥१०॥

भाषार्थः—(ताबुवम्) वृद्धि करने वाली वस्तु (ताबुवम्) पीड़ा देने वाली वस्तु (न) नहीं होती, (स्वम्) तू [सर्प] (घ इत्) अवश्य ही (ताबुवम्) दुःखनाशक वस्तु (न) नहीं (असि) है । (ताबुवेन) हमारी वृद्धि करने वाले कर्म से (विषम्) तेरा विष (अरसम्) निर्बल हो जाये ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक अपने दुष्ट भावों को नष्ट करे ॥१०॥

तस्तुवं न तस्तुवं न धेत् त्वमसि तस्तुवंम् ।

तस्तुवैनारसं विषम् ॥११॥

भाषार्थः—(तस्तुवं न) निन्दानाशक वस्तु के समान (तस्तुवम्) निन्दाप्रापक (न) नहीं है, (त्वम्) तू (ध इत्) अवश्य ही (तस्तुवम्) निन्दा प्रापक वस्तु (असि) है। (तस्तुवेन) निन्दानाशक कर्म से (विषम्) तेरा विष (अरसम्) शक्तिहीन होवे ॥११॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रशंसनीय कर्म करके दुष्ट कर्मों को छोड़ें ॥११॥

सूक्तम् १४ ॥

१-१३ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १-७, ६, १०, १२, १३ अनुष्टुप्; म पुर उष्णिक्; ११ वर्धमाना गायत्री ॥

शत्रुविनाशोपदेशः—शत्रु के विनाश का उपदेश ॥

सुपर्णस्त्वान्वंविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नासा ।

दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमवं कृत्याकृतं जहि ॥१॥

भाषार्थः—(सुपर्णः) सुन्दर पक्षवाले वा शीघ्रगामी [गरुड, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु=अन्विष्य) ढूँढ़ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्र बुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुझको (नासा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (ओषधे) हे तापनाशक पुरुष (त्वम्) तू (दिप्सन्तम्) मारने की इच्छा करने वाले को (दिप्स) मारना चाह, और (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी पुरुष को (अव जहि) मार डाल ॥१॥

भाषार्थः—गिद्ध मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं, और सूअर एक बलवान् तीव्रबुद्धि पशु अपनी नासिका से खाद्य तृण को भूमि से खोद कर खाजाता है। इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुषार्थी बलवान् अपने शत्रुओं को खोज कर नाश करता है ॥१॥

अवं जहि यातुधानान्वं कृत्याकृतं जहि ।

अथो यो अस्मान् दिप्सन्ति तमु त्वं जह्योषधे ॥२॥

भाषार्थः—(यातुधानान्) पीड़ा देने वालों को (अव जहि) मार डाल, और (कृत्याकृतम्) हिंसा करने वाले को (अव जहि) नाश करदे। (अथो) और भी (यः)

जो (अस्मान्) हमें (विप्सति) मारना चाहता है (तम् उ) उसे भी (त्वम्) तू (श्रोषधे) हे अन्न आदि ओषधि के समान तापनाशक ! (जहि) नाश कर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य शुभ गुण प्राप्त करके दुर्गुणों का नाश करे जैसे अन्न सेवन से भूख का नाश होता है ॥२॥

रिश्यस्येव परीशः सं परिकृत्य परिं त्वचः ।

कृत्यां कृत्याकृतं देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥३॥

भाषार्थः—(रिश्यस्य हिंसक के (परिशासम्) हिंसा सामर्थ्य को (इव) अवश्य (त्वचः परि) उसके चर्म वा शरीर से (परिकृत्य) काट डालकर, (देवाः) हे विद्वानों ! (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले के लिये (कृत्याम्) हिंसा को (निष्कम् इव) तलछट के समान (प्रति मुञ्चत) फेंक दो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य दुष्कर्म को मूल सहित निकम्मी वस्तु के समान त्यागे ॥३॥

पुनः कृत्यां कृत्याकृतं हस्तगृह्य परां नय ।

समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनन् ॥४॥

भाषार्थः—(कृत्याम्) हिंसा को (कृत्याकृते) हिंसाकारी के लिये (हस्तगृह्य) हाथ में लेकर (पुनः) अवश्य (परां नय) दूर लेजा । (अस्मै) इस पुरुष के लिये (समक्षम्) सामने (आ धेहि) रख दे, (यथा) जिससे [वह पुरुष] (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी को (हनन्) मारे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य हिंसा आदि कर्मों को इस प्रकार त्याग दे जैसे उपद्रवी को हाथ पकड़ कर निकाल देते हैं ॥४॥

कृत्याः सन्तु कृत्याकृतं शपथः शपथीयते ।

सुखो रथं इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥५॥

भाषार्थः—(कृत्याः) शत्रुनाशक सेनायें (कृत्याकृते) हिंसाकारी के लिये (सन्तु) होवें, और (शपथः) दुर्वचन (शपथीयते) दुर्वचन बोलने वाले पुरुष के से आचरण वाले को [होवे], (कृत्या) शत्रुनाशक सेना (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी पर (पुनः) अवश्य (वर्तताम्) घूमे, (इव) जैसे (सुखः) अच्छा बना हुआ (रथः) रथ [घूमता है] ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य दोषों के त्यागने का शीघ्र उपाय करे ॥५॥

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मनं ।

ताम् तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वामिधान्या ॥६॥

भाषार्थः—(यदि) चाहे (स्त्री), स्त्री ने (यदि वा) अथवा (पुमान्) पुरुष ने जो (कृत्याम्) हिंसा (पाप्मने) पाप करने के लिये (चकार) की है । (तत्) उसको (उ) निश्चय करके (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (नयामसि) हम लिये चलते हैं, (इव) जैसे (अश्वम्) घोड़े को (अश्वामिधान्या) घोड़े बांधने की रस्सी से ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य दुष्ट स्त्री पुरुषों को यथावत् दण्ड देवें ॥६॥

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।

तां त्वा पुनर्नयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥७॥

भाषार्थः—(यदि वा) चाहे (देवकृता) गतिशील सूर्य आदि लोकों द्वारा की गई (यदि वा) चाहे (पुरुषैः) पुरुषों से (कृता) की गई (असि) तू है । (ताम् त्वा) उस तुम्ह को (पुनः) फिर (वयम्) हम इन्द्रेण ऐश्वर्य के साथ (सयुजा) समान संयोग से (नयामसि) लिये चलते हैं ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विपत्तियों का प्रतिकार करें ॥७॥

अग्नै पृतनाषाद् पृतनाः सहस्र ।

पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥८॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् सेनापति ! (पृतनाषाद्) संग्राम जीतने वाला तू (पृतनाः) संग्रामों को (सहस्र) जीत । (पुनः) निश्चय करके (कृत्याम्) हिंसा को (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले पुरुष की ओर (प्रतिहरणेन) लौटा देने से (हरामसि) हम नाश करते हैं ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य शूर सेनापति के साथ शत्रु सेना को नाश करें ॥८॥

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जंहि ।

न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिंशीमहि ॥९॥

भाषार्थः—(कृतव्यधनि) हे छेदने वाले शस्त्रयुक्त सेना ! (तम्) चोर को (विध्य) छेद से । (यः) जिसने (चकार) हिंसा की है, (तम्) उसको (इत्) अवश्य

(जहि) नाश कर । (अचक्षुषे) हिंसा न करने वाले पुरुष को (वधाय) मारने के लिये (वधम्) हम लोग (त्वाम्) तुझे (न) नहीं (सम्) शिखीमहि तीक्ष्ण करें ॥६॥

भाषार्थः—सेनापति लोग दुष्कर्मियों पर ही सेना चढ़ावें और सत्पुरुषों पर कभी नहीं ॥६॥

पुत्र इ० पितरं गच्छ स्वज इ० अभिष्टितो दश ।

बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्यै कृत्याकृतं पुनः ॥१०॥

भाषार्थः—(पुत्रः इव) पुत्र के समान (पितरम्) अपने पिता के पास (गच्छ) पहुंच, (अभिष्टितः) ठोकर खाये हुए (स्वजः इव) लिपटने वाले सांप के समान [शत्रु को] (दश) उस से । (कृत्ये) हे हिंसाशक्ति ! (बन्धम्) बन्ध (अवक्रामी इव) छोड़ कर भागने वाले के समान, (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी को (पुनः) अवश्य (गच्छ) पहुंच ॥१०॥

भाषार्थः—सेना के लोग सेनापति से अनायास मिलते रहें और शत्रुओं का शीघ्र नाश करें ॥१०॥

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव । कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥११॥

भाषार्थः—(वारणो) हथिनी, अथवा (एणी इव) कृष्णमृगी के समान (मृगो इव) और मृगी के समान (अभिस्कन्दम्) धावा करने वाले पुरुष पर, (कृत्या) शत्रु नाशक सेना (कर्तारम्) हिंसक को (उद्) उछल कर (मृच्छतु) प्राप्त होवे ॥११॥

भाषार्थः—हमारी सेना शत्रुओं पर इस प्रकार शीघ्र धावा करे जैसे घेरा हुआ पशु अपने आखेटिक पर दौड़ता है ॥११॥

इ०वा ऋजीयः पततु आवापृथिवी तं प्रति ।

सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१२॥

भाषार्थः—(आवापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (सा) वह (कृत्या) शत्रु नाशक सेना (तम्) चोर (प्रति) पर (इष्टाः) वारण से (ऋजीयः) अधिक सीधी (पततु) गिरें और (पुनः) फिर (तम्) उस (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी को (मृगम् इव) आखेट पशु के समान (गृह्णातु) पकड़ लेवे ॥१२॥

भाषार्थः—मनुष्य आकाश और पृथिवी मार्ग से प्रबल सेना द्वारा शत्रुओं को मारें ॥१२॥

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।

सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१३॥

भाषार्थः—वह [सेना] (अग्निः इव) अग्नि के समान (प्रतिकूलम्) विरुद्ध गतिसे, और (अनुकूलम्) तट तट से चलने वाले (उदकम् इव) जल के समान [शीघ्र] (एतु) चले । (कृत्या) शत्रु नाशक सेना (कृत्याकृतम्) हिसाकारी पर (पुनः) अवश्य (वर्तताम्) घूमे, (इव) जैसे (सुखः) अच्छा बना हुआ (रथः) रथ [धूमता] है ॥१३॥

भाषार्थः—हमारी सेना शत्रुओं पर इस प्रकार शीघ्र धावा करे जैसे दवान्नि दन में, तट के भीतर भीतर चलने वाला जल नदी में और अच्छा बना हुआ रथ मार्ग में चलता है ॥१३॥

सूक्तम् १५ ॥

१—११ ॥ ओषधिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननिवारणोपदेशः—विघ्नों के हटाने का उपदेश ।

एकां च मे दशं च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजातं ऋतावरिं मधुं मे मधुला करः ॥१॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (एका) एक [संख्या] (च च) और (मे) मेरे लिये (दश) दस (अपवक्तारः) निन्दा करने वाले व्यवहार हैं, (ऋतंजाते) हे सत्य में उत्पन्न हुई, (ऋतावरि) हे सत्यशील, (ओषधे) हे तापनाशक शक्ति परमेश्वर ! (मधुला) ज्ञान वा मिठास देने वाली तू (मे) मेरे लिये (मधु) ज्ञान वा मिठास (करः) कर ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य संसार में अनेक विघ्नों से बचने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर का आश्रय लें ॥१॥

इस सूक्त में मन्त्र १ की संख्या ११, म० २ में द्विगुणी बाईस, म० ३ में तीन गुणी तैतीस, इत्यादि, म० १० तक एक सौ दस, और म० ११ में एक सहस्र एक सौ है । अर्थात् सम मन्त्रों में सम और विषम में विषम संख्याएँ हैं ॥

द्वे च मे विशतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजातं ऋतावरिं मधुं मे मधुला करः ॥२॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (द्वे) दो (च च) और (मे) मेरे लिये (विंशति) बीस...म० १ ॥२॥

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥३॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (तिस्रः) तीन (च च) और (मे) मेरे लिये (त्रिंशत्) तीस...म० १ ॥३॥

चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥४॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (चतस्रः) चार (च च) और (मे) मेरे लिये (चत्वारिंशत्) चालीस...म० १ ॥४॥

पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥५॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (पञ्च) पाँच (च च) और (मे) मेरे लिये (पञ्चाशत्) पचास...म० १ ॥५॥

षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥६॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (षट्) छह (च च) और (मे) मेरे लिये (षष्टिः) साठ...म० १ ॥६॥

सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥७॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (सप्त) सात (च च) और (मे) मेरे लिये (सप्ततिः) सत्तर...म० १ ॥७॥

अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतंजात ऋतावरि मधुं मे मधुला करः ॥८॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (अष्ट) आठ (च च) और (मे) मेरे लिये (अशीतिः) अस्सी...म० १ ॥८॥

नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥९॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (नव) नौ (च च) और (मे) मेरे लिये (नवतिः) नब्बे...म० १ ॥९॥

दश च मे शतं च मेऽपवक्तारं ओषधे ।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥१०॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (दश) दस (च च) और (मेरे) मेरे लिये (शतम्) सौ...म० १ ॥१०॥

शतं च मे सहस्रं चापवक्तारं ओषधे ।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥११॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (शतम्) सौ (च च) और (सहस्रम्) सहस्र (अपवक्तारः) निन्दक व्यवहार हैं, (ऋतजाते) हे सत्य में उत्पन्न हुई (ऋतावरी) हे सत्य शील, (ओषधे) हे तापनाशक शक्ति परमेश्वर ! (मधुला) ज्ञान वा मिठास देने वाली तू (मे) मेरे लिये (मधु) ज्ञान वा मिठास (करः) कर ॥११॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥११॥

इति तृतीयोऽनुवाकः

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—११ ॥ आत्मा देवता ॥ १० जगती; शिष्वैकपात् त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थोपदेशः—पुरुषार्थ का उपदेश ॥

यद्यैकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥१॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (एकवृषः) एक [परमेश्वर] के साथ ऐश्वर्यवान् (असि) है, [सुख] (सृज) उत्पन्न कर, [नहीं तो] तू (अरसः) निर्बल (असि) है ॥१॥

भावार्थः—एक परमात्मा के ज्ञान से मनुष्य संसार का उपकार कर सकता है, ईश्वर ज्ञान के बिना मनुष्यजन्म व्यर्थ है ॥१॥

यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥२॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (द्विवृषः) दो [परमात्मा और आत्मा] के साथ ऐश्वर्यवान् है.....म० १ ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वर और आत्मा के ज्ञान से अपना बल बढ़ावे ॥२॥

यदि त्रिवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥३॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (त्रिवृषः) तीन [सत्त्व, रज और तम, गुणों] पर ऐश्वर्यवान् (असि) है.....म० १ ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के विज्ञान से उन्नति करें ॥३॥

यदि चतुर्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥४॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (चतुर्वृषः) चार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के द्वारा समर्थ (असि) है.....म० १ ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य धर्म आदि चार प्रकार के पुरुषार्थों से वृद्धि करें ॥४॥

यदि पञ्चवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥५॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (पञ्चवृषः) पांच [भूतों, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] पर ऐश्वर्यवान् (असि) है...म० १ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य पञ्च भूतों से यथावत् उपकार लेकर सुखी होवे ॥५॥

यदि षड्वृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥६॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (षड्वृषः) छह [काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहङ्कार] पर समर्थ (असि) है...म० १ ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य काम क्रोध आदि षड् वर्ग की वश में रख कर उन्नति करे ॥६॥

यदि सप्तवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥७॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (सप्तवृषः) सात [ऋषियों, पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि] पर समर्थ (असि) है...म० १ ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य जितेन्द्रिय हो कर आनन्द प्राप्त करे ॥७॥

यद्यष्टवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥८॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (अष्टवृषः) आठ [योग के अङ्गों, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि] में समर्थ (असि) है...म० १ ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य योग के आठों अङ्गों में अभ्यास करने से अणुद्वि का नाश और ज्ञान का प्रकाश करके विवेक प्राप्त करे ॥८॥

यदि नववृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥९॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (नववृषः) नव [अर्थात् नव द्वार वाले शरीर] से ऐश्वर्यवान् (असि) है...म० १ ॥९॥

भाषार्थः—शरीर में दो कान, दो आँखें, दो नथने, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थेन्द्रिय नव छेद वा द्वार हैं, यथा, नवद्वारपुरे देही-गीता अ० ५ श्लो० १३। मनुष्य शरीर की शुद्धि रखने और उससे कष्ट सहने से ऐश्वर्यवान् हो ॥९॥

यदि दशवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥१०॥

भाषार्थः—(यदि) जो तू (दशवृषः) दस [दस बल अर्थात् दान, शील, क्षमा,

वीर्यं, ध्यान, प्रज्ञा, सेनायें, उपाय, दूत, और ज्ञान] से ऐश्वर्यवान् (अस्ति) है, (सृज) [सुख] उत्पन्न कर, [नहीं तो] तू (अरसः) निर्वल (अस्ति) है ॥१०॥

भाषार्थः— मनुष्य पूर्वोक्त दस प्रकार के बलों के अनुष्ठान से ऐश्वर्यवान् होवे ॥१०॥

यद्यंकादशोऽसि सोऽपोंदकोऽसि ॥११॥

भाषार्थः—(यवि) जो तू (एकादशः) ग्यारहवां [पूर्वोक्त दस से भिन्न पुरुषार्थहीन] (अस्ति) है, (सः) वह तू (अपोंदकः, वृद्धि सामर्थ्य रहित (अस्ति) है ॥११॥

भाषार्थः—जो मनुष्य पूर्वोक्त दस मन्त्रों में कहे पुरुषार्थों का नहीं करता, वह पुरुषार्थहीन अपनी और दूसरों की वृद्धि नहीं कर सकता ॥११॥

सूक्तम् १७ ॥

१—१८ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १—६ त्रिष्टुप्; ७—१८ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

तैऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।

वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूराषो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥१॥

भाषार्थः—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमात्मा से (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न हुए, (ते) उन (प्रथमाः) मुख्य देवताओं अर्थात् (वीडुहराः) बड़े तेज वाले, (मयोभूः) सुख देने वाले, (अकूपारः) अकुत्सित वा बड़े पार वाले सूर्य, (सलिलः) जल वाले समुद्र, (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाले वायु, (उग्रम्) उग्र (तपः) अग्नि, (देवीः) दिव्यगुणवाली (प्रापः) व्यापनशील प्रजाओं ने (ब्रह्मकिल्बिषे) ब्रह्मवादी के अपराध के विषय में (अवदन्) बातचीत की ॥१॥

भाषार्थः—ब्रह्मवादी लोग सृष्टि के पदार्थों से ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सुख भोगे । और पूर्वज ऋषियों के समान परस्पर शंका समाधान करके ब्रह्मनिष्ठ हों ॥१॥

इस सूक्त के सात मन्त्र १, २, ३, ५, ६, १०, ११, ऋग्वेद के मण्डल १० का सात मन्त्र वाला सूक्त १०६ है ॥ वहाँ शाकलकंसंहिता और अजमेर वैदिक मन्त्रालय की ऋक्संहिता के अनुसार जुहू नाम ब्रह्मजाया अथवा ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाभा

नाम ऋषि और विश्वे देवा देवता हैं, ऋग्वेद सायण भाष्य में जुहू नाम ब्रह्मवादिनी है। इससे यह सूक्त ब्रह्मविद्यापरक है ॥

सोमो राजां प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहंणीयमानः ।

अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीद्गनिर्होता हस्तगृह्णा निनाय ॥२॥

भाषार्थः—(ब्रह्मणीयमानः) कोष नहीं करते हुए, (प्रथमः) मुख्य (राजा) राजा (सोमः) बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा ने (पुनः) अवश्य (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्म विद्या को (प्रायच्छत्) दान किया है। (वरुणः) धेनु, (मित्रः) सर्वप्रेरक, (अग्निः) जानवान् पुरुष (अन्वर्तिता) अनुकूलगामी और (होता) गृहीता (आसीत्) था और (हस्तगृह्णा) हाथ में लेकर [वही उसे] (अनिनाय) लाया ॥२॥

भाषार्थः—परम कृपालु परमात्मा ने वेद विद्या प्रदान की है, जिसको बुद्धिमान् पुरुष आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं ॥२॥

हस्तेनैव ग्राह्यं आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।

न दूनार्यं प्रहेयां तस्य एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३॥

भाषार्थः—(च) और [उस विद्वान् ने] (इत्) ही (इति) इस प्रकार से (अवोचत्) कहा है। (ब्रह्मजाया) यह ब्रह्म विद्या है, (अस्याः) इसका (आधिः) आधार वा आश्रय (हस्तेन एव) हाथ से ही (ग्राह्यः) पकड़ना चाहिये। (एषा) यह (दूनार्य) सताने वाले को (प्रहेया) देने योग्य (न तस्ये) नहीं स्थित हुई है, (तथा) उसी से (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (राष्ट्रम्) राज्य (गुपितम्) रक्षा किया गया [रक्षता है] ॥३॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग ब्रह्म विद्या का दृढ़ता से आदर करके आनन्द करते हैं, इसी से राज्य की रक्षा रहती है ॥३॥

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्रामपवपथमानाम् ।

सा ब्रह्मजाया वि दूनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उक्कुपीमान् ॥४॥

भाषार्थः—(ग्रामम्) गांव पर (अवपथमानाम्) गिरती हुई (याम्) जिस (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति अविद्या को (आहुः) वे लोग बताते हैं कि (एषा) यह (विकेशी) विरुद्ध प्रकाश वाला (तारका इति) तारा है। (सा) वह (ब्रह्मजाया) ब्रह्मविद्या (राष्ट्रम्) उस राज्य को (वि दूनोति) उलट पलट कर देती है (यत्र)

जिसमें (उल्कवीमान्) उल्काओं का कोष वा संग्रह वाला (शशः) गतिशील तारा (प्र अपावि) गिरा हो ॥४॥

भाषार्थः—जिस राज्य में अविद्या प्रबल होती है वह अत्याचारी राज्य ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे आकाश से तारा गिरने से नष्ट हो गया हो ॥४॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।

तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं १' न देवाः । ५॥

भाषार्थः—(विषः) व्याप्तव्य कर्म में (वेविषत्) प्रवेश करता हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् वेद के लिये अवश्य आचरण करने वाला पुरुष (चरति) विचरता है, (सः) वह (देवानाम्) विद्वानों का (एकम्) मुख्य (अङ्गम्) अङ्ग (भवति) होता है । (देवाः) हे विद्वान् लोगो ! (तेन) उसी कारण से (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं के रक्षक, बृहस्पति [उस ब्रह्मचारी ने (सोमेन) परमेश्वर करके (नीताम्) लायी गई (जुह्वम्) दानधोला (जायाम्) सुख उत्पन्न करने हारी विद्या को (न) अब (अनु अविन्दत्) पा लिया है ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य तपश्चरण द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करके विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता और सुख भोगता है ॥५॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तश्रुषयस्तपसा ये निषेदुः ।

भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धा दधाति परमे व्योमन् । ६॥

भाषार्थः—(पूर्वे), पूर्व काल में (देवाः) वे दिव्य गुरु वाले महात्मा (वे) निश्चय करते (एतस्याम्) इस [ब्रह्म विद्या] के विषय में (अवदन्त) बोले, (ये) जो (सप्त श्रुषयः) सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] के द्वारा देखने वाले (तपसा) तपके साथ (निषेदुः) बैठें थे । (अपनीता) कुनीति वा खण्डन को प्राप्त हुई (ब्राह्मणस्य) वेदाधिपति परमेश्वर की (जाया) शिष्या (भीमा) भयङ्कर होकर (परमे) सब से श्रेष्ठ (व्योमन्) रक्षणीय स्थान में (दुर्धाम्) दुष्ट-व्यवस्था (दधाति) जमाती है ॥६॥

भाषार्थः—महात्माओं ने पूर्ण शक्ति से परीक्षा करके साक्षात् किया है, कि जहां पर वेद विद्या का निरादर और कुआवहार का आदर होता है, वहां अवश्य ही विपत्ति पड़ती है ॥६॥

ये गभी अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।

वीरा ये तृहन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिंस्ति तान् ॥७॥

भाषार्थः—(ये) जो (गर्भाः) गर्भ (अवपद्यन्ते) गिर पड़ते हैं, (च, श्रीर (यत्) जो (जगत्) जगत् पशु आदि वृन्द (अवलुप्यते) नष्ट हो जाता है। श्रीर (ये) जो (वीराः) वीर लोग (मित्रः) आपस में (तृह्यन्ते) कट मरते हैं, [कुनीति वा खण्डन को प्राप्त हुई—म० ६] (ब्रह्मजाया) ब्रह्मविद्या (तान्) उन्हें (हिनस्ति) मार डालती है ॥७॥

भाषार्थः—वेद विद्या के लोप से संसार में रोग, घरेलू विपत्ति और राज विद्रोह आदि फैलते हैं ॥७॥

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।

ब्रह्मा चेद्वस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥८॥

भाषार्थः—(उत) और (यत्) जो (स्त्रियाः) शब्दकारिणी विद्या के (दश) दस (पतयः) रक्षक (पूर्वे) सब (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण से भिन्न होवें (च) और [जो] (ब्रह्मा) ब्रह्मा, ब्रह्मजानी ने (इत्) ही हस्तम् हाथ (अग्रहीत्) पकड़ा, (सः एव) वही (एकधा) मुख्य प्रकार से (पतिः) रक्षक है ॥८॥

भाषार्थः—अविद्वान् लोग दस वा अधिक मिलकर वेद विद्या की रक्षा नहीं कर सकते, ब्रह्मजानी अकेला ही उसकी रक्षा कर सकता है ॥८॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो '३ न वैश्यः ।

तत् सूर्यः प्रब्रवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥९॥

भाषार्थः—(ब्राह्मणः) वेदवेत्ता ब्राह्मण (एव) ही (पतिः) रक्षक है, (न) न (राजन्यः, क्षत्रिय और (न) न (वैश्यः) वैश्य है। (तत्) यह बात (सूर्यः) सर्वप्रेरक परमेश्वर (पञ्चभ्यः) विस्तृत (मानवेभ्यः) मननशील मनुष्यों को (प्र ब्रुवन्) कहता हुआ (एति, चलता है ॥९॥

भाषार्थः—ब्रह्म जानी ही अपनी मानसिक शक्ति से वेद की रक्षा कर सकता है, दूसरे नहीं कर सकते, यह परमेश्वर का वचन है। इसलिये सब मनुष्य मुख्य वेद बल के साथ दूसरे गौण बलों को बड़बुदें ॥९॥

पुनर्देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।

राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥१०॥

भाषार्थः—(देवाः) सूर्यादि देवताओं ने (पुनः) निश्चय करके (दं) ही

(अबहुः) दान किया है और (मनुष्याः) मनुष्यों ने (पुनः) निश्चय करके (अबहुः) दान किया है। (सत्यम्) सत्य (गृह्णानाः) ग्रहण करते हुए (राजानः) राजा लोगों ने (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मविद्या को (पुनः) अवश्य (बहुः) दिया है ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य परस्पर सत्संग, राज नियम, और सूर्य आदि पदार्थों के विवेक से ब्रह्म विद्या का दान करते आये हैं, इसी प्रकार सबको करना चाहिये ॥१०॥

पुनर्दायं ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।

ऊर्जं पृथिव्या भक्तवोरुंगायमुपासते ॥११॥

भाषार्थः—[मनुष्य] (ब्रह्मजायाम्) वेद विद्या को (पुनर्दाय) अवश्य देकर और (देवैः) उत्तम गुणों के कारण (निकिल्बिषम्) पाप से छुटकारा (कृत्वा) करके [पृथिव्याः] पृथिवी के (ऊर्जम्) बलदायक अन्न को (भक्तवा) बांट कर (उरुगाम्यम्) बड़ी कीर्तिवाले परमात्मा को (उपासते) भजते हैं ॥११॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदविद्या द्वारा शुद्धचित्त होकर सब पदार्थों से उपकार करके परमात्मा की आज्ञा पालते रहते हैं ॥११॥

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१२॥

भाषार्थः—(अस्य) उसकी (जाया) विद्या (शतवाही) सैकड़ों कार्य निबाहने वाली (कल्याणी) कल्याणी होकर (तल्पम्) प्रतिष्ठा (न) नहीं (या शये=शेते) पाती है। (यस्मिन्) जिस (राष्ट्रे) राज्य में (ब्रह्मजाया) वेद विद्या (अचिन्त्या) अचेतन से (निरुध्यते) रोकी जाती है ॥१२॥

भाषार्थः—अविद्या के प्रचार और वेदविद्या की रोक से किसी राज्य में कल्याण नहीं होता ॥१२॥

न विकर्णः पृथुक्षिरास्तस्मिन् वेदमनि जायते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१३॥

भाषार्थः—(विकर्णः) विक्षेप शक्ति वाला और (पृथुक्षिराः) विस्तीर्ण मस्तक शक्ति वाला पुत्र (तस्मिन्) उस (वेदमनि) घर में (न) नहीं (जायते) होता है (यस्मिन्) जिस (राष्ट्रे) राज्य में... ॥१३॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदविद्या से ही बहुश्रुत और विज्ञानी होते हैं ॥१३॥

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१४॥

भाषार्थः—(अस्य) उसका (निष्कग्रीवः) सोने के कण्ठे वाला (क्षत्ता) द्वारपाल (सूनानाम्) ऐश्वर्य वाले पुरुषों के (अग्रतः) सम्मुख (न) नहीं (एति, जाता है । (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में...॥१४॥

भाषार्थः—वेदविद्या के नाश होने से मनुष्य निर्धन होकर उत्तम सेवक नहीं रख सकते ॥१४॥

नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१५॥

भाषार्थः—(अस्य) उसका (श्वेतः) श्वेत, (कृष्णकर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि) रथ के जूये में (युक्तः) जुता हुआ (न) नहीं (महीयते) बढ़ाई पाता है । (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में...॥१५॥

भाषार्थः—वेदविद्याहीन पुरुषों के पास उत्तम घोड़े आदि नहीं होते ॥१५॥

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते विसम् ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१६॥

भाषार्थः—(अस्य) उसके (क्षेत्रे) खेत में (न) न (पुष्करिणी) पोषणवती शक्ति, और (न) न (आण्डीकम्) प्राप्ति योग्य और (विसम्) बलदायक वस्तु (जायते) होती है (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में...॥१६॥

भाषार्थः—वेद विद्या के बिना न खेती विद्या और न व्यापार विद्या प्रवृत्त होती है ॥१६॥

नास्मै पृथिनं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥१७॥

भाषार्थः—(अस्मै) उस [राजा] के लिये (पृथिनम्) स्पृशवती पृथिवी को [वे लोग] (वि) विशेष करके (न) नहीं (दुहन्ति) दुहते हैं, (ये) जो (अस्याः) इस

[भूमि] के (बोहम्) रस को (उपासते) सेवन करते हैं। (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में (ब्रह्मजाया) वेद विद्या (अविस्था) अचेतन से (निरुप्यते) रोकी जाती है ॥१७॥

भावार्थ:—जिस राज्य में अधिकारी लोग वेदज्ञाता नहीं होते, वहाँ उस राज्य से राजा को लाभ नहीं पहुँचता ॥१७॥

नास्य धेनुः कल्याणी नान्द्वान्त्संहते धुरम् ।

विजानिर्धनं ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥१८॥

भावार्थ:—(न) न तो (अस्य) उसकी (धेनुः) दुर्बल गौ (कल्याणी) कल्याणी [होती है] और (न) (नान्द्वान्) छकड़ा ले चलने वाला बैल (धुरम्) धुर वा जूये को (सहते) सहता है। (यत्र) जहाँ (विजानिः) विद्याभ्यास विना (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (रात्रिम्) रात को (पापया) कष्ट से (वसति) वसता है ॥१८॥

भावार्थ:—जिस राज्य में ब्राह्मण विद्याभ्यास नहीं करता, वहाँ दुर्बल गौयें और बलवान् बैल आदि उपकारी पशु नहीं होते हैं ॥१८॥

सूक्तम् १८ ॥

१—१५ ॥ गौर्ब्राह्मणो वा देवता ॥ १-३, ६, ७, १०-१२, १४ १५
अनुष्टुप्,; ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुप् ॥

वेदविचारक्षणोपदेशः—वेद विद्या की रक्षा का उपदेश ॥

नैतां तं देवा अददुस्तुभ्यं नृपते असत्वे ।

मा ब्राह्मणस्य राजन्यं गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥१॥

भावार्थ:—(नृपते) हे नरपति राजन् ! (ते) तेरे (देवाः) दिव्य गुण वाले पुरुषों ने (तुभ्यम्) तुझे (एताम्) इस [वाणी] को (असत्वे) नाश करने को (न) नहीं (अददुः) दिया है। (राजन्यं) हे राजन् ! (ब्राह्मणस्य) वेदवेत्ता पुरुष की (गाम्) वाणी को, (अनाद्याम्) जो नष्ट नहीं हो सकती है, (मा जिघत्सः) मत नाशकर ॥१॥

भावार्थ:—राजा आप्त सत्यवादी वेदज्ञ पुरुष की वाणी में रहकर आनन्द करे ॥१॥

अक्षद्रुंघो राजन्यं पाप आत्मपराजितः ।

स ब्राह्मणस्य गामंश्चादद्य जीवानि मा श्वः ॥२॥

भाषार्थः—(अश्रद्धः) इन्द्रियों से नष्ट किया हुआ, (पापः) पापी, (आत्म-पराजितः) आत्मा से हारा हुआ (सः) वह (राजन्त्यः) क्षत्रिय (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण, वेदवेत्ता की (गाम्) बागी की (अद्यात्) नाश करे, (अद्य) आज (जीवानि=जीवतु) वह जीवे, (इवः) कल (मा) नहीं ॥२॥

भावार्थः—वेदविद्या पर न चढ़ने से दुष्कर्मों के कारण अजितेन्द्रिय राजा का जीवन घट जाता है ॥२॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।

सा ब्राह्मणस्य राजन्त्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥३॥

भाषार्थः—(चर्मणा) काँचुली से (आविष्टिता) वियोग रखने वाली, (अघ-विषा) घोर विपत्ती (पृदाकूः इव) कुंभकारती साँपिनी के समान (सा एषा) वह यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) बागी, (राजन्त्य) हे राजन् ! (तृष्टा) व्यास से व्याकुल के समान है (अनाद्या) जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥३॥

भावार्थः—जैसे काँचुली से निकल कर साँपिनी दुष्ट विपत्ती होती है, वैसे ही अविद्या के फैलने से नष्ट वेदविद्या सब ओर विपत्ति फैलाती है ॥३॥

निर्वं क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारंभो वि दुनोति सर्वम् ।

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषयं पिबति तैमातरस्य ॥४॥

भाषार्थः—(यः) जो मनुष्य (ब्राह्मणम्) ब्रह्म ज्ञानी को (अन्नम्) अन्न (एष) ही (मन्यते) मानता है, (सः) वह (तैमातरस्य) जल में भीगे (विषस्य) विष का (पिबति) पान करता है, (वै) निश्चय करके (क्षत्रम्) अपना धन वा खल (निर्-नयति) बाहिर फेंकता है, (वर्चः) अपना तेज (हन्ति) खोता है, और (आरम्भः) चारों ओर से लगी हुई (अग्निः इव) अग्नि के समान (सर्वम्) अपना सब कुछ (वि दुनोति) जला देता है ॥४॥

भावार्थः—वेद ज्ञानियों को सताने वाला पुरुष अज्ञान के कारण अपने आप ही अपना नाश कर लेता है ॥४॥

य एनं हन्ति मृतुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।

सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उमे एनं द्विष्टो नमसी चरन्तम् ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जो (देवपीयुः) विद्वानों का हिंसक, (धनकामः) धन चाहने

वाला पुरुषः (न चित्तात्) बिना विचारे (एनम्) इस [ब्राह्मण] को (मृदुम्) कोमल (मन्यमानः) मानता हुआ (हन्ति) नाश करता है, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष [ब्राह्मण वा परमेश्वर] (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (अग्निम्) अग्नि (सम् इन्धे) जला देता है, (उभे) दोनों (नभसी) सूर्य और पृथिवी लोक, (चरन्तम्) विचरते हुए (एनम्) इस पुरुष से (द्विष्टः) डेष करते हैं ॥५॥

भाषार्थः—प्राप्त पुरुषों के विरोधी मनुष्य का संसार भर में कोई साथी नहीं होता ॥५॥

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो ३' अग्निः प्रियतनोरिव ।

सोमो ह्यस्य दायद इन्द्रो अस्याभिः शस्तिपाः ॥६॥

भाषार्थः—(प्रियतनोः = ०—नुः) तन को प्रिय लगने वाले, अग्निः इव) अग्नि के समान वर्तमान (ब्राह्मणः) ब्रह्मजानी (न) नहीं (हिंसितव्यः) सताया जा सकता है । (हि) क्योंकि (सोमः) चन्द्रमा (अस्य) इसका (दायदः) दायभागी [के समान] और (इन्द्रः) सूर्य (अस्य) इसका (अभिः शस्तिपाः) अपवाद से बचाने वाला है ॥६॥

भाषार्थः—ब्राह्मण वेदों का तत्त्व जानने से महाप्रबल होता है क्योंकि वह सूर्य चन्द्रमा के समान नियम पर चलता है ॥६॥

श्रुतापांष्टां नि गिरति तां न शक्नोति निः श्विदन् ।

अन्नं यो ब्रह्मणा मृत्वः स्वादु १ शीति मन्यते ॥७॥

भाषार्थः—वह [दुष्ट] (श्रुतापांष्टाम्) संकड़ों दुर्भागों वाली विपत्ति को (नि गिरति) निगलता है [पाता है] और (ताम्) उसको (निः श्विदन्) पचाता हुआ [पचाने को] (न) नहीं (शक्नोति) समर्थ होता है (ब्रह्मणाम्) ब्राह्मणों के (अन्नम्) अन्न को (स्वादु) स्वादु से (अग्नि) मैं खाता हूँ, (यः) जो (मृत्वः) मलिन पुरुष (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है ॥७॥

भाषार्थः—जो मनुष्य प्राप्त विद्वानों पर अत्याचार करता है, वह अनिवारणीय विपत्ति में ही पड़ता है ॥७॥

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्मोडीका दन्तास्तपसाभिर्दिग्धाः ।

तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हव्यबलैर्धनुर्भिर्द्वज्यूतैः ॥८॥

भाषार्थः—[ब्राह्मण की] (जिह्वा) जीभ (ज्या) घनुष की बोरी, (वाक्)

वाणी (कुलमलम्) वाण का दण्डा (भवति) होती है और [उस की] (नाडीकाः) गले के भाग (तपसा) आग से (अभिदिग्धाः) पोते हुए (दन्ताः) तीर के दांत हैं । (ब्रह्मा, ब्राह्मण । हृद्बलः) हृदय तोड़ने वाले, (देवजूर्तः) विद्वानों के भेजे हुए (तेभिः) उन (धनुभिः) धनुषों से (देवपीयून्) विद्वानों के सताने वालों को (विध्यति) छेदता है ॥८॥

भाषार्थः—विद्वान् मनुष्य अपने विद्याबल से दुष्टों का नाश कर देता है ॥८॥

तीक्ष्णेष्वो ब्राह्मणा ह्येति मन्तो यामस्यन्ति शरव्यांश्च न सा मृषा ।

अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥९॥

भाषार्थः—(तीक्ष्णेष्वः) तीक्ष्ण वाण वाले, (हेतिमन्तः) वरछियों वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (याम्) जिस (शरव्याम्) वाणों की भड़ी के (अस्यन्ति) छोड़ते हैं, (सा) वह (मृषा) मिथ्या (न) नहीं होती । (तपसा) तप से (च) और (मन्युना) क्रोध से (अनुहाय) पीछा करके (दूरात्) दूर से (उत्) ही (एनम्) इस [वैरी] को (अवभिन्दन्ति) वे लोग छेद डालते हैं ॥९॥

भाषार्थः—जब ब्राह्मण क्रुद्ध होते हैं, दुष्टों को जड़मूल से मिटा देते हैं ॥९॥

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत् ।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतह्व्याः पराभवन् ॥१०॥

भाषार्थः—(ये) जो (सहस्रम्) बलवान् सेना दल पर (अराजन्) राज करते थे और (उत्) आप भी (दशशताः) दस सौ (आसन्) थे । (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) वाणी को (जग्ध्वा) नाश करके (ते) वे (वैतह्व्याः) देवताओं के अन्न खाने वाले (पराभवन्) हार गये ॥१०॥

भाषार्थः—जिन मनुष्यों के बहुत-सी सेना और परिवार भी बड़ा होता है, वे पाखण्डी वेद आज्ञा पर न चल कर नष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

गौरे व तान् हन्यमाना वैतह्व्या अवतिरत् ।

ये केसरप्रावन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥११॥

भाषार्थः—(हन्यमाना) नाश की जाती हुई (गौः) वाणी ने (एव) अवश्य (तान्) उन (वैतह्व्यान्) देवताओं के अन्न खाने वालों को (अवतिरत्)

उतार दिया है। (ये) जिन्होंने ने (केसरप्रबन्धायाः) आत्मा में चलने वाली अवन्ध शक्ति [परमेश्वर] की (चरमाजाम्) व्यापक विद्या को (अपेक्षितम्) पचाया है [नष्ट कर दिया है] ॥११॥

भाषार्थः—जो दुष्ट मनुष्य सर्वव्यापिनी वेदवाणी को नाश करना चाहते हैं पंडितों द्वारा वे मूर्ख नष्ट हो जाते हैं ॥११॥

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधुनत ।

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभवं पराभवन् ॥१२॥

भाषार्थः—(ताः) वे (जनताः) लोग (एकशतम्) एक सौ एक [थे] (याः) जिन को (भूमिः) भूमि ने (व्यधुनत) हिला दिया है और जो (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण संबन्धिनी (प्रजाम्) प्रजा को (हिंसित्वा) सता कर (असंभवं) संभावना [शक्यता] के बिना (पराभवन्) हार गये हैं ॥१२॥

भाषार्थः—बहुत से मनुष्य इस पृथिवी पर वेदज्ञानियों को सताने से निःसन्देह नष्ट हो गये हैं ॥१२॥

देव पीयूश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।

यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥१३॥

भाषार्थः—(देवपीयुः) विद्वानों का सताने वाला (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच (चरति) फिरता है, (गरगीर्णः) विष खाय हुआ वह (अस्थिभूयान्) हाड़ ही हाड़ (भवति) रह जाता है। (यः) जो मनुष्य (देवबन्धुम्) महात्माओं के बन्धु (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (हिनस्ति) सताता है, (सः) वह (पितृयाणम्) पालन करने वाले विद्वानों के पाने योग्य (लोकम्) लोक को (न अपि) कभी नहीं (एति) पाता है ॥१३॥

भाषार्थः—वेदनिन्दक पुरुष अविद्या के कारण दुर्बल आत्मा और रोगी होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा नहीं पाता ॥१३॥

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।

हन्ताभिश्चस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥१४॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि [सूर्य] (वै) ही (नः) हमारा (पदवायः) पददशक, और (सोमः) चन्द्रमा (दायादः) दायभागी (उच्यते) कहा जाता है।

(इन्द्रः) परमेश्वर (अभिशास्ता=०-स्तुः) अपवादी का (हस्ता) नाश करने वाला है ।
(तथा) वैया ही (तत्) उस बात को (वेधतः) विद्वान् लोग (विदुः) जानते हैं ॥१४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य सूर्य चन्द्रमा के समान सन्मार्ग में चलते हैं वे परमात्मा की कृपा से दुष्कर्मों से बचकर आनन्द भोगते हैं ॥१४॥

इष्टुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते ।

सा ब्राह्मणस्येष्टुर्घोरा तया विध्यति पीयंतः ॥१५॥

भाषार्थः—(नृपते) हे नरपालक ! (गोपते) हे भूमिपालक ! (दिग्धा, विप में भरे (इष्टुः इव) बाण के समान और (पृदाकूः इव) फुसकारती हुई सांपिनी के समान (सा) वह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (घोरा) भयानक (इष्टुः) बरछी है, (तया) उस से (पीयंतः) सताने वालों को (विध्यति) वह छेदता है ॥१५॥

भाषार्थः—नीतिकुशल राजा के राज्य में वेदवेत्ता लोग विद्या के प्रभाव से शत्रुओं को नाश करते हैं ॥१५॥

सूक्तम् ॥१६॥

१-१५ ॥ ब्राह्मणो देवता ॥ ७ उपरिष्ठाद् बृहती, शिष्टा अनुष्टुभः ॥

नास्तिकतिरस्कारोपदेशः—नास्तिक के तिरस्कार का उपदेश ॥

अति मात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।

भृगुं हिसित्वा सृजंया वैतहव्याः पराभवन् ॥१॥

भाषार्थः—(सृजयायाः) पाये हुए शत्रुओं को जीतने वाले, (वैतहव्याः) देवताओं का अन्न खाने वाले लोग (अतिमात्रम्) अत्यन्त (अवर्धन्) बढ़े, (न= इति न) यही नहीं, (दिवम्) सूर्यलोक को (इव) जैसे (उत्) ऊँचे होकर (अस्पृशन्) उन्होंने छू लिया । [परन्तु] (भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को (हिसित्वा) सताकर (पराभवन्) हार गये ॥१॥

भाषार्थः—पाखण्डी दुरात्मा चाहे कितने ही बढ़ जावें, परन्तु धर्मात्मा उनको अन्त में हरा देते हैं ॥१॥

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।

पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥२॥

भाषार्थः—(ये जनाः) जिन पुरुषों ने (बृहत्सामानम्) बड़े दुःखनाशक ज्ञान

वाले, (आङ्गिरसम्) विज्ञान वाले, (ब्राह्मणम्) ब्रह्मजानी को (आर्पयन्) सताया है (पेत्स्वः) उस ज्ञानवान्, (अभिः) रक्षक पुरुष ने (उभयादम् = उभयादान्) हमारी पूति के लेने वाले से (तेषाम्) उन के (तोकानि) वृद्धि कर्मों को (आवयत्) गिरा दिया है ॥२॥

भाषार्थः—वेदवेत्ता पुरुष दु राचारी नास्तिकों का नाश करता है ॥२॥

ये ब्रह्मणं प्रत्यष्टीन् ये वास्मिच्छुलकमीषिरे ।

अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् स्वादन्त आसते ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जिन्होंने (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (प्रत्यष्टीवन्) निकाल ही दिया, (वा) अथवा (ये) जिन्होंने (अस्मिन्) उस पर से (शुलकम्) कर (ईषिरे) उगाहा । (ते) वे लोग (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) नदी के (मध्ये, बीच में (केशान्) विलष्ट पदार्थों को (स्वादन्तः) खाते हुए (आसते) ठहरते हैं ॥३॥

भाषार्थः—जो अत्याचारी राक्षस लोग ब्राह्मणों को सताते हैं, वे घोर युद्धों में हार कर बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं ॥३॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।

तेजोराष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥४॥

भाषार्थः—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मवाणी (पच्यमाना) पचायी [तपायी] जाती हुई (यावत्) जब तक (अभि, चारों ओर (विजङ्गहे = विजङ्गन्ति) फड़ फड़ाती रहती है । वह (राष्ट्रस्य) राज्य का (तेजः) तेज (निर्हन्ति) मिटा देती है, और (न वीरः) न कोई वीर पुरुष (वृषा) ऐश्वर्यवान् (जायते) उत्पन्न होता है ॥४॥

भाषार्थः—जहां वेदविद्या का निरादर होता है, वह राज्य सब नष्ट हो जाता है और सब लोग निबल हो जाते हैं ॥४॥

क्रूरमेस्या आशसनं तृष्टं पिंशितमस्यते ।

क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥५॥

भाषार्थः—(अस्याः) इस [वेदवाणी] का (आशसनम्) सताना (क्रूरम्) क्रूर, और (पिंशितम्) खंडन (तृष्टम्) प्यास के समान दाहजनक (अस्यते) जाना जाता है । (अस्यः) इसका (यत्) जो (क्षीरम्) पीड़ा हटाने वाला कर्म (पीयते) नष्ट किया जाता है, (तत्) वह (वै) निश्चय करके (पितृषु) पालन करने वाले शूर वीरों में (किल्बिषम्) पाप होता है ॥५॥

भाषार्थः—वेद विद्या के विरुद्ध चलने से संसार में बड़े बड़े दुःख फैलते हैं ॥५॥

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।

परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥६॥

भाषार्थः—(यः) जो (उग्रः) प्रचण्ड (राजा) राजा (मन्यमानः) गर्व करता हुआ (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (जिघत्सति) नष्ट करना चाहता है । (तत्) वह (राष्ट्रम्) राज्य (परा सिच्यते) वह जाता है, (यत्र) जहां (ब्राह्मणः) वेदवेत्ता (जीयते) दबाया जाता है ॥६॥

भाषार्थः—वेदवेत्ताओं के सताने वाले राजा का राज्य सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥६॥

अष्टापदी चतुरशी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।

द्वयास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धृनुते ब्रह्मज्यस्य ॥७॥

भाषार्थः—(सा) वह [वेद विद्या] (अष्टापदी) [छोटाई, हल्काई, प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य संकल्प, आठ ऐश्वर्य] आठ पद प्राप्त कराने वाली (चतुरशी) [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र] चार वर्णों में व्याप्ति वाली, (चतुःश्रोत्रा) [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास] चार आश्रमों में श्रवण शक्ति वाली, (चतुर्हनुः) [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] चार पदार्थों में गति वाली, (द्वयास्या) [परमात्मा और जीवात्मा] दोनों का ज्ञान कराने वाली और (द्विजिह्वा) [बाहिरी और भीतरी] दोनों मुखों की जीत कराने वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्राह्मण के हानि करने वाले के (राष्ट्रम्) राज्य को (अवधूनुते) हिला डालती है ॥७॥

भाषार्थः—वेद विद्या सर्वथा कल्याणी होने से अत्याचारी दुष्टों का नाश कर देती है ॥७॥

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।

ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुनां ॥८॥

भाषार्थः—(तत्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) निश्चय करके (राष्ट्रम्) राज्य को (आ.स्रवति) बहा देता है (उदकमिव) जैसे जल (भिन्नाम्) टूटी (नावम्) नाव

को । (यत्र) जहाँ (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (हिसन्ति) वे सताते हैं, (बुच्छुना) दुर्गति वा दरिद्रता (तत् राष्टम्) उस राज्य को (हन्ति) मिटा देती है ॥८॥

भाषार्थः—जिस राज्य में नीतिकुशल वेदवेत्ताओं का अनादर होता है, वह राज्य छिन्न भिन्न हो जाता है ॥८॥

तं वृक्षा अपं सेधन्ति छायां नो मोपंगा इति ।

यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद् मन्यते ॥९॥

भाषार्थः—(तम्) उसको (वृक्षाः) वृक्ष (अप सेधन्ति) हटा देते हैं, "(नः) हमारी (छायाम्) छाया में (मा उप गाः) मत आ" (इति) ऐसा कह कर । (यः) जो पुरुष, (नारद्) हे नर [सर्वनायक, परमात्मा] के ज्ञान देने वाले मनुष्य ! (ब्राह्मणस्य, ब्राह्मण के (सत्ते) श्रेष्ठ (धनम्) धन को (अभि—अभिभूय) दबा कर (मन्यते) अपना मानता है ॥९॥

भाषार्थः—ब्राह्मण पर अत्याचार के कारण कुप्रबन्ध होने से वन उपवन वाटिका आदि नष्ट हो जाते हैं ॥९॥

विषमे तद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।

न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥१०॥

भाषार्थः—(राजा) राजा (वरुणः) श्रेष्ठ परमात्मा ने (अब्रवीत्) कहा है "(एतत्) यह (देवकृतम्) इन्द्रियों से किया हुआ (विषम्) विष [समान पाप] है, (कश्चन) कोई भी (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) विद्या को (जग्ध्वा) हड़पकर (राष्ट्रे) राज्य में (न) नहीं (जागार) जागता रहा है" ॥१०॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने उपदेश किया है कि जैसे विष खाने से मनुष्य अचेत हो जाता है, वैसे ही वेदविद्या के नाश से सब लोग आलसी और निरुत्साही हो जाते हैं ॥१०॥

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यभृनुत ।

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभूयं पराभवन् ॥११॥

भाषार्थः—(ताः) वे लोग (नव नवतयः) नव बार नव्हे [६×६० वा ८१०] (अपि) भी [ये] (याः) जिनको (भूमिः) भूमि ने (व्यभृनुत) हिला दिया है, और जो (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण संबंधिनी (प्रजाम्) प्रजा को (हिंसित्वा) सताकर (असंभूयं) संभारना [शक्यता] के बिना (पराभवन्) हार गये हैं ॥११॥

भाषार्थः—असंख्यात होने पर भी नास्तिक पराजित होते हैं [अ० ५। १८। १२ का मिलान करो] ॥११॥

यां मृतायानुबन्धन्ति कूर्ध्वं पदयोपनीम् ।

तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥१२॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (पदयोपनीम्) पद व्याकुल करने वाली (कूर्ध्वम्=कूबीम्) दुःखित शब्द देने वाली बेड़ी को (मृताय) मरने के लिए (अनुबन्धन्ति) जकड़ देते हैं । (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण के हानिकारक ! (देवाः) महात्माओं ने (तत्) उसको (वै) अवश्य (ते) तेरे लिए (उपस्तरणम्) विस्तर (अब्रुवन्) कहा है ॥१२॥

भाषार्थः—दुराचारी नास्तिकों को कारागार आदि में रख कर कठिन दण्ड देवें ॥१२॥

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य बावृतुः ।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥१३॥

भाषार्थः—(कृपमाणस्य) दुःख पाते हुए, (जीतस्य) हारे हुए पुरुष के (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (बावृतुः) बहे हैं ! (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले ! (देवाः) महात्माओं ने (ते) तेरे लिये (तम् वै) वही (अपाम्) जल का (भागम्) भाग (अधारयन्) ठहराया है ॥१३॥

भाषार्थः—ईश्वर की आज्ञा भंग करने वाला पुरुष वेदवेत्ताओं द्वारा दण्ड पाकर सदा रोता रहता है ॥१३॥

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनीन्दते ।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवाः अपां भागमधारयन् ॥१४॥

भाषार्थः—(येन) जिस [जल] से (मृतम्) मृतक को (स्नपयन्ति) स्नान कराते हैं और (येन) जिससे (श्मश्रूणि) अपने शरीर में आश्रित केश वा अङ्गों को (उन्मते) सींचते हैं । (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले ! (देवाः) महात्माओं ने (ते) तेरे लिये (अपाम्) जल का (तम् वै) वही (भागम्) भाग (अधारयन्) ठहराया है ॥१४॥

भाषार्थः—ईश्वर की आज्ञा न पालनेवाले पुरुष अन्त में हारकर अपने मृतक बान्धवों के शोक में पड़े रहते हैं ॥१४॥

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।

नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥१५॥

भाषार्थः—(मैत्रावरुणम्) वायु और सूर्य से किया हुआ (वर्षम्) वर्षाजल (ब्रह्मज्यम् अभि) ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले पर (न) नहीं (वर्षति) वर्षता है । और (न) न (अस्मै) इसके लिये (समितिः) सभा (कल्पते) समर्थ होती है । और (न) न वह (मित्रम्) मित्र को (वशम्) अपने वश में (नयते) लाता है ॥१५॥

भाषार्थः—वेदविरोधी पुरुष आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक शान्ति न पाकर सदा दुःखी रहता है ॥१५॥

सूक्तम् ॥ २० ॥

१—१२ ॥ दुन्दुभिर्द्वेषता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामे जयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

उत्स्रैर्वीरो दुन्दुभिः सत्त्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिः ।
वाचं क्षुण्वानो दमयन् सपत्नान्तिसिं ह इव जेष्यन् अभि तंस्तनीहि ॥१॥

भाषार्थः—(उत्स्रैर्वीरैः) ऊँचा जय करने वाला, (सत्त्वनायन्) पराक्रमियों के समान आचरण करने वाला, (वानस्पत्यः) मेढनीयों के पालकों [सेनापति आदिकों] से प्राप्त हुआ, (उस्त्रियाभिः) वस्त्रियों की एक सेनाओं से (संभृतः) यथावत् रक्ता गया, (वाचम्) शब्द (क्षुण्वानः) करता हुआ (सपत्नान्) वैरियों को (दमयन्) दबाता हुआ, (दुन्दुभिः) दुन्दुभि [ढोल वा नगारा] तू (सिंहः इव) सिंह के समान (जेष्यन्) जीत चाहता हुआ (अभि) सब और (तंस्तनीहि) गरजता रहे । १॥

भाषार्थः—सेनापति लोग दुन्दुभि आदि मारु बाजे बजा कर शत्रुओं को जीतें ॥१॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विवद्वोऽभिक्रन्दन् वृषभो वासितामिव ।

वृषा त्वं वध्र्यस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिपाहः ॥२॥

भाषार्थः—(वासिताम्) गी पर (अभिक्रन्दन्) दहाड़ते हुए (वृषभः इव) बलीबर्द के समान, (विवद्वः) विशेष करके जकड़ा हुआ (द्रुवयः) वह ढाँचा (सिंहः इव) सिंह के समान (अस्तानीत्) गरजा । (त्वम्) तू (वृषा) बलवान् है, (ते) तेरे

(सपत्नाः) वैरी लोग (बध्मः) निर्बल हैं, (ते) तेरा (ऐन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (शुष्मः) बल (अभिमातिवाहः) अभिमानियों का हराने वाला है ॥२॥

भाषार्थः—शूर वीर सेनापति पूर्ण पराक्रम करके शत्रुओं को जीते ॥२॥

वृषेव यूथे सहसा विद्वानो गव्यन्नमि खं संधनाजित् ।

शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥३॥

भाषार्थः—(वृषा इव) बल के समान (यूथे) अपने मुँड में (सहसा) बल से (विद्वानः) जाना गया, (गव्यन्) भूमि चाहता हुआ (संधनाजित्) यथावत् धन जीतने वाला तू (अभि) चारों ओर (खं) गरज । (परेषाम्) वैरियों का (हृदयम्) हृदय (शुचा) शोक से (विध्य) छेद डाल (प्रच्युताः) गिरे हुए (शत्रवः) वैरी (ग्रामान्) अपने गांवों को (हित्वा) छोड़ कर (यन्तु) चले जावें ॥३॥

भाषार्थः—पराक्रमी योधा लोग संग्राम में वैरियों को जीत कर उनका धन और राज्य छीन लें ॥३॥

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्णां गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।

दैर्घ्यं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधा शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥४॥

भाषार्थः—(ऊर्ध्वमायुः) ऊँचा शब्द करता हुआ, (पृतनाः) संग्रामों को (संजयन्) जीतता हुआ, (गृह्णाः) ग्रहण करने योग्य सेनाओं को (गृह्णानः) ग्रहण करता हुआ तू (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि चक्ष्व) देखता रह । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (वैषीम्) दिव्य गुण वाली (वाचम्) वाणी को (आगुरस्व) उच्चारण कर, (वेधाः) विधान करने वाला तू (शत्रूणाम्) वैरियों का (वेदः) धन (उप भरस्व) लाकर भर दे ॥४॥

भाषार्थः—जैसे पराक्रमी योधा दुन्दुभि बजाकर शत्रुओं को जीतकर कीर्ति पाते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य आत्मदोष मिटाकर यशस्वी हों ॥४॥

दुन्दुमेवाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।

नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्णामित्री भीता समरे वधानाम् ॥५॥

भाषार्थः—(दुन्दुमेः) दुन्दुभि की (प्रयताम्) नियमयुक्त, (वदन्तीम्) गूँजती हुई, (वाचम्) ध्वनि को (आशृण्वती) सुनती हुई, (घोषबुद्धा) गर्जन से जागी

हुई, (नाथिता) अधीन हुई, (वधानाम्) मारू शस्त्रों के (समरे) समर में (भीता) डरी हुई (आमित्रो) बैरी की (नारी) नारी (पुत्रम्) पुत्रको (हस्तगृह्य) हाथ में पकड़ कर (धावतु) भाग जावे ॥५॥

भाषार्थः—योधा लोग नियमपूर्वक दुन्दुभि बजावें जिससे शत्रु लोग हार ज.वें और उनकी स्त्री आदि भी घर छोड़कर चली जावें ॥५॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वंदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वंद रोचमानः ।

अमित्रसे नामभिजञ्जमानो द्युमद् वंद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥६॥

भाषार्थः—(दुन्दुभे) हे ढोल ! (पूर्वः) सब से पहिले तू (वाचम्) ध्वनि (प्रवदासि) ऊंची कर, और (रोचमानः) रुचि करके (भूम्याः) भूमि की (पृष्ठे) पीठ पर (वद), शब्द कर । (दुन्दुभे) हे ढोल ! (अमित्रसेनाम्) बैरियों की सेना को (अभिजञ्जमानः) सर्वथा मेट डालता हुआ तू (द्युमत्) स्पष्ट स्पष्ट और (सूनृतावत्) सत्य प्रिय वाणी से (वद) बोल ॥६॥

भाषार्थः—सेना के लोग प्रसन्न चित्त से सत्य प्रतिज्ञा करके ढोल आदि बाजे बजा कर शत्रुओं को जीतें ॥६॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीमम् ।

अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्यार्थं स्वर्धा ॥७॥

भाषार्थः—(इमे) इन (नभसी) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (घोषः) तेरा शब्द (अस्तु) होवे, (ते) तेरी (ध्वनयः) ध्वनें (शीमम्) शीघ्र, (पृथक्) नाना रूप से (यन्तु) जावें । (उत्पिपानः) ऊपर चढ़ता हुआ, (श्लोककृत्) बड़ाई करने वाला, (स्वर्धा) वड़ी वृद्धि वाला तू (मित्रतूर्यार्थं) मित्रों के वेग के लिये (अभि) चारों ओर (क्रन्द) शब्द कर और (स्तनय) गड़गड़ाकर गर्ज ॥७॥

भाषार्थः—योधा पुत्र दुन्दुभि आदि बाजों की ध्वनि से शत्रुओं को जीत कर कीर्ति पावें ॥७॥

धीभिः कृतः प्र वंदाति वाचमुद्धर्षय सत्वंनामायुधानि ।

इन्द्रमेदी सत्वंनो निह्वयस्व मित्रैरमित्रो अव जङ्घनीहि । ८ ।

भाषार्थः—(धीभिः) शिल्पकर्म से (कृतः) बनाया गया वह (वाचम्) शब्द (प्रवदाति) अच्छे प्रकार बोले । (सत्वंनाम्) हमारे वीरों के (आयुधानि) शस्त्रों को (उत् हर्षय) ऊंचा उठा । (इन्द्रमेदी) ऐश्वर्यवान् सेनापति का मित्र तू (सत्वनः)

हमारे वीरों को (नि) नियम से (हृदयस्व) बुला । (मित्रैः) मित्रों के साथ (अमित्रान्) वैरियों को (अथ जङ्घनीहि) गिरा कर मार डाल ॥८॥

भावार्थः— सेनादल दुन्दुभि का शब्द सुनकर अपने शस्त्र लेकर शत्रुओं पर धावा करके मारे ॥८॥

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी ।

श्रेयो बन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्ति बहुभ्यो वि हर द्विराजे । ९॥

भावार्थः— (संक्रन्दनः) शब्द करने वाला, (प्रवदः) गर्जने वाला, (धृष्णुषणः) निडर सेना वाला, (प्रवेदकृत्) चेतना करने वाला, (बहुधा) अनेक प्रकार से (ग्रामघोषी) सेनादलों में शब्द करने वाला, (श्रेयः) हमारे आनन्द का (बन्वानः) उद्योग करने वाला, (वयुनानि, धर्मों को (विद्वान्) जानने वाला तू (द्विराजे) दो राजाओं के युद्ध में (बहुभ्यः) बहुतों को (कीर्तिम्) कीर्ति (वि) विविध प्रकार से (हर) प्राप्त करा ॥९॥

भावार्थः— शूर सेनादल सिंहध्वनि के साथ वैरियों को जीतकर कीर्ति पावे ॥९॥

श्रेयं केतो वसुजित् सहीयान्तसंग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि ।

अंशुनित्रा ग्रावाधिपवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः । १०॥

भावार्थः— (श्रेयःकेतः) कल्याण का ज्ञान देने वाला, (वसुजित्) धन जीतने वाला, (सहीयान्) अधिक बल वाला, (संग्रामजित्) संग्रामों का जीतने वाला, और (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (संशितः) तीक्ष्ण किया हुआ (असि) तू है । (अद्रिः) निश्चल स्वभाव, (ग्रावा इव, जैसे सूक्ष्मदर्शी पंडित (अधिपवणे) तत्त्व मंथन में (अंशून्) सूक्ष्म पंशों को [वश में करता है वैसे ही] । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (गव्यन्) भूमि चाहता हुआ तू वेदः) शत्रु का धन (अधि = अधिकृत्य) वज्र में करके (नृत्य) नृत्य कर ॥१०॥

भावार्थः— जैसे संग्राम में दुन्दुभि उत्साह बढ़ाता है और जैसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तत्त्वों को जीत कर आनन्द भोगता है वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विज्ञान प्राप्त करके सदा सुखी रहे ॥१०॥

शत्रूपाप्नीषाढंभिमातिपाहो गवेषणः सहमान उज्जित् ।

वाग्बीव नन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेपमुद् वदेह । ११॥

भाषार्थः—(शत्रूषाट्) वैरियों को हराने वाला, (नीषाट्) नित्य जीतने वाला, (अभिमातिसाहः) अभिमानियों का वश में करने वाला, (गवेषणः) भूमि वा विद्या का ढूँढने वाला, (सहमानः) शासन करने वाला, (उज्झित्) बहुत तोड़ फोड़ करने वाला तू (वाचम्) वाणी को, (प्र भरस्व) अच्छे प्रकार भर दे, (इव) जैसे (वाग्वी) उत्तम बोलने वाला पुण्य (मन्त्रम्) अपने मनन वा उपदेश को। और (संग्राम-जित्पाय) संग्राम जीतने के लिये (इह) यहाँ पर (इषम्) अन्न का (उत्) अच्छे प्रकार (वव) कथन कर ॥११॥

भाषार्थः—पराक्रमी शूर पुरुष दुन्दुभि की ध्वनि से उत्साहित होकर शत्रुओं को जीत कर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥११॥

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरप्तायोध्यः ।

इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्थदृद्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥१२॥

भाषार्थः—(अच्युतच्युत्) न गिरे हुआ [शत्रुओं] का गिराने वाला, (समदः) हर्षसहित (गमिष्ठः) अतिशय गति वाला, (मृधः) संग्रामों को (जेता) जीतने वाला, (पुरप्ता) आगे आगे चलने वाला, (अयोध्यः) न रुकने योग्य, (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् सेनापति से (गुप्तः) रक्षा किया गया, (विदथा = ०—यानि) जानने योग्य कर्मों को (निचिक्थत्) जानता हुआ, (द्विषताम्) वैरियों के (हृद्योतनः) निश्चय करके हृदयों का जलाने वाला तू (शीभम्) शीघ्र (याहि) प्राप्त हो ॥१२॥

भाषार्थः—सेनापति श्री आज्ञा से दुन्दुभि बजते ही समस्त सेना दल शत्रुओं पर टूट पड़े ॥१२॥

सूक्तम् ॥२१॥

१—१२ ॥ १—६ दुन्दुभिः, १०—१२ देवसेना देवताः ॥ १, ४, ५ पथ्या पङ्क्तिः, २, ३, ७—१० अनुष्टुप्, ६ जगती, ११ द्विषदा त्रिष्टुप् विराट् च, १२ गायत्री ॥

शत्रुजयोपदेशः— शत्रुओं को जीतने को उपदेश ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे । विद्वेषं कश्मंशं

भयममित्रेषु नि दंभस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ।१॥

भाषार्थः—(दुन्दुभे) हे दुन्दुभि वा डोल ! (अमित्रेषु) वैरियों में (विहृदयम्) हृदय व्याकुल करने वाली (वैमनस्यम्) मन की म्लानि (वद) कह दे। (विद्वेषम्) फूट, (कश्मंशम्) गति की रोक और (भयम्) भय (अमित्रेषु) वैरियों के

बीच (निदध्मसि) हम डाले देते हैं । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (एनान्) इन [जन्तुओं] को (अव जहि) निकाल दे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे पराक्रमी शूर के दुन्दुभि आदि वजने पर शत्रु लोग डाँवाँडोल हो कर भाग जाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष के विज्ञान द्वारा काम क्रोध आदि नष्ट हो जाते हैं ॥१॥

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।

धावन्तु बिभ्यन्तोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥२॥

भाषार्थः—(आज्ये हुते) घृत आग में चढ़ाने पर (मनसा) मन से (चक्षुषा) नेत्र से (च) और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थरथराते हुए, (बिभ्यन्तः) भय मानते हुए (अमित्राः) वैरी लोग (प्रत्रासेन) घबराहट के साथ (धावन्तु) भागें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे अग्नि धी चढ़ाने से प्रचंड होता है, वैसे ही युद्धाग्नि प्रचंड होने पर कुशल सेनापति शत्रुओं को अंग भंग करके भगा दे ॥२॥

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोऽयः ।

प्रत्रासमभिन्नेभ्यो वदाज्येनाभिघोरितः ॥३॥

भाषार्थः—[हे दुन्दुभि !] (वानस्पत्यः) सेवनियों के पालक [सेनापति] से प्राप्त हुआ, (उस्त्रियाभिः) वस्त्रियों की रक्षक सेनाओं से (संभृतः) यथावत् रक्वा गया, (विश्वगोऽयः) समस्त कुलों का हितकारक तू (अभिन्नेभ्यः) वैरियों को (प्रत्रासम्) अति भय (वद) कह दे, [जैसे] (आज्येन) धी से (अभिघोरितः) सींचा हुआ [अग्नि प्रकाशित होता है] ॥३॥

भाषार्थः—सेनापति लोग घृतसे प्रज्वलित अग्नि के समान प्रचण्ड होकर शत्रुओं को भयभीत कर दें ॥३॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि । एवा त्वं

दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रापयथो चित्तानि मोहय ॥४॥

भाषार्थः (यथा) जैसे (आरण्याः) वनवासी (मृगाः) पशु (पुरुषात्) मनुष्य से (अधि) अतिशय (संविजन्ते) डरकर भागते हैं, (एव) वैसे ही (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (त्वम्) तू (अमित्रान् अभि) वैरियों पर (क्रन्द) गर्ज, और (प्र त्रासय) डरा दे (अथो) और भी (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) घबड़ा दे ॥४॥

भावार्थः—जैसे जङ्गलीय पशु मनुष्य को देख कर भागते हैं, वैसे ही शूर वीरों को देख कर ही शत्रु लोग घबड़ा कर भाग जावें ॥४॥

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु विभ्यतीः । एवा त्वं
दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रांसयाथौ चित्तानि मोहय ॥५॥

भावार्थः—(यथा) जैसे (वृकात्) भेड़िये से (बहु) बहुत (विभ्यतीः) डरती हुई (अजावय.) बकरी और भेड़ें (धावन्ति) भाग जाती हैं। (एव) वैसे ही ...
म० ४ ॥५॥

भावार्थः - मन्त्र ४ के समान ॥५॥

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अर्हदिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रांसयाथौ चित्तानि मोहय ॥६॥

भावार्थः—(यथा) जैसे (श्येनात्) श्येन [बाज] से (पतत्रिणः) पक्षी (अर्हदिवि) प्रति दिन (संविजन्ते) डर कर भागते हैं, और (यथा) जैसे (सिंहस्य) सिंह की (स्तनथोः) गर्जन से, (एव) वैसे ही (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (त्वम्) तू (अमित्रान् अभि) वैरियों पर (क्रन्द) गज और (प्रांसय) डरा दे, (अथो) और भी (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) घबड़ा दे ॥६॥

भावार्थः - मन्त्र ४ के समान ॥६॥

परा मित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतिव्रसन् ये संग्रापस्येयते ॥७॥

भावार्थः—(ये) जो विद्वान् लोग (संग्रामस्य) संग्राम के (ईयते) स्वामी होते हैं उन (सर्वे) सब (देवाः) महात्मा लोगों ने (हरिणस्य) हरिण के (अजिनेन) चर्म से युक्त (दुन्दुभिना) दुन्दुभि से (च) निपट करके (परा=पराजित्य) हरा-कर (अतिव्रसन्) डरा दिया है ॥७॥

भावार्थः—शूर सेनापति लोग शत्रुओं को जीत कर भगा दें ॥७॥

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।

तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ।८॥

भावार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सेनापति (छायया सह) छाया के साथ (यैः) जिन (पद्घोषैः) पैरों के खटकों से (प्रक्रीडते) क्रीड़ा करता रहता है, (तैः) उनसे

(नः) हमारे (अमी) वे (अमित्राः शत्रु, त्रसन्तु) डर जावें (ये) जो (अनीकशः) श्रेणी श्रेणी (यन्ति) चलते हैं ॥८॥

भाषार्थः—चतुर क्षीघ्रगामी सेनापति की छाया और पैरों के आहट से शत्रु के दल के दल भाग जावें ॥८॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रौशन्तु या दिशः ।

सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥९॥

भाषार्थः—(ज्याघोषाः) हमारी प्रत्यंचा के शब्द और (दुन्दुभयः) सब दुन्दुभि (याः) व्यापक (दिशः) दिशाओं में (अनीकशः) श्रेणी श्रेणी (यतीः) चपती हुई (अमित्राणाम्) वैरियों की (पराजिताः) हारी (सेनाः अभि) सेनाओं पर (क्रौशन्तु) पुकार मचावें ॥९॥

भाषार्थः—वीर सेनापति अपने अस्त्रशस्त्रों से सब दिशाओं में शत्रु के प्रत्येक दल को रोक कर हरा देवे ॥९॥

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनुं धावत ।

पत्सङ्गिनीरा संजन्तु विगते बाहुवीर्ये १०॥

भाषार्थः—(आदित्य हे सूर्य समान सेनापति ! [शत्रुओं की] (चक्षुः) दृष्टि (आ दत्स्व) ले ले, (मरीचयः) हे किरणों के, समान सेनादल ! (अनु) पीछे पीछे (धावत, दौड़ो)। (बाहुवीर्ये) बाहु बल (विगते) चले जाने पर (पत्सङ्गिनीः) पांव में पड़ी बेड़ियों को (आ संजन्तु) वे [शत्रु] लिपटा लेवें ॥१०॥

भाषार्थः—पराक्रमी सेनापति शत्रुओं की दृष्टि बचा कर अपनी सेना के साथ घावा करके निर्बल शत्रुओं को बांध लेवे । १०॥

यूयमुया मरुतः पृथिनमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृ-युरिन्द्र । ११॥

भाषार्थः—(पृथिनमातरः हे छूने योग्य पदार्थों के वा आकाश के नापने वाले, (उग्राः) प्रचण्ड (मरुतः) घूर लोगो ! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले सेनापति (युजा) मित्र के साथ (शत्रून्) वैरियों को (प्र मृणीत) मार डालो । (इन्द्रः) वह बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति (सोमः) उत्तमों का मथन करने वाला (राजा) प्रकाशमान, (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) राजा (उत) और (मृत्युः) मृत्यु के समान (महादेवः) बड़ा देवता है ॥११॥

भाषार्थः—महाप्रतापी सेनापति के साथ समस्त शूर सेनादल शत्रुओं को जीत लें ॥११॥

एता दैवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।

अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥१२॥

भाषार्थः—(एताः) यह सब (सूर्यकेतवः) सूर्यसमान पताका वाली, (सचेतसः) समान चित्तवाली (दैवसेनाः) विजयी सेनापति की सेनायें (नः) हमारे (अमित्रान्) वैरियों को (जयन्तु) जीतें, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥१२॥

भाषार्थः—पराक्रमी सेनापति की सहायता से समस्त शूर सेनादल शत्रुओं को हराकर निकाल दें ॥१२॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२॥

१-१४ ॥ षंष्टो देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्, ३-१४ अनुष्टुप् ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अग्निस्तत्त्वमानमप वाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।

वेदिर्वहिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(अग्निः) जानवान्, (सोमः) तत्त्व मथन करने वाला, (ग्रावा) सूक्ष्मदर्शी, (वरुणः) वरणायोग्य, (पूतदक्षाः) पवित्र बल करने वाला, (शोशुचानाः) बहुत जलते हुए (समिधः) इन्धन के समान (वहिः) प्रकाशमान (वेदिः) पंडित (इतः) यहाँ से (तत्त्वमानम्) दुःखित जीवन करने हारे ज्वर को (अप वाधताम्) निकाल देवे । (द्वेषांसि) हमारे सब अनिष्ट (अमुया) उधर (अप भवन्तु) हट जावें ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार सदैव रोगों की चिकित्सा करता है, उसी प्रकार सब मनुष्य आत्मदोषों का प्रतीकार करे ॥१॥

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्दन् ।

अथा हि त्वमन्नरसो हि भूया अथान्यङ्धधराद् वा परेहि ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (यः) जो तू (विश्वान्) सब [मनुष्यों] को (उच्छोचयन्) शोक में डालता हुआ, और (अग्निः इव) अग्नि के समान (अभिदुन्दन्) तपाता हुआ (हरितान्) पीला (कृणोषि, कर देता है। (अथ) सो (हि) इसलिये (त्वमन्) हे दुःखित जीवन करने वाले ज्वर ! तू (हि) अवश्य (अरसः) निर्बल (भूयाः) होजा। (अथ) और (वा) अथवा (न्यङ्) नीच स्थान से (अधराद्) नीच स्थान को (परा इहि) चम्पत हो जा ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सदैव ज्वर आदि रोगों को, वैसे ही बुद्धिमान् कुकाम, क्रोध आदि को निकाल देवे ॥२॥

यः परुषः पारुषे योऽवध्वं स इवारुणः ।

त्वमानं विश्वधावीर्याधराञ्च परां सुवा । ३॥

भाषार्थः—(यः) जो (परुषः) निठुर (पारुषेयः) निठुर से उत्पन्न हुए (अरुणः) रक्तवर्ण (अवध्वंसः इव) नीचे गिरने वाले राक्षसीदि के समान है। (विश्वधावीर्यं) हे सब प्रकार सामर्थ्य वाले वंश ! (त्वमानम्) उस दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (अधराञ्चम्) नीचे देश में (परा सुवा) दूर गिरादे ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र २ के समान ॥३॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा त्वमने ।

शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ४॥

भाषार्थः—(त्वमने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृत्वा) करके (अधराञ्चम्) नीचे देश को (प्र हिणोमि) मैं भेजता हूँ। (शकम्भरस्य) शक्ति धारण करने वाले पुरुष का (मुष्टिहा) मुष्टि से मारने वाला [ज्वर] (महावृषान्) बड़ी वृष्टि वाले देशों को (पुनः) लौटकर (एतु) चला जावे ॥४॥

भाषार्थः—नीचे, बहुत जल वाले स्थानों में ज्वर आदि बलवान् रोग प्रायः होते हैं, मनुष्य सावधान रहें ॥४॥

ओ॒कों अस्य॒ मु॒ज॒व॒न्त॒ ओ॒कों अस्य॒ महा॒वृ॒षाः ।

याव॑ज्जा॒तस्ते॒वम॑ स्तावा॑नसि॒ ब॒लि॒ह॒केषु॒ न्यो॒चरः॑ ॥५॥

भाषार्थः—(अस्य) इसका (ओकः) घर (मूजवन्तः) मूज आदि घास वाले पर्वत हैं, और (अस्य) इसका (ओकः) घर (महावृषाः) महावृष्टि वाले देश हैं । (तवमन्) हे दुःखित जीवन करने वाले ज्वर ! (यावत्) जब से (जातः) तू उत्पन्न हुआ है, (तावान्=तावत्) तब से तू (बलिहकेषु) हिंसा वाले देशों में (न्योचरः) नित्य संगति वाला (असि) है ॥५॥

भाषार्थः—बहुत घास वाले और बहुत वृष्टि वाले देशों में ज्वर आदि रोग अधिक होते हैं, मनुष्य इसका प्रबन्ध रखे ॥५॥

तव॒मन् व्या॑ल॒ वि ग॒द॒ व्यङ्ग॒ भूरि॑ याव॒य ।

दा॒सीं नि॒ष्टव॑रीमिच्छ॒ तां वज्रे॑ण॒ सम॑र्पय ॥६॥

भाषार्थः—(तवमन्) हे ज्वर ! (व्याल) हे सर्प ! हे धूर्त ! (व्यङ्ग) हे कुरुष ! (विगद) तू बोल, (भूरि) बहुत दूर (यवय) चला जा (निष्टवरीम्) ठटोल, निर्लज्ज (दासीम्) दासी [नीच स्त्री] को (इच्छ) दूँड और (ताम्) उसको (वज्रेण) अपने वज्र से (समर्पय) मार गिरा ॥६॥

भाषार्थः—कुचाली, व्यभिचारी स्त्री पुरुष रोगी होकर दारुण दुःख भोगते हैं, इससे मनुष्य सदाचारी होकर सदा स्वस्थ रहे ॥६॥

तव॒मन् मु॒ज॒वतो॑ गच्छ॒ ब॒लि॒ह॒कान् वा पर॑स्तराम् ।

शू॒द्रा॒मिच्छ॒ प्र॒फ॒व्यै १ तां तव॑मन् वी॒व धृ॒नुहि॑ ॥७॥

भाषार्थः—(तवमन्) हे ज्वर ! (मूजवतः) मूज वाले पहाड़ों और (बलिहकान्) हिंसा वाले देशों को, (वा) अथवा (परस्तराम्) और परे (गच्छ) चला जा । (प्रफव्यम् = प्रफवरीम्) इधर उधर घूमने वाली (शूद्राम्) शूद्रा, स्त्री को (इच्छ) दूँड, और (ताम्) हिंसकों को (तवमन्) हे ज्वर ! (वीव) विशेष कर के ही (धृनुहि) कंपादे ॥७॥

भाषार्थः—जहाँ पर मलिन पदार्थ और मलिन स्वभाव वाले स्त्री पुरुष होते हैं, वहाँ रोग होते हैं । इससे सबको बाहिर और भीतर शुद्ध रखना चाहिये ॥७॥

महावृषान् मूर्जवतो बन्ध्वद्धि परेत्य ।

प्रेतानि तक्मने ब्रमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥८॥

भाषार्थः— (परेत्य) दूर जाकर (महावृषान्) बड़ी वृष्टि वाले देशों और (मूर्जवतः) मूर्जवाले पहाड़ों, (बन्धु = बन्धून्) अपने बन्धुओं को (अद्धि) खाले । (प्रेतानि) इन यौर (इमा = इमानि) इन (अन्यक्षेत्राणि) अन्य निवास स्थानों को (तक्मने) ज्वर के लिये (बे) अवश्य (प्रब्रूयः) हम बताये देते हैं ॥८॥

भाषार्थः— अधिक वृष्टि वाले, अधिक तृण वाले, और इसी प्रकार अधिक ताप वाले देशों में प्राणी ज्वर से पीड़ित रहते हैं । इससे मनुष्य उचित प्रबन्ध रखे ॥८॥

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।

अभृन्दु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बलिहकान् ॥९॥

भाषार्थः— (अन्यक्षेत्रे) दूर देश में (न) इस समय (वशी) वश में करने वाला (सन्) होकर (रमसे = रमस्व) तू उहरे, और (नः) हमें (मृडयासि) सुख दे (तक्मा) ज्वर (प्रार्थः) चालू, उ अवश्य (प्रभूत्) हो गया है, (सः) वह (बलिहकान्) हिंसा वाले देशों को (गमिष्यति) चला जायगा ॥९॥

भाषार्थः— सदाचारी पुरुष प्रयत्न करके नीरोग, और हिंसाप्राय लोग रोगग्रस्त रहते हैं ॥९॥

यन् त्वं शीतोऽर्थो क्रूरः सुः कासावैषयः ।

भीमास्ते तक्मन् हे तयस्ताभिः स्म परि वृद्धि नः ॥१०॥

भाषार्थः— (यन्) जिस कारण (शीतः) शीत (स्यो) जोर (क्रूरः) क्रूर (त्वम्) तूने (कासा = कासेन) (सह) गर्म के साथ [हमें] (अवैषयः) काम दिया है । (तक्मन्) हे दुःखित जीवन करने वाले ज्वर !, (ते) तेरी (हेतयः) जोड़ें (भीमाः) भयानक हैं, (ताभिः) उनसे (नः) हमको (स्म, अवश्य (परि वृद्धि) छोड़ दे ॥१०॥

भाषार्थः— मनुष्य यत्नपूर्वक नीरोग रहकर शारीरिक और मानसिक बल बढ़ावे ॥१०॥

(तक्मा) ज्वर विषय का अ० का० १ त० २५ से मिलान करो ।

मा स्मै तान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युग्म् ।

मा स्मातोऽर्वादैः पुनस्तत् त्वां तक्मन्नुपं ब्रुवे ॥११॥

भाषार्थः—(बलासम्) बल गिराने वाले सन्निपात कफ आदि, (कासम्) कुत्सित शब्द करने वाली खांसी और (उच्छृगम्) मुख रोकने वाले, क्षयो रोग, (एतान्) इनको (सखीन् अपना मित्र [मा स्म कुरुथाः] कभी मत बना ! [अतः] उस स्थान से (युनः) फिर (अर्वाङ्) हमारे सम्मुख होकर (मा स्म आ ऐः) कभी मत आ । [तत्] यह बात (तक्मन्) हे ज्वर ! (त्वा) तुझ से (उप ब्रुवे) मैं कहे देता हूँ ॥११॥

भाषार्थः—सदैव प्रयत्न करे कि जिससे ज्वर के साथ अन्य रोग न होने पावें और ज्वर छुटता चला जावे ॥११॥

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्त्रा कासिकया सह ।

पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥१२॥

भाषार्थः—(तक्मन्) हे ज्वर ! (भ्रात्रा) अपने भ्राता (बलासेन) बल गिराने वाले सन्निपात, कफ आदि (स्वस्त्रा) अपनी बहिन (कासिकया सह) कुत्सित खांसी के साथ, (भ्रातृव्येण) अपने भतीजे (पाप्मा = पाप्मना) चर्म रोग के (सह) साथ (अमुम्) उस (अरणम्) न भावण करने योग्य निन्दित (जनम्) जन के पास (गच्छ) चला जा ॥१२॥

भाषार्थः—कुकर्मी अर्पथ्य भोगी पुरुष ज्वर, खांसी आदि से पीड़ित रहते हैं । इस से मनुष्य सुकर्मी और पथ्यभोगी होवें ॥१२॥

तृतीयकं त्रितृतीयं सन्दिमत् शारदम् ।

तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥१३॥

भाषार्थः—[हे वैद्य !] (तृतीयकम्) तिजारी, (त्रितृतीयम्) चौथिया आदि अंतरिया, (सन्दिमम्) सदा फूटन करने वाले, निरन्तरा (उत्) और (शारदम्) शरद ऋतु में आने वाले, (शीतम्) शीत, (रूरम्) क्रूर, (ग्रैष्मम्) ग्रीष्म में आने वाले, (वार्षिकम्) वर्षा में होने वाले (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नाशय) मिटा दे ॥१३॥

भाषार्थः—सदैव देश, काल, स्वभाव आदि का विचार करके मनुष्यों को स्वस्थ रखे ॥१३॥

गन्धारिभ्यो मूर्जवद्भ्योऽङ्गभ्यो मृगधेभ्यः ।

ग्रैष्मन् जनमिव शेवर्ध्या तक्मानं परि दशसि ॥१४॥

भाषार्थः—(गन्धारिभ्यः) हिंसा पहुँचाने वाले, (भूजवद्भ्यः) मूँज आदि घास वाले, (अङ्गेभ्यः) अग्रप्रधान और (मगधेभ्यः) दोष धारण करने वाले देशों के लिये (जनम् इव) पामर पुरुष के समान, (शेवधिम्) सोने के आधार (तत्त्वमानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (प्रैष्यन्=प्रैष्यन्तः) आगे बढ़ते हुए (परि दधसि) हम त्यागते हैं ॥१४॥

भाषार्थः—हिंसा आदि अशुद्ध व्यवहारों से ज्वर आदि रोग होते हैं । इस से मनुष्य शुद्ध व्यवहार रखकर सदा नीरोग रहें ॥१४॥

सूक्तम् ॥ २३ ॥

१—१३ ॥ वंद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वल्पदोषताशोपदेशः—छोटे छोटे दोषों के नाश का उपदेश ॥

ओतें मे द्यावापृथिवी ओतां देवी सरस्वती ।

ओताँ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥१॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते) बुने हुए हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता) परस्पर बुनी हुई है । (ओताँ) परस्पर बुने हुए (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (च) भी (मे) मेरे लिये (क्रिमिम्) कीड़े को (जम्भयताम्) नाश करें, (इति) यह प्रार्थना है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे अशुद्धि आदि से उत्पन्न क्षुद्र जन्तुओं को हटाते हैं, वैसे ही पदार्थों के विवेक से छोटे छोटे भी कुसंस्कार मिटाये जावें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सू० ३१ तथा ३२ से करो ॥

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि ।

हता विश्वा अरातय उग्रेण वर्चसा मम ॥२॥

भाषार्थः—(धनपते) हे धन के स्वामी (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले वंश ! (अस्य) इस (कुमारस्य) कमनीय बालक के (क्रिमीन्) कीड़ों को (जहि) मिटा दे । (मम) मेरे (उग्रेण) प्रचण्ड (वर्चसा) [वैदिक] वचन से (विश्वाः) सब (अरातयः) वैरी (हताः) मारे गए ॥२॥

भाषार्थः—जैसे बंद बालक के उदर के कृमि रोग को नाश करता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान के अभ्यास से अज्ञान आदि दोष हटावे ॥२॥

यो अक्ष्णीं परिसर्पति यो नासं परिसर्पति ।

दन्तां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमीं जम्भयामसि ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो [कीड़ा] (अक्ष्णीं) दोनों आँखों में (परिसर्पति) रेंग जाता है, (यः) जो (नासे) दोनों नथरों में (परिसर्पति) रेंग जाता है, (यः) जो (दन्ताम्) दाँतों के (मध्यम्) बीच में (गच्छति) चलता है, (तमो) उस (क्रिमिम्) कीड़े को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥२॥

भाषार्थः—विज्ञानी पुरुष आत्म विघ्नों का इस प्रकार नाश करे जैसे वंश कृमि रोग को ॥३॥

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः । ४॥

भाषार्थः—(द्वौ) दो (सरूपौ) एक से रूप वाले, (द्वौ) दो (विरूपौ) विरुद्ध रूप वाले, (द्वौ) दो (कृष्णौ) काले, (द्वौ) दो (रोहितौ) लाल (च) और (बभ्रुः) भूरा (च) और (बभ्रुकर्णः) भूरे कान वाला और (गृध्रः) गिड़, (च) और (कोकः) भेड़िया, (ते) वे सब (हताः) मारे गये ॥४॥

भाषार्थः—पनुष्य नाना आकार वाले कृमियों के समान नाना प्रकार की कुवासनाओं का नाश करें ॥४॥

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिवाहवः ।

ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥५॥

भाषार्थः—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (शितिकक्षाः) काली काँस वाले, (ये) जो (कृष्णाः) काले वर्ण वाले और (कृष्णवाहवः) काली भुजाओं वाले, (च) और (ये के) जो कोई (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले हैं, (तान्) उन (क्रिमीन्) कीड़ों को (जम्भयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥५॥

भाषार्थः—मरुत के ४ समान ॥५॥

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।

दृष्टांश्च ग्रन्थ्वांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥६॥

भाषार्थः—(विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया, (अदृष्टहा) अगोचर पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दृष्टान्) देखते हुए (च) और (अदृष्टान्) न देखते हुए

(सर्वान्) सब (क्रिमीन्) कीड़ों को (च) अवश्य (घनन्) मारता हुआ (च) और (प्रमृणन्) मिटाता हुआ (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (उत् एति) उदय होता है ॥६॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार आदि नाश करता है, वैसे ही वैद्य ओषधि द्वारा रोगों को नाश करे ॥६॥

येवापासः कण्कपास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।

दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिहतादृष्टश्च हन्यताम् ॥७॥

भाषार्थः—(येवापासः = एवापाः) शीघ्र गति वाले, (कण्कपासः = कण्कपाः) अत्यन्त पीड़ा देने वाले, (एजत्काः) चमकने वा धरधराने वाले और (शिपवित्नुकाः) तीव्र स्वभाव वाले हैं । (दृष्टः) दीखता हुआ (क्रिमिः) कीड़ा (च) अवश्य (हन्यताम्) मारा जावे, (उत्) और (अदृष्टः) न दीखता हुआ (च) भी (हन्यताम्) मारा जावे ॥७॥

भाषार्थः—मन्त्र ४ के समान ॥७॥

हतो येवापः क्रिमीणां हतो नंदनिमोत ।

सर्वान् नि मध्मपाकरं दृषदा खल्वी इव ॥८॥

भाषार्थः—(क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (येवापः = एवापः) शीघ्रगामी (हतः) मारा गया, (उत्) और (नंदनिमा) नाद करनेवाला (हतः) मारा गया । (सर्वान्) सब (कीड़ों) को (मध्मपा) मसल मसल कर (नि अकरम्) मैने नष्ट कर दिया है, (खल्वान् इव) जैसे चनों को (दृषदा) गिला से [दल डालते हैं] ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने सब कुसंस्कारों का नाश करे, जैसे वैद्य रोग-जन्तुओं को नष्ट करता है ॥८॥

त्रिशीर्षाणि त्रिकुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्ठीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥९॥

भाषार्थः—(त्रिशीर्षाणि) तीन, ऊँचे नीचे और मध्य स्थानों में आश्रय वाले, (त्रिकुदम्) तीन [कायिक, वाचिक, मानसिक] सुखों की भूमि काटने वाले, (सारङ्गम्) रंगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय करने वाले [वा श्वेत-वर्णं] (क्रिमिम्) कीड़ों को (शृणामि) मैं मारता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्ठीः) पसलियों को (अपि) भी, और (तत्) जो (शिरः) शिर है [उसको भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूँ ॥९॥

भावार्थः—जिस प्रकार रोगजनक जन्तुओं को बुद्धि आदि द्वारा नाश करने से शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों को हटाने से आत्मिक शान्ति होती है ॥६॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० २। ३२। २ से करो ॥

अत्रि वद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्टमिहं क्रिमीन् ॥१०॥

भावार्थः—(क्रिमयः) हे कीड़ों ! (वः) तुमको (अत्रिवत्) दोष भक्षक वा गतिशील, मुनि के समान, (कण्ववत्) स्तुतियोग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूँ। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति वाले पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्टिम्) पीसे डालता हूँ ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद-ज्ञान द्वारा पाप का नाश करना चाहिये ॥१०॥

मन्त्र १०—१२ अथर्ववेद का० २ सू० ३२ मन्त्र ३—५ में आ चुके हैं ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।

हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥११॥

भावार्थः—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वारपाल (हतः) नष्ट होवे। (हतमाता) जिसकी माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है, और (हतस्वसा) जिसकी बहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रिमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मार डाला जावे ॥११॥

भावार्थः—मनुष्य अपने दोषों और उनके कारणों को उचित प्रकार से समझ कर नष्ट करे, जैसे बैद्य रोगों के प्रधान और गौण कारणों को जानकर उन्हें निवृत्त करता है ॥११॥

हतासौ अस्य वेशसां हतासः परिवेशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥१२॥

भावार्थः—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः=हताः)

नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों । (अथो-अथ-उ) और भी (ये) जो (कुल्लाकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते, वे (सर्वे) सब (क्रियः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥१२॥

भाषार्थः—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की सामग्री का सर्वनाश कर दे, जैसे रोगजनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥१२॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।

भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥१३॥

भाषार्थः—(च) और (सर्वेषाम्) सब (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (च, और (सर्वासाम्) सब (क्रिमीणाम्) कीड़ों की स्थियों का (शिरः) शिर (अश्मना) पत्थर से (भिनदि) मैं फोड़ता हूँ और (मुखम्) मुख (अग्निना) अग्नि से (दहामि) जलाता हूँ ॥१३॥

भाषार्थः—जैसे किसी वस्तु को अग्नि में जलाकर अथवा पत्थर पर तोड़ कर नष्ट कर देते हैं, वैसे ही मनुष्य अपने दोहिरी और भीतरी दोषों को नाश करे ॥१३॥

सूक्तम् ॥२४॥

१—१७ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १-३, ५-१४ शक्यरी; ४, १५-१७ अति-जगती छन्दः ॥

रक्षाप्रयत्नोपदेशः—रक्षा के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्
कर्मण्यस्यां पुरोधायांस्यां प्रतिष्ठायांस्यां चित्स्यांस्यामाकूत्याम-
स्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—(सविता) सब का उत्पन्न करने वाला वा सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (प्रसवानाम्) उत्पन्न पदार्थों वा अच्छे अच्छे ऐश्वर्यों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे । (अस्मिन्) इस (ब्रह्मणि) बड़े वेदज्ञान में, (अस्मिन्) इस (कर्मणि) कर्तव्य कर्म में, (अस्याम्) इस (पुरोधायाम्) पुरोहित पदवी में, (अस्याम्) इस (प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा वा सत्क्रिया में, (अस्याम्) इस (चित्याम्) चेतना में, (अस्याम्) इस (आकूत्याम्) इस संकल्प

वा उत्साह में, (अस्याम्) इस (आशिषि) अनुशासन में, और (अस्याम्) इस (देवहृत्याम्) विद्वानों के बुलावे में, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य जगत्पति परमात्मा का आश्रय लेकर अपने सब उत्तम कार्य पुरुषार्थपूर्वक सिद्ध करें ॥१॥

अ॒ग्निर्व॒नस्प॑तीनामधि॒पतिः॑ स मा॒वतु॑ । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्म॑ण्यस्मिन् कर्म॑-
ण्यस्यां पु॒रोधा॑याम॒स्यां प्रति॑ष्ठाया॒मस्यां चि॒न्त्या॑मस्यामाकू॒त्याम॒स्या-
माशि॑ष्यस्यां दे॒वहृ॑त्यां स्वाहा ॥२॥

भावार्थः—(अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (वनस्पतीनाम्) सेवकों के रक्षकों वा वृक्षों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे, ... म० १ ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य पार्थिव अग्नि के प्रभाव से उत्पन्न हुए पदार्थों द्वारा बल बढ़ा कर अपनी रक्षा करें ॥२॥

यावा॑पृथि॒वी दा॑तृणामधि॒पत्नी॑ ते मा॒वताम् । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्म॑ण्यस्मिन् कर्म॑ण्यस्यां पु॒रोधा॑याम॒स्यां प्रति॑ष्ठाया॒मस्यां चि॒न्त्या॑मस्यामाकू॒त्याम॒स्या-
माशि॑ष्यस्यां दे॒वहृ॑त्यां स्वाहा ॥३॥

भावार्थः—(यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (दातृणाम्) दाताओं की (अधिपत्नी) अधिष्ठात्री है, (ते) वे दोनों (मा) मुझे (अवताम्) बचावे, ... म० १ ॥३॥

भावार्थः—सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पृथिवी में प्रविष्ट होकर सब पदार्थ उत्पन्न करते हैं, मनुष्य उन पदार्थों से प्रयत्नपूर्वक अपना पालन करें ॥३॥

वरु॑णो ऽपामधि॒पतिः॑ स मा॒वतु॑ । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्म॑ण्यस्मिन् कर्म॑ण्यस्यां पु॒रोधा॑याम॒स्यां प्रति॑ष्ठाया॒मस्यां चि॒न्त्या॑मस्यामाकू॒त्याम॒स्या-
स्यां दे॒वहृ॑त्यां स्वाहा ॥४॥

भावार्थः—(वरुणः) वरणीय मेघ (अपाम्) जल धाराओं का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे ... म० १ ॥४॥

भावार्थः—मेघ से वृष्टि होकर पृथिवी के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे मनुष्य अपनी रक्षा करें ॥४॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्म-
ण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामा-
शिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥५॥

भाषार्थः—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु (वृष्ट्या = वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधिपती) दो अधिष्ठाता हैं, (तौ) वे दोनों (मा) मुझे (अवताम्) बचावें, ... म० १ ॥५॥

भाषार्थः— प्राण वायु जल को पृथिवी से मेघ मंडल में ले जाता, और अपान वायु वहाँ से जल को पृथिवी पर बरसाता है, उससे उत्पन्न हुए पदार्थों द्वारा मनुष्य अपनी रक्षा करें ॥५॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्म-
ण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्या-
माशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥६॥

भाषार्थः—(मरुतः) ऋत्विक् लोग (पर्वतानाम्) पहाड़ों के (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं, (ते) वे (मा) मुझे (अवन्तु) बचावें, ... म० १ ॥६॥

भाषार्थः—याजक लोग पर्वत आदि स्थानों से ओषधि आदि उत्तम पदार्थों को लाकर उनसे संसार का उपकार करते हैं । उनसे प्रत्येक मनुष्य उपकार लेकर अपनी रक्षा करें ॥६॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां
पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्य-
स्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥७॥

भाषार्थः—(सोमः) ऐश्वर्य का कारण सोमलता (वीरुधाम्) उगने वाली जड़ी बूटियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे, ... म० १ ॥७॥

भाषार्थः - मनुष्य उत्तम ओषधियों के सेवन से यथावत् रक्षा करे ॥७॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां

पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यांमस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥८॥

भाषार्थः—(वायुः) वायु (अन्तरिक्षस्य) मध्य लोक का (अधिपतिः)
अधिष्ठाता है, (सः) वह...म० १ ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य वायु संचार का यथावत् गुण जानकर उत्तम कामों
में सदा प्रवृत्त रहें ॥८॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां
पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यांमस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥९॥

भाषार्थः—(सूर्यः) सूर्य (चक्षुषाम्) नेत्रों का (अधिपतिः) बड़ा रक्षक है,
(सः) वह...म० १ ॥९॥

भाषार्थः—सूर्य से प्रकाश द्वारा सब मनुष्य दर्शन शक्ति पाते हैं, मनुष्य
अपनी दृष्टि को उत्तम कर्मों के देखने के लिये सदा स्थिर रखें ॥९॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्म-
ण्यस्यां पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यांमस्यामाकूत्यामस्यामा-
शिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥१०॥

भाषार्थः—(चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला चन्द्र (नक्षत्राणाम्) चलने वाले
अश्विनी आदि नक्षत्रों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः) वह...म० १ ॥१०॥

भाषार्थः—चन्द्रमा अश्विनी आदि नक्षत्रों का स्वामी होकर शुक्ल-
पक्ष कृष्ण पक्ष आदि काल बनाता है और अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट
करता है, उस चन्द्रमा के गुण जान कर मनुष्य सदा आनन्द भोगें ॥१०॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां
पुरोधायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यांमस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥११॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) विजुली (दिवः) व्यवहार का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः) वह...म० १ ॥११॥

भावार्थः—सब पदार्थों में विजुली के कारण चेष्टा होकर व्यवहार की सिद्धि होती है, मनुष्य उसके गुण जान कर यथावत् उपकार करें ॥११॥

म॒रुतां पि॒ता प॑शूनामधिपतिः स मा॑वतु । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्मण्य॒स्मिन् कर्म॑
ण्यस्यां पु॒रोधाया॑मस्यां प्रति॒ष्ठाया॑मस्यां चि॒त्याम॑स्यामाकू॒त्याम॑स्यामा-
शि॒ष्यस्यां दे॒वहू॑त्यां स्वाहा ॥१२॥

भाषार्थः—(मरुताम्) सुवर्ण आदि धनों का (पिता) पालक (पशूनाम्) सब जीवों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह...म० १ ॥१२॥

भावार्थः—मनुष्य सुवर्ण आदि धनकी रक्षा करके परस्पर उन्नति करें ॥१२॥

मृ॒त्युः प्र॒जाना॑मधिपतिः स मा॑वतु । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्मण्य॒स्मिन् कर्म॑ण्यस्यां
पु॒रोधाया॑मस्यां प्रति॒ष्ठाया॑मस्यां चि॒त्याम॑स्यामाकू॒त्याम॑स्यामाशि॒ष्यस्यां
दे॒वहू॑त्यां स्वाहा ॥१३॥

भाषार्थः—(मृत्युः) मृत्यु (प्रजानाम्) उत्पन्न प्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः) वह...म० १ ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्य मृत्यु की प्रचलता पर ध्यान देकर सब शुभ काम शीघ्र सिद्ध करें ॥१३॥

य॒मः पि॒तॄणा॑मधिपतिः स मा॑वतु । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्मण्य॒स्मिन् कर्म॑-
ण्यस्यां पु॒रोधाया॑मस्यां प्रति॒ष्ठाया॑मस्यां चि॒त्याम॑स्यामाकू॒त्याम॑स्यामा-
शि॒ष्यस्यां दे॒वहू॑त्यां स्वाहा ॥१४॥

भाषार्थः—(यमः) नियम (पितॄणाम्) रक्षक पुरुषों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है । (सः) वह (भा) मुझे (अवतु) बवावे...म० १ ॥१४॥

भावार्थः—मनुष्य नियमपूर्वक रक्षा करके यथावत् लाभ उठावे ॥१४॥
पितॄः परे ते मावन्तु । अ॒स्मिन् ब्र॒ह्मण्य॒स्मिन् कर्म॑ण्यस्यां पु॒रोधाया॑-

मस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिव्यस्यां देवहृत्यां
स्वाहा ॥१५॥

भाषार्थः—(परे) पूर्व काल में वर्तमान (ते) वे (पितरः) रक्षक लोग (मा) मुझे (अवन्तु) वचावें... म० १ ॥१५॥

भावार्थः—मनुष्य प्रसिद्ध पूर्वज महात्माओं का अनुकरण करके सदा वृद्धि करें ॥१५॥

तता अवरे ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरो-
धायांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिव्यस्यां
देवहृत्यां स्वाहा ॥१६॥

भाषार्थः—(अवरे) पिछले काल में वर्तमान (ते) वे (तताः=ताताः) विस्तार करने वाले पूज्य पुरुष (मा) मुझे (अवन्तु) वचावें... म० १ ॥१६॥

भावार्थः—मनुष्य वर्तमान काल के महापुरुषों के समान कार्य सिद्ध करके सदा उन्नति करें ॥१६॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु । अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधा-
यांमस्यां प्रतिष्ठायांमस्यां चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामाशिव्यस्यां देव-
हृत्यां स्वाहा ॥१७॥

भाषार्थः—(ततः) और भी (ते) वे (ततामहाः=तातामहाः) पूजनीयों के पूजनीय पुरुष (मा) मुझे (अवन्तु) वचावें (अस्मिन्) इस (ब्रह्मणि) वेद ज्ञान में, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्तव्य व्रत में, (अस्याम् पुरोधायाम्) इस पुरोहित पदवी में, (अस्याम् प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा वा सत्किया में, (अस्याम् चित्याम्) इस चेतना में, (अस्याम् आकृत्याम्) इस संकल्प वा उत्साह में, (अस्याम् आशिवि) इस अनुशासन में, और (अस्याम् देवहृत्याम्) इन विद्वानों के तुलावे में, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥१७॥

भावार्थः—मनुष्य बड़ों से बड़े विद्वान्, योगी, शूर वीरों के आचरणों पर पूर्ण ध्यान देकर सदा शुभ कर्म करके परस्पर प्रीति और उन्नति करें ॥१७॥

सूक्तम् ॥२५॥

१—१३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेशः—गर्भाधान का उपदेशः ॥

पर्वताद् दिवो योने रज्जादङ्गात् समाभूतम् ।

शेषो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥१॥

भाषार्थः—(रेतोधाः) वीर्यं वा पराक्रम का रखने वाला पुरुष (पर्वतात्) पर्वत से [पर्वत आदि की ओषधियों से], (दिवः) आकाश के (योनेः) गर्भ आशय से [आकाशस्थ मेघ, वायु, प्रकाश आदि से] और (अङ्गात्—अङ्गात्) अपने अङ्ग से (समाभूतम्) एकत्र किया हुआ (गर्भस्य) स्तुतियोग्य सन्तान के (शेषः) उत्पन्न करने के सामर्थ्य को (आ) यथावत् (दधत्) स्थापित करे, (पर्णम् इव) जैसे पंख को (सरौ) तीर में [लगाने हैं] ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य और औषधों के परीक्षण और सेवन से ढढ़ाङ्ग रह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके उत्तम बलवान् सन्तान उत्पन्न करे ॥१॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।

एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) सब जीवों का (गर्भम्) गर्भ (आदधे) धारण किया है । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भम्) गर्भ (आ) यथावत् (दधामि) स्थापित करता हूँ, (तस्मै) उस [गर्भ] के लिये (अवसे) रक्षा करने को (त्वाम्) तुझे (हुवे) मैं बुलाता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—जैसे यह विशाल पृथिवी मेघ से गर्भ धारण करके अमूल्य रत्न उत्पन्न करती है, वैसे ही विशाल स्वभाव वाली पत्नी अपने पराक्रमी पति के संयोग से विद्वान् सन्तान उत्पन्न करे ॥२॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।

गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥३॥

भाषार्थः—(सिनीवालि) हे अन्नवाली पत्नी ! (गर्भम्) स्तुति योग्य गर्भ (धेहि) धारण कर, (सरस्वति) हे उत्तम ज्ञान वाली ! (गर्भम्) गर्भ (धेहि) धारण

कर । (दुष्करस्याजा) पुष्टि देने वाले (उभा) दोनों (अश्विना) दिन और रात (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ के बालक को (आ) अच्छे प्रकार (धत्ताम्) पुष्ट करें ॥३॥

भावार्थः—विज्ञानवती स्त्री गर्भ धारण करके आहार विहार आदि का ऐसा प्रवन्ध करे जिससे गर्भस्थ बालक दिन रात पुष्ट होता रहे ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १८४ । म० २ । और स्वामी दयानन्द कृत संस्कार विधि—गर्भाधान प्रकरण में भी है ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।

गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥४॥

भावार्थः—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को [आधत्ताम्—अच्छे प्रकार पुष्ट करें—म० ३] । (देवः) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का रक्षक सूर्य (गर्भम्) गर्भ को, (इन्द्रः) बिजुली (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (च) और (धाता) धारण करने वाला (अग्निः) और अग्नि (च) भी (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) पुष्ट करे ॥४॥

भावार्थः—प्रयत्न किया जावे कि द्वास प्रस्वास, सूर्य, शारीरिक बिजुली अग्नि, आदि पदार्थ गर्भवती स्त्री के गर्भ को यथावत् पुष्ट करें ॥४॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिशतु ।

आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥५॥

भावार्थः—(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (योनिम्) गर्भाशय को (कल्पयतु) समर्थ करे, और वही (त्वष्टा) विश्वकर्मा ईश्वर [गर्भ के] (रूपाणि) आकारों को (पिशतु) जोड़ जोड़ बनावे । (धाता) सर्व पोषक (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमात्मा (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (आ) सब प्रकार (सिञ्चतु) सींचे और (दधातु) पुष्ट करे ॥५॥

भावार्थः—समर्थ गर्भवती स्त्री परमेश्वर के उत्तम गुणों का स्मरण करती हुई गुणी महात्माओं का ध्यान करके गर्भ की रक्षा करे, जिससे बालक रूपवान् गुणी महात्मा उत्पन्न हो ॥५॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । सू० १८४ । म० १ । और स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि—गर्भाधान प्रकरण में भी है ॥

यद् वेद् राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।

यदिन्द्रो वृत्रहा वेद् तद् गर्भकरणं पिब ॥६॥

भाषार्थः—(यत्) जो औषध (राजा राजा (वरुणः) वरुणयोग्य पति (वेद) जानता है, (वा) और (यत्) जो (देवी) दिव्य गुण वाली, (सरस्वती) विज्ञानवती पत्नी [जानती है] और (यत्) जो (वृत्रहा) शत्रु वा रोग नाशक (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला वेद (वेद) जानता है, (तत्) वह (गर्भकरणम्) गर्भजनक औषध (पिब) पान कर ॥६॥

भावार्थः—विद्वान् पति और विदुषी पत्नी चतुर बंध की सम्मति से उचित आहार विहार करके गर्भरक्षा में तत्पर रहें ॥६॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥७॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! तू (ओषधीनाम्) सोम लता, अन्न, आदि ओषधियों का (गर्भः) स्तुति योग्य आश्रय, (वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के पदार्थों का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) पञ्च भूत का (गर्भः) आधार (असि) है, (सः) सो तू (इह) इसमें (गर्भम्) गर्भ शक्ति (धा) अच्छे प्रकार (धाः—धेयाः) धारण कर ॥७॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर सब उत्तम पदार्थों को अपने में धारण करता है वैसे ही समय पराक्रमी स्त्री पुरुष उत्तम सन्तान का कारण पराक्रम, विद्या आदि अपने में रखके गर्भाधान करें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १२ । म० ३७ ॥

अधिं स्कन्द वीरयस्व गर्भपा धेहि योन्याम् ।

वृषांसि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥८॥

भाषार्थः—(अधि स्कन्द) उठकर खड़ा हो, (वीरयस्व) वीरता कर, और (योन्याम्) गर्भ आश्रय में (गर्भम्) सन्तान जनक सामर्थ्य (धा) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर । (वृष्ण्यावन्) हे वीर्यवान् पुरुष ! तू (वृषा) ओजस्वी (असि) है, (प्रजायै) सन्तान के लिये (त्वा) तुझे (आ नयामसि) हम समीप लाते हैं ॥८॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुष पराक्रमपूर्वक धन आदि प्राप्त करके गृह-स्थोश्रम में प्रवेश करे जिस से सन्तान की दथावत् रक्षा होवे ॥८॥

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।

अदृष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥९॥

भाषार्थः—(बार्हत्सामे) हे अत्यन्त करके प्रिय कर्म वा सामवेद जानने वाली पत्नी ! तू (वि) विशेष करके (जिहीष्व) उद्योग कर, (गर्भः) सन्तानजनक सामर्थ्य (ते) तेरे (योनिम्) गर्भ आशय में (आ शयाम्=शेताम्) प्राप्त हो । (सोमपाः) अमृत पान करने वाले (देवाः) उत्तम गुणों ने (उभयाविनम्) दोनों [माता पिता] की रक्षा करने वाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (अदुः) दिया है ॥९॥

भावार्थः—बलवती गुणवती स्त्री प्रयत्नपूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करे ॥९॥

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे भासि सूतवे ॥१०॥

भाषार्थः—(धातः) हे पोषक परमात्मा ! (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूप के साथ (अस्याः) इस (नार्याः) नारी की (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (दशमे) दसवें (भासि) महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने को (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर ॥१०॥

भावार्थः—विदुषी पत्नी परमेश्वर के गुणों का विचार करती हुई उत्तम गुण स्वभाव वाला सन्तान गर्भ के पूरे दिनों में उत्पन्न करे ॥१०॥

यही भाव मन्त्र १३ तक जानो ॥

त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे भासि सूतवे ॥११॥

भाषार्थः—(त्वष्टः) हे विश्वकर्मा परमात्मन् । (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ..... म० १० ॥ ११॥

सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे भासि सूतवे ॥१२॥

भाषार्थः—(सवितः) हे सबके उत्पन्न करने वाले परमेश्वर (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ ..म० १० ॥ १२॥

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यौ गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥१३॥

भाषार्थः—(प्रजापते) हे सृष्टिपालक जगदीश्वर ! (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूप के साथ (अस्याः) इस (नार्योः) नारी की (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (दशमे) दसवें (मासि) महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने को (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर ॥१३॥

सूक्तम् २६ ॥

१—१२ ॥ विद्वान् देवता ॥ १—८, १०, ११ विराट्, ६, १२ जगती ॥

समाजवृद्धिकरणोपदेशः—समाज की वृद्धि करने का उपदेश ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वौ युनक्तु ॥१॥

भाषार्थः—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान् (अग्निः) तेजस्वी पुरुष (इह) यहाँ (यज्ञे) संगति में (यजूंषि) पूजनीय कर्मों और (समिधः) विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को (वः) तुम्हारे लिये (स्वाहा) उत्तम वाणी से (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष संसार में उत्तम कर्मों और विद्याओं को फैलावे ॥१॥

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(महिषः) महान्, (देवः) व्यवहारकुशल (प्रजानन्) बड़ा ज्ञानी (सविता) प्रेरक पुरुष (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से [पूजनीय कर्मों और विद्या आदि प्रकाश क्रियाओं को—म० १] (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥२॥

भाषार्थः—बली विद्वान् पुरुष सभा आदि करके उत्तम कर्मों का प्रचार करें ॥२॥

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान्, (सुयुजः) सुयोग्य (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष (उक्थामदानि) शास्त्रों और सुखों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्या प्राप्त करके वेदादि शास्त्रों का प्रचार करे ॥३॥

प्रेषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः । ४॥

भाषार्थः—(पत्नीभिः) पालन शील शक्तियों से (युक्ताः) युक्त (शिष्टाः) हे शिष्ट पुरुषो ! (प्रेषाः) भेजने योग्य (निविदः) निश्चित विद्याओं को (इह) यहां (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (वहत) लाओ ॥४॥

भाषार्थः—धीर सुशिक्षित पुरुष अन्न आदि दान करके वेद आदि सत्य विद्याओं का प्रचार करें ॥४॥

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः । ५॥

भाषार्थः—(युक्ताः) हे योग्य (मरुतः) शूर पुरुषो ! (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (इह) यहां (यज्ञे) परस्पर मिलाप में (छन्दांसि) आनन्द बढ़ाने वाले कर्मों को [इस प्रकार] (पिपृत) पालो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान को ॥५॥

भाषार्थः—पराक्रमी विजयी महात्मा परोपकार करने में अपने सामर्थ्य भर प्रयत्न करें ॥५॥

एयमंगन वर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा । ६॥

भाषार्थः—(इयम्) यह (अदितिः) अलण्ड नीति (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (वर्हिषा) उद्यम से और (प्रोक्षणीभिः) अच्छी अच्छी वृद्धियों से (यज्ञम्) आपस में मिलाप (तन्वाना) फैलाती हुई (आ अगन्) आई है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद विद्या को पुरुषार्थ पूर्वक विचार कर परस्पर उन्नति करें ॥६॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा । ७॥

भाषार्थः—(सुयुजः) सुयोग्य (विष्णुः) कामों में व्यापक पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (तपांसि) अपनी विभूतियों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥७॥

भाषार्थः—चतुर पुरुषार्थी पुरुष दूसरों की उन्नति करने में अपनी उन्नति करें ॥७॥

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा । ८॥

भाषार्थः—(सुयुजः) सुयोग्य (त्वष्टा) सुकर्मदर्शी पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी

से (बहुधा) अनेक प्रकार (नु) शीघ्र (रूपाः) अनेक रूप वाली क्रियाओं को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) प्रयुक्त करे ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य अनेक प्रकार से क्रियाकुशल होकर परस्पर उन्नति करें ॥८॥

मगो॑ युनक्त्वा॒ शिषो॑ न्वं १ स्मा॒ अस्मिन्॒ यज्ञे॑ प्र॒विद्वान्

युनक्तु॑ सुयुजः॒ स्वाहा॑ ॥९॥

भाषार्थः—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान्, (सुयुजः) सुयोग्य, (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (आशिवः) अपनी इष्ट प्रार्थनाओं को (नु) शीघ्र (अस्मिन्) इस [संसार के हित] के लिये (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (युनक्तु) लगावे, (युनक्तु) लगावे ॥९॥

भावार्थः—मनुष्य निरन्तर प्रयत्न करके संसार की भलाई में सदा लगा रहे ॥९॥

सोमो॑ युनक्तु॒ बहुधा॑ पया॑स्यस्मिन्॒ यज्ञे॑ सुयुजः॒ स्वाहा॑ ॥१०॥

भाषार्थः—(सुयुजः) बड़ा योग्य (सोमः) शान्त स्वभाव पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (पयांसि) अन्नों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य विद्या आदि प्रचार में अन्न दान करके अपनी योग्यता बढ़ावे ॥१०॥

इन्द्रो॑ युनक्तु॒ बहुधा॑ वीर्या॑भ्यस्मिन्॒ यज्ञे॑ सुयुजः॒ स्वाहा॑ ॥११॥

भाषार्थः—(सुयुजः) सुयोग्य (इन्द्रः) प्रतापी पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (वीर्याणि) अनेक वीर कर्मों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥११॥

भावार्थः—विद्वान् उत्साही पुरुष समाज की उन्नति में सदा प्रयत्न करता रहे ॥११॥

अश्वि॑ना ब्रह्म॒णा या॑तम॒र्वाश्ची॑ वषट्कारेण॑ य॒ज्ञं वर्ध॑यन्तौ । बृह॑स्पते॒ ब्रह्म॒णा या॑ह॒र्वाद् य॒ज्ञो अ॒यं स्व॑रि॒दं यज॑मानाय॒ स्वाहा॑ ॥१२॥

भाषार्थः—(अश्विना) हे कर्मकुशल स्त्री पुरुषो ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से, और (वषट्कारेण) दान कर्म से (यज्ञम्) समाज को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुए

(अर्वाङ्चो) सन्मुख होते हुए (आयातम्) तुम दोनों आओ । (बृहस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमात्मन् ! (ब्रह्मणा) वृद्धि साधन के साथ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आ याहि) तू आ (अयम्) यह (यज्ञः) समाज (यजमानाय) संगतिशील पुरुष के लिये (इदम्) ऐश्वर्य देने वाला (स्वः) सुख होवे, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी है ॥१२॥

भावार्थः—विद्वान् स्त्री पुरुष वेदज्ञान से समाज की उन्नति करते हुए आगे बढ़ें, और परमेश्वर को साक्षी और सहायक जानकर सदा सुखी रहें ॥१२॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २७ ॥

१-१२ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १ आस्तारपङ्क्तिः, २, ७ द्विपदानुष्टुप्, ३, १२ उष्णिक्, ४, ६ द्विपदा विराट्, ८ प्रस्तारपङ्क्तिः, ९ अतिजगती, १०, ११ पदपङ्क्तिः ॥

पुरुषार्थोपदेशः - पुरुषार्थ का उपदेश ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोर्चीष्यग्नेः ।

द्युमत्तमा सुप्रतीकः समृन्तूस्तनूनपादसूरो भूरिपाणिः ॥१॥

भावार्थः—(अस्य) उस (अग्नेः) विद्वान् पुरुष की (समिधः) विद्या आदि प्रकाश क्रियायें (ऊर्ध्वाः) ऊँची, और (शुक्रा) अनेक वीर कर्म और (शोर्चीषि) तेज (ऊर्ध्वा) ऊँचे (भवन्ति) होते हैं [जो विद्वान्] (द्युमत्तमा) अतिशय प्रकाश वाला, (सुप्रतीकः) बड़ी प्रतीति वाला (समृन्तुः) प्रेरक अर्थात् प्रधान पुरुषों के साथ वर्त्तमान (तनूनपात्) विस्तृत पदार्थों का न गिराने वाला (असुरः) बड़ी बुद्धि वाला, और (भूरिपाणिः) बहुत व्यवहारों में हाथ रखने वाला होता है ॥१॥

भावार्थः—जो विद्वान् मनुष्य महागुणी और बहुक्रियाकुशल होता है, वह संसार में उन्नति करता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से यजुर्वेद में है - अ० २७ । म० ११—२२ ॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥२॥

भावार्थः—(देवेषु) व्यवहारकुशल लोगों के बीच (देवः) व्यवहार कुशल और (देवः) विजय चाहने वाला पुरुष (मध्वा) ज्ञान से और (घृतेन) प्रकाश से (पथः) मार्गों को (अनक्ति) खोलता है ॥२॥

भावार्थः—विद्वानों में महा विद्वान् सत्यप्रतिज्ञावाला पुरुष संसार में सन्मार्ग का प्रचार करता है ॥२॥

मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्

देव सविता विश्ववारः ॥३॥

भावार्थः—(नराशंसः) मनुष्यों में प्रशंसा वाला, (सुकृद्) उत्तम कर्म करने-वाला (देवः) व्यवहार में चतुर, (सविता) ऐश्वर्यवाला (विश्ववारः) सबसे अङ्गीकार करने योग्य (अग्निः) विद्वान् पुरुष (मध्वा) ज्ञान से (यज्ञम्) समाज को (प्रैणानः) आगे बढ़ाता हुआ (नक्षति) चलता है ॥३॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य विद्या बल से संसार की उन्नति करता है ॥३॥

(प्रैणानः) पदके स्थान पर यजुर्वेद । २७ । १३ । में [प्रैणानः] है ॥

अच्छायमेति शर्वसा घृता चिदीढानो वह्निर्नमसा ॥४॥

भावार्थः—(अयम्) यह [शुभ गुणों की] (ईढानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) निर्वाह करने वाला पुरुष (चित्) ही (शर्वसा) बल, (घृता) जल और (नमसा) अन्न के साथ (अच्छे) अच्छे प्रकार (एति) चलता है ॥४॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुष सब का बल और धन बढ़ाता हुआ कीर्ति पाता है ॥४॥

(घृता) के स्थान पर यजुर्वेद, २७ । १४ में [घृतेन] है ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयश्रु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥५॥

भावार्थः—(सः) वह (अग्निः) विद्वान् पुरुष (अध्वरेषु) सन्मार्ग वाले

(प्रयक्षु) बड़े यज्ञों वा समाजों में (अस्थ) इस (अग्नेः) सर्वव्यापक परमेश्वर की (अचुचः) गति की (महिमानम्) महिमा को (यक्षत्) पूजे ॥१५॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष संसार में परमात्मा की विचित्र गति को जान कर पुरुषार्थ करता है ॥१५॥

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसंवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥१६॥

भाषार्थः—(मन्द्रासु) आनन्द क्रियाओं में और (प्रयक्षु) बड़े समाजों में (तरी) तारने वाला विद्वान् (च) और (वसुधातरः) अधिक धनों का धारण करने वाला पुरुष (च) और (वसवः) उत्तम उत्तम गुणी लोग (अतिष्ठन्) स्थित हुए हैं ॥१६॥

भाषार्थः—उद्योगी प्रधान होने से समाज के सब संभ्य गुणी और धनी होते हैं ॥१६॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥१७॥

भाषार्थः—(विश्वे) सब [उत्तम गुण] (अस्थ) इसके (व्रतम्) व्रत की और (देवीः) प्रकाश वाले (द्वारः) घरके द्वारों की (विश्वहा—विश्वधा) अनेक प्रकार (अनु) अनुकूल रीति से (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं ॥१७॥

भाषार्थः—विद्वान् के उत्तम गुण ही उनके नियमों और घर आदि की रक्षा करते हैं ॥१७॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने । आ सुष्वयन्ती यजते

उपाके उवासानक्तेमं यज्ञमेवतामध्वरं नः ॥१८॥

भाषार्थः—(अग्नेः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (उरु-व्यचसा) दूर दूर तक व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) ऐश्वर्य करती हुई, (सुष्वयन्ती—सुसु अयन्त्यौ) अति सुन्दरता से चलती हुई, (यजते) संगति योग्य, (उपाके) पास पास रहने वाली (उवासानक्ता) रात और प्रभाव बेलायें [दिन और रात] (नः) हमारे (इमम्) हम (अध्वरम्) सम्मार्ग वाले (यज्ञम्) समाज को (आ अवताम्) आती रहें ॥१८॥

भाषार्थः—मनुष्य घर्ममार्ग में चलकर दिन रात उन्नति करते रहें ॥१८॥

मन्त्र का मिलान अ० ५ । १० । ६ से करो ॥

दै॒वा होता॑र ऊ॒र्ध्वम॑ध्व॒रं नो॒ऽग्नेर्जिह्वा॒याभि॑ गृ॒णत॑ गृ॒णतां॑ नः॒ स्वि॑ष्टये ।
ति॒स्रो दे॒वीर्व॑हि॒रेदं॑ स॒दन्ता॑मि॒डा सर॑स्वती म॒धी भा॑र॒ती गृ॒णाना॑ ॥९॥

भाषार्थः—(दै॒वाः) विद्वानों में रहने वाले विद्वान् (होता॑रः) हे दानशील पुरुषो ! (नः) हमारे (ऊ॒र्ध्वम्) ऊँचे (अध्व॒रम्) अकुटिल व्यवहार को (अग्नेः) [शारीरिक और बाह्य] तेज की (जिह्वा॒या) जयसे (नः) हमारे (स्वि॑ष्टये) अच्छे समागम के लिए (अभि॑) अच्छे प्रकार (गृ॒णत) वरानं करो और (गृ॒णत) वरानं करो । (ति॒स्रः) तीनों (दे॒वीः) देवियां (म॒हती) विशाल गुरु वाली (गृ॒णाना) उपदेश करती हुई (इ॒डा) स्तुति योग्य नीति, (सर॑स्वती) विज्ञानवती बुद्धि और (भा॒रती) पोषण करने वाली विद्या (इ॒दम्) इस (व॑हिः) बड़े हुए कर्म में (आ स॒दन्ताम्) आरवें ॥९॥

भाषार्थः—सब विद्वान् मनुष्य उत्तम उत्तम नीति, बुद्धि और अनेक व्यावहारिक विद्यायें प्राप्त करके परस्पर वृद्धि करें ॥९॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ५ । १२ । ८ के साथ करो ।

तन्न॑स्तुरी॒पम॑द्भु॒तं पु॒रु॒क्षु ।

दे॒वं त्व॑ष्टा रा॒यस्पोषं॑ वि॒ध्य नाभि॑म॒स्य ॥१०॥

भाषार्थः—(दे॒व) हे व्यवहार में चतुर (त्व॑ष्टः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष ! (नः) हमारे लिए (तत्) वह (तुरी॒पम्) शीघ्र रक्षा करने वाला, (अद्भु॒तम्) अद्भुत, (पु॒रु॒क्षु) बहुत अन्न और (रा॒यः) धन की (पोष॑म्) पुष्टि (अ॒स्य) इस [धर] के (नाभि॑म्) मध्यदेश में (वि॒ध्य) खोल दे ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक पुष्कल अन्न और धन से घरों को परिपूर्ण करके यथावत् पोषण करें ॥१०॥

वन॑स्पते॒ ऽवं सृ॒जा ररा॑णः ।

त्मना॑ दे॒वेभ्यो॑ अ॒ग्निर्ह॑व्यं अ॒भि॒ता स्व॑दयतु ॥११॥

भाषार्थः—(वन॑स्पते) हे सेवनीय शास्त्र के रक्षक (ररा॑णः) दागशील तु (अ॒व सृ॒ज) दान कर । (अ॒भि॒ता) शान्ति करने वाला (अ॒ग्निः) विद्वान् पुरुष (त्म॑ना) आत्मबल से (दे॒वेभ्यः) विद्वानों के लिए (ह॑व्यम्) ग्राह्यपदार्थ अन्न आदि को (स्व॑दयतु) स्वादु बनावे ॥११॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष विद्वानों का सत्कार करके विद्या आदि उत्तम गुणों को वृद्धि करे ॥११॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः ।

इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥१२॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिये (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (कृणुहि) कर । (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (इदम्) इस (हविः) ग्राह्य उत्तम वस्तु को (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥१२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करके ऐश्वर्य के लिये उत्तम कर्म सदा करे ॥१२॥

सूक्तम् ॥२८॥

१—१४ ॥ प्रजापतिर्वेता ॥ १-६, ८, ११, १४ त्रिष्टुप्; ७, ९, १० अनुष्टुप्; १२, १३ पुरुषिणक् ॥

रक्षश्वयोपदेशः—रक्षा और ऐश्वर्य का उपदेश ॥

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।

हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्टितानि ॥१॥

भाषार्थः—वह [परमेश्वर] (नव) नौ (प्राणान्) जीवन शक्तियों को (नवभिः) नौ [इन्द्रियों] के साथ (शतशारदाय) सौ शब्द ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (संमिमीते) यथावत् मिलाता है । [जसी करके] (हरिते) दरिद्रता हरने वाले पुरुषार्थ में (त्रीणि) तीनों, (रजते) प्रिय होने वाले प्रबन्ध [वा रूप्य] में (त्रीणि) तीनों, और (अयसि) प्राप्त योग्य कर्म [वा सुवर्ण] में (त्रीणि) तीनों [मुख] (तपसा) सामर्थ्य से (आविष्टितानि) स्थित किये गये हैं ॥१॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा ने नवद्वारपुर शरीर में दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों नथनों, मुख, पायु और उपस्थ, नव इन्द्रियों में नव शक्तियाँ रखी हैं उसी जगदीश्वर ने बताया है कि मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से चांदी सोना एकत्र करके तीन सुख अर्थात् अन्न, मनुष्य और पशुओं को बढ़ावे—मन्त्र ३ देखो ॥१॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।

आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥२॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (भूमिः) भूमि, (आपः) जल, (द्यौः) आकाश, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक, (दिशः) दिशायाँ, (प्रदिशः) विदिशायाँ (च) और (ऋतुभिः) ऋतुओं से (संविदानाः) मिले हुए (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग (अनेन) इस (त्रिवृता) त्रिवृति [तीन जीवन साधन म० १] से (मा) मुझे (पारयन्तु) पूर्ण करें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार, उत्तम पुरुषार्थ आदि [म० १] तीन साधनों से आत्मबल बढ़ावे ॥२॥

त्रयः पोषास्त्रिवृतिं श्रयन्तामनक्तुं पूषा पर्यसा घृतेन ।

अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥३॥

भाषार्थः—(त्रयः) तीन (पोषाः) पोषण सामर्थ्य (त्रिवृति) त्रिवृति [तीन जीवन साधन म० १] में (श्रयन्ताम्) बनी रहें । (पूषा) पोषण करने वाला अधिकारी (पर्यसा) दूध और (घृतेन) घृत से (अनक्तुं) संयुक्त करे । (अन्नस्य) अन्न की (भूमा) बहुतायत, (पुरुषस्य) पुरुषों की (भूमा) बहुतायत और (पशूनाम्) पशुओं की (भूमा) बहुतायत (ते) यह सब (इह) यहाँ पर (श्रयन्ताम्) टहरी रहें ॥३॥

भाषार्थः—सब मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से [म० १] अन्न, पुरुषों और पशुओं का योग्य संग्रह करके सुख भोगें ॥३॥

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।

रूपमिन्द्र संसृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु ॥४॥

भाषार्थः—(आदित्याः) हे तेजस्वी पुरुषो ! (इमम्) इस पुरुष को (वसुना) धन से (सम्, अच्छे प्रकार (उक्षते) सींचो, (अग्ने, हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (वावृधानः) बढ़ता हुआ तू (इमम्) पुरुष को (वर्धय) बढ़ा, (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (वीर्येण) वीरता से (संसृज) संयुक्त कर । (अस्मिन्) इस पुरुष में (पोषयिष्णु) पुष्टि देने वाली (त्रिवृत्) त्रिवृति [म० १] (श्रयताम्) टहरी रहे ॥४॥

भाषार्थः—विद्वान् जन उपदेश करें कि सब मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ,

उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से अन्न पुरुष और पशुओं को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥४॥

भूमिंश्चा पातु हरितेन विश्वभृद्ग्नः पिपत्स्वयंसा सजोषाः ।

वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥५॥

भाषार्थः—(विश्वभृत्) सबको धारण करने वाली (भूमिः) भूमि (हरितेन) दरिद्रता हरने वाले पुरुषार्थ से (स्वा) तुम्हें (पातु) पाले, (सजोषाः) प्रीतियुक्त (अग्निः) अग्नि (अयसा) प्राप्ति योग्य कर्म से (पिपत्स्व) पूर्ण करे। (वीरुद्भिः) उगती हुई लता रूप प्रजाओं से (संविदानम्) मिला हुआ (ते) तेरा (अर्जुनम्) अर्थसंग्रह (सुमनस्यमानम्) मन का शुभ करने वाला (दक्षम्) बल (दधातु) धारण करे ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य भूमि, अग्नि आदि पदार्थों के व्यवहार से पुरुषार्थ के साथ उत्तम गुणों का संग्रह करके अपना बल बढ़ावें ॥५॥

वैधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् । अपामेकं वैधसां रेतं आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥६॥

भाषार्थः—(वैधम्) यह प्रसिद्ध (हिरण्यम्) कमनीय तेज [ब्रह्म] (वैधा) तीन प्रकार से (जन्मना) जन्म से (जातम्) उत्पन्न हुआ, (एकम्) एक (अग्नेः) अग्नि का (प्रियतमम्) अति प्रीति वाला (बभूव) हुआ, (एकम्) एक (हिंसितस्य) पीड़ित (सोमस्य) चन्द्रमा का (प्रियतमं) अतिप्रिय होकर (परा अपतत्) [सूर्य से] आकर गिरा। (एकम्) एक को (वैधसाम्) विधान करने वाली (अपाम्) जल धाराओं का (रेतः) बीज (आहुः) वे कहते हैं। (तत्) वह (हिरण्यम्) तेजःस्वरूप ब्रह्म (ते) तेरी (आयुषे) आयु के लिये (त्रिवृत्) त्रिवृत्ति [तीनों जीवन साधन] (अस्तु) होवे ॥६॥

भावार्थः—परम त्मा का तेज तीन प्रकार से प्रकट होता है, १—भौतिक अग्नि में जो पृथिवी के पदार्थों को पकाता है, २—ग्रन्थकार युक्त चन्द्रमा में जो सूर्य से प्रकाशित होता है, ३—सूर्य में, जो जल को खींचकर मेघमण्डल से बरसाता है। मनुष्य उस तेजोमय परमेश्वर का नित्य ध्यान करके उत्तम पुरुषार्थ आदि त्रिवृत्ति [म० १] को बढ़ावें ॥६॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

त्रेधामृतस्य चक्षुषं त्रीण्यायुषि तेऽकरम् ॥७॥

भाषार्थः—(जमदग्नेः) प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष के [अथवा, नेत्र अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों के] (त्र्यायुषम्) तीन जीवन साधन म० १ [अथवा, शुद्धि, बल और पराक्रमयुक्त तीन गुण आयु], और (कश्यपस्य) तत्त्वदर्शी ऋषि के [अथवा, ईश्वर की व्यवस्था से सिद्ध] (त्र्यायुषम्, बालकपन, यौवन और बुढ़ापा, तीन प्रकार की आयु [अथवा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों का सुखकारक तीन गुण आयु], (त्रेधाः) तीन प्रकार से [अर्थात् विद्या, शिक्षा और परोपकार सहित तीन गुण आयु से] (अमृतस्य) अमरपन वा मोक्ष का (चक्षुषम्) दर्शक होवे । [हे पुरुषार्थी ! वे ही] (त्रीणि) तीन (आयुषि) जीवन साधन (ते) तेरे लिये (अकरम्) मीने किये हैं ॥७॥

भाषार्थः—प्रतापी, दूरदर्शी मनुष्य तीन जीवन साधन अर्थात् पुरुषार्थ, प्रबन्ध और कर्म को [म० १], तथा शारीरिक और आत्मिक बल से तीन पदार्थ अर्थात् अन्न, पुरुष और गो आदि पशुओं को [म० ३] प्राप्त करके परोपकार करते हुए सदा सुखी रहें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ म० ६२। कोष्ठ के भीतर महर्षि दयानन्द के भाष्य का अर्थ है, उनका मत है—उस मन्त्र में [त्र्यायुषम्] चार बार होने से यह तात्पर्य है कि विद्वान् पुरुष त्रिमूर्ती अर्थात् तीन सौ वर्ष से अधिक चार सौ वर्ष पर्यन्त भी आयु भोग सकता है ॥

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।

प्रत्यूहन्मृत्युपमृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विशन्ति ॥८॥

भाषार्थः (त्रयः) तीन (शक्राः) समर्थ (सुपर्णाः) बड़े पोषक पदार्थ (त्रिवृता, त्रिवृत्ति [तीन जीवन साधन] के साथ (एकाक्षरम्) एक अविनाशी ब्रह्म को (अभिसंभूय) सब ओर से प्राप्त कर के (यत्) जब (आयन्) प्राप्त हुए । (विशन्) सब (दुरितानि) अनिष्टों को (अन्तर्दधानाः) ढकते हुए उन्होंने (अमृतेन साकम्) मृत्यु से बचने के साधन के साथ [वर्त्तमान होकर] (मृत्युम्) मृत्यु के कारण को [प्रति औहन्] मिटा दिया ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थ आदि [म० १] तीन उपायों से अन्न, पुरुष और पशु द्वारा [म० ३] दरिद्रता आदि बन्धों को हटाकर अपना जीवन सुफल करें ॥८॥

दिवस्त्वां पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।

भूम्यां अयस्मयं पातु प्रागांद् देवपुरा अयम् ॥९॥

भाषार्थः—(हरितम्) दरिद्रता हरने वाला पुरुषार्थ (त्वा) तुभको (दिवः) सूर्य से (पातु) बचावे और (अर्जुनम्) अर्थ संग्रह (मध्यात्) मध्यलोक से (त्वा) तुम्हें (पातु) बचावे । (अयस्मयम्) प्राप्तियोग्य कर्म (भूम्याः) भूमि से (पातु) बचावे । (अयम्) यह पुरुष (देवपुराः) विद्वानों की अग्रगतियों को (प्र) अच्छे प्रकार (अगात्) पहुंचा है ॥९॥

भाषार्थः—जो मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, प्रबन्ध और कर्म करते हैं वे आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक विपत्तियों से बचकर विद्वानों के योग्य सुख भोगते हैं ॥९॥

इमास्तिस्त्रो देवपुरास्तास्त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।

तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥१०॥

भाषार्थः—(इमाः) यह समीपस्थ और (ताः) वे दूरस्थ (तिस्त्रः) तीनों (देवपुराः) विद्वानों की अग्र गतियां (त्वा) तुम्हें (सर्वतः) सब ओर से (रक्षन्तु) बचावें । (ताः) उनको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (त्वम्) तू (वर्चस्वी) तेजस्वी और (द्विषताम्) वैरियों में (उत्तरो) उच्च पदवाला (भव) हो ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य समीप और दूर से पुरुषार्थ आदि [म० १] द्वारा अन्न प्रादि तीनों पदार्थों को [म० ३] धारण करता हुआ दरिद्रता आदि शत्रुओं को दबा कर तेजस्वी हो ॥१०॥

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आवे धे प्रथमो देवो अग्रं ।

तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥११॥

भाषार्थः—(यः) जिस (प्रथमः) प्रख्यात (देवः) प्रकाशमय परमेश्वर ने (अग्रं) पहिले काल में (देवानाम्) विद्वानों के (पुरम्) आगे चलने वाले (अमृतम्) अमर (हिरण्यम्) कमनीय तेज को (आवधे) सब ओर से बांधा था । (तस्मै) उस परमेश्वर को (दश) दस (प्राचीः) फैली हुई दिशाओं में (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूँ । (त्रिवृत्) त्रिवृत्ति [म० १, २] (अनु मन्यताम्) अनुकूल होवे [जिसे] (मे) अपने लिये (आवधे) में बांधता है ॥११॥

भाषार्थः—जो अनादि, तेजीमय परमात्मा विद्वानों का मुक्तिदाता है,

उसी को मनुष्य सब स्थान में साक्षात् करके (त्रिवृत् म० १, २) पुरुषार्थ आदि तीनों गुणों द्वारा आनन्द भोगे ॥११॥

आ त्वां चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः ।

अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वार्तिं चृतामसि ॥१२॥

भाषार्थः—(अर्यमा) अरि अर्थात् हिंसकों का नियामक (आ) और (पूषा) पोषण करने वाला (आ) और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक पुरुष (त्वा) तुम्ह [परमेश्वर] को (आ) अच्छे प्रकार (चृतु) बांधे । [हृदय में रखे] (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम से] (त्वा) तुम्ह को (अति) अत्यन्त करके (चृतामसि=० मः) हम बांधते हैं ॥१२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार विद्वान् मनुष्य परमेश्वर का चिन्तन करते हैं, उसी प्रकार सब प्राणी परमात्मा का ध्यान करें ॥१२॥

ऋतुभिष्ट्वार्तिवैरायुषे वर्चसे त्वा ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्वसि । १३॥

भाषार्थः (ऋतुभिः) ऋतुओं से (त्वा) तुम्ह परमेश्वर को, (आर्तिवैः) ऋतुओं के विभागों से (त्वा) तुम्ह को और (संवत्सरस्य) सब के निवास देने वाले सूर्य के (तेन) उस [तेजसा] तेज से (आयुषे) अपने जीवन के लिये और (वर्चसे) तेज के लिये (संहनु) संयुक्त (कृण्वसि) हम करते हैं ॥१३॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग ऋतु, मास आदि काल और सूर्य आदि रचनाओं के विचार से परमेश्वर की महिमा का साक्षात् करते हैं ॥१३॥

मृनादुल्लुप्तं मधुना समेक्तं भूमिद्वह्मच्युतं पारयिष्णु ।

भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मां रोह महते सौभगाय ॥१४॥

भाषार्थः—(मृतात्) प्रकाश से (उल्लुप्तम्) ऊपर खींचा गया, (मधुना) ज्ञान से (समेक्तम्) अच्छे प्रकार प्रकट किया गया, (भूमिद्वह्म) भूमि को दृढ़ करने वाला, (अच्युतम्) अटल, (पारयिष्णु पार करने वाला, [ब्रह्म] (सपत्नान्) वैरियों को (भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता हुआ (च) और (अधरान्) नीचा (कृण्वत्) करता हुआ तू [ब्रह्म] (मा) मुझ को (महते) बड़े (सौभगाय) गीभाग्य के लिये (आ रोह) ऊँचा कर ॥१४॥

भावार्थः—मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की महिमा जान-
कर अपने विघ्नों का नाश करके सौभाग्य प्राप्त करें ॥१४॥

सूक्तम् ॥२६॥

१—१५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १-११ त्रिष्टुप्: १२-१५ अनुष्टुप् ॥

शत्रूणां रोगाणाञ्च नाशोपदेशः—शत्रुओं और रोगों के नाश का उपदेश ॥

पुरस्ताद् युक्तो बह जातवेदोऽग्नें विद्धि क्रियमाणं ययेदम् ।

त्वं भिषग् भेषजस्यांसि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥१॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (युक्तः) योग्य हो कर तू (पुरस्तात्) हमारे आगे (बह) प्राप्त हो, (यथा) जिस से (इदम्) इस (क्रियमाणम्) किये जाते हुए कर्म को (विद्धि) तू जान ले । (त्यम्) तू (भिषक्) वैद्य (भेषजस्य) औषध का (कर्ता) करने वाला (असि) है । (त्वया) तेरे साथ (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़ा (पुरुषम्) पुरुष को (सनेम) हम सेवन करें ॥१॥

भावार्थः—राजा आदि प्रधान प्रबन्ध करें कि सब मनुष्य गौओं, घोड़ों और पुरुषों से यथावत् उपकार लेवें ॥१॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।

यो नो दिदेव यत् मो जघास यथा सो अस्य परिधिष्यताति ॥२॥

भाषार्थः—(तत्) सो (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (विश्वेभिः) सब (देवैः सह) उत्तम गुणों के साथ (संविदानः) मिलता हुआ तू (तथा) वैसा (कृणुः) कर । (यथा) जिस से (अस्य) उस [शत्रु] का (सः परिधिः) वह परकोटा (पताति) गिर पड़े, (यः) जिस [शत्रु] ने (नः) हमें (दिदेव) सताया है, अथवा (यतमः) जिस किसी ने (जघास) खाया है ॥२॥

भावार्थः—प्रजा के सताने वाले शत्रुओं को राजा यथावत् दण्ड देवे ॥२॥

यथा सो अस्य परिधिष्यताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।

विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (अस्य) उस [शत्रु] का (सः परिधिः) वह परकोटा (पताति) गिर पड़े, (तत्) सो (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने)

विद्वान् पुरुष ! (विश्वेभिः) सब (देवैः सह) उत्तम गुणों के साथ (संविदानः) मिलता हुआ तू (तथा) वीसा (कृणु) कर ॥३॥

भावार्थः—राजा शत्रु से प्रजा की रक्षा करने का उपाय सदा करता रहे ॥३॥

अक्षयौ ३ 'नि विंध्य हृदयं नि विंध्य जिह्वां नि तृन्दि प्र दतो मृणीहि । पिशाचो अस्य यंतमो जघासाग्नें यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥४॥

भावार्थः—(अक्षयौ) उसकी दोनों आँखें (नि विंध्य) छेद डाल, (हृदयम्) हृदय (नि विंध्य) छेद डाल, (जिह्वाम्) जीभ (नि तृन्दि) काट डाल, और (दतः) दांतों को (प्र मृणीहि) तोड़ दे । (यंतमः) जिस किमी (पिशाचः) मांस खाने वाले पिशाच ने (अस्य) इसका (जघास) भक्षण किया है, (यविष्ठ) हे महाबलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (तम्) उसको (प्रति) प्रत्यक्ष (शृणीहि) टुकड़े टुकड़े कर दे ॥४॥

भावार्थः—राजा हिंसक प्राणियों का यथावत् नाश करता रहे ॥४॥

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यंतमत् पिशाचैः । तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥५॥

भावार्थः—(पिशाचैः) पिशाचों करके (अस्य) इसके (आत्मनः) शरीर से (यत्) जो (हृतम्) हरा गया, (विहृतम्) लूटा गया, (यत्) जो (पराभृतम्) हटाया गया, और (यंतमत्) जो कुछ (जग्धम्) खाया गया है । (अग्ने) हे तेजस्वी पुरुष ! (विद्वान्) विद्वान् (त्वम्) तू (तत्) उसको (पुनः) फिर (आ भर) लाकर भर दे, (शरीरे) इसके शरीर में (मांसम्) मांस और (असुम) प्राण को (आ ईरयामः) हम स्थापित करते हैं ॥५॥

भावार्थः—राजा और वैद्य गण दुःखी प्रजागणों को यथावत् सुख पहुँचावे ॥५॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मां पिशाचो अश्ने ददम्भं । तदात्मना प्रजयां पिशाचा वि यातयन्तामगदो ३ 'यमस्तु ॥६॥

भावार्थः—(यः) जिस (पिशाचः) पिशाच समूह ने (आमे) कच्चे (सुपक्वे) अच्छे पक्के, (शबले) चित्तकवरे अथवा (विपक्वे) विविध प्रकार पके हुए (अश्ने) भोजन में (मां) मुझे (ददम्भं) धोखा दिया है । (तत्) उससे (पिशाचाः) वे मांस-

भक्षक (आत्मना) अपने जीव और (प्रजया) प्रजा के साथ (वि) विविध प्रकार (यातयन्ताम्) पीड़ा पावें, और (अयम्) यह पुरुष (अगदः) नीरोग (अस्तु) होवे ॥६॥

भाषार्थः—भोजन आदि में कुवस्तु मिलाने वाले दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा को स्वस्थ रखना चाहिये ॥६॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अंशने धान्ये ३ यः ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो ३ यमस्तु ॥७॥

भाषार्थः—(यतमः) जिस किसी ने (क्षीरे) दूध में अथवा (मन्थे) मट्ठे में, अथवा (यः) जिसने (अकृष्टपच्ये) बिना जुते सेत से उत्पन्न (अंशने) भोजन में, अथवा (धान्ये) यव आदि धान्य में (मा) मुझे (ददम्भ) धोखा दिया है । (तत्) उससे.....म० ६ ॥७॥

भाषार्थः—मन्त्र ६ देखो ॥७॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भं क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो ३ यमस्तु ॥८॥

भाषार्थः—(यतमः) जिस किसी (क्रव्यात्) मांसभक्षक ने (अपाम्) जल के (पाने) पान करने में (यातूनाम्) यात्रियों के (शयने) शयन स्थान में (शयानम्) सोते हुए (मा) मुझ को (ददम्भ) ठगा है । (तत्) उससे.....म० ६ ॥८॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भं क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम् ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो ३ यमस्तु ॥९॥

भाषार्थः—(यतमः) जिस किसी (क्रव्यात्) मांसभक्षक ने (दिवा) दिन में वा (नक्तम्) रात में (यातूनाम्) यात्रियों के (शयने) शयनस्थान में (शयानम्) सोते हुए (मा) मुझ को (ददम्भ) ठगा है । (तत्) उससे (पिशाचाः) वे मांसभक्षक (आत्मना) अपने जीव और (प्रजया) प्रजा के साथ (वि) विविध प्रकार (यातयन्ताम्) पीड़ा पावें, और (अयम्) यह पुरुष (अगदः) नीरोग (अस्तु) होवे ॥९॥

भाषार्थः—मन्त्र ६ देखो ॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनो हनं जहि जातवेदः ।

तपिन्द्रो वाजी वज्रं हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरों अस्य धृष्टगु ॥१०॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष !
(ऋव्यादम्) मांस खाने वाले, (रुधिरम्) रोकने वाले और (मनोहनम्) मन बिगाड़
देने वाले (पिशाचम्) राक्षस को (जहि) मार डाल । (तम्) उसको (वाजी)
पराक्रमी (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले आप (वज्रेण) वज्र से (हन्तु) मारें, और
(धुष्णुः) निर्भय (सोमः) प्रतापी आप (अस्य) इसका (शिरः) शिर (द्धिनत्तु)
काटें ॥१०॥

भाषार्थः—नीतिज्ञ राजा पराक्रम करके शत्रुओं को मारकर प्रजा को
पाले ॥१०॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।

सहमूराननु दह ऋव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥११॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् [वा भौतिक अग्नि] तू (यातुधानान्) पीड़ा
देने हारे [प्राणियों वा रोगों] को (सनात्) नित्य (मृणसि) नष्ट करता है,
(रक्षांसि) उन राक्षसों ने (त्वा) तुझे (पृतनासु) संग्रामों में (न) नहीं (जिग्युः)
जीता है । (सहमूरान्) समूह (ऋव्यादः) उन मांसभक्षकों को (अनु दह) भस्म कर
दे । (ते) तेरे (दैव्यायाः) दिव्य गूण वाले (हेत्याः) वज्र से (मा मुक्षत) वन
छूटें ॥११॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्यापूर्वक शारीरिक अग्नि अर्थात् बल को स्थिर
रख कर अपने बैरियों और रोगों को उनके कारणों सहित नाश
करे ॥११॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । ८७ । १६ और सामवेद पू० १ । ८ । ८
में है ॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।

गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥१२॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! उसे ! (समाहर) भर दे (यत्)
जो कुछ (हृतम्) हर लिया गया, अथवा (यत्) जो कुछ (पराभृतम्) हटाया
गया है । (अस्य) इस [मनुष्य] के (गात्राणि) सब अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें ।
(अयम्) यह पुरुष (अंशुः इव) वृक्ष के अंकुर के समान (आ प्यायताम्) बढ़ता
रहे ॥१२॥

भाषार्थः—सद्वैद्य रोगों को हटाकर प्राणियों को स्वस्थ रखें ॥१२॥

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्याथतामयम् ।

अग्नें विरप्श्नं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥१३॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! (अयम्) यह पुरुष (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्रमा की किरण अथवा सोमलता के अंकुर के समान (आ प्याथताम्) बढ़ता रहे । (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! तू (विरप्श्नम्) विविध प्रकार से कथने योग्य महागुणी पुरुष को (अयक्ष्मम्) नीरोग और (मेध्यम्) बुद्धि के लिये हितकारी (कृणु) कर, और (जीवतु) वह जीता रहे ॥१३॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष शारीरिक और आत्मिक रोगों को नाश करके सब को प्रसन्न रखे ॥१३॥

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।

तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥१४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (ते) तेरे (एताः) यह (समिधः) विद्यादि की प्रकाश क्रियायें (पिशाचजम्भनीः) मांसभक्षक [प्राणियों वा रोगों] की नाश करने वाली हैं । (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! (त्वम्) तू (ताः) उन से (जुषस्व) प्रसन्न हो, (च) और (एताः) इनको (प्रति गृहाण) प्रतीति से अंगीकार कर ॥१४॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष विद्या द्वारा दुःखदायी प्राणी और रोगों का नाश करे और धर्म कार्य में सदा प्रवृत्त रहे ॥१४॥

तार्ष्टाधीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाद्विषां ।

जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥१५॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् जन ! (तार्ष्टाधीः) तृष्णाओं की निन्दा करने वाली (समिधः) विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को (अविषा) पूजा के साथ (प्रति) निश्चय पूर्वक (गृह्णाहि) तू अंगीकार कर ! (क्रव्यात्) वह मांसभक्षक [प्राणी वा रोग] (रूपम्) अपने रूप को (जहातु) छोड़ देवे, (यः) जो (अस्य) इस पुरुष का (मांसम्) मांस (जिहीर्षति) हरना चाहता है ॥१५॥

भाषार्थः—मनुष्य लोभादि तृष्णाओं को छोड़कर परीक्षापूर्वक विद्याओं का प्रचार करके दूष्ट स्वभावों, रोगों और दुराचारों का नाश करें ॥१५॥

सूक्तम् ३० ॥

१—१७ ॥ आत्मा देवता ॥ १ पथ्या पङ्क्तिः; २—११, १३, १५—१७ अनुष्टुप; १२ त्रिष्टुप; १४ बृहती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।

इहैव भव मानुगा या पूर्वाननु गाः पितृनसु वध्नामि ते दृढम् । १॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (आवतः) समीप स्थान से, (आवतः) समीप से (ते) तेरे (परावतः) दूर देश से और (आवतः) अति समीप से [मैं प्रार्थना करता हूँ] । (इह एव) यहाँ ही (भव) रह, (नु) निश्चय करके (मा मा गाः) कभी भी मत जा, (पूर्वान्) पहिले (पितृन्) पिता आदि लोगों के (अनु) पीछे (गाः=गच्छ) चल । (ते, तेरे (असुम्) प्राण को (दृढम्) दृढ़ (वध्नामि) मैं बांधता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विचारपूर्वक उत्साही पुरुषों में रहकर माननीय माता पिता गुरु आदि का अनुकरण करके बल और कीर्ति बढ़ावें ॥१॥

यत् त्वाभिचे रुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।

उन्मोचनप्रमोचने उमे वाचा वंदामि ते ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) चाहे (स्वः) अपनी जाति वाले (पुरुषः) पुरुष ने और (यत्) चाहे (अरणः) न बात करने योग्य, अबोध (जनः) जन ने (त्वा) तुझसे (अभिचेरुः) दुष्कर्म किया है । (उमे) दोनों (उन्मोचनप्रमोचने) अलग रहना और छुटकारा (ते) तुझको (वाचा) वेद वाणी से (वदामि) मैं बतलाता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य दुष्टों के फंदों से अलग रहे, और फंस जाने पर उपाय करके निकल आवे ॥२॥

यद् द्रुद्रोहिंश् शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचिन्त्या ।

उन्मोचनप्रमोचने उमे वाचा वंदामि ते ॥३॥

भाषार्थः—(यत्) जो (स्त्रियै) स्त्री के लिये वा (पुंसे) पुरुष के लिये (अचिन्त्या) अचेतना से (द्रुद्रोहिंश्) तू ने अनिष्ट चीता है वा (शेपिषे) शाप दिया है । (उमे) दोनों...म०२ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परद्रोह और परनिन्दा से पृथक् रहे और किसी प्रकार से होजाने पर प्रायश्चित्त करे ॥३॥

(३.३.३.३.३.३)

यदेनसो मातृकृताच्छेषं पितृकृताच्च यत् ।

उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वंदामि ते ॥४॥

भाषार्थः—(यत्) यदि (मातृकृतात्) माता के किये हुए (च) और (यत्) यदि (पितृकृतात्) पिता के किये हुए (एनसः) अपराध से (शेषे) तू सोता है । (उभे) दोनों (उन्मोचनप्रमोचने) धलग रहना और छुटकारा (ते) तुझ को (वाचा) वेद वाणी से (वदामि) मैं बताता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—माता पिता आदि के दोष से जो मनुष्य निरुद्धमी होता हो तो वह उस दोष को त्याग दे ॥४॥

यत् तै माता यत् तै पिता जामिभ्राता च सर्जतः ।

प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदंष्टि कृणोमि त्वा ॥५॥

भाषार्थः—(यत्) जो [श्रीपथ] (ते) तेरे (माता) माता (पिता) पिता (च) और (यत्) जो (ते) तेरे (जामिः) मिलकर भोजन करने वाली बहिन और (भ्राता) पोषक वा पोषणीय भाई (सर्जतः) लाते हैं । (भेषजम्) उस श्रीपथ को (प्रत्यक्) प्रत्यक्ष (सेवस्व) सेवन कर, (त्वा) तुझ को (जरदंष्टिम्) स्तुति के साथ व्याप्ति वा भोजन वाला (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य माता पिता, बहिन भाइयों से उत्तम शिक्षा पाकर उत्तम जीवन बनावे ॥५॥

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।

दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि । ६॥

भाषार्थः—(पुरुष) हे पुरुष ! (सर्वेण) संपूर्ण (मनसा सह) मन [साहस] के साथ (इह) यहाँ पर (एधि) रह । (यमस्य) मृत्यु के (दूतौ अमु) तपाने वाले प्राण और अपान वायु [उलटे श्वास] के पीछे (मा गाः) मत जा । (जीवपुराः) जीवित प्राणियों के नगरों में (अधि इहि) पहुँच ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्साह करके आलस्य आदि मृत्यु के कारणों को छोड़कर जीते हुए अर्थात् पुरुषार्थी शूरवीर महात्माओं में अपना नाम करें ॥६॥

अनुहृतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥७॥

भाषार्थः—(पथः) मार्ग के (उदयनम्) चढ़ाव को (विद्वान्) जानता हुआ, (अनुवृत्तः) प्रीति से बुलाया गया तू (पुनः) फिर (आ इहि) आ । (आरोहणम्) चढ़ना और (आक्रमणम्) आगे बढ़ना (जीवतो जीवतः) प्रत्येक जीव का (अयनम्) मार्ग है ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य उन्नति के उपायों को जानकर सदा बढ़ता रहे जैसे कि चिड़ंटी आदि छोटे-छोटे जीव भी ऊँचे चढ़ने में लगे रहते हैं ॥७॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदंष्टिं कृणोमि त्वा ।

निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥८॥

भाषार्थः—(मा बिभेः) तू मत डरे, (न मरिष्यसि) तू नहीं मरेगा । (त्वा) तुझे (जरदंष्टिम्) स्तुति के साथ व्याप्ति वा भोजन वाला (कृणोमि) मैं करता हूँ । (तव) तेरे (अङ्गभ्यः) अंगों से (अङ्गज्वरम्) अंग अंग में ज्वर करने वाले (यक्ष्मम्) राजरोग वा क्षय रोग को (निः=निःसार्यं) निकाल कर (अहम्) मैं ने (अवोचम्) वचन कहा है ॥८॥

भाषार्थः—जो मनुष्य निर्भय होकर धर्म करता है, वह मृत्यु अर्थात् अपकीर्ति से बचकर नाम करता है जैसे सद्य महारोग को निकाल कर यश पाता है ॥८॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।

यक्ष्मः श्येन इव प्रापस्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥९॥

भाषार्थः—(ते) तेरी (अङ्गभेदः) हड्फूटन, (अङ्गज्वरः) शरीर का ज्वर, (च) और (यः) जो (हृदयामयः) हृदय का रोग है वह और (यक्ष्मः) राज रोग, (वाचा) वेदवाणी से (साढः) हारा हुआ [वह सब रोग] (श्येनः इव) श्येन पक्षी के समान (परस्तराम्) बहुत दूर (प्र अपस्तत्) भाग गया है ॥९॥

भाषार्थः—जैसे सद्य महाकठिन रोगों को अच्छा करता है वैसे ही मनुष्य वेद द्वारा आत्मदोष त्यागकर सुखी होवे ॥९॥

ऋषीं बोधप्रतीवोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।

तौ तं प्राणस्य गोप्सरो दिवा नक्तं च जाग्रताम् ॥१०॥

भाषार्थः—(ऋषी) दो देखने वाले (बोधप्रतीवोधा) बोध और प्रतिबोध [यर्थान् विवेक और चेतनता] हैं, (यः) जो एक एक (अस्वप्नः) न सोने वाला (च)

और (जागृविः) जागने वाला है। (ते) तेरे (प्राणस्य) प्राण के (गोप्तारौ) रख-
वाले (तौ) वह दोनों (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) रात (जागृताम्) जागते
रहें ॥१०॥

भाषार्थः—मनुष्य विवेक और चेतनापूर्वक नित्य सावधान रहकर
रक्षा करे ॥१०॥

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।

उदेहि मृत्योगैम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उपसद्यः) सेवा
योग्य है। (इह) इस में (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (उदेतु) उदय होवे। (गम्भीरात्)
गहरे (मृत्योः) मृत्यु से (चित्) और (कृष्णात्) काले (तमसः) अन्धकार से (परि)
अलग होकर (उदेहि) तू ऊपर आ ॥११॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा मानकर और आलस्यरूपी
मृत्यु और अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा कर उन्नति का सूर्य चमकावे ॥११॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।

उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधे अस्मा अरिष्टतांतये ॥१२॥

भाषार्थः—(यमाय) न्यायकारी परमात्मा को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के
लिये (नमः) (नमः) बारबार नमस्कार (अस्तु) होवे, (उत) और (पितृभ्यः) उन
रक्षक महापुरुषों को (नमः) नमस्कार हो (ये) जो [हमें] (नयन्ति) ले चलते हैं।
(यः) जो परमेश्वर (उत्पारणस्य) पार लगाना (वेद) जानता है, (तम्) उस
(अग्निम्) जानवान् परमेश्वर को (अस्मै) इस जीव के लिये (अरिष्टतांतये) कल्याण
करने को (पुरः) आगे (दधे) रखता हूँ [पूजता हूँ] ॥१२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा की महिमा जानकर और विद्वान् परोप-
कारी महात्माओं का आदर करके सुखी रहें ॥१२॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।

अरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥१३॥

भाषार्थः—(प्राणः) प्राण, पुरुषार्थ [इसमें] (आ एतु) आवे, (मनः) मन
(आ एतु) आवे, (अथो) और भी (चक्षुः) दृष्टि और (बलम्) बल (आ एतु)

प्रावे । (तत्) उससे (अस्य) इस पुरुष का (शरीरम्) शरीर (विदां प्रति) बुद्धि की ओर (पद्भ्याम्) दोनों पैरों से (सम्) ठीक ठीक (तिष्ठत्) खड़ा होवे ॥१३॥

भाषार्थः—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल प्राप्त करके और चेतन्य रहकर पुरुषार्थ करे ॥१३॥

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं सधीरय तन्वा ३' सं बलेन ।

वेत्थामृतस्य मानु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥१४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानमय परमात्मन् ! (इमम्) इस पुरुष को (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] से और (चक्षुषा) दृष्टि से (सं सृजे) संयुक्त कर, और [उसे] (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (सम् सम् ईरय) अच्छे प्रकार आगे बढ़ा । तू (अमृतस्य) अमरपन का (वेत्थ) जानने वाला है । वह [पुरुष] (नु) अब (मा गात्) न चला जावे, और (मा नु) न कभी (भूमिगृहः) भूमि में घरवाला [अर्थात् गुप्त निवासवाला] (भुवत्) होवे ॥१४॥

भाषार्थः—परमेश्वर से प्रार्थना करता हुआ मनुष्य सब प्रकार पुरुषार्थ करके कीर्तिमान् होवे, और ऐसा काम न करे जिससे समाज में उसे नीचा देखना पड़े ॥१४॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते ।

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छत् रुग्मिभिः ॥१५॥

भाषार्थः—(ते) तेरा (प्राणः) प्राण [भीतर जाने वाला श्वास] (मा उप दसत्) नष्ट न होवे, और (ते) तेरा (अपानः) अपान [बाहिर जाने वाला श्वास] (मो अपि धायि) न डक जावे । (अधिपतिः) प्रभु (सूर्यः) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (रुग्मिभिः) अपनी व्याप्तियों द्वारा (उदायच्छत्) उठावे ॥१५॥

भाषार्थः—मनुष्य अपनी शक्तियों को यथावत् काम में लाकर परमेश्वर के आश्रय से आलस्य, दरिद्रता आदि दुःखों को मिटा कर ऊपर उठे ॥१५॥

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पणिष्पदा ।

त्वया यक्ष्मं निर्वोचं शतं रोषीश्च त्वमनः ॥१६॥

भाषार्थः—(अन्तः) [मुख के] भीतर (बद्धा) बंधी हुई, (पणिष्पदा) धर-

थराकर चलती हुई (इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (वदति) बोलती रहती है। (त्वया) तेरे साथ वर्त्तमान (यक्षम्) राजरोग (च, और (तक्मनः) ज्वर की (शतम्) सौ (रोपीः) पीड़ाओं को (निः=निःसार्य) निकाल कर (अवोचम्) मैंने वचन कहा है ॥१६॥

भावार्थः—जिस प्रकार जीभ को मुख में दबाकर वेदमन्त्र आदि पवित्र वचन बोलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके अपने सब मलों को धोकर स्वस्थचित्त होवे ॥१६॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।

यस्मै त्वमिह मृत्युर्वे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।

स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥१७॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (लोकः) संसार, (देवानाम्) विद्वानों का (अपराजितः) न जीता हुआ, (प्रियतमः) अति प्रिय है। (यस्मै) जिस [लोक] के लिये (इह) यहाँ पर (मृत्युर्वे) मृत्यु नाश करने को (दिष्टः) ठहराया हुआ (त्वम्) तू, (पुरुष) हे पुरुष ! (जज्ञिषे) प्रकट हुआ है। (सः) वह [लोक] (च) और हम (त्वा) तुम्हको (अनु ह्वयामसि) बुला रहे हैं। (जरसः) बुढ़ापे से (पुरा) पहिले (मा मृथाः) मत मर ॥१७॥

भावार्थः—इस अनन्त संसार को विद्वान् सदा खोजते रहे हैं। मनुष्य झालस्य आदि छोड़ कर सदा परोपकार में लगा रहे, और स्वस्थ और सावधान रहकर पूर्ण आयु तक आनन्द भोगे ॥१७॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-१२ ॥ पुरुषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

यां तं चक्रामे पात्रे यां चक्रमिश्नधान्ये ।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥१॥

भाषार्थः - [हे राजन्] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हिंसकों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (मिश्रधान्ये) इकट्ठे किये धान्य में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (क्षणम्) हिंसा को [तेरे] (आमे) चलने में वा (मांसे) जान वा काल वा मांस में

(चक्रः) उन्होंने किया है, (ताम्) उसको (पुनः) अवश्य मैं (प्रति) उलटा (हरामि) मिटाता हूँ ॥१॥

भावार्थः— राजा दुष्कर्मी विघ्नकारियों को सदा दण्ड देता रहे ॥१॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ४ । १७ । ४ से करो ॥

यां तै चक्रः कृक्वाकावजे वा यां कुरीरिणि ।

अव्यां ते कृत्यां यां चक्रः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥२॥

भावार्थः—(याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (कृक्वाका) गले से बोलने वाले कुक्कुट वा मोर पर (वा) अथवा (याम्) जिसको (कुरीरिणि) केश वाले (अजे) बकरे पर (चक्रः) उन्होंने [शत्रुओं ने] किया है वा (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरी (अव्याम्) भेड़ी पर...म० १ ॥२॥

भावार्थः—राजा उपकारी पक्षियों और चौपायों की रक्षा करे ॥२॥

यां तै चक्रुकंशफे पशूनामुभयादति ।

गर्दभे कृत्यां यां चक्रः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥३॥

भावार्थः—(याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (पशूनाम्) पशुओं के मध्य (एकशफे) एक खुर वाले और (उभयादति) दोनों ओर दाँत वाले [अश्व आदि] पर (चक्रः) उन्होंने किया है । (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (गर्दभे) गधे पर...म० १ ॥३॥

भावार्थः—घोड़े गधे आदि उपकारी पशुओं की राजा रक्षा करे ॥३॥

यां तै चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।

क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥४॥

भावार्थः—(याम्) जिस [हिंसा] को (वलगम्) गुप्त कर्म से (ते) तेरे (अमूलायाम्) प्राप्ति योग्य (वा) अथवा (नराच्याम्) मनुष्यों से सत्कार योग्य [ओषधि] में (चक्रः) उन्होंने किया है । अथवा (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरे (क्षेत्रे) ऐश्वर्य के हेतु खेत में...म० १ ॥४॥

भावार्थः—राजा प्रबन्ध करे कि ओषधि आदि पदार्थ दूषित न हों ॥४॥

यां तै चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।

शालायां कृत्यां यां चक्रः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥५॥

भाषार्थः—(याम्) जिस [हिंसा] को (दुश्चितः) बुरा चीतने वाला ने (ते) तेरे (गाहंपत्ये) गृहस्थ काम में (उत) और (पूर्वानी) निवास के हेतु अग्नि आदि में (चक्रुः) किया है। अथवा (शालायाम्) शाला में (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को... म० १ ॥५॥

भाषार्थः— राजा प्रबन्ध करे कि गृहस्थ लोगों के कामों और पदार्थों में कोई उपद्रव न करे ॥५॥

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रु रधिदेवने ।

अक्षेष्टु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥६॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (हिंसा) को (ते) तेरी (सभायाम्) सभा में (चक्रुः) उन्होंने (शत्रुओं ने) किया है, और (याम्) जिसको तेरे (अधिदेवने) श्रीड़ा स्थान उपवन आदि में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (अक्षेष्टु) व्यवहारों में... म० १ ॥६॥

भाषार्थः—राजा सभाओं, उपवन आदिकों और व्यवहारों में विघ्नकारी पुरुषों को दण्ड देता रहे ॥६॥

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रु रिष्वायुधे ।

दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥७॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (हिंसा) को (ते) तेरी (सेनायाम्) सेना में (चक्रुः) उन [शत्रुओं] ने किया है, और (याम्) जिसको तेरे (इष्वायुधे) वाण आदि शस्त्रों में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को तेरी (दुन्दुभौ) दुन्दुभि में... म० १ ॥७॥

भाषार्थः— सेनापति अपनी सेना और अस्त्र शस्त्र बाजे आदि की सावधानी से रक्षा करे ॥७॥

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचरन्तुः ।

सप्तानि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥८॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरे (कूपे) कूप में (अवदधुः) उन [शत्रुओं] ने कर दिया है, (वा) अथवा (श्मशाने) मरघट में (निचरन्तुः) उन्होंने खोद कर रक्खा है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (सप्तानि) तेरे घर में

(चक्रुः) उन्होंने किया है, (ताम्) उसको (पुनः) अवश्य मैं (प्रति) उलटा करके (हरामि) मिटाता हूँ ॥८॥

भावार्थः—जो मनुष्य कूए, तालाब आदि को मलिन करें, अथवा रोग कारक वस्तुएं गाड़कर मरघटों को दूषित करें, अथवा घिरों के पाम दुर्गन्धे आदि फैलावे, राजा उसका यथावत् प्रबन्ध करे ॥८॥

यां तं चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।

ओकं निर्दाहं क्रव्याद् पुनः प्रति हरामि ताम् ॥९॥

भाषार्थः—(याम्) जिस [हिमा] को (ते) तेरे (पुरुषास्थे) पुरुषों की हड्डी में, (च) और (याम्) जिसको (संकसुके) भभकती (अग्नौ) आग में (चक्रुः) उन [अवधूतों] ने किया है; (ताम्) उसको (ओकम्) चोर समान भयानक (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले (निर्दाहम् प्रति) जला देने वाले शक्ति में (पुनः) अवश्य (हरामि) मैं नाश करता हूँ ॥९॥

भावार्थः—मृतक दाहक्रिया में विघ्नकारी दुष्टों को राजा यथावत् दण्ड देकर नष्ट करे ॥९॥

अपथेना जम्भारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि ।

अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जम्भाराचित्या ॥१०॥

भाषार्थः (अपथेन) कुमार्ग से (एनाम्) इस [हिमा] को (आ जम्भार) वह लाया था, (ताम्) उसको (पथा) सुमार्ग से (इतः) इस स्थान से (प्र हिण्मसि) हम निकालते हैं । (अधीरः) वह अधीर [शत्रु] (मर्याधीरेभ्यः) मर्यादा धारण करने वाले पुरुषों के लिये (अचित्या) अपने अज्ञान से [उस] हिमा को (सम् जम्भार) लाया था ॥१०॥

भावार्थः—जो कुमार्गी पुरुष सत्पुरुषों के साथ द्वेष करते हैं सत्पुरुष उनको कुमार्ग से छुड़ा कर सुमार्ग में ले आते हैं ॥१०॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादं पङ्गुरिम् ।

चकार भद्रमस्मभ्यं भगो भगवद्भ्यः ॥११॥

भाषार्थः—(यः) जिस [दुष्ट] ने (कर्तुम्) हिमा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अङ्गुरिम्) अंगूरी

(शत्रु) तोड़ डाली । उस (अभयः) अभय पुरुष ने (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवालों को (भद्रम्) आनन्द (चकार) किया ॥११॥

भावार्थः—दुर्बलात्मा पापी दण्ड पाकर अपने हाथ पैर में कष्ट पाकर धर्मात्माओं को नहीं सता सकता ॥११॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ४ । १८ । ६ । में आया है ॥

कृत्वाकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यस्त्वस्तया ॥१२॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) प्रतापी राजा (वलगिनम्) गुप्त काम करने वाले (मूलिनम्) जड़ पकड़ने वाले, (शपथेय्यम्) कुवचन बोलने वालों के प्रधान, (कृत्वाकृतम्) हिंसा करने वालों शत्रु को (महता) अपने बड़े (वधेन) वज्र से (हन्तु) मारे और (अग्निः) वही ज्ञानी राजा (अस्तया) अपने अस्त्र से (तम्) उस वैरी को (विध्यतु) वेध डाले ॥१२॥

भावार्थः—शूर वीर विद्वान् राजा दुराचारियों को यथावत् खोजकर दण्ड देता रहे ॥१२॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति पञ्चमं काण्डम् ॥



* ओ३म् *

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:०❁:०❁:०❁:०❁:—

षष्ठं काण्डम् ॥

—: ❁ :—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

—❁:०❁:०❁:०❁:—

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १—३ ॥ सविता देवता । गायत्री छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

दोषो गाय बृहद् गाय धुमद्धेहि ।

आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ।.१॥

भावार्थः—(आथर्वण) हे निश्चल ब्रह्म के जानने वाले महर्षि ! (देवम्) प्रकाश स्वरूप (सवितारम्) सब के प्रेरक परमात्मा को (दोषो) रात्रि में भी (गाय) गा, (बृहत्) विशाल रूप से (गाय) गा, (धुमत्) स्पष्ट रीति से (धेहि) धारण कर और (स्तुहि) बड़ाई कर ॥१॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुष परमेश्वर के गुणों को हृदय में धारण करके संसार में सदा प्रकाशित करे ॥१॥

तमुं ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।

सत्यस्य युवानमद्रोषवाचं सुशेवम् ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः) प्रेरक परमात्मा (सिन्धौ अन्तः) समुद्र [हृदय आदि गहरे स्थान] के भीतर है, (तम् उ) उस ही (युवानम्) संयोग वियोग करने वाले, अथवा महाबली, (अद्रोषवाचम्) द्रोहरहित वाणी वाले, (सुशेवम्) अत्यन्त सुख देने वाले परमेश्वर की (ष्टुहि) स्तुति कर ॥२॥

भाषार्थः—जो सर्वव्यापक परमात्मा कल्याणी वाणी वेदविद्या द्वारा दुःखों को हटा कर मोक्ष पद देता है, उसकी महिमा जान कर मनुष्य सदा पुरुषार्थ करें ॥२॥

स यां नो देवः सविता साविषदमृतांनि भूरि ।

उमे मुष्टुती सुगातवे ॥३॥

भाषार्थः—(सः) वह (यः) ही (देवः) प्रकाशस्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (उमे) दोनों [प्रातः सायंकालीन] (मुष्टुती) मुन्दर स्तुतियों को (सुगातवे) सर्वश्रेष्ठ प्रकार गाने के लिये (नः) हमें (भूरि) बहुत से (अमृतानि) अक्षय सुख (साविषत्) देता रहे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा की सदा स्तुति करते हुए आत्मवल बढ़ाकर अक्षय सुख प्राप्त करें ॥३॥

सूक्तम् २ ॥

मन्त्राः १—३ ॥ इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

परमेश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—परम ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।

स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धर्वं च मे ॥१॥

भाषार्थः—(ऋत्विजः) हे ऋतु ऋतुओं में यज्ञ करने वाले पुरुषो ! (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा के लिए (सोमम्) अमृत रस [तत्त्वज्ञान] (सुनोत) निचोड़ो (च) और (आ) अच्छे प्रकार (धावत) शोधो । (यः) जो परमेश्वर (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (मे) मेरे (वचः) वचन (च) और (हवम्) पुकार को (शृणवत्) सुने ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा का तत्त्वज्ञान प्राप्त करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥१॥

आ यं विशन्तीन्द्वो वयो न वृक्षमन्थसः ।

विरश्निन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥२॥

भाषार्थः—(यम्) जिसमें (इन्दवः) अमृत रस वा ऐश्वर्य (आ) आकर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (न) जैसे (वयः) पक्षी (अन्धसः) अन्न के (वृक्षम्) वृक्ष में । [वह वृ] (विरश्निन्) हे महागुणी परमेश्वर ! (रक्षस्विनीः) राक्षसों [विघ्नों] से युक्त (मृदः) हिंसाकारिणी सेनाओं [कुवासनाओं] को (वि) विविध प्रकार से (जहि) नाश कर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों को साक्षात् करके अपनी विघ्नकारक कुवासनाओं को दूर करके पुरुषार्थ करें ॥२॥

सुनोतां सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।

युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥३॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (सोमपाव्ने) ऐश्वर्य की रक्षा करने वाले, (वज्रिणे) वज्र वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (सोमम्) अमृत रस (सुनोत) निचोड़ो । (सः) वह (युवा) संयोग वियोग करने वाला वा महाबली, (जेता) विजयी, (ईशानः) ईश्वर (पुरुष्टुतः) सबसे स्तुति किया गया है ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्यों को विचारता हुआ अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करे ॥३॥

सूक्तम् ३॥

मन्त्राः १—३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ पथ्वा बृहती २, ३ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणाद्योपदेशः—वृद्धि करने के लिये उपदेश ॥

पातं न इन्द्रापृषणादितिः पान्तुं मरुतः ।

अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन् पातुं नो विष्णुरुत यौः ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रापृषणा) हे बिजुली और वायु (नः) हमें (पातम्) बचाओ । (अदितिः) अदीन प्रकृति और (मरुतः) विद्वान् लोग (पान्तु) बचावें । (अपाम्) हे

जीवों के (नपात्) न गिराने वाले, अग्नि [शरीर बल] और (सप्त) हे नित्य सम्बन्ध वाले वा सात (सिन्धवः) गतिशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (पातन) बचाओ (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उत) और (धोः) प्रकाशमान बुद्धि (नः) हमें (पातु) बचावे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को विचारता हुआ बिजुली आदि पदार्थों से उपकार लेकर रक्षा करें ॥१॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥२॥

भावार्थः—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (नः) हमें (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये (पाताम्) बचावें (ग्रावा) मेघ (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (पातु) बचावे और (सोमः) जल (पातु) बचावे । (देवी) व्यवहार वाली, (सुभगा) सुन्दर ऐश्वर्य देने वाली (सरस्वती) विज्ञानवाली वेदविद्या (नः) हमें (पातु) बचावे, (अग्निः) अग्नि विद्या (पातु) बचावे और (ये) जो (अस्य) इसके (शिवाः) सुख-दायक (पायवः) रक्षक गुण हैं [वे भी बचावें] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य सूर्य पृथिवी आदि और वेद द्वारा अनेक शिल्प आदि पदार्थविद्यायें सिद्ध करके आनन्द भोगें ॥२॥

पातां नो देवाश्विनां शुभस्पती उषासानक्ता न उरुष्यताम् ।
अपां नपादभिदुती गयस्य चिद् देवं त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥३॥

भावार्थः—(देवा) व्यवहार में चतुर, (शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता (नः) हमें (पाताम्) बचावें, (उत) और (उषासानक्ता) दिन और रात (नः) हमें (उरुष्यताम्) बचावें । (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले (देव) प्रकाशमान (त्वष्टः) विश्वकर्मा परमेश्वर ! (अभिदुती) कुटिल दशा में वर्तमान (गयस्य) घर के (सर्वतातये) सम्पूर्ण सुख के लिये [हमें] (चित्) अवश्य (वर्धय) बढ़ा ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर, बल पराक्रम बढ़ाकर, दरिद्रता आदि हटाकर सुखी होवें ॥३॥

सूक्तम् ४ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ १ परमेश्वरः, २ मन्त्रोक्ताः, ३ अश्विनी देवते ॥
१ आस्तारपङ्क्तिः, २, ३ विराट् छन्दः ॥

सर्वरक्षापदेशः सब की रक्षा का उपदेश ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

पुत्रैर्भ्रातृभिर्ददितुं पातु नो दुष्टं त्रायमाणं सहः ॥१॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) सबका बनाने वाला, (पर्जन्यः) सींचने वाला (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड का (पतिः) रक्षक, (अदितिः) अविनाशी परमेश्वर (पुत्रैः) पुत्रों और (भ्रातृभिः) भ्राताओं के सहित (मे) मेरे (दैव्यम्) देवताओं के हितकारक (वचः) वचन को और (नः) हमारे (दुस्तरम्) अजेय, (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाले (सहः) बल की (नु) शीघ्र (पातु) रक्षा करे ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना प्रार्थना करते हुए पूर्ण बल प्राप्त करके अपने कुटुम्बियों की रक्षा करें ॥१॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।

अप तस्य द्वेषो गमेदभिहतो यावयच्छत्रमन्तितम् ॥२॥

भाषार्थः—(अंशः) विभाग करने वाला, (भगः) सेवने योग्य (वरुणः) अपान वायु, (मित्रः) प्राण वायु, (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य, और (अदितिः) अदीन भूमि (मरुतः) शूर देवताओं की (पान्तु) रक्षा करें । वे (अभिहतः) कुटिलता-शील (तस्य) हिसक चोर के (द्वेषः) दुष्टता को (अप गमेत्=गमयेयुः) हटा दें और (अन्तितम्) बन्ध में डालने वाले (शत्रुम्) शत्रु को (यवयत्=यवयेयुः) पृथक् करें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य भीतरी और बाहिरी अवस्था को सुधार कर अपने दोषों का नाश करके उन्नति करें ॥२॥

धिये समंश्विना प्रावंतं न उरुष्या णं उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।

यौ३ 'षितंर्यावयं दुच्छुना या ॥३॥

भाषार्थः—(अश्विना) हे सब कामों में व्यापक रहने वाले माता पिता ! (धिये) सत् कर्म वा सत् बुद्धि के लिये (नः) हमारी (सम्) मिल कर (प्र) अच्छे प्रकार (अवतम्) रक्षा करो । (उरुज्मन्) हे विस्तीर्ण गति वाले परमात्मन् ! (अप्रयुच्छन्) शूक न करता हुआ तू (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा कर । (योः) हे प्रकाशमान (पितः) पिता परमेश्वर ! (या) जो (दुच्छुना) दुर्गति है [उसको] (यवय) तू हटा दे ॥३॥

भाषार्थः—माता पिता इस प्रकार शिक्षा देवें जिस से उनके संतान ईश्वर आज्ञा पालन करके ऐश्वर्यवान् हों ॥३॥

सूक्तम् ५ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

धनजीवनवर्धनोपदेशः—धन और जीवन की वृद्धि का उपदेश ॥

उदैनमुत्तरं नयाम्ने वृतेनाहुत ।

समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥१॥

भाषार्थः—(घृतेन) घृत से (आहुत) आहुति पाये हुए (अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी परमेश्वर ! (एनम्) इस पुरुष को (उत्तरम्) अधिक ऊँचा (उत् नय) उठा । (एनम्) इस को (वर्चसा) तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) प्रजा से (बहुम्) प्रवृद्ध (कृधि) कर ॥१॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से तेजस्वी होकर अपना सामर्थ्य और प्रजा बढ़ावे ॥१॥

इन्द्रं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी ।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (प्रतरम्) अधिक ऊँचा (कृधि) कर, यह (सजातानाम्) समान जन्म वाले बन्धुओं का (वशी) वश में रखने वाला, अधिष्ठाता (असत्) होवे । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (सम् सृज) संयुक्त कर और (जीवातवे) बड़े जीवन के लिए और (जरसे) स्तुति के लिये (नय) आगे बढ़ा ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन करके अपने बन्धुओं को उत्तम वर्तव्य से वश में रख कर धन की वृद्धि करके पूर्ण यश प्राप्त करें ॥२॥

यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम् ।

तस्यै सोमो अधिं ब्रवद्यं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

भाषार्थः—(यस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (हविः) देने और लेने योग्य व्यवहार (कृण्मः) हम करते हैं, (तम्) उसको (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर !

(स्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा । (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (अयम्) यह (सोमः) ऐश्वर्यवान् (च) और (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक पुरुष (अग्निं) अधिक (अवत्) कथन करे ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य सबका हितैषी होवे वह परमेश्वर के अनुग्रह से वृद्धि करके ऐश्वर्यशाली विद्वानों में बड़ाई पावे ॥३॥

सूक्तम् ६ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ ब्रह्मणस्पतिः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

यो३स्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते ।

सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥१॥

भावार्थः—(ब्रह्मणः पते) हे ब्रह्माण्ड के रक्षक ! (यः) जो (अदेवः) नास्तिक वा कुव्यवहारी पुरुष (अस्मान्) हम से (अभिमन्यते) अभिमान करता है (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्व मथन करने वाले, (यजमानाय, विद्वानों का आदर करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) बश में कर ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर का ध्यान करता हुआ विवेकपूर्वक यथावत् परीक्षा करके विघ्नों का नाश करे ॥१॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ।

वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपोयति ॥२॥

भावार्थः—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (दुःशंसः) अति दुर्गति वाला शत्रु (सुशंसिनः) बड़ी स्तुति वाले (नः) हम लोगों पर (आदि-देशति) आदेश वा आज्ञा करे । (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) ताड़ना कर । (सः) वह (संपिष्टः) चूर चूर होकर (अप अपयति) भाग जावे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर से सामर्थ्य पाकर शत्रुओं को बश में रखे ॥२॥

यो नः सोमाभिदासंति सनाभिर्भयश्च निष्टयः ।

अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्विधत्मना ॥३॥

भाषार्थः—(सोम) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो कोई (सनाभिः) अपना सपिण्डी (च) और (यः) जो कोई (निष्ठघः) म्लेच्छ (नः) हमें (अभिदासति) सताता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को (वधत्माना) अपने वज्र रूप स्वभाव से (अप तिर) गिरा दे (इव) जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य [अन्धकार को] ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल बढ़ा कर प्रत्येक शत्रु का नाश करे ॥३॥

सूक्तम् ७ ॥

१-३ ॥ १, २, सोमः, ३ देवा देवताः ॥ गायत्री छन्दः ॥

मुखप्राप्त्युपदेशः—मुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः ।

तेना नोऽवसा गहि ॥१॥

भाषार्थः—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (येन पथा) जिस मार्ग से (अदितिः) अदीन पृथिवी (वा) और (मित्राः) प्रेरणा करने वाले सूर्य आदि लोक (अद्रुहः) द्रोहरहित होकर (यन्ति) चलते हैं । (तेन) उसी से (अवसा) रक्षा के साथ (नः) हमें (आ गहि) आकर प्राप्त हो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्य वेद पथ पर चल कर प्रीतिपूर्वक परस्पर रक्षा करे, जैसे सूर्यादि लोक परस्पर आकर्षण से परस्पर उपकार करते हैं ॥१॥

येन सोम साहन्त्यासुरान रन्धयांसि नः ।

तेना नो अग्निं वोचत ॥२॥

भाषार्थः—(साहन्त्य) हे विजयी शूरों में रहने वाले (सोम) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुरान्) असुरों को (नः) हमारे लिये (रन्धयांसि) तू वज्र में करे (तेन) उसीसे (नः) हमारे लिये (अग्निं) अनुग्रह से (वोचत=अवोचत) आपने कथन किया है ॥२॥

भाषार्थ—परमेश्वर अपनी सनातनी वेद विद्या द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान में रक्षा करता है ॥२॥

येन देशा असुराणामोर्जास्यवृणीध्वम् ।

तेना नः शर्म यच्छत ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विजयी देवताओ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुराणाम्) असुरों के (ओजांसि) बलों को (अवृणोष्वम्) तुम ने रोका है, (तेन) उसी से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) दान करो ॥३॥

भाषार्थः—शूर वीर पुरुष दुष्टों के जीतने में परस्पर सदा सहायक रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥८॥

१-३ ॥ विद्या देवता ॥ पङ्क्तिद्वन्द्वः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

यथा वृक्षं लिबु जा समन्तं परिपस्वजे । एवा परि प्वजस्व
मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगा असः ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (लिबुजा) बढ़ाने वाले आश्रय के साथ उत्पन्न होने वाली, बेल (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परिपस्वजे = परिप्वजते) लिपट जाती है । (एव) वैसे ही [हे विद्या] (माम्) मुझ से (परिप्वजस्व) तू लिपट जा, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिलुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥१॥

भाषार्थः—ब्रह्मचारी पूरी तपश्चरण करके विद्या को इस प्रकार प्राप्त करे जिस से वह सदा स्मरण करके उससे उपकार लेता रहे ॥१॥

इस मन्त्र का (यथा माम्—मन्नापंगा असः) यह भाग—अ० १ । ३४ । ५ । और २ । ३० । १ । में आया है ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् । एवा नि हन्मि
ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगाः असः ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (प्रपतन्) उड़ता हुआ (सुपर्णः) शीघ्रगामी पक्षी (पक्षौ) दोनों पंखों को (भूम्याम्) भूमि पर (निहन्ति) जमा देता है । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (नि हन्मि) मैं जमाता हूँ (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) तेरी कामना करने वाली—म० १ ॥२॥

भाषार्थः—विद्यार्थी पूरा मन लगा कर विद्या प्राप्त करके उसकी सफलता करे ॥२॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः । एवा पर्येमि ते
मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इमे) इस (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि में (सूर्यः) लोकों का चलाने वाला सूर्य (सद्यः) शीघ्र (पर्येति) व्याप जाता है । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (परि एमि) मैं व्यापक करता हूँ (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः, होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) विछुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य सूर्य के समान नियम से परिश्रम करके विद्या प्राप्त करते हैं वे परोपकारी होकर सुखी रहते हैं ॥३॥

सुक्तम् ॥६॥

१—३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमोपदेशः—गृहस्थ आश्रम का उपदेश ॥

वाञ्छ मे तन्वं १ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ ३ वाञ्छं सक्थ्यौ ।

अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की और (पादौ) दोनों पैरों की (वाञ्छ) कामना कर, (अक्ष्यौ) दोनों नेत्रों की (वाञ्छ) कामना कर, (सक्थ्यौ) दोनों जंघाओं की (वाञ्छ) कामना कर । (वृषण्यन्त्याः) ऐश्वर्यवान् पुरुष की इच्छा करती हुई (ते) तेरी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें और (केशाः) केश (कामेन) सुन्दर कामना से (माम्) मुझ को (शुष्यन्तु) सुखावें ॥१॥

भाषार्थः—स्त्री पुरुष सब अङ्गों से हृष्ट पुष्ट और पुरुषार्थी होकर पूर्ण युवा अवस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा करें ॥१॥

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम् ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥२॥

भाषार्थः—(त्वा) तुझको (मम) अपने (दोषणिश्रिषम्) भुजा पर आश्रय वाली और (हृदयश्रिषम्) हृदय में आश्रय वाली (कृणोमि) मैं करता हूँ । (यथा) जिससे (मम) मेरे (कृतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥२॥

भाषार्थः—पति और पत्नी परस्पर पुरुषार्थ और प्रीतिपूर्वक गृहस्थ आश्रम को यथावत् सिद्ध करें ॥२॥

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम् ।

गावो घृतस्य मातरोऽमुं सं वानयन्तु मे ॥३॥

भाषार्थः—(यासाम्) जिन [स्त्रियों] के (हृदि) हृदय में (नाभिः) स्नेह, (आरेहणम्) प्रणसा और (संवननम्) भक्ति (कृतम्) की गई है, (घृतस्य) घृत की (मातरः) बनाने वाली (गावः) गौएँ (अमम्) उस [पत्नी] को (मे) मेरे लिये (सम्) यथावत् (वानयन्तु) सेवन करें ॥३॥

भाषार्थः—जहां पर पति पत्नी प्रीतिपूर्वक रहते हैं, वहाँ घृत दुग्ध आदि पदार्थों की बहुतायत होती है ॥३॥

सूक्तम् ॥१०॥

१—३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ द्विपदा विराट् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—(श्रोत्राय) श्रवण शक्ति के लिये (पृथिव्यै) पृथिवी को, और (वनस्पतिभ्यः) सेवा करने वालों के रक्षकों वृक्ष आदिकों के लिये (अधिपतये) [पृथिवी के] बड़े रक्षक (अग्नये) अग्नि को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य पृथिवी तत्त्व, और उस से अग्नि द्वारा उत्पन्न पदार्थों के विवेक से श्रवण शक्ति बढ़ावे ॥१॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(प्राणाय) प्राण के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोकाँ, और (वयोभ्यः) अन्न आदि पदार्थों के लिये (अधिपतये) [अन्तरिक्ष के] बड़े रक्षक (वायवे) वायु को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु से उपकार लेकर प्राण और अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करें ॥२॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—(चक्षुषे) दृष्टि शक्ति के लिये (दिवे) प्रकाश को, और (नक्षत्रेभ्यः)

नक्षत्रों के लिये (अधिपतये) [प्रकाण के] बड़े रक्षक (सूर्याय) सूर्य को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥३॥

भावायः—मनुष्य प्रकाश और सूर्य के आकर्षण आदि गुणों को जानकर दृष्टि और नक्षत्र विद्या प्राप्त करें ॥३॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥११॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

शमीमंश्चत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वामरामसि ॥१॥

भाषायाः—(अवश्यः) बलवानों में ठहरने वाला पुरुष (शमीम्) शान्त स्वभाव स्त्री के प्रति (आरूढः) आरूढ हो चुकता है, (तत्र) उस काल में (पुंसुवनम्) सन्तान का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया जाता है । (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक सन्तान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) उस कर्म को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आभरामसि) हम पहुँचाते हैं, ॥१॥

भावायः—वीर्यवान् पति और शान्त स्वभाव पत्नी यथाविधि परस्पर संयोग करके सन्तान उत्पन्न करें ॥१॥

इस सूक्त का विधान पुंसवन संस्कार में श्री स्वामी दयानन्दकृत संस्कारविधि में है ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते ।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥२॥

भाषार्थः—(पुंसि) रक्षा स्वभाव पुरुष में (वं) ही (रेतः) वीर्यं (भवति) होता है, (तत्) वह वीर्यं (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) अनुकूल विधि से (सिच्यते) सींचा जाता है। (तत्) वह कर्म (वं) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) वही (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक ईश्वर ने (अब्रवीत्) बताया है ॥२॥

भाषार्थः—युवा अवस्था में ही मनुष्य पूर्ण बलवान् और वीर्यवान् होकर उत्तम बलवान् संतान उत्पन्न करे, यह ईश्वर नियम है ॥२॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीकृत्वत् ॥

स्त्रैर्धूमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥३॥

भाषार्थः—(अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाली, (सिनीवाली) अन्नवाली (प्रजापतिः) प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने (अचीकृत्वत्) यह शक्ति दी है। (अन्यत्र) दूसरे प्रकार में [स्त्री का रज अधिक होने में] (स्त्रैर्धूम्यम्) स्त्री जन्म सम्बन्धी त्रिया (दधत् = दधते) वह [ईश्वर] धारण करता है और (इह) इसमें [पुरुष का वीर्य अधिक होने पर] (उ) निश्चय करके (पुमांसम्) बलवान् संतान को (दधत्) वह स्थापित करता है ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम बुद्धि वाला, अन्नवान् और प्रजा पालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थ आश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या और पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष संतान उत्पन्न होता है ॥३॥

सूक्तम् ॥१२॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्वेता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापनाशनायोपदेशः—पाप नाश करने के लिये उपदेश ॥

परि धामिन्व सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ॥

रात्री जगदिवान्यद्दं सात् तेनां ते वारये विषम् ॥१॥

भाषार्थः—(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (धाम्) आकाश को, [वंसे ही] (अहीनाम्) सर्पों [सर्प समान दोषों] के (जनिम्) जन्म को (परि) सब ओर से (अगमम्) मैंने जान लिया है। (रात्री इव) जैसे रात्री (हंसात्) सूर्य से (अन्यत्) अन्य (जगत्) जगत् को [ढक लेती है], (तेन) उसी प्रकार से ही [हे मनुष्य] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—योगो मनुष्य दोषों के कारणों को ऐसे जान लेता है जैसे सूर्य प्रकाशस्य पदार्थों को, और जैसे रात्री में सब पदार्थ सूर्य को छोड़ कर अदृष्ट हो जाते हैं वैसे ही उस योगी के पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह पूर्ण ज्ञान से सूर्य समान प्रकाशमान हो जाता है ॥१॥

यद् ब्रह्मभिर्ब्रह्मविभिर्ब्रह्मदेवैर्विदितं पुरा ।

यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेनां ते वारये विषम् ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जो [ज्ञान] (ब्रह्मभिः) वेद जानने वाले ब्राह्मणों करके, (यत्) जो (ऋषिभिः) सन्मार्गदर्शक ऋषियों करके और (यत्) जो (देवैः) व्यवहार-कुशल महात्माओं करके (पुरा) पूर्व काल में (विदितम्) जाना गया है। और (यत्) जो (भूतम्) भूत काल में और (भव्यम्) भविष्यत् काल में (आसन्वत्) व्याप्ति वाला है, (तेन) उसी से [हे जीव !] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने दोषों का नाश करके सुखी होवें ॥२॥

मध्वां पृञ्चे नद्यं १ : पर्वता गिरयो मधुं ।

मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥३॥

भाषार्थः—(मध्वा) अमृत से [तुझ को] (पृञ्चे) मैं संयुक्त करता हूँ। (नद्यः) नदियाँ, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे पहाड़ (मधु) अमृत [होवें]। (परुष्णी) पालन सामर्थ्य वाली, (शीपाला) निद्रा लाने वाली ओषधि (मधु) अमृत [होवे], (आस्ने) तेरे मुल के लिये (शम्) शान्ति और (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सब पदार्थों से त्रिवेकपूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥१३॥

१ — ३ ॥ मृत्युर्बलता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मृत्युप्रबलत्वोपदेष्टः—मृत्यु की प्रबलता का उपदेष्टा ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।

अथो ये विश्वानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥१॥

भाषार्थः—(देववधेभ्यः) ब्राह्मणों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार और (राजवधेभ्यः) क्षत्रियों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार है। (अथो) और भी (ये, जो) (विश्वानाम्) वैश्यों के (वधाः) शस्त्र हैं (तेभ्यः) उनको, और (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तुम को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—विद्यावली, पराक्रम वाली और धनवली भी मृत्यु के वश हैं। इस से सब धर्माचरण करते रहें ॥१॥

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः ।

सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥२॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (अधिवाकाय) अनुग्रह वचन को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (परावाकाय) पराजय वचन को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (सुमत्यै) सुमति को (नमः) नमस्कार है और (ते) तेरी (दुर्मत्यै) दुर्मति को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥२॥

भाषार्थः—अनुग्रहकारी, पराजयकारी, सुमति वाले और दुर्मति वाले सब ही मृत्युवश हैं। मनुष्यों को सदा धर्मात्मा रहना चाहिये ॥२॥

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।

नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥३॥

भाषार्थः—(ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) पीड़ाप्रद रोगों को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) सुख देने वाले वैद्यों को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरे (मूलेभ्यः) कारणों को (नमः) नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः) वेदवेत्ता विद्वानों को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥३॥

भाषार्थः—रोगों और वैद्य मृत्यु के वश हैं, तो भी मनुष्य रोगों का निदान जानकर पुरुषार्थ करते रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥१४॥

१—३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः ॥ रोग के नाश का उपदेश ॥

अस्थिसं सं पङ्क्तिं समास्थितं हृदयापयम् ।

बलासं सर्वं नाशयाद्धेष्टा यश्च पर्वसु ॥१॥

भाषार्थः—[हे वैद्य !] (अस्थितम्) हृद्भिड्यां गला देने वाले, (परितम्) जोड़ों के ढीला कर देने वाले (आस्थितम्) स्थिर (हृदयामयम्) हृदय रोग, अर्थात् (सर्वम्) सब (बलासम्) बल गिरा देने वाले क्षय रोग [खांसी, कफ आदि] को (नाशय) नाश कर दे, (यः) जो (अङ्ग्रेष्ठाः) अङ्ग अङ्ग में बैठा हुआ (च) और (पर्वसु) सब जोड़ों में है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा रोगों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा अविद्या का नाश करें ॥१॥

निर्वलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा ।

छिनव्यस्य बन्धनं मूलमुर्वा इव ॥२॥

भाषार्थः—(बलासिनः) क्षय रोग वाले से (बलासम्) बल घटाने वाले क्षय रोग को (निः क्षिणोमि) उखाड़ कर नाश करता हूँ (यथा) जैसे (मुष्करम्) कतरन को । (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) बन्धन को (छिनवि) काटे डालता हूँ, (इव) जैसे (उर्वाः) ककड़ी की (मूलम्) जड़ को ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सट्टेय रोग का कारण समझ कर शीघ्र चिकित्सा करता है, वैसे ही विद्वान् अपने दोषों को समझ कर हटावे ॥२॥

निर्वलासेतः प्र पंताशुंगः शिशुको यथा ।

अथो इटं इव हायनोऽपद्राहवीरहा ॥३॥

भाषार्थः—(बलास) हे बल घटाने वाले क्षय रोग ! (इतः) यहां से (निः=निष्कम्प्य) निकल कर (प्रपत) चला जा, (यथा) जैसे (आशुंगः) शीघ्रगामी (शिशुकः) छोटा बच्चा । (अथो) और भी (अवीरहा) वीरों का न नाश करने वाला तू (अप=अपेत्य) हटकर (द्राहि) भाग जा, (इव) जैसे (हायनः) प्रति वर्ष होने वाला (इटः) घास ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्यों को रोग और अज्ञान नाश करने में शीघ्रता करनी चाहिये, जिससे वीरों की सदा जय रहे ॥३॥

सूक्तम् ॥१५॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगुणप्राप्त्युपदेशः—उत्तम गुणों की प्राप्ति का उपदेश ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।

उपस्तिरस्तु सो ३ स्माकं यो अस्माँ अभिदासन्ति ॥१॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (ओषधीनाम्) सब तापनाशक ओषधियों में तू (उत्तमः) उत्तम (असि) है, (वृक्षाः) सब स्वीकार करने योग्य गुण (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक [अधीन] हैं । (सः) वह पुरुष (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अधीन (अस्तु) होवे, (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे ॥१॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की भक्तिपूर्वक मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने विघ्नों को मिटावें ॥१॥

सर्वबन्धुश्चासंबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।

तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो शत्रुसमूह (सर्वबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असंबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (वृक्षाणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों में (सा इव) लक्ष्मी के समान, (अहम्) मैं (तेषाम्) उनके बीच (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने सब प्रकार की उलझनें हटाकर विद्या सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करें ॥२॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।

तलाशां वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (सोमः) अमृत [अन्न वा सोम लता] (ओषधीनाम्) तापनाशक ओषधियों और (हविषाम्) ग्राह्य पदार्थों में (उत्तमः) उत्तम (कृतः) बनाया गया है । और (वृक्षाणाम् इव) जैसे उत्तम पदार्थों में (तलाशां) आश्रय प्राप्त करने वाली लक्ष्मी है, [वैसे ही] (अहम्) मैं (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अन्न, सुवर्ण आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम होवें ॥३॥

सूक्तम् ॥१६॥

१—४ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १, ४ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ उष्णिक् ॥

ब्रह्मण्युपदेशः ॥ ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

आवयो अनावयो रसंस्त उग्र आवयो ।

आ ते करम्भमन्नसि ॥१॥

भाषार्थः—(आवयो) हे चारों ओर गति वाले ! (अनावयो) हे विना गति वाले ! (आवयो) हे चारों ओर कान्ति वाले ईश्वर ! (ते) तेरा (रसः) रस [आनन्द] (उग्रः) नित्य सम्बन्ध वाला है । हम (ते) तेरे (करम्भम्) सन्तु [अन्न] (आ) भले प्रकार (अवसि) खाते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धापूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके भोगें ॥१॥

विहृहो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।

स हि न त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥२॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरा (पिता) पालन करने वाला गुण (विहृहः) विशेष कपाने वाला [आश्चर्यजनक] (नाम) प्रसिद्ध है, और (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (मदवती) हर्ष युक्त (नाम) प्रसिद्ध है (सः) वह (हिन=हि) ही (त्वम्) तू (असि) है, (यः) जिस (त्वम्) तू ने (आत्मानम्) हमारे आत्मा की (आवयः) रक्षा की है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में वर्तमान रह कर सदा आत्मरक्षा करें ॥२॥

तौविलिकेऽवैलयावामैलव ऐलयीत् ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापैहि निराल ॥३॥

भाषार्थः—(तौविलिके) वृद्धि से जीतने वाले व्यवहार में [हमें] (अव) अवश्य (ईलय=ईरय) आगे बढ़ा । (अयम्) इस (ऐलवः) पृथिवी के पदार्थों में व्यापक तू ने [ऋषियों को] (अव) अवश्य (ऐलयीत्=०—यीः) आगे बढ़ाया है । (अल) हे समर्थ परमेश्वर ! (बभ्रुः) पोषण करने वाला (च च) और (बभ्रुकर्णः) पोषक मनुष्यों का पतवार रूप तू (नः) नित्य (अप) आनन्द से (इहि) प्राप्त हो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्व ऋषियों के समान परमेश्वर का सहारा लेकर सदा वृद्धि करें ॥३॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जाल स्युचरा । नीलागलसाला ॥४॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर !] तू (अलसाला) आलसियों को रोकने वाली (पूर्वा) प्रधान शक्ति (असि) है, और तू (सिलाञ्जाला) कण कण को प्रकट करने

वाली और 'नीलागलसावा' सब लोकों के घर [ब्रह्माण्ड में] व्यापक (उ१रा) अति उत्तम शक्ति (असि) है ॥४॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमेश्वर की महिमा को विचारते हुए मनुष्य सदा पुरुषार्थी होवे ॥४॥

सूक्तम् ॥१७॥

१—३ ॥ पृथिवी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानविषयोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।

एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सृतुं सवितवे ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) पञ्च महाभूतों के (गर्भम्) गर्भ को (आदधे) यथावत् धारण किया है, (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) स्थिर होवे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे पृथिवी बीज को अपने में धारण करके अनुकूल समय पर उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रयत्न किया जावे कि संतान गर्भ से पूरे दिनों में उत्पन्न होकर बली और पराक्रमी होवे, ऐसा ही भाषार्थ आगे समझो ॥१॥

यह सूक्त स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि में गर्भाधान प्रकरण में आया है।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।

एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सृतुं सवितवे ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (इमान्) इस (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षक, वृक्ष आदि को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा 'म० १ ॥२॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।

एवा तै ध्रियतां गर्भो अनु सृतुं सवितवे ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी ने (पर्वतान्) पहाड़ों और (गिरीन्) पहाड़ियों को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा 'म० १ ॥३॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारं विष्टितं जगत् ।

एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सृतुं सवितवे ॥४॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (विष्टितम्) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत् को (दाधार) धारण किया है । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सृतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) धारण किया जावे ॥४॥

सूक्तम् ॥१८॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईर्ष्यानिवारणायोपदेशः ॥ ईर्ष्या के निवारण का उपदेश ॥

ईर्ष्याया आर्जि प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् ।

अग्निं हृदय्यं १ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरी (ईर्ष्यायाः) डाह की (प्रथमाम्) पहली (आर्जिम्) गति को, (उत) और (प्रथमस्याः) पहली गति की (अपराम्) दूसरी गति को, (हृदय्यम्) हृदय में भरी (तम्) सताने वाली (अग्निम्) अग्नि और (शोकम्) शोक को (निः) सर्वथा (वापयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी डाह न करे किन्तु दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति जाने ॥१॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।

यथोत मन्त्रो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली [ऊसर] होकर (मृतात्) मरे से भी (मृतमनस्तरा) अधिक मरे मन वाली है । (उत) और (यथा) जैसे (मन्त्रोः) मरे हुए मनुष्य का (मनः) मन है (एव) वैसे ही (ईर्ष्योः) डाह करने वाले का (मनः) मन (मृतम्) मरा होता है ॥२॥

भाषार्थः—जैसे भूमि ऊसर हो जाने से उपजाऊ नहीं रहती और जैसे मृतक प्राणी का मन कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही डाह करने वाला जल भुन कर उद्योगहीन हो जाता है ॥२॥

अदो यत् तै हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।

ततस्त ईर्ष्या मुञ्चामि निरुष्माणं हतैरिव ॥३॥

भाषार्थः—(अदः) वह (यत्) जो (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) रक्खा हुआ (पतयिष्णुकम्) घड़कता हुआ (मनस्कम्) छोटा मन है (ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (निमुञ्चामि) बाहिर निकालता हूँ, (इव) जैसे (हतैः) धोंकनी से (ऊष्माणम्) श्वास को ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष न करे क्योंकि उससे मन गिर जाता है, किन्तु पुरुषार्थ से अपनी उन्नति करे ॥३॥

सूक्तम् ॥१६॥

१-३ ॥ पवमानो देवता ॥ १ अनुष्टुप् २, ३ गायत्री ॥

पवित्राचरणायोपदेशः—पवित्र आचरण के लिये उपदेश ॥

पुनःतु मा देवजनाः पुनःतु मनवो धिया ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥१॥

भाषार्थः—(देवजनाः) विजय चाहने वाले वा व्यवहार कुशल पुरुष (मा) मुझे (धिया) कर्म वा बुद्धि से (पुनन्तु) शुद्ध करें, (मनवः) मननशील विद्वान् लोग (पुनन्तु) शुद्ध करें। (विश्वा) सब (भूतानि) प्राणीमात्र (मा) मुझे (पुनन्तु) शुद्ध करें, (पवमानः) पवित्र परमात्मा (पुनातु) शुद्ध करे ॥१॥

भाषार्थः—माता पिता और आचार्य आदि विद्वान् पुरुष संतानों को परमेश्वर के ज्ञानसहित ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से धार्मिक सुशील बनावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ सू० ६७ म० २७ और यजु० अ० १६ म० ३६ ॥

पवमानः पुनातु मा कृत्वे दक्षाय जीवसे ।

अथो अरिष्टतातये ॥२॥

भाषार्थः—(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (कृत्वे) उत्तम कर्म वा बुद्धि के लिये, (दक्षाय) बल के लिये, (जीवसे) जीवन के लिये (अथो) और भी (अरिष्टतातये) कल्याण करने के लिये (पुनातु) शुद्ध आचरण वाला करे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य वेद द्वारा विज्ञान प्राप्त करके बुद्धि, बल और कीर्ति बढ़ा कर आप सुखी रहें और सब को सुखी रखें ॥२॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।

अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥३॥

भावार्थः—(देव) हे दानशील (सवितः) सत्य कर्मों में प्रेरक जगदीश्वर ! (उभाभ्याम्) दोनों अर्थात् (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (च) और (सवेन) ऐश्वर्य से (अस्मान्) हमें (चक्षसे) देखने के लिये (पुनीहि) पवित्र कर ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर शुद्ध आचरण से ऐश्वर्य बढ़ा कर ससार के पदार्थों को विज्ञानपूर्वक साक्षात् करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ६७ । २५ । और यजु० १६ । ४३ ॥

सूक्तम् ॥२०॥

१-३ ॥ तस्मा देवता ॥ १ जगती, २ पङ्क्तिः, ३ विराट् पङ्क्तिः ॥

रोगनाशायोपदेशः— रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अग्नेर्वास्य दहत एति शुष्मिणं उत्तेवं मत्तो विलपन्नपायति ।

अस्मदिच्छतु कं चिद्व्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥१॥

भावार्थः—वह [ज्वर] (दहतः) दहकती हुई, (शुष्मिणः) बलवान् (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के [ताप के] (इव) समान (एति) व्यापता है, (उत) और (मत्तः इव) उन्मत्त के समान (विलपन्) विलपता हुआ (अप अयति) भाग जाता है । (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे (कम् चित्) किसी [कुनियमी] को (अव्रतः) वह व्रतहीन (इच्छतु) हूँ लेवे, (तपुर्वधाय) तपते हुए अस्त्र रखने वाले (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥१॥

भावार्थः—जहाँ पर उत्तम बंध होते हैं और मनुष्य उचित आहार विहार करते हैं वहाँ ज्वरादि रोग नहीं होते ॥१॥

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो रात्रे वरुणाय त्विषीमते ।

नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥२॥

भावार्थः—(रुद्राय) दुःखनाशक बंध को (नमः) नमस्कार, (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (त्विषीमते)

प्रकाशमान, (राज्ञे) सब के राजा, (वरुणाय) श्रेष्ठ परमेश्वर को (नमः) नमस्कार हो । (दिवे) प्रकाशमान सूर्य को (नमः) नमस्कार, (पृथिव्यै) फैली हुई पृथिवी को (नमः) नमस्कार, और (श्रोत्रघोर्भ्यः) तापनाशक अन्न आदि पदार्थों को (नमः) नमस्कार हो ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्पुरुषों के मेल, ईश्वर विचार और सांसारिक पदार्थों के नियमों के साक्षात् करने से स्वस्थ रहें ॥२॥

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वां रूपाणि हरिता कृणोषि ।

तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय त्वमने ॥३॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) बहुत ही शोक में डालने वाला तू (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (हरिता) हरे वा पीले (कृणोषि) कर देता है । (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) रक्त, (बभ्रवे) भूरे और (वन्याय) बनेले (त्वमने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सावधान रहकर रुधिर विकार आदि से उत्पन्न दुष्ट ज्वर आदि रोगों से बचकर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥३॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥२१॥

१-३ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।

तासामधि त्वचो अहं मैषजं समु जग्रभम् ॥१॥

भाषार्थः—(इमाः) यह (याः) जो (तिष्ठाः) तीन [सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष] (पृथिवीः) विस्तृत लोक है, (तासाम्) उन में (ह) निश्चय करके (भूमिः) भूमि, सब का आधार परमेश्वर (उत्तमा) उत्तम है। (तासाम्) उन [लोकों] के (त्वचः अधि) विस्तार से ऊपर (भेषजम्) भयनाशक ब्रह्म को (उ) अवश्य (ग्रहम्) मैंने (सम् जग्रभम्) यथावत् ग्रहण किया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के रचे लोक लोकान्तरों के सम्बन्ध और गुणों को जान कर परस्पर उपकार करें ॥१॥

श्रेष्ठं मसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।

सोमो भगं इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥२॥

भाषार्थः—(हे ब्रह्म !) तू (भेषजानाम्) भयनाशक पदार्थों में (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ और (वीरुधानाम्) विविध प्रकार से उगती हुई प्रजाओं के बीच (वसिष्ठम्) अत्यन्त धन वाला वा वसने वाला (असि) है, (इव) जैसे (भगः) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्रमा (यामेषु) चलने वाले ताराओं के बीच, और (यथा) जैसे (वरुणः) सूर्य (देवेषु) प्रकाशमान पदार्थों में है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का आश्रय लेकर सदा पुरुषार्थ करें ॥२॥

रेवतीरनाधूषः सिषासवः सिषासथ ।

उत स्थ केशदहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥३॥

भाषार्थः—(रेवतीः) हे धनवाली ! (अनाधूषः) कभी हिंसा न करने वाली ! (सिषासवः) हे दान करने वा सेवा करने की इच्छा वाली प्रजाओं ! तुम (सिषासथ=०—सत) सेवा करने की इच्छा करो । तुम (उत) अत्यन्त (केशदहणीः) प्रकाश दूढ़ करने वाली (अथो ह) और भी (केशवर्धनीः) प्रकाश बढ़ाने वाली (स्थ) हो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्याधन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके प्रीतिपूर्वक ईश्वर भक्ति करते हुए दृढ़ता से विद्या का प्रकाश बढ़ावें ॥३॥

सूक्तम् ॥२२॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ जगती ॥

वृष्टिविद्योपदेशः—वृष्टिविद्या का उपदेश ॥

कृष्णं न॒यानं॑ ह॒रयः॑ सु॒पर्णा॑ अ॒पो व॒साना॑ दि॒वमु॒त् प॑तन्ति ।

त आ॒व॒वृ॒त्रन्त्स॒द॒ना॒दृ॒तस्या॑दिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वीं व्यू॒दुः ॥१॥

भाषार्थः—(हरयः) रस खींचने वाली, (सुपर्णाः) अच्छा उड़ने वाली किरणें (अपः) जल को (वसानाः) ओढ़ कर (कृष्णम्) खींचने वाले (नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में होकर (दिवम्) प्रकाशमय सूर्यमण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं । (ते) वे (इत्) ही (आत्) फिर (ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) लौट आती हैं, और उन्होंने (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि) विविध प्रकार से (ऊदुः) सींच दिया है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य की किरणें पवन द्वारा भूमि से जल को खींचकर और फिर बरसा कर उपकार करती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ सू० १६४ । म० ४७ और निरु० ७ । २४ । में भी ॥

प॒र्य॒स्वतीः॑ कृ॒णु॒थाप॑ ओष॒धीः॑ शि॒वा य॒देज॑था म॒रुतो॑ रु॒क्मव॑क्षसः ।

ऊ॒र्जं च॑ त॒त्रं सु॒म॒तिं च॑ पि॒न्वत॑ यत्रा॒ नरो॑ म॒रुतः॑ सि॒ञ्च॒था म॑धुं ॥२॥

भाषार्थः—(रुक्मवक्षसः) हे तेज [विजुली] को हृदय में रखने वाले (मरुतः) वायु के वेगो ! (यत्) जब (एजथ) तुम चलते हो, (अपः) जल और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पर्यस्वतीः) रसवाली और (शिवाः) कल्याणकारी (कृणुथ) तुम करते हो । (च) और (तत्र) वहाँ (ऊर्जम्) बल देने वाला अग्नि (च) और (सुमतिम्) उत्तम बुद्धि (पिन्वत) बरसाते हो, (यत्र) जहाँ पर (नरः) हे नायक (मरुतः) वायुगणो ! (मधु) जल (सिञ्चथ) सींचते हो ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार वायु विजुली से युक्त मेघ से मिलकर बरसा करता है और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्यों को विद्या आदि उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्दित होना चाहिये ॥२॥

उ॒द॒प्र॒तौ म॒रुत॑स्ताँ इ॒यर्ते॑ष्टृष्टि॒र्या वि॒श्वां नि॒वत॑स्पृणा॒तिं ।

ए॒जा॒तिं ग्ल॑ह्य क॒न्ये॒व तु॒न्नैरं॑ तु॒न्दा॒ना प॒त्ये॒व जा॒या ॥३॥

भाषार्थः—(उदप्रतः) हे जल के भेजने वाले (मरुतः) वायुगणो ! (तान्=ताम्) उस [वृष्टि] को (इयत्) तुम भेजो, (या) जो (वृष्टिः) बरसा (विश्वाः)

सब (निवतः) नीचे स्थानों को (पृणाति) भर देती है। (गल्हा) वह ग्रहण करने योग्य [वृष्टि] (एरम्) गतिशील समुद्र को (एजाति=एजति) पहुँचती है, (इव) जैसे (तुन्ता) व्याघ्र में पड़ी (कन्या) कन्या [अपने माता पिता आदि को], और (इव) जैसे (तुन्वाना) दुःख पातो हुई (जाया) पत्नी (पत्या=पतिम्) अपने पति को [पहुँचती है] ॥३॥

भावार्थः—जिस प्रकार वायु द्वारा वृष्टिजल संसार का उपकार करता हुआ समुद्र में शान्ति पाता है, इसी प्रकार मनुष्य परस्पर उपकार करके उस परब्रह्म में सुखप्राप्ति करें ॥३॥

सूक्तम् ॥२३॥

१—३ ॥ आपो देवताः ॥ १ अनुष्टुप्, २ गायत्री; ३ उष्णिक् छन्दः ॥

कर्मकरणाद्योपदेशः—कर्म करने के लिये उपदेश ॥

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः ।

वरैष्यक्रतुरहमपो देवीरूपं ह्वये ॥१॥

भावार्थः—(वरैष्यक्रतुः) उत्तम कर्म वा बुद्धि वाला (अहम्) मैं (अपसः) व्यापक (तत्=तस्य) विस्तृत ब्रह्म की (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) राति (सस्रुषीः सस्रुषीः) अत्यन्त उद्योगशील, (देवीः) प्रकाशमय (अपः) व्यापक शक्तियों को (उप) आदर से (ह्वये) बुलाता हूँ ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों का विचार करते हुए सदा पुरुषार्थ करें ॥१॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्तिवतः प्रणीतये । सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥२॥

भावार्थः—(ओताः) अच्छे प्रकार बुनी हुई (कर्मण्याः) कामों में कुशल (आपः) [परमेश्वर की] व्यापक शक्तियाँ [हमें] (इतः) इस [कष्ट] से (प्रणीतये) उत्तम नीति के लिये (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। और (सद्यः) तुरन्त (एतवे) चलने को (कृण्वन्तु) बनावें ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वरीय रचनाओं को देखकर उत्तम नीति पर चलकर सदा आगे बढ़े ॥२॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।

शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥३॥

भाषार्थः—(मानुषाः) सब मनुष्य (देवस्य) प्रकाशमय (सवितुः) सर्वप्रेरक परमेश्वर के (सवे) शासन में (कर्म) कर्म (कृण्वन्तु) करते रहें। (शिवाः) कल्याण-कारक (श्रोषधीः = ० - धयः) अन्न आदि पदार्थ (शम्) शान्ति से (नः) हमारे (अपः) कर्म को (भवन्तु) प्राप्त हों ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य वेदविहित कर्मों को करते हुए पुरुषार्थपूर्वक अन्न आदि पदार्थों को भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥२४॥

१—३ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।

आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम् ॥१॥

भाषार्थः—(आपः) व्यापक शक्तियाँ [वा जलधारायें] (हिमवतः) वृद्धिशील वा गतिशील परमेश्वर से [वा हिमवाले पहाड़ से] (प्रस्रवन्ति) बहती रहती हैं, और (समह) हे महिमा के साथ वर्तमान पुरुष ! (सिन्धौ) बहने वाले संसार [वा समुद्र] में (सङ्गमः) उनका सङ्गम है। (देवीः) वे दिव्य गुण वाली शक्तियाँ [वा जलधारायें] (ह) निश्चय करके (मह्यम्) मेरे लिये (तत्) वह (हृद्योतभेषजम्) हृदय की चमक का भय जीतने वाला औषध (ददन्) देवें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपकारशक्तियों को विचार कर अपने दोष मिटावें, अथवा जल द्वारा रोगनाश करें ॥१॥

यन्मै अक्ष्योर्दिद्योत पाण्योः प्रपदोश्च यत् ।

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तयाः ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जो [दुःख] (मे) मेरे (अक्ष्योः) दोनों नेत्रों में (पाण्योः) दोनों एड़ियों में, (च) और (यत्) जो (प्रपदोः) पांव के दोनों पंजों में (आविद्योत) चमक उठा है। (भिषजाम्) वैद्यों में (सुभिषक्तयाः) अति पूजनीय वैद्य रूप (आपः) परमेश्वर की व्यापक शक्तियाँ वा जलधारायें (तत्) उस (सर्वम्) सब को (निष्करन्) हटावें ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों के गुण जान कर अपना रोग निवारण करें ॥२॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यं १ स्थनं ।

दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहे ॥३॥

भाषार्थः—(सिन्धुपत्नीः) बहने वाले संसार [वा समुद्र] की पालने वाली, (सिन्धुराज्ञीः) बहने वाले जगत् की शासन करने वाली, [वा समुद्र की शोभा बढ़ाने वाली] (याः) जो तुम (सर्वाः) सब शक्तियाँ (नद्यः) [परमेश्वर की] स्तुति करने वाली [वा नदियाँ] (स्थन) हो । वे तुम (नः) हमें (तस्य) हिंसक रोग की (भेषजम्) ओषधि (दत्त) दो, (तेन) उससे (वः) तुम्हारे [गुणों को] (भुनजामहे) हम भागें ॥३॥

भाषार्थः— जिस परमेश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये अनन्त रचनायें की हैं, उसकी उपासना करके मनुष्य सदा शान्ति पावें और जल द्वारा रोग-निवृत्ति करें ॥३॥

सूक्तम् ॥२५॥

१-३ । वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः— रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥१॥

भाषार्थः (पञ्च) पाँच (च च) और (पञ्चाशत्) पचास (याः) जो पीड़ायें (मन्याः अभि) गले की नसों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्त होती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहाँ से (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें, (इव) जैसे (अपचिताम्) निर्बलों के (वाकाः) वचन [नष्ट हो जाते हैं] ॥१॥

भाषार्थः— जैसे सद्वैद्य गले के गंडमाला आदि रोगों को नष्ट करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों का निवारण करें ॥१॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥२॥

भाषार्थः— (सप्त) सात (च च) और (सप्ततिः) सत्तर (याः) जो पीड़ायें (ग्रैव्याः अभि) कण्ठ की नाड़ियों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्ती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब...म० १ ॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥३॥

भाषार्थः—(नव) नव (च च) और (नवतिः) नव्वे (याः) जो पीड़ायें (स्कन्ध्याः अभि) कन्धे की नाड़ियों में (संयन्ति) व्याप्ती हैं। (ताः सर्वाः) वे सब...म० १ ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥३॥

सूक्तम् ॥२६॥

१—३ ॥ पाप्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कष्टत्यागायोपदेशः—कष्ट त्यागने के लिये उपदेश ॥

अव मा पाप्मन्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।

आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेयविहृतम् ॥१॥

भाषार्थः—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (मा) मुझे (अव सृज) छोड़ दे और (वशी) वश में पड़ने वाला (सन्) होकर तू (नः) हमें (मृडयासि) सुख दे। (पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (भद्रस्य) आनन्द के (लोके) लोक में (मा) मुझे (अविहृतम्) पीड़ा रहित (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) रख ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य पुरुषार्थ से विघ्नों को हटाते हैं, वे आनन्द पाते हैं ॥१॥

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।

पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पशताम् ॥२॥

भाषार्थः—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (यः) जो तू (नः) हमें (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है, (तम्) उस (त्वा) तुझ को (उ) ही (वयम्) हम (जहिमः) छोड़ते हैं। (अनु) फिर (पथाम्) मार्गों के (व्यावर्तने) घुमाव पर (अन्यम्) दूसरे [अधर्मी] को (पाप्मा) दुःखदायी विघ्न (अनु पशताम्) प्राप्त होवे ॥२॥

भाषार्थः—अधर्मी लोग अनेक विघ्नों में पड़कर दुःख उठाते हैं। और धर्मात्मा विघ्नों को हटा कर सुख पाते हैं ॥२॥

अन्यत्रास्मन्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।

यं द्वेषाम तमृच्छतु यमुं द्विषस्तमिज्जहि ॥३॥

भाषार्थः—(सहस्राक्षः) सहस्रों [रोपों] में दृष्टि रखने वाला, (अमर्त्यः) मनुष्यों का हित न करने वाला [विघ्न] (अस्मत्) हम से (अग्न्यत्र) दूसरों में (नि) नित्य (उच्यते) प्राप्त हो। (यम्) जिसको (द्वेषाम) हम बुरा जानें, (तम्) उसको (ऋच्छतु) यह [विघ्न] प्राप्त हो। और (यम्) जिसको (उ) ही (द्विष्मः) हम बुरा जानते हैं, (तम्) उसको (इत्) ही (जहि) नाश कर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्यों को अनेक दोषों के कारण बड़े हानिकारक विघ्न रोकते हैं। इस लिये मनुष्यों को पुरुषार्थपूर्वक विघ्न हटाना योग्य है ॥३॥

सूक्तम् ॥२७॥

१—३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

देवाः कपोतं इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।

तस्मा अर्चाम कृण्वाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्तियोग्य, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी का (दूतः) नाश करने वाला, (कपोतः) बरणीय वा स्तुतियोग्य [अथवा, कवूतर पक्षी के समान दूरदर्शी और तीक्ष्ण बुद्धि] पुरुष (यत्) पूजनीय ब्रह्म को (इच्छन्) खोजता हुआ, (इदम्) इस स्थान में (आजगाम) आया है। (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (अर्चाम) हम पूजा करें और (निष्कृतिम्) अपनी निर्मुक्ति (कृण्वाम) हम करें, [जिससे] (नः) हमारे (द्विपदे) दीपाये समूह को (शम्) शान्ति और (चतुष्पदे) चौपाये समूह को (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे कवूतर दूर देशों में सन्देश लेजाकर उत्तर लाते हैं, उसी प्रकार दूरदर्शी और बुद्धिमान् ब्रह्मजानी विद्वानों से मनुष्य आदर-पूर्वक विद्या प्राप्त करके और दुःखों से मुक्ति पाकर आनन्द भोगें ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १०। सू० १६५। म० १-३। अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋक् संहिता में [कपोतो नैऋतः] कपोत निर्ऋतिका पुत्र ऋषि और [कपोतोपहृती प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्] कपोत के हनन में, विश्वेदेवा, सब विद्वानों का प्रायश्चित्त देवता है ॥

शिवः कपोतं इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।

अग्निर्हि विप्रो जुपतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्त योग्य (अनागाः) निर्दोष, (शकुनः) समर्थ (कपोतः) स्तुतियोग्य विद्वान् (नः) हमारे लिये और (नः) हमारे (गृहम्=गृहाय) घर के लिये (शिवः) मंगलकारी (अस्तु) होवे । (अग्निः) वह विद्वान् (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष (नः) हमारे (हविः) देने लेने योग्य कर्म को (हि) अवश्य (बुधताम्) स्वीकार करे । (पक्षिणी) पक्षपातवाली (हेतिः) चोट (नः) हमें (परि) सब और से (वृणक्तु) छोड़े ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्ण विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर अन्याय से पक्षपात न करें ॥२॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मान्नाष्टी पदं कृणुते अग्निधाने । शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत कपोतः ॥३॥

भाषार्थः—(पक्षिणी) पक्षपात वाली (हेतिः) चोट (अस्मान्) हमें (न) न (दभाति) दबावे (आष्टी) व्याप्त सभा के बीच (अग्निधाने) विद्वानों के स्थान पर [वह विद्वान्] (पदम्) अपना अधिकार (कृणुते) करता है । (देवाः) हे विद्वानो ! (कपोतः) स्तुतियोग्य पुरुष (नः) हमारी (गोभ्यः) गीधों के लिये (उत) और (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवः) मंगलकारी (अस्तु) होवे । और (नः) हमें (इह) यहां पर (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥३॥

भाषार्थः—जिस सभा में सभापति वेदानुगामी न्यायकारी होता है, यहां के सभासद् अन्यायी पक्षपाती नहीं होते और न दुःख उठाते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥२८॥

१-३ विद्वेदेवा देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वान् के गुणों का उपदेश ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिपं मदन्तः परि गां नयामः ।

सलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वान ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥१॥

भाषार्थः [हे विद्वानो !] (ऋचा) स्तुति से (प्रणोदम्) आगे बढ़ाने वाले (कपोतम्) स्तुति योग्य विद्वान् को (नुदत) आगे बढ़ाओ । (मदन्तः) हर्ष करते हुए और (दुरिता) दुर्गति के कारण (पदानि) चिह्नों को (सलोभयन्तः) मिटाते हुए हम लोग (इषम्) अन्न और (गाम्) विद्या को (परि) सब और (नयामः) पहुंचाते हैं । (पथिष्ठः) वह अति शीघ्रगामी विद्वान् (नः) हमें (ऊर्जम्) पराक्रम (हित्वा) देकर (प्र पदात्) आगे ऊहरे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि उद्योगी पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष को अपना नेता बना कर उन्नति करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १०। १६५। ५।

परीमे ३' ग्निर्मर्षत परीमे गामनेषत ।

देवेष्वंक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥२॥

भावार्थः—(इमे) इन पुरुषों ने (अग्निम्) विद्वान् को (परि) सब ओर (अर्षत) प्राप्त किया है, (इमे) इन्होंने (गाम्) विद्या को (परि) सब ओर (अनेषत) पहुँचाया है। और (देवेषु) विद्वानों में (श्रवः) यश (अंक्रत) किया है। (कः) कौन (इमान्) इन लोगों को (आ दधर्षति) जीत सकता है ॥२॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वानों से विद्या पाकर कीर्ति पाते हैं, वे सदा विजयी होते हैं ॥२॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद् बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।

या ३' स्थेषे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥

भावार्थः—(यः) जो (प्रथमः) गुरुियों में पहिला पुरुष (बहुभ्यः) अनेकों के किये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानः) खोजता हुआ (प्रवतम्) उत्तम पाने योग्य अधिकार पर (आससाद्) आया है। और (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह का (यः) और जो (चतुष्पदः) चौपाये समूह का (ईशे—ईष्टे) राजा है (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी पुरुष को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥३॥

भावार्थः—जो सर्वश्रेष्ठ पुरुष संसार के उपकार के लिए सम्मान दिखाकर सबकी रक्षा करता है, सब मनुष्य विपत्ति से बचने के लिये उस न्यायी वीर पुरुष का सत्कार करें ॥३॥

सूक्तम् ॥२६॥

१-३ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्, ३ त्रिष्टुबनुष्टुपी ॥

शुभगुणग्रहणाद्योपदेशः—शुभ गुण ग्रहण करने का उपदेश ॥

अमृन् हेतिः पंतत्रिणी न्येतु यदुल्लंको वदन्ति मोघमेतत् ।

यद् वा कपोतः पद्मग्नौ कृणोति ॥१॥

भाषार्थः (पतत्रिणी) नीचे गिरने वाली (हेतिः) चोट (अमून्) उन [शत्रुओं] को (नि) नीचे (एतु) ले जावे। (उल्लूकः) अज्ञान से ढकने वाला उल्लू के समान मूर्ख पुरुष (यत्) जो कुछ (वदति) बोलता है, (एतत्) वह (मोघम्) निरर्थक होवे। (यत्) क्योंकि (कपोतः) स्तुतियोग्य अथवा कबूतर के समान तीव्र-बुद्धि पुरुष (अग्नौ) विद्वानों के समूह में (वा) निश्चय करके (पदम्) अधिकार (कृणोति) करता है ॥१॥

भाषार्थः—जहाँ पर विद्वान् मनुष्य अधिकारी होते हैं, वहाँ पर मूर्ख शत्रुओं के वचन और कर्म निष्फल होते हैं ॥१॥

इस मन्त्र का दूसरा और तीसरा पाद ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ ॥४॥

यौ तं दूतौ निर्ऋत इदमेतौ अंहितौ प्रहितौ वा गृहं नः ।

कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥२॥

भाषार्थः—(निर्ऋते) हे नित्य मञ्जल देने वाले परमेश्वर ! (यौ जो (अप्रहितौ) अहित करनेवाले (वा) और (प्रहितौ) हित करने वाले (ते) तेरे (दूतौ) विज्ञान कराने वाले दोनों गुण (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर में (आ—इतः) आते हैं। (कपोतोलूकाभ्याम्) उन विज्ञान से स्तुति के योग्य और अज्ञान से ढकने वाले गुणों द्वारा (तत्) विस्तृत ब्रह्म (अपदम्) न प्राप्त योग्य दुःख को (अस्तु—अस्यत्) गिरा देवे ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था से सुख और दुःख दोनों का अनुभव करके सुख के मूल सुकर्म का ग्रहण, और दुःख के कारण कुकर्म का त्याग करें ॥२॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा संसद्यात् । पराङ्मेव परा वद् पराचीमनु संवतम् । यथा यमस्य त्वा गृहेऽसं प्रतिचाकशाना भूकं प्रतिचाकशान् ॥३॥

भाषार्थः—[स्तुति के योग्य कपोत विद्वान्] (अवैरहत्याय) वीरों के न मारने के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ—आगत्य) आकर (पपत्यात्) समर्थ होवे और (सुवीरतायै) बड़े वीरों के हित के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ) आकर (संसद्यात्) बैठे। [हे उल्लू के समान मूर्ख शत्रु !] (पराङ्) ओंघे मुख होकर (पराचीम्) अधोगत (संवतम्) संगति की (अनु—अनुगत्य) और (परा) दूर होकर (एव) ही (वद) बात कर। (यथा) क्योंकि (यमस्य) न्यायकारी पुरुष के (गृहे)

घर में (त्वा) तुझ को (अरसम्) निर्वन् (प्रतिचाकशान्) लोग देखें, और (आभूकम्) असमर्थ (प्रतिचाकशान्) वे देखें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी जन का सहाय लेकर न्यायपूर्वक श्रेष्ठ वीरों की रक्षा और मूर्ख दुराचारियों का नाश करके सुखी रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥३०॥

१—३ ॥ सरस्वती गमी वा देवता ॥ १ जगती, २ विराट् ३ उष्णिक् ॥

विद्यागुणोपदेशः विद्या के गुणों का उपदेश ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि गणावचर्कषुः । इन्द्रासीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥१॥

भावार्थः—(देवाः) विद्वान् लोगों ने (मधुना) मधुर रस वा ज्ञान से (संयुतम्) मिले हुए (इमम्) इस (यवम्) यव अन्न को (सरस्वत्याम् अधि) विज्ञान से युक्त वेद विद्या को अधिष्ठात्री मानकर (मणौ) उसके श्रेष्ठपन में (अचर्कषुः) बार बार जोता । (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्म वा बुद्धि वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् आचार्य (सीरपतिः) हल का स्वामी (आसीत्) था और (सुदानवः) बड़े दानी (मरुतः) विद्वान् पुरुष (कीनाशाः) परिश्रमी किसान (आसन्) थे ॥१॥

भावार्थः—ब्रह्मवादी लोग आचार्य के उपदेश से वेदविद्या को प्रधान मानकर उसकी उत्तमता को खोजकर ऐसा आनन्द पाते हैं जैसे किसान लोग अपने स्वामी की आज्ञा से विधिपूर्वक खेत में बीज बोकर अन्न प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ॥१॥

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।

आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥२॥

भावार्थः—(शमि) हे शान्ति करने वाली [सरस्वती !] (यः) जो (ते) तेरा (मदः) आनन्द (अवकेशः) शुद्ध प्रकाश वाला और (विकेशः) विविध प्रकाश वाला है, (येन) जिससे (पुरुषम्) पुरुष को (अभिहस्यम्) बड़ा खिलने योग्य (कृणोषि) तू करती है । (त्वत्) तुझ से (अन्या) भिन्न [अविद्यारूप] (वनानि) मांगने के कामों को (आरात्) दूर (वृक्षि) मैंने छोड़ दिया है । (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैकड़ों अंकुर वा शाखा वाली होकर (वि) विविध प्रकार से (रोह) प्रकट हो ॥२॥

भावार्थः—योगी जन विद्या की प्राप्ति से अज्ञान को मिटाकर “श्रुत-म्भरा” बुद्धि द्वारा अनेक सुख पाते हैं ॥२॥

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।

मातेव पुत्रेभ्यो मृदु केशेभ्यः शमि ॥३॥

भावार्थः—(बृहत्पलाशे) हे बहुत पालनशक्ति से व्याप्त ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (वर्षवृद्धे) हे वरणीय गुरुओं से बड़ी हुई ! (ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (शमि) हे शान्तिकारिणी सरस्वती ! (केशेभ्यः) प्रकाशों के लिये (मृदु) सुखी हो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्या को प्राप्त करते हैं, उन्हें वह ऐसे सुख देती है जैसे माता पुत्रों को ॥३॥

सूक्तम् ॥३१॥

१-३ ॥ सारंपराजी सूर्यो वा देवता । गायत्री छन्दः ॥

सूर्यस्य भूमेर्वा गुरोपदेशः—सूर्यं वा भूमि के गुरुओं का उपदेश ॥

आयं गौः पृश्निरऋमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्स्वः ॥१॥

भावार्थः—(अयम्) यह (गौ) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ ऋमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः) सम्मुख हो कर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥१॥

भावार्थः—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूम कर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथिवी आदि लोकों का उपकार करता है ॥१॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र कुछ भेद से अन्य तीनों वेदों में इस प्रकार हैं ॥

वेद	पंता	ऋषि	देवता
ऋग्वेद	१०।१८।१-३	सारंपराजी	सारंपराजी वा सूर्य
यजुर्वेद	३।६-८	सारंपराजी ऋषि	अग्नि
सामवेद	पू० ६।१४।४-६	सारंपराजी	सूर्य

हमने “सारंपराजी” चलने वाले और चमकने वाले सूर्य से सम्बन्ध वाली पृथिवी और “सूर्य” को देवता मान कर सूक्त का अर्थ किया है । प्रत्येक मन्त्र के साथ महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ दिखाया गया है । सविस्तार उनके भाष्य में देख लें ॥

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका—पृष्ठ १३६, पृथिव्यादि अमरा—

“(अयम्) यह (गोः) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, अथवा अन्य लोक (पृथिनः= पृथिनम्) अन्तरिक्ष में (आ अक्रमीत्) घूमता चलता है, इनमें पृथिवी (मातरम्) अपने उत्पत्ति कारण जल को तथा (पितरम्) (स्वः) पिता और अग्निमय सूर्य को (असदत्) प्राप्त होती है (च) और (पुरः) पूर्वं पूर्वं (प्रयन्) सूर्य के चारों ओर घूमती है। ऐसे ही सूर्य वायु पिता और आकाश माता के तथा चन्द्रमा, अग्नि पिता और जल माता के प्रति घूमता है ॥”

यजुर्वेद- अ० ३ म० ६ ॥

“(अयम्) यह (गोः) गोलरूपी पृथिवी (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) सूर्य के और (मातरम्) अपनी योनिरूप जल के (पुरः) आगे आगे (प्रयन्) चलती हुई (पृथिनः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आ अक्रमीत्) चारों ओर चलती है (च) और (असदत्) अपनी कक्षा में घूमती है ॥

भावार्थः—यह पृथिवी अपने योनि रूप जल सहित आकर्षण करने वाले सूर्य के चारों ओर घूमती है, उसी से दिनरात्रि, शुक्ल कृष्णपक्ष और ऋतु और अयन आदि काल विभाग उत्पन्न होते हैं ॥”

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यंख्यन्महिषः स्वः । २॥

भाषार्थः—(प्राणात्) भीतर की श्वास के पीछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालते हुए (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (अख्यत्) प्रकाशित करता है ॥२॥

भावार्थः—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रह कर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥२॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य, यजुर्वेद ३ । ७ ।

“(प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर जाने वाले वायु से (अपानतः) नीचे को जाने वाले वायु को उत्पन्न करते हुए (अस्य) इस अग्नि की (रोचना) दीप्ति अर्थात् बिजुली (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य (चरति) चलती है, वह (महिषः) अपने गुराँ में बड़ा अग्नि (स्वः) सूर्य लोक को (व्यख्यत्) प्रकट करता है ॥२॥

भावार्थः—सब प्राणियों के भीतर रहने वाली अग्नि की कान्ति बिजुली प्राण और अपान के साथ मिलकर सब चेष्टाओं को सिद्ध करती है ॥२॥

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अंशिभ्रियत् ।

प्रति वस्तो रहर्षुभिः ॥३॥

भाषार्थः—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्यवाला सूर्य (त्रिंशत् धामा) तीस धामों पर [दिन रात्रि के तीस मुहूर्तों पर] (वस्तोः, अहः) दिन दिन (द्युभिः) अपनी किरणों और गतियों के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अंशिभ्रियत्) आश्रय लिया है ॥३॥

भाषार्थः—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रह कर अपनी परिधि के लोकों को गमन, आकर्षण, विकषण, दृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥३॥

दिन रात्रि के तीस मुहूर्त भगवान् मनु ने भी माने हैं—अ० १ श्लोक ६४ ॥

निमेवा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः ।

त्रिंशत् कलां मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥१॥

१८ पलक की १ काष्ठा, ३० काष्ठा की १ कला, ३० कला का १ मुहूर्त, और उत ही ३० मुहूर्त का दिन रात होता है ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य यजुर्वेद ३ । ८ ॥

भाषार्थः—(द्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से (प्रति वस्तोः, अहः) प्रति दिन (त्रिंशत्) अन्तरिक्ष, आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि तीस (धाम) स्थानों को (पतङ्गः) चलने चलाने वाला अग्नि (वि राजति) प्रकाशित करता है—(वाक्) इस वचन ने [उस अग्नि में] (अंशिभ्रियत्) आश्रय लिया है ॥३॥

भाषार्थः—जो वाणी प्राणयुक्त शरीर में रहने वाले बिजुली नाम अग्नि से प्रकाशित होती है विद्वान् लोग उसका गुण प्रकाश करने के लिये उग्रका नित्य उपदेश और श्रवण करें ॥३॥

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ६८ वेदविषय में तैंतीस देवता इस प्रकार लिखे हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, छीः, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ ग्यारह रुद्र अर्थात् शरीरस्थ दश प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ग्यारहवां जीवात्मा; १२ आदित्य वा महीने; १ इन्द्र, अर्थात् बिजुली, और १ प्रजापति अर्थात् यज्ञ । उक्त मन्त्र में उनमें से ऊपर लिखे तीन को छोड़ कर तीस देवताओं का ग्रहण है ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सुवत्तम् ॥३२॥

१-३ ॥ अग्निः, २ रुद्रः, ३ मित्रावरुणौ देवते ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

रक्षोनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे ३ तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।

आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥१॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो] (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) पीड़ा देने वालों के नाश करने वाले कर्म को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अन्तर्दावे) भीतरी सन्ताप में (सु) अच्छे प्रकार (जुहुत) छोड़ो । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (रक्षांसि) राक्षसों को (आरात्) दूर करके (प्रतिदह) भस्म करदे और (नः) हमारे (गृहाणाम्) घरों का (उप) कुछ भी (न तीतपासि) मत तापकारी हो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य अन्धकारनाशक परमेश्वर के ज्ञान से विद्या का प्रकाश करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का जड़ से नाश करें ॥१॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृथ्वीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।

धीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥२॥

भाषार्थः—[पिशाचाः] हे मांसभक्षक ! [रोगो वा प्राणियो] (रुद्रः) दुःख-नाशक सेनापति ने (वः) तुम्हारे (ग्रीवाः) गले को (अशरैत्) तोड़ डाला है, (यातु-धानाः) हे पीड़ादायको ! (वः) तुम्हारी (पृथ्वीः) पसलियाँ (अपि) भी (शृणाति) तोड़े । (विश्वतोवीर्या) सब ओर से सामर्थ्य वाली (वीर्युः) विविध प्रकार से प्रका-पित होने वाली शक्ति [परमेश्वर] ने (वः) तुमको (यमेन) नियम के साथ (सम् अजीगमत्) संयुक्त किया है ॥२॥

भाषार्थः—प्रतापी राजा दुःखदायक शत्रु और रोगों का सदा प्रती-कार करे । उस परमात्मा ने सब के कर्मों को वेद द्वारा नियमबद्ध किया है ॥२॥

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणोऽनुदत्तं प्रतीचः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥३॥

भाषार्थः—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान ! [अथवा हे दिन और

रात्रि !] (नः) हमारे लिये (इह) यहाँ पर (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, [तुम दोनों अपने] (अचिषा) तेज से (अत्त्रिणः) खा डालने वालों को (प्रतोचः) उलटा (नुदतम्) हटा दो । वे लोग (मा) न तो (जातारम्) सन्तोषक पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (विदन्त) पावें, (मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुए (मृत्युम्) मृत्यु को (उप यन्तु) प्राप्त हों ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और समय का ऐसा सुन्दर प्रयोग करें जिससे शत्रु लोग कहीं शरण न पावें और आपस में कट मरें ॥३॥

सूक्तम् ॥३३॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ उष्णिक् ॥

सर्वलक्ष्मीप्राप्त्युपदेशः—सर्व लक्ष्मी पाने को उपदेश ॥

यस्ये दमा रजो युजंस्तुजे जना वनं स्वः ।

इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥१॥

भाषार्थः—(यस्य) जिस (युजः) संयोग करने वाले परमेश्वर के (तुजे) बल में (इदम्) यह (रजः) लोक, (जनाः) सब मनुष्य, (वनम्) जल (आ) और (स्वः) सूर्य्य है । (इन्द्रस्य) उस बड़े ऐश्वर्य्य वाले जगदीश्वर का (रन्त्यम्) क्रीड़ा स्थान (बृहत्) बड़ा है ॥१॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा की शक्ति में यह सब संसार है, उसकी महिमा मनुष्य की समझ से बाहर है ॥१॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।

पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥२॥

भाषार्थः—(धृषितः) हारा हुआ शत्रु (धृषाणः = ०—णस्य) हराने वाले [इन्द्र] का (शवः) बल (न) नहीं (आधृषे = ०—ष्टे) कुछ भी हराता है, (आ) कुछ भी (दधृषते) हराता है । (यथा) क्योंकि (व्यथिः) व्यथा में पड़ा हुआ शत्रु (पुरा) निकट होकर (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य्य वाले पुरुष के (श्रवः) यश और (शवः) बल को (न) नहीं (आधृषे) कुछ भी हराता है ॥२॥

भाषार्थः—अधर्मी दुष्ट मनुष्य धर्मात्मा बलवानों को कदापि नहीं हरा सकते ॥२॥

स नो ददातु तां रयिमुखं पिशङ्गसदृशम् ।

इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥३॥

भाषार्थः—(सः) वह (नः) हमें (उरुम्) विस्तृत (पिशङ्गसदृशम्, अपने अवयवों को दिखाने वाली (ताम्) उस (रयिम्) लक्ष्मी को (ददातु) देवे । (आ) हा, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (पतिः) पालने वाला और (जनेषु) सब मनुष्यों में (तुविष्टमः) सब से महान् है ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर की कृपा से सब मनुष्य विद्या, सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके आनन्दित रहें ॥३॥

(तुविष्टमः) के स्थान में पद पाठ में (तृषि-तमः) है ॥

सूक्तम् ॥३४॥

१--५ अग्निदेवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥१॥

भाषार्थः—[हे विद्वान् !] (क्षितीनाम्) पृथिवी आदि लोकों के बीच (वृष-भाय) महावनी (अग्नये) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर के लिये (वाचम्) वाणी (प्र ईरय) अच्छे प्रकार उच्चारण कर, (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति = अतीत्य) उलाँच कर (नः) हमें (पर्षत्) पाले ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की स्तुतिपूर्वक पुरुषार्थ करके दिग्द्रता आदि दुःखों को हटावे ॥१॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से रक्षांसि) राक्षसों को (निजूर्वति) मार गिराता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलाँच कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥२॥

भावार्थः—जैसे अग्नि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान से अज्ञान मिटावे ॥२॥

यः परंस्याः परावतंस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो परमेश्वर (परस्याः) दूर दिशा के भी (परावतः) दूर स्थान से (धन्व) अन्तरिक्ष को (तिरः = तिरस्कृत्य) पार करके (अतिरोचते) अत्यन्त चमकता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलाँध कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर दूर और समीप सब स्थान में हमारी रक्षा करता है ॥३॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥४॥

भाषार्थः—(यः) जो परमेश्वर (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (अभि) चारों ओर से (विपश्यति) अलग अलग देखता है (च) और (सम् पश्यति) मिले हुए देखता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलाँध कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर सब लोकों और पदार्थों को व्यस्त और समस्त रूप से देखकर उनकी सुधि रखता है ॥४॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अभिरजायत ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जो (शुक्रः) शुद्ध स्वभाव (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अस्य) इस (रजसः) अन्तरिक्ष के (पारे) पार (अजायत) प्रकट हुआ है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलाँध कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥५॥

भाषार्थः—परमेश्वर प्रत्येक स्थान में व्यापक रहकर हमारी रक्षा करता है ॥५॥

सूक्तम् । ३५॥

१—३ ॥ वैश्वानरोऽग्निदेवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश १॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः । अग्निर्नः सृष्टृतीरुपं ॥१॥

भाषार्थः—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारक परमेश्वर (नः) हमारी (ऊतये, रक्षा के लिये (परावतः) दूर वा उत्कृष्ट स्थान से (आ) सम्मुख (प्रयातु) आवे । (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमारी (सुष्टुतीः) यथाशास्त्र स्तुतियों को (उप=उपयातु) प्राप्त हो ॥१॥

भाषार्थः—हम सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा जानकर उसकी स्तुति करते रहें ॥१॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुपं । अग्निरुक्थेय्वंहसु ॥२॥

भाषार्थः—(वैश्वानरः) सब का नायक, (सजूः) प्रीति वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अंहसु) प्राप्ति योग्य (उक्थेषु) प्रकथनीय गुणों में वर्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (उप=उपेत्य) प्राप्त करके (नः) हम को (आ अगमत्) प्राप्त हुआ हैं ॥२॥

भाषार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति गाकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥२॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चावलुपत् । ऐषु शुम्नं स्वर्यमत ॥३॥

भाषार्थः—(वैश्वानरः) सब नरों का नायक परमेश्वर (अङ्गिरसाम्) जानी महर्षियों के (स्तोमम्) स्तुति-योग्य कर्म (च) और (उक्थम्) प्रकथनीय गुणों को (चवलुपत्) समय करे । (ऐषु) इन [महर्षियों] में (शुम्नम्) प्रकाशमान यज्ञ वा अन्न और (स्वः) अन्धे प्रकार प्राप्ति योग्य सुख (आ) सब ओर से (यमत्) स्थिर रहे ॥३॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग परमेश्वर के गुणों को जान कर पुरुषार्थपूर्वक संसार में कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥३॥

सुक्तम् ॥३६॥

१-३ वैश्वानरोऽग्निर्वेता ॥ गायत्री छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ऋत्वावीनं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजंस्त्र्यम्भमीमहे ॥१॥

भाषार्थः (ऋत्वावनम्) सत्यमय, (ऋतस्य) धन के और (ज्योतिषः) प्रकाश के (पतिम्) पति (वैश्वानरम्) सब के नायक परमेश्वर से (अजस्रम्) निरन्तर (धर्मम्) प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्यमय ज्योतिःस्वरूप परमात्मा से प्रार्थनापूर्वक विद्या का प्रकाश प्राप्त करें ॥१॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतुंस्तु सृजते वशी ।

यज्ञस्य दयं उत्तिरन् ॥२॥

भाषार्थः—(सः) वह (विश्वा प्रति) सब लोकों में व्यापकर (चक्लृपे) समर्थ हुआ है, (वशी) वह वश में रखने वाला (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (दयः) दान को (उत्तिरन्) बढ़ाता हुआ (ऋतुंस्तु) सब ऋतुओं को (उत्) उत्तमता से (सृजते) बनाता है ॥२॥

भाषार्थः—जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा मनुष्य के सुख के लिये उत्तम उत्तम पदार्थ और सब ऋतुएं बनाता है, उसकी स्तुति सदा करनी चाहिये ॥२॥

अग्निः परेषु धामसु कामी भूतस्य भव्यस्य ।

सम्राट्को वि राजति ॥३॥

भाषार्थः—(कामः) कामना के योग्य, (एकः) एक (सम्राट्) राजाधिराज (अग्निः) सर्वव्यापक परमात्मा (भूतस्य) बीते हुए और (भव्यस्य) होनहार काल के (परेषु) दूर दूर (धामसु) धामों में (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता है ॥३॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो उस परमात्मा की उपासना करके अपनी उन्नति करो जो अकेला ही इस संसार का स्वामी है ॥३॥

सूक्तम् ॥३७॥

१-३ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्वागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् ।

शुप्तारमन्विच्छन् मम वृकं इवाविमतो गृहम् ॥१॥

भाषार्थः—(सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार में दृष्टि वाला (शपथः) शांतिपथ बताने वाला (रथम्) रथ को (युक्त्वा) जोत कर (मम) मेरे (शुप्तारम) कुवचन बोलने वाले को (अन्विच्छन्) दूढ़ता हुआ (उप) समीप (प्र प्रागात्) आया है, (इव) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविमतो) भेड़ वाले के (गृहम्) घर में [आता है] ॥१॥

भावार्थः—राजा बहुदर्शी होकर कुवचनभाषियों को दण्ड देता रहे ॥१॥

परिं णो वृङ्ग्धि शपथ हृदमग्रिर्वा दहन् ।

शुप्तारमत्रं नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥२॥

भावार्थः—(शपथ) हे शान्तिमार्ग दिखाने वाले राजन् ! (नः) हमें (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे (इव) जैसे (दहन्) जलता हुआ (अग्निः) अग्नि (हृदम्) अथाह भील को [छोड़ जाता है] । अत्र यहाँ पर (नः) हमारे (शुप्तारम्) कोसने वाले को (जहि) नाश करदे, (इव) जैसे (दिवः) आकाश से (अशनिः) बिजुली (वृक्षम्) स्वीकरणीय वृक्ष को ॥२॥

भावार्थः—राजा दुष्टों के कलङ्क लगाने से घर्मात्माओं की रक्षा करे ॥२॥

यो नः शपादशपतः शपतो यच्च न शपात् ।

शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्युर्वै ॥३॥

भावार्थः—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (अवक्षामम् तम्) उस निर्बल को (मृत्युर्वै) मृत्यु के सामने (प्रति अस्यामि) मैं फँके देता हूँ (इव) जैसे (पेष्ट्रम्) रोटी का टुकड़ा (शुने) कुत्ते के सामने ॥३॥

भावार्थः—जो अवर्ध्नी घर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथ चित दण्ड देवे ॥३॥

सूक्तम् ॥३८॥

१-४ ॥ त्विषिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने के लिये उपदेश ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।

इन्द्रं या देवी सुभगां जजान सा न ऐतु वचसा संविदाना ॥१॥

भावार्थः—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (सिंहे) सिंह में, (व्याघ्रे) बाघ में (उत) और (पृदाकौ) फुसकारते हुए साँप में, और (या) जो (अग्नौ) अग्नि में,

(ब्राह्मणे) वेदवेत्ता पुरुष में और (सूर्ये) सूर्य में है। (या) जिस (देवी) दिव्य गुण-
वाली, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्यवाली [ज्योति] ने (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य को (जजान)
उत्पन्न किया है, (सा) वह (वर्चसा) अन्न ने (संविदाना) मिलती हुई (नः) हमें
(आ) आकर (एतु) मिले ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य संसार के सब बलवान् तेजस्वी पदार्थों में संघम
करके ऐश्वर्य और पराक्रम प्राप्त करे ॥१॥

यही भावार्थ अगले मन्त्रों में भी समझो ॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२॥

भाषार्थः—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि) चीते
में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, और (या) जो (अप्सु) जल में (गोषु) गौ आदिकों
में और (पुरुषेषु) पुरुषों में है। (या) जिस... १ ॥२॥

रथे अक्षेष्टृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुभे ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥३॥

भाषार्थः—(रथे) रथ में, (अक्षेष्टृ) पहियों में, (ऋषभस्य) बल के (वाजे)
बल में (वाते) पवन में, (पर्जन्ये) मेघ में, और (वरुणस्य) सूर्य के (शुभे) सुखाने
वाले सामर्थ्य में [जो ज्योति है]। (या) जिस... १ ॥३॥

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥

भाषार्थः—(राजन्ये) क्षत्रिय में, (आयतायाम्) कली हुई (दुन्दुभौ) दुन्दुभी
में, (अश्वस्य) घोड़े के (वाजे) बल में, (पुरुषस्य) मनुष्य के (मायौ, पित्त वा
शब्द में [जो ज्योति है] (या, जिस १ ॥४॥

सूक्तम् ॥३६॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप् ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश पाने का उपदेश ॥

यशो हविर्वधतामिन्द्रं जुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्रवृत्तम् ।

प्रसर्त्तानमनु दीर्घाय चक्षसे हविर्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रजितम्) परमेश्वर का भेजा हुआ (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्यवाला (सुभूतम्) अच्छे प्रकार भरा गया (सहस्कृतम्) पराक्रम से किया गया (यशः) यश और (हविः) अन्न (वर्धताम्) बढ़े । [हे परमेश्वर !] (दीर्घायि) बढ़े और (ध्येष्ठतातये) अत्यन्त प्रशंसनीय (चक्षसे) दर्शन के लिये (प्रसन्नाणिम्) आगे बढ़ने वाले और (हविष्मन्तम्) भक्तिवाले (मा) मुझको (अनु) निरन्तर (वर्धय) तू बढ़ा ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना करके पुरुषार्थपूर्वक संसार में कीर्ति और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥१॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसना विधेम ।

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजितं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥२॥

भाषार्थः—(यशसम्) यशस्वी, (यशोभिः) अपनी व्याप्तियों से (यशस्विनम्) बढ़े कीर्ति वाले (इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले परमेश्वर को (नमसना) नमस्कार करते हुए हम (नः) अपने लिए (अच्छ) अच्छे प्रकार (विधेम) पूजें । (सः) वह तू (इन्द्रजितम्) तुझ परमेश्वर से भेजा हुआ (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य ते) उस तेरे (रातौ) दान में हम लोग (यशसा) यशस्वी (स्याम) होंगे ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना करके पुरुषार्थ करते हैं वे संसार में कीर्ति पाते हैं ॥२॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशः सोमो अजायत ।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यश वाला, (अग्निः) अग्नि (यशाः) यश वाला, और (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यश वाला (अजायत) हुआ है । (यशाः) यश चाहने वाला (अहम्) मैं (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अतिपशस्वी (अस्मि) हूँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर महायशस्वी होवे ॥३॥

सूक्तम् ॥४०॥

१-३ ॥ सविता ॥ देवता १, २ जगती, ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रून्मो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा के लिये उपदेश ॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु ।

अभयं नोऽस्तुर्वै १ न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥१॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (इह) यहाँ पर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सविता) सबका उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे । (उरु) बड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (च) और (सप्तऋषीणाम्) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों के [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आँख, और मुख इन सात छिद्रों के] (हविषा) ठीक ठीक दान और ग्रहण से (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करे कि संसार के सब पदार्थ और अपने शरीर के सब अवयव यथावत् उपकार करके शान्तिप्रद हों ॥१॥

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।

अशङ्खिन्द्रो अभयं नः कृणोन्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥२॥

भाषार्थः—(सविता) सबका चलाने वाला परमेश्वर (अस्मै) इस (ग्रामाय) गाँव के लिये और (नः) हमारे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं में (ऊर्जम्) पराक्रम, (सुभूतम्) बहुत धन और (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला परमात्मा (नः) हमारे लिये (अशङ्खु) निर्वैर (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) क्रोध (अन्यत्र) औरों पर (अभि यातु) चला जावे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य धर्मपूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके शान्तचित्त रहें और ऐसे शुभ कर्म करें जिससे राजपुरुष उनसे सदा प्रसन्न रहें ॥२॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।

इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे महाप्रतापी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (अधरात्) नीचे से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (अनमित्रम्)

निर्वेस्ता, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (अनमित्रम्) निर्वेस्ता और (पुरः) आगे से (अनमित्रम्) निर्वेस्ता (कुधि) तू कर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सब स्थान और सब काल में शान्तिदायक कर्म करें ॥३॥

सूक्तम् ॥४१॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥१॥

भाषार्थः—(मनसे) उत्तम मनन साधन मन के लिये, (चित्तसे) ज्ञान के साधन चित्त के लिये, (धिये) धारणावती बुद्धि के लिये, (आकूतये) अच्छे सङ्कल्प वा उत्साह के लिये (उत) और (चित्तये) स्मृति के हेतु विवेक के लिये, (मत्यै) समझ के लिये, (श्रुताय) श्रवण के लिये और (चक्षसे) दर्शन के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को] (विधेम) पूजें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वरज्ञान द्वारा आत्मिक शक्तियों को बढ़ा कर सदा पुरुषार्थ करें ॥१॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।

सरस्वत्या उरुव्यचै विधेम हविषा वयम् ॥२॥

भाषार्थः—(अपानाय) बाहिर निकलने वाले अपानवायु के लिये, (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु के लिये, (भूरिधायसे) अनेक प्रकार से धारण करने वाले (प्राणाय) जीवन वायु प्राण के लिये और (उरुव्यचै) दूर दूर तक फैलने वाले (सरस्वत्यै) विज्ञानवती सरस्वती (विद्या) के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को] (विधेम) पूजें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर को आत्मसमर्पण करके आत्मा और शरीर से स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार से विज्ञान प्राप्त करें ॥२॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो देव्या ये तनूपा ये नस्तन्वंस्तनूजाः ।

अमर्त्या मर्त्या अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥३॥

भाषार्थः (दंष्ट्राः) दिव्यगुण वाले (ऋषयः) व्यापनशील वा दर्शनशील [प्रर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आँख और मुख] (नः) हमें (मा हासिषुः) न त्यागें, (ये) जो (तनूपाः) शरीर की रक्षा करने हारे और (ये) जो (नः) हमारे (तन्वः) शरीर के (तनूजाः) विस्तार के साथ उत्पन्न हुए हैं। (अमर्त्याः) हे अमर ! [नित्य उत्साहियो] (मर्त्यान्) मरते हुए [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले (नः) हम से (अग्नि) सब ओर से (सचध्वम्) मिले रहो, और (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) आयु (जीवसे) जीवन के लिये (धत्त) दान करो ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, विद्याप्राप्ति आदि कर्मों से हृष्ट पुष्ट रह कर संसार का उपकार करके कीर्ति पावें ॥३॥

यह मन्त्र स्वामी दयानन्द कृत “मंस्कार विधि, जातकर्म” में आशीर्वाद का है ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥४२॥

१—३ ॥ म॒न्युर्व॑वता ॥ अ॒नुष्ट॑प् छ॒न्वः ॥

क्रोधशान्त्युपदेशः— क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अ॒व॒ ज्या॒मि॒व॒ ध॒न्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः ।

यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा स॑खाया॒विव॒ सचा॑वहै ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हृदः) हृदय से (मन्युम्, क्रोध को (अव तनोमि) मैं उतारता हूँ, (इव) जैसे (धन्वनः) धनुष से (ज्याम्) डोरी को। (यथा) जिस से (संमनसौ) एकमन (भूत्वा) होकर (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यों को ईर्ष्या द्वेष छोड़कर सदा मित्र होकर रहना चाहिये ॥१॥

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते ।

अवस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥२॥

भावार्थः—(सखायी इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें, (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) मैं उतारता हूँ । (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अश्मनः) उस पत्थर के (अवः) नीचे (उप अस्यामसि) दबाकर हम गिराते हैं (यः) जो (गुरुः) भारी [पत्थर] है ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य क्रोध छोड़कर परस्पर प्रीति से रहें ॥२॥

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पाण्यं प्रपदेन च ।

यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३॥

भावार्थः—[हे मनुष्य ! (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को [तेरी] पाण्यं] एड़ी से (च) और (प्रपदेन) ठोकर से (अभि तिष्ठामि) मैं दबाता हूँ । (यथा) जिस से (अवशः) परवश (न = न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बातचीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (अप-आयसि) तू पहुँच करता है ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य क्रोधवश न होकर परस्पर शान्तचित्त रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥४३॥

१—३ ॥ दर्भो वेचता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशमनोपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।

मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥१॥

भावार्थः—(अयम्) यह (दर्भः) दर्भ अर्थात् दुःख नाश करने वाला वा सुकर्म गूथने वाला पुरुष (स्वाय) अपने समुदाय के लिये (च च) और (आरणाय) प्राप्ति योग्य शूद्र अन्त्यज आदि के लिये (विमन्युकः) क्रोध हटाने वाला है । (अयम्) यह (मन्योः) क्रोधी का (विमन्युकः) क्रोध दूर करने वाला और (मन्युशमनः) क्रोध शान्त करने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य को योग्य है कि बड़े और छोटों से शान्तचित्त होकर बर्ताव करें ॥१॥

(दर्भः) अर्थात् कुश घास औषध विशेष भी है जो वात पित्त कफ त्रिदोष आदि रोग नाश करता है ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।

दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥२॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (यः) जो (भूरिमूलाः) बहुत प्रतिष्ठा वाला होकर (समुद्रम्) अन्तरिक्ष लोक तक (अवतिष्ठति) फैलता है । (दर्भः) वह दर्भ सुकर्मों का मूथने वाला पुरुष (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) उठकर (मन्युशमनः) क्रोध शान्त करने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य विवेक द्वारा प्रतिष्ठित होकर अन्तरिक्ष आदि लोक तक अधिकार जमाता है, वह संसार में यशस्वी और शान्तचित्त माना जाता है ॥२॥

वि ते हनव्यां शरणि वि ते मुख्यां नयामसि ।

यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हनव्याम्) ठोड़ी में वर्तमान और (ते) तेरे (मुख्याम्) मुख पर वर्तमान (शरणिम्) हिंसा के चिह्न को (वि वि नयामसि) सर्वथा हटाने हैं । (यथा) जिससे (अवशः) परवश (न—न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बातचीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप आयासि) तू पहुँच करता है ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने शरीर के सब अङ्गों से सुचेष्टा करके सब का प्रिय रहे ॥३॥

सूक्तम् ॥४४॥

१—३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।

अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥१॥

भाषार्थः—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी है, (इदम्) यह (विद्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्) ठहरा है। (ऊर्ध्व-स्वप्नाः) ऊपर को मुख करके सोने वाले (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) ठहरे हुए हैं, [ऐसे ही] (तव) तेरा (अयम्) यह (रोगः) रोग (तिष्ठत्) ठहर जावे [और न बढ़े] ॥१॥

भाषार्थः—जैसे संसार के सब लोक परस्पर धारण और आकर्षण द्वारा अपनी अपनी कक्षा और परिधि में स्थित हैं, वैसे ही मनुष्य अपने दोषों को नियम में रखे ॥१॥

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।

श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (या) जो (शतम्) सौ (च) और (सहस्रम्) सहस्र (भेषजानि) औषधियां (संगतानि) परस्पर मेल वाली हैं, [उनमें से] (वसिष्ठम्) अतिशय धनी वा निवास करने वाला ब्रह्म (श्रेष्ठम्, अति श्रेष्ठ (आस्त्रावभेषजम्) रुधिर के बहाव वा घाव की औषध और (रोगनाशनम्) रोगों का नाश करने वाला है ॥२॥

भाषार्थः—योगीजन सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके उस परब्रह्म की आज्ञा पालन से सदा त्वस्थ और सुखी रहते हैं ॥२॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा

असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

भाषार्थः—[हे पुरुष] (रुद्रस्य, रुद्राने वाले भीषण क्लेश का (मूत्रम्) छुड़ाने वा बन्ध करने वाला बल और (अमृतस्य) अमरपन वा मुक्ति का (नाभिः) मध्यस्थ (असि) तू है। (विषाणका) विविध भक्ति का उपदेश करने वाली (नाम) प्रसिद्ध (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के (मूलात्) मूल से [आदि कारण परमेश्वर से] (उत्थिता) प्रकट हुई और (वातीकृतनाशनी) हिंसाकर्म की नाश करने वाली शक्ति (वै) निश्चय करके (असि) तू है ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य अनेक क्लेशों को सहते हैं और परमेश्वर का विश्वास करते हैं, वे ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं ॥३॥

विषाण और विषाणिका औषधि विशेष भी हैं ॥

सूक्तम् ॥४५॥-

१—३ ॥ अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ १ पथ्या पङ्क्तिः; २ त्रिष्टुप्;
३ अनुष्टुप् ॥

मानसिकपापनाशोपदेशः—मानसिक पाप के नाश का उपदेश ॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि । परेहि न त्वा
कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥१॥

भाषार्थः—(मनस्पाप) हे मानसिक पाप ! (परः) दूर (अप इहि) हट जा,
(किम्) क्या (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) तू बताता है । (परा इहि) दूर चला
जा, (त्वा) तुझको (न कामये) मैं नहीं चाहता, (वृक्षान्) वृक्षों और (वनानि) वनों
में (सम् चर) फिरता रह, (गृहेषु) घरों में और (गोषु) गौ आदि पशुओं में (मे)
मेरा (मनः) मन है ॥१॥

भावार्थः—विद्वानों को योग्य है कि वनचर डाकू आदिमियों के समान
दुष्कर्मों में अपना मन न लगावे, किन्तु सत्य व्यवहारी होकर परस्पर रक्षा
करें ॥१॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसांपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥२॥

भाषार्थः (यत्) जो पाप (अवशसा) विश्वासघात से (निःशसा) घृणा से,
और (पराशसा) अपवाद से, अथवा (यत्) जो पाप (जाग्रतो) जागते हुए वा
(स्वपन्तः) सोते हुए (उपारिम) हम ने किया है । (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर
(विश्वानि) सब (अजुष्टानि) अप्रिय (दुष्कृतानि) दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (आरे)
दूर (अप दधातु) हटा रखे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमेश्वर का भय मान-
कर कभी कोई दुष्कर्म न करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६४ । ३ ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरापस ।

प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥३॥

भाषार्थः—(ब्रह्मणस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के स्वामी (इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्य-
वाले जगदीश्वर ! (यत् अपि) जो कुछ भी पाप (मृषा) असत्य व्यवहार से (चरा-

मसि) हम करें। (आङ्गिरसः) ज्ञानियों का हितकारी (प्रचेताः) बड़ी बुद्धि वाला परमात्मा (नः) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य स्थायकारी परमात्मा का ध्यान रखते हैं, वे पापों से बचकर सुखी रहते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥४६॥

१-३ ॥ स्वप्नो देवता ॥ १ बृहती; २ विश्व त इत्यनुष्टुप्, तं त्वेति बृहती;
३ अनुष्टुप् ॥

स्वप्नगुणोपदेशः—स्वप्न के गुणों का उपदेश ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।

वरुणानी ते माता यमः पितरं रुन्मांसि ॥१॥

भावार्थः—(स्वप्न) हे स्वप्न ! (यः) जो तू । (न) न तो (जीवः) जीवित और (न) न (मृतः) मृतक (असि) है, [परन्तु] (देवानाम्) इन्द्रियों के (अमृतगर्भः) अमरपन का आधार (असि) तू है । (वरुणानी) वरुण अर्थात् ढकने वाले अन्धकार की शक्ति, रात्रि (ते) तेरी (माता) माता और (यमः) नियम में चलाने वाला सूर्य (पिता) पिता है, और तू (अरुः) हिंसक (नाम) नाम (असि) है ॥१॥

भावार्थः—स्वप्न अवस्था में शरीर के कुछ अङ्ग चेष्टा करते रहते हैं और कुछ चेष्टा बिना हो जाते हैं, इससे स्वप्न जीवन और मरण के बीच में है । स्वप्न इन्द्रियों को सुख देता है अर्थात् दिन में परिश्रम करने वालों को रात्रि में सोने से सुख मिलता है परन्तु नियम विरुद्ध सोने से आयु घटती है ॥१॥

विश्वं ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरंसि । तं त्वां स्वप्न तथा सं विश्वं स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात् पाहि ॥२॥

भावार्थः—(स्वप्न) हे स्वप्न (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (विश्व) हम जानते हैं, तू (देवजामीनाम्) इन्द्रियों की गतियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला और (यमस्य) नियम का (करणः) बनाने वाला (असि) है । तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है, और तू (मृत्युः) मरण करने वाला (असि) है । (स्वप्न) हे स्वप्न ! (तम्) उस (त्वां) तुम्हको (तथा) वैसे ही (सम्) अच्छे प्रकार (विश्वम्)

हम जानते हैं, (सः) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥२॥

भावार्थः—जो मनुष्य सदा धर्म कर्म में लगे रहते हैं उनके हृदय में सोते समय भी कुविचार नहीं आते ॥२॥

यथा कलां यथा शफं यथर्षं संनयन्ति ।

एवा दुःस्वप्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥३॥

भावार्थः—(यथा यथा) जैसे जैसे (कलाम्) सोलहवां अंश और (यथा) जैसे (शफम्) आठवां अंश [देकर] (ऋणम्) ऋण को (संनयन्ति) लोग चुकाते हैं । (एव) वैसे ही (सर्वम्) सब (दुःस्वप्यम्) नींद में उठे बुरे विचार को (द्विषते) बैरी के लिये (सम् नयामसि) हम यथावत् छोड़ते हैं ॥३॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य अपने आयु का सोलहवां वा आठवां अंश देकर ऋण चुकाते हैं वैसे ही स्वप्न के कुविचारों को बैरी पर छोड़ते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥४७॥

१-३ ॥ १ अग्निः; २, ३ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः ।

स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम । १॥

भावार्थः—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (विश्वकृत्) जगत् का बनाने वाला, (विश्वशंभूः) संसार को सुख पहुँचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (प्रातः सवने) प्रातःकाल के यज्ञ में (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे । (सः) वह (पावकः) शूद्ध करने वाला जगदीश्वर (नः) हमको (द्रविणे) धन के बीच (दधातु) रखे, (आयुष्मन्तः) उत्तम आयु वाले और (सहभक्ताः) साथ साथ भोजन करने वाले (स्याम) हम रहें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर के महान् उपकारों को देखकर पुरुषार्थ करके धन प्राप्त करें और परस्पर सहायक होकर सुख भोगें ॥१॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः ।

आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्नो वयं देवानां सुपतौ स्याम ॥२॥

भाषार्थः—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण, (मरुतः) विद्वान् लोग और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मान्) हमको (अस्मिन्) इस (द्वितीये) दूसरे (सवने) यज्ञ में (न) नहीं (जह्युः=जहतु) त्याग करें (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन रखने वाले, (प्रियम्) प्रिय (वदन्तः) बोलते हुए (वयम्) हम लोग (एषाम्) इन (देवानाम्) उत्तम गुणों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम्) रहें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर प्रादि सब उत्तम पदार्थों का विचार करके उत्तम बुद्धि प्राप्त करें ॥२॥

इदं तृतीयं सर्वं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।

ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिनो अभि वस्थो नयन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(ये) जिन [महात्माओं] ने (कवीनाम्) बुद्धिमानों के (ऋतेन) सत्य से (इदम्) इस (तृतीयम्) तीसरे (सवनम्) यज्ञ में (चमसम्) अन्न (ऐरयन्त) प्राप्त कराया है । (ते) वे (स्वः) सुख (श्रानशानाः) भोगते हुए (सौधन्वनाः) अच्छे अच्छे धनुष् वा विज्ञान वाले पुरुष (नः) हमारे (स्विष्टिम्) अच्छे यज्ञ को (वस्थः अभि) उत्तम फल की ओर (नयन्तु) ले चलें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परोपकारी पूर्वज महाशयों से उत्तम धनुर्वेद विद्या और शास्त्र विद्या प्राप्त करके उत्तम फल भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥४८॥

१ ३ ॥ आत्मा देवता ॥ पुरउष्णिक् छन्दः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रंभे ।

स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—तू (गायत्रच्छन्दाः) गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला (श्येनः) महा-जानी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (आरंभे) मैं ग्रहण करता हूँ । मा) मुझ को (अस्य) इस (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म को (उदृचि) उत्तम स्तुति में (स्वस्ति) आनन्द से (सम्) यथावत् (वह) ले चल, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जान कर पुरुषार्थ करते हैं, वे ही उत्तम कर्मों को समाप्त करके भीति और आनन्द पाते हैं ॥१॥

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनुत्वा रमे ।

स्वस्ति मा सं वंहास्य यज्ञस्योदचि स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः - तू (जगच्छन्दाः) जगत् में स्वतन्त्र (ऋभुः) मेधावी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को 'म' ० । १ ॥२॥

भावार्थः—मन्त्र एक के समान ॥२॥

वृषांसि त्रिष्टुच्छन्दा अनु त्वा रमे ।

स्वस्ति मा सं वंहास्य यज्ञस्योदचि स्वाहा ॥३॥

भाषार्थः—तू (त्रिष्टुच्छन्दाः) तीनों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि-दैविक] ताप छोड़ने में समर्थ (वृषा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझको 'म' ० । १ ॥३॥

भावार्थः—मन्त्र एक के समान ॥३॥

सूक्तम् ॥४६॥

१—३ अग्निदेवता ॥ १ अनुष्टुप्, २ जगती, ३ त्रिष्टुप् ॥

प्रलयसृष्टि विद्योपदेशः—प्रलय और सृष्टि विद्या का उपदेश ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रमनंश मर्त्यः ।

कपिविभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (मर्त्यः) मनुष्य ने (ते) तेरे (तन्वः) स्वरूप की (कूरम्) क्रूरता को (नहि) नहीं (ग्रानंश) पाया है । (कपिः) कपाने वाले आप (तेजनम्) प्रकाशमान सूर्य मण्डल को (विभस्ति) खा जाते हैं (इव) जैसे (गौः) गौ (स्वम्) अपनी (जरायु) जरायु को [खा लेती है] ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्ति को नहीं जान सकता है । परमेश्वर ही इस संसार को बना कर फिर अपने में प्रविष्ट कर लेता है जैसे गौ बच्चा उत्पन्न होने के पीछे अपने पेट से निकली झिल्ली को आप निगल जाती है ॥१॥

मेष इव वै सं च वि चोर्व्यसे यदुत्तरद्रावुपंरश्च खादंतः ।

शीर्ष्णा शिरोऽप्साप्सां अर्दपन्नंशुन् वंभस्ति हरितैभिरासभिः ॥२॥

भाषार्थः—[हे अग्ने परमात्मन्] (मेघः इव) मेढ़ा के समान तू (वं) निश्चय करके (सम् अच्यसे) सिमट जाता है (च च) और (उह) बहुत (वि=वि अच्यसे) फैल जाता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्वा) ऊँची शाखा पर (खादतः=खादन्) खाता हुआ तू (च) निश्चय करके (उपरः) ठहरने वाला होता है। (शीर्ष्णां) शिर से (शिरः) शिर को, और (अप्ससा) रूप से (अप्सः) रूप को (अर्दयन्) दबाते हुए आप (हरितेभिः) हरण शील (आसभिः) गिराने के सामर्थ्यों से (अंशुन्) सूर्य आदि लोकों को (बभस्ति) खा जाते हैं ॥२॥

भाषार्थः—जैसे भेड़ बकरी सिमट कर और फैल कर पेड़ों की पत्ती खा जाती हैं, वैसे ही परमात्मा सृष्टि और प्रलय करके सब से ऊपर विराजमान रहता है। वही सब पदार्थों को आपस में टकराकर परमाणुओं की अवस्था में करता है ॥२॥

सुपर्णा वाचंपक्रतोऽथव्याखरे कृष्णां इषिरा अनतिष्ठुः ।

नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरुरेतां दधिरे सूर्यश्रितः ॥३॥

भाषार्थः—(सूर्यश्रितः) सूर्य में ठहरी हुई (सुपर्णाः) अच्छे प्रकार पालन करने वाली वा बड़ी शीघ्रगामी किरणों ने (आखरे) खनन योग्य (द्यवि) अन्तरिक्ष में (उप=उपेत्य) मिलकर (वाचम्) शब्द (अकृत) किया, और (कृष्णाः) रन खँकने वाली (इषिराः) चलने वाली [उन किरणों] ने (अनतिष्ठुः) नृत्य किया। (यत्) जब वे (उपरस्य) मेघ की (निष्कृतिम्) रचना की और (नि) नियम से (नियन्ति) झुकती हैं, [तब] उन्होंने (पुरु) बहुत (रेतः) वृष्टि जल (दधिरे) धारण किया है ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर की महिमा से सूर्य की किरणें विशाल आकाश में शब्द करके पार्थिव रस को खींच कर इधर उधर चेष्टा करती हैं। उससे मेघ, मेघ से वृष्टि होकर संसार का उपकार करती है। इसी प्रकार प्रलय के पीछे सृष्टि और सृष्टि के पीछे प्रलय होती है ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६४ म० ५ ॥

सूक्तम् ॥५०॥

१ ३ ॥ अश्विनी देवते ॥ १ जगती, २, ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

आत्मदोषनिवारणोपदेशः—आत्मा के दोष निवारण का उपदेश ॥

ह॒तं त॒र्दं स॒मङ्क॒मा॒खुम॑र्ध॒वना छि॒न्ते शि॒रो अ॒पि पृ॒ष्ठीः शृ॒णीत॑म् ।
यवा॒न्नेद॒दान॑पि न॒ह्यते॒ मुख॑मथाभयं कृणुतं धान्याय ॥१॥

भाषार्थः—(अर्धवना) हे कामों में व्याप्त रहने वाले स्त्री पुरुषो ! (तर्दम्) हिंसा करने वाले कीड़े आदि को, (समङ्कम्) पृथिवी में अङ्क करने वाले शूकर आदि को, और (आखुम्) कुतरने वाले चूहे आदि को (हतम्) तुम मारो, (शिरः) उनका शिर (छिन्तम्) काटो और (पृष्ठीः) पसलियाँ (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ो । वे (यवान्) जवादि अन्नों को (न ह्यत्) कभी न (अदान्) खावें, (मुखम्) उनका मुख (अपि) भी (नह्यतम्) तुम बाँधो, (अय) और (धान्याय) धान्य के लिये (अभयम्) अभय (कृणुतम्) करो ॥१॥

भाषार्थः—जैसे किसान लोग हानिकारक पक्षी पशु आदि से खेती की रक्षा करके धान्य प्राप्त करते हैं वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष काम क्रोध आदि शत्रुओं से अपनी रक्षा करके सुख भोगें ॥१॥

त॒र्दं है पत॑ङ्ग है ज॒न्म हा उप॑क्वस । ब्र॒ह्मेवा॑संस्थितं
ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॑नाह॒सन्तो अ॒पोदित॑ ॥२॥

भाषार्थः—(है) हे (तर्दं) हिंसक काक आदि ! (है) हे (पतङ्ग) फुदकने वाले टिड्डी आदि । (है) हे (जन्म) वधयोग्य (उपक्वस) भूमि पर रेंगने वाले कीड़े ! (ब्रह्मा इव) विद्वान् पुरुष ब्रह्मा के समान (असंस्थितम्) बिना संस्कार किये हुए (हविः) अन्न को, (इमान्) इन (यवान्) यव आदि अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुए और (अहिसन्तः) न तोड़ने हुए (अपोदित) उड़ जाओ ॥२॥

भाषार्थः—जैसे विद्वान् पुरुष कुपथ्य अन्न को छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार हिंसक पशु आदि जवादि अन्नों के खेतों को छोड़कर चले जावें ॥२॥

तदी॒पते॒ वघा॑पते॒ तृष्टं॑ज॒म्भा आ शृ॑णीत मे । य आ॒र॒ण्या
व्य॑द्व॒रा ये के च॒ स्थ व्य॑द्व॒रास्तान्त्सर्वान् ज॒म्भयाम॑सि ॥३॥

भाषार्थः—(तदीपते) हे हिंसकों के स्वामी ! (वघापते) हे टिड्डी आदिकों के स्वामी ! (तृष्टजम्भाः) हे प्यासे मुखवाले कीड़ो ! (मे) मेरी (आ) अच्छे प्रकार (शृणीत) सुनो । (ये) जो तुम (आरण्याः) जंगली और (व्यद्वराः) विविध प्रकार

खाने वाले (च) और (ये) (के) जो कोई दूसरे जन्तु (व्यवहाराः) भस्म लेने वाले (स्थ) हो, (तान्) उन तुम (सर्वान्) सब को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥३॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य छोटे बड़े हिंसक जन्तुओं को मार हटाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपने दोषों को हटावें ॥३॥

सूक्तम् ॥५१॥

१—३ । १ सोमः, २ आपः, ३ वरुणो देवता । १ गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ जगती ॥

द्रोहनासोपदेशः—द्रोह के नाश का उपदेश ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।

इन्द्रस्य युज्यः सर्वा ॥१॥

भावार्थः—(वायोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के [बताये हुए] (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (पूतः) शुद्ध किया हुआ, (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष पूजनीय, (अति) अति, (द्रुतः) योघ्रगामी (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा अच्छे गुण वाला पुरुष (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) योगी (सखा) सखा होता है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि वेदविहित कर्मों को अतिशीघ्र करके परमेश्वर के मित्र बन के सदा सुखी रहें ॥१॥

(वायु) शब्द परमेश्वर वाचक है—देखो [तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः] यजुः० ३२ । १ । ब्रह्म [वायुः] सर्वव्यापक और ब्रह्म ही आनन्ददाता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १ । ३१ ॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतष्वः पुनन्तु ।

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥२॥

भावार्थः—(मातरः) माता के समान पालन करने वाले (आपः) जल (अस्मान्) हम को (सूदयन्तु) सींचें, (घृतष्वः) घृतको पवित्र करने वाले [जल] (घृतेन) घृत से (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करें । (देवीः) दिव्यगुणयुक्त जल (विश्वम्) सब (हि) ही (रिप्रम्) मल को (प्रवहन्ति) बहा देते हैं, (आभ्यः) इन जलों से (इत्) ही (शुचिः) शुद्ध और (आ पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (उत् एमि) मैं ऊँचा चलता हूँ ॥२॥

भावार्थः—जैसे जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके मलों को शुद्ध करके और अनेक शिल्पों में प्रयुक्त होकर उपकारी होते हैं, वैसे ही मनुष्य

विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त करके परस्पर उपकार करके उदय को प्राप्त हों ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४।२॥

यत् किंचेद् वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या ३'श्चरन्ति । अचिन्त्या चेत् तव धर्मा युयोपि मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥३॥

भाषार्थः—(वरुण) हे अति उत्तम परमेश्वर ! (मनुष्याः) मनुष्य (इदम्) यह (यत् किम् च) जो कुछ भी (अभिद्रोहम्) अपकार (दैव्ये) विद्वानों के बीच विद्वान (जने) मनुष्य पर (चरन्ति) करते हैं । (च) और (इत्) भी (अचिन्त्या) अचेतनपन से (तव) तेरे (धर्म, धर्म को (युयोपि) हमने तोड़ा है, (देव) हे प्रकाशमय परमात्मान् ! (नः) हमें (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (मा रीरिषः) मत नष्ट कर ॥३॥

भाषार्थः—यदि मनुष्य अज्ञान से कोई पाप कर्म करें तो वे दण्ड रूप प्रायश्चित्त, अनुताप आदि करके धर्म आवरण में सदा प्रवृत्त रहें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ७।८६।५।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥५२॥

१ - ३ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मदोषनाशोपदेशः—आत्मा के दोष के नाश का उपदेश ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्ध्वम् ।

आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा । १॥

भाषार्थः (आदित्यः) सब ओर प्रकाश वाला, (विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया और (अदृष्टहा) न दीखते हुये पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दिवः) अन्तरिक्ष के बीच (रक्षांसि) राक्षसों [अन्धकार आदि उपद्रवों] को (निजूर्ध्वम्)

सर्वथा नाश करता हुआ (पवंतेभ्यः) मेघों वा पहाड़ों से (पुरः) सम्मुख (उत्प एति) उदय होता है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य अन्धकार हटा कर प्रकाश करता है, वैसे ही विद्वान् लोग अविद्या मिटा कर विद्या का प्रकाश करते हैं ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६१। ८, ९ ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।

न्यू र्भयो नदीनां न्यश्दृष्टां अलिप्सत ॥२॥

भाषार्थः—(गावः) किरणों (गोष्ठे) किरणों के स्थान, अन्तरिक्ष में (नि) पैठ कर (असदन्) ठहरी हैं, (मृगासः) खोजने वाले पुरुषों ने (नि अविक्षत) [अपने कामों में] प्रवेश किया है । (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) गति क्रियाओं ने (अदृष्टाः) न दीखती हुई पंक्तियों को (नि नि) अति निश्चय करके (अलिप्सत) पाने की इच्छा की है ॥२॥

भाषार्थः—सूर्य के चमकने पर सब मनुष्य आदि प्राणी परमेश्वर की स्तुति करते हुए अभीष्ट पदार्थों को खोज कर अपने २ कर्तव्य कर्म करते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६१। ४ ।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।

आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥३॥

भाषार्थः—(कण्वस्य) बुद्धिमान् पुरुष की (आयुर्ददम्) जीवन देने वाली, (विपश्चितम्) भले प्रकार चेताने वाली, (श्रुताम्, प्रसिद्ध, (वीरुधम्) विविध प्रकार प्रकट होने वाली, (विश्वभेषजीम्) संसार का भय जीतने वाली वेद विद्या को (आभारिषम्) मैंने पाया है, यह (अस्य) इस पुरुष के (अदृष्टान्) न दीखते हुए दोषों को (नि शमयत्) शान्त कर देवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्व सुख दायक वेद विद्या द्वारा अपने सब कुसंस्कारों का नाश करके आनन्द भोगे ॥३॥

सूक्तम् ॥५३॥

१—३ ॥ १ विश्वेदेवाः; २ अग्निः, ३ त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षणोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुको बृहन् दक्षिणया गिरतु ।

अनु स्वधा चिकिता सोमो अग्निर्वायुनैः पातु सविता भगश्च । १॥

भाषार्थः—(प्रचेतसौ) उत्तम ज्ञान देने वाले (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी (च) और (बृहन्) बड़ा (शुको) प्रकाशमान सूर्य (मे) मेरे लिये (इवम्) इस घर को (दक्षिणया) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] से (पिपतुं) भरपूर करे । (सोमः) चन्द्रमा और (अग्निः) अग्नि (अनु) अनुग्रह करके (स्वधा) अन्न को (चिकिताम्) जतावे, (वायुः) वायु (च) और (सविता) सबका उत्पन्न करने हारा (भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर रचित पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सदा सुखी रहें ॥१॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसृने गेत् ।

वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥२॥

भाषार्थः—(पुनः) बार बार (प्राणः) प्राण, (पुनः) बार बार (आत्मा) आत्मबल (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो, (पुनः) बार बार (चक्षुः) देखने का सामर्थ्य, (पुनः) बार बार (असृः) बुद्धि (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो । (अदब्धः) अचूक, (तनूपाः) शरीरों का रक्षक, (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमात्मा (नः) हमारे (विश्वा) सब (दुरितानि) कष्टों के (अन्तः) बीच में (तिष्ठाति) स्थित रहे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि सदा धर्म में प्रवृत्त रह कर परमेश्वर की आज्ञा पालन करें, जिससे विश्राम के पश्चात् और पुनर्जन्म में भी उत्तम शरीर और इन्द्रियां प्राप्त करके सुख भोगते रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है— अ० ४ । म० १५ ।

सं वर्चसा पर्यसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो माण्डे तनोश् यद् विरिष्टम् ॥३॥

भाषार्थः—(वर्चसा) अन्न के साथ, (पर्यसा) विज्ञान के साथ (सम्) यथावत् (तनूभिः) शरीरों के साथ (सम्) यथाविधि, और (शिवेन, मङ्गलकारी) मनसा मन के साथ (सम् अगन्महि) हम संगत हुए हैं । (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अत्र) यहाँ पर (वरीयः) अति विस्तीर्ण धन (कृणोतु) करे और (नः) हमारे

(तन्वः) शरीर का (यत्) जो (विरिष्टम्) विविध कष्ट है उसे (अनु गार्ह्यं), शुद्ध करता रहे ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने कृपा करके हमें अन्न, विद्या और मनन शक्ति पहिले से दी है, हम उन सब से यथावत् उपकार लेकर अपने सब कष्ट दूर करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २ । २४ ।

सूक्तम् ॥५४॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्यरक्षणायोपदेशः—राज्य की रक्षा के लिये उपदेश ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।

अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजा को (अष्टये) इष्ट प्राप्ति के लिये (शुम्भामि) सुशोभित करता हूं, [जिससे] (युजे) उसके मित्र के लिये (इवम्) यह धीर (तत्) वह (उत्तरम्) अधिक ऊंचा पद होवे । [हे जगदीश्वर !] (अस्य) इस पुरुष के (क्षत्रम्) राज्य और (महीम्) बड़ी (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा, (वृष्टिः इव) जैसे बरसा (तृणम्) घास को ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर के अनुग्रह से धर्म आचरण करता हुआ सर्वत्र अपने राज्य की वृद्धि करे ॥१॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।

इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥२॥

भाषार्थः—(अग्नीषोमी) हे सूर्य और चन्द्रमा ! तुम दोनों (अस्मै) इस पुरुष के लिये (क्षत्रम्) राज्य को और (अस्मै) इसके लिये (रयिम्) सम्पत्ति को (धारयतम्) दृढ़ करो । (इमम्) इस पुरुष को (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (युजे) मित्र वर्ग के लिये (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (कृणुतम्) करो ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य चन्द्रमा नियमबद्ध होकर परस्पर आकर्षण आदि से जगत् का उपकार करते हैं वैसे ही मनुष्य सब से प्रीति करके अपना राज्य और घन बढ़ावे ॥२॥

सर्वं धुश्चासं धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।

सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो शत्रु (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) विना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (तम्) उस (सर्वम्) सबको (सुन्वते) तत्त्वमथन करने वाले (यजमानाय) विद्वानों का सत्कार करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥३॥

भाषार्थः—धार्मिक पुरुष परमात्मा की आज्ञा मान कर तत्त्वमथन कर के शत्रुओं का भास करें ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ६ । १५-२ । और उत्तरार्द्ध अ० ६ । ६ । १ । में आया है ॥

सूक्तम् ॥५५॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्ति प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

ये पन्थानो बहवो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवी सं चरन्ति ।

तेषामज्यानि यतमो बहाति तस्मै मा देवाः परिं धत्तेह सर्वे ॥१॥

भाषार्थः—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के पानों, रथादिकों के योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं । (तेषाम्) उन मार्गों में से (यतमः) जो कोई मार्ग (अज्यानिम्) अभङ्ग शान्ति (बहाति) पहुंचावे । (सर्वे देवाः) हे सब विद्वानों ! (तस्मै) उस मार्ग के लिये (मा) मुझे (इह) यहां पर (परिं) अच्छे प्रकार (धत्त) स्थिर करो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान विज्ञानपूर्वक वैदिक मार्ग में चलकर शान्ति प्राप्त करें ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ३ । १५ । २ । में आ गया है ॥

ग्रीष्मो ह्यमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।

आ नो गोषु भजता प्रजार्या निवात इद् वं शरणे स्थाम ॥२॥

भाषार्थः—(वसन्तः) वसन्तकाल [चैत्र, वैशाख] (ग्रीष्मः) गाम ऋतु [ज्येष्ठ, आषाढ़] (वर्षाः) वरसा [श्रावण भाद्रमास] (शरद्) शरद् ऋतु [आश्विन,

कार्तिक] (हेमन्तः) शीतकाल [अग्रहायण, पौष] (शिशिरः) उतरता शीतकाल [माघ, फाल्गुन] यह तुम सब (नः) हमें (स्विते) अच्छे प्रकार प्राप्त कुशल में (इषात) स्थापित करो । (नः) हमें (गोषु) गौ आदि पशुओं में (आ) और (प्रजा-याम्) प्रजा में (आ) सब ओर से (भजत) भागी करो, (वः) तुम्हारे (इत्) ही (निवाते) हिसारहित (शरणे) शरण में (स्याम) हम रहें ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य प्रत्येक ऋतु में उचित आहार विहार करके गौ आदि पशुओं और पुत्र-पौत्र भृत्य प्रजाओं सहित सुखी रहें ॥२॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ प॒रि॒व॒त्स॒राय॑ सं॒व॒त्स॒राय॑ कृ॒णु॒ता बृ॒ह॒न्म॑नः ।

तेषां॑ व॒यं सु॒म॒तौ य॒ज्ञि॒या॒नाम॑पि॒ भ॒द्रे सौ॒म॒न॒से स्या॑म । ३॥

भावार्थः—(परिवत्सराय) सब ओर से निवास कराने वाले पिता को, (इदावत्सराय) विद्या में निवास कराने वाले आचार्य को और (संवत्सराय) यथानियम निवास कराने वाले राजा को तुम (बृहत्) बहुत बहुत (नमः) नमस्कार (कृणुत) करो । (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) उत्तम व्यवहार करने हारों के (अपि) ही (सुमतौ) सुमति वाले और (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) हार्दिक स्नेह में (वयम्) हम लोग (स्याम) रहें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य माता पिता, आचार्य और राजा की आज्ञा सत्कार पूर्वक मानकर उत्तम विद्या प्राप्त करके आनन्द से रहें ॥३॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध यजुर्वेद में है—अ० १६ । ५० ।

सूक्तम् ॥५६॥

१-३ ॥ देवजना देवताः ॥ १ बृहती, २, ३ अनुष्टुप् ॥

दोषनाशोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

मा नो॑ दे॒वा अ॒हिर्ब॒धीत् स॒तो॒कान्त्स॒ह॒पृ॒रुषा॑न् ।

सं॒य॒तं न॒ वि स्पर्श॑द् व्या॒त्तं न॒ सं य॑म॒न्नमो॑ दे॒व॒जने॒भ्यः ॥१॥

भावार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (सतोकान्) सन्तानों सहित और (सह पूरुषान्) पुरुषों सहित (नः) हमको (अहिः) चोट देने वाला सर्प [सर्प तुल्य अपना दोष] (मा बधीत्) न काटे । वह (संयतम्) मुँदे हुए मुख को (न) न (वि स्पर्शत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (संयमत्) मुँदे । (देवजनेभ्यः) विद्वान् जनों को (नमः) नमस्कार है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वान् महात्माओं से शिक्षा पाकर अपने और

अपने सन्तानों और बांधव भृत्य आदि पुरुषों के दोषों को इस प्रकार निर्वल करद जैसे दुष्ट सर्प को मार मार कर निर्वल कर देते हैं ॥१॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।

१।जायं वभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥२॥

भाषार्थः—(असिताय) काले सांप के लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (तिरश्चिराजये) तिरछी धारी वाले सांप के लिये (नमः) वज्र और (स्वजाय) लिपटने वाले (वभ्रवे) भूरे सांप के लिये (नमः) वज्र होवे । (देवजनेभ्यः) विद्वान्जनों के लिये (नमः) सत्कार है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों की संगति से अपने पापों का नाश करे, जैसे सर्प को वज्रादि से मार डालते हैं ॥२॥

सं तै हन्मि दत्ता दतः सम् ते हन्वा हनू ।

सं तै जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाहं आस्यम् ॥३॥

भाषार्थः—(अहे) हे सर्प ! (ते) तेरे (दत्ता) दांत से (दतः) दांतों को (सम् हन्मि) मिला कर तोड़ता हूं, (उ) और (ते) तेरे (हन्वा) जावड़े से (हनू) दोनों जावड़ों को (सम्) मसल कर, (ते) तेरी (जिह्वया) जीभ से (जिह्वाम्) जीभ को (सम्) मसलकर (उ) और (आस्मा) मुख से (आस्यम्) मुख को (सम्) मिला कर [तोड़ता हूं] ॥३॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य विषैले सांप को कुचल कर मार डालते हैं, उसी प्रकार से विद्वान् पुरुष अपने पापों का सर्वथा नाश करे ॥३॥

सूक्तम् ॥५७॥

१—३ ॥ रघो वेदता । १, २ अनुष्टुप्, ३ बृहती ॥

दोषनाशायोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

इदमिद् वा उं भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।

येनेषुमेकतेजनां शतश्रुत्वामपब्रवत् ॥१॥

भाषार्थः—(इदम्) यह [वेद ज्ञान] (इत्) ही (वे) निश्चय करके (भेषजम्) भय निवारक वस्तु है, (इदम्) यह (उ) ही (रुद्रस्य) दुःखनाशक परमेश्वर का (भेषजम्) भोपध है । (येन) जिससे [मनुष्य] (एकतेजनाम्) एक दण्डवाले

और (शतशल्याम्) व्याधिरूप सैकड़ों अगरी वाले (इष्टम्) बाण को (अपन्नवत्) हटा कर बोले ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद ज्ञान से अपने पापों को नष्ट कर सुखी होवे, जैसे घाव से तीर निकलने पर सुख मिलता है ॥१॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।

जालापमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥२॥

भाषार्थः—(जालाषेण) जल सम्बन्धी द्रव्य से [फोड़े को] (अभि सिञ्चत) सब ओर से सींचो । (जालाषेण) सुख कारक पदार्थों से [उसे] (उपसिञ्चत) पास से सींचो । (जालापम्, सुखों का समूह [वेदज्ञान] (उग्रम्) तीक्ष्ण (भेषजम्) औषध है, (तेन) उससे [हे रुद्र] (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिये (मृड) सुखी रख ॥२॥

भाषार्थः—जैसे वैद्य औषधियों द्वारा रोगों को अच्छा करते हैं वैसे ही मनुष्य वेदज्ञान से अपने पाप नष्ट कर के सुखी होवें ॥२॥

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत् ।

क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

भाषार्थः—(च) निश्चय करके (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति (च) और (नः) हमारे लिये (भयः) सुख होवे, (च) और (नः) हमें (किं चन) कोई भी दुःख (मा आनमत्) न पीड़ा देवे । (रपः = रपसः) पाप की (क्षमा) क्षमा हो । (विश्वम्) सब जगत् (नः) हमारे लिये (भेषजम्) भय निवारक (अस्तु) होवे, (सर्वम्) सब (नः) हमारे लिये (भेषजम्) रोगनाशक (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य रुद्र परमात्मा के अनुग्रह से पुरुषार्थपूर्वक अपने विघ्न हटा कर सुख भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥५८॥

१—३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ जगती, २ पूर्वार्धास्त्रिष्टुप् द्वितीयो बृहती, ३ अनुष्टुप् ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश पाने के लिये उपदेश ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोत यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे । यशसं
मा देवः संविता कृणोत प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥१॥

भाषार्थः—(मघवान्) बड़ा धनी (इन्द्रः) परमेश्वर (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे) यह (उमे) दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (यशसम्) कीर्तिमान् [करें] । (देवः) व्यवहार कुशल (सविता) विद्याप्रेरक आचार्य (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे (दक्षिणायाः) दक्षिणा वा प्रतिष्ठा के (बातुः) देने वाले राजा का (प्रियः) प्रिय (इह) यहां पर (स्याम्) मैं रहूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर पराक्रमपूर्वक संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर और सर्वप्रिय होकर कीर्ति प्राप्त करे ॥१॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः ।

एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) सूर्य और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) कीर्तिमान् है, और (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं । (एव) वैसे ही (विश्वेषु) सब (देवेषु) व्यवहारकुशल महात्माओं में और (सर्वेषु) सब गुरुओं में (वयम्) हम लोग (यशसः) यश चाहने वाले (स्याम) हों ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर और परमेश्वररहित पदार्थों का महत्त्व जानकर संसार में यश प्राप्त करें ॥२॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।

यशा विश्वस्व भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥३॥

भाषार्थः—यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त ३६ मन्त्र ३ में आचुका है, वहाँ देख लें ॥३॥

सूक्तम् ॥५६॥

१—३ ॥ अरुन्धती देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

अनदुःखस्त्वं प्रियं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।

अर्धेनवे वयंसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥१॥

भाषार्थः—(अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! परमात्मन् (स्वम्)

तू (अनडुद्भ्यः) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले पुरुषों को (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) तृप्त करने वाली स्त्रियों को और (अधेनवे) विना दूध वाले (क्षतुष्पदे) चौपाये को (वयसे) अन्नप्राप्ति के लिये (प्रथमम्) विस्तृत (शर्म) घर (यच्छ) दे ॥१॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्नपूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम २ घर बनावें ॥१॥

शर्म यच्छत्वोपधिः सह देशीरुन्धती ।

करत् पर्यस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥२॥

भाषार्थः—(श्रोवधिः) तापनाशक (अरुन्धती) न रोक डालने वाली शक्ति परमेश्वर (देवीः सह—देवीभिः सह) उत्तम क्रियाओं के साथ (शर्म) शरण (यच्छतु) देवे । (गोष्ठम्) हमारी गोशाला को (पर्यस्वन्तम्) बहुत दुग्ध वाली (उत) और (पूरुषान्) पुरुषों को (अयक्ष्मान्) नीरोग (करत्) करे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने घरों में अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा स्वस्थ रहें ॥२॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।

सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः ॥३॥

भाषार्थः—(विश्वरूपाम्) सबका रूप [रचना] करने वाली, (सुभगाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली, (जीवलाम्) जीवन देने वाली अथवा जीवन सामर्थ्य वाली शक्ति परमात्मा को (अच्छावदामि) मैं स्वागत करके आवाहन करता हूँ (सा) वह (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर की (अस्ताम्) गिराई हुई (हेतिम्) ताड़ना को (नः) हमारी (गोभ्यः) भूमियों से (दूरम्) दूर (नयतु) ले जावे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सर्वव्यापी जानकर पाप करके दण्डभागी न हों ॥३॥

सूक्तम् ॥६०॥

१—३ ॥ अर्धमा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का उपदेश ॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विपितस्तुपः ॥

अस्या इच्छन्नग्रवै पतिमुत जायामजानये ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (विवितस्तुपः) प्रसिद्ध स्तुति वाला (अयंमा) अन्ध-
कार नाशक सूर्य (अस्यै) इस (अग्रुवै) जानवती कन्या के लिये (पतिम्) पति, (उत)
और (अजानये) अविवाहित पुरुष के लिये (जायाम्) पत्नी (इच्छन्) चाहता हुआ
(पुरस्तात्) हमारे आगे (आ याति) आता है ॥१॥

भाषार्थः—ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मचारी वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन
से सूर्य के समान तेजस्वी अर्थात् ब्रह्मवर्चसी होकर युवा अवस्था में गृहस्था-
श्रम में प्रवेश करें ॥१॥

अश्रमदियमैर्यमन्नन्यासां समनं यती ।

अङ्गोन्वैर्यमन्नस्या अन्याः समनमार्यति । २॥

भाषार्थः—(अयमन्) हे शत्रुनाशक परमेश्वर ! (अन्यासाम्) दूसरी कन्या-
ओं के (समनम्) विवाह में (यती) जाती हुई (इयम्) इस कन्या ने (अश्रमत्) तप
किया है । (अङ्गो) हे (अयमन्) न्यायकारी परमेश्वर ! (अन्याः) दूसरी कन्यायें
(अस्याः) इस कन्या के (समनम्) विवाह में (तु) अवश्य (आर्यति) आवें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे यह कन्या अन्य कन्याओं के विवाह संस्कार में मिलती
रही है, वैसे ही अन्य कन्यायें इसके विवाह में आकर शोभा बढ़ावें ॥२॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।

धानास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥३॥

भाषार्थः—(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) और (धाता)
विधाता ने (द्याम्) आकाश और (सूर्यम्, सूर्य को (दाधार) धारण किया । (धाता)
वही विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) उद्योगशील कन्या को (प्रतिकाम्यम्) प्रतिज्ञा
करके चाहने योग्य (पतिम्) पति (दधातु) देवे ॥३॥

भाषार्थः—जैसे परमात्मा सब संसार के धारण पोषण में समर्थ है
वैसे ही कन्या और कुमार [उपलक्षण से] विद्या और धन आदि से समर्थ
होकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें ॥३॥

सूक्तम् ॥६१॥

१ - ३ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरमहत्त्वोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरौ अभरज्ज्योतिषे कम् ।

मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥१॥

भाषार्थः—(मह्यम्) मेरे लिये (आपः) व्यापनशील जल (मधुमत्) मधुरपन से (आ ईरयन्ताम्) आकर बहें, (मह्यम्) मेरे लिये (सूरः) लोकों को चलाने वाले सूर्य ने (ज्योतिषे) ज्योति करने को (कम्) सुख (अभरत्) धारण किया है । (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये (तपोजाः) तप से उत्पन्न होने वाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण हैं, (मह्यम्) मेरे लिये (देवः) व्यवहार में चतुर (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (व्यचः) विस्तार (धात = अधात्) धारण किया है ॥१॥

भावायः—परमेश्वर कहता है कि संसार के सब पदार्थ मेरी आज्ञा में रहकर संसार का उपकार करते हैं ॥१॥

अहं विवेच पृथिवीमुत धामहमृतं जनयं सप्त साकम् ।

अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं देवीं परि वाचं विशश्च ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैंने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (धाम्) सूर्य को (विवेच) पृथक् पृथक् किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) व्यापनशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (साकम्) आपस में मिला हुआ (अजनयम्) उत्पन्न किया है । (अहम्) मैं (यत्) जो कुछ (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ है [उसे] (च) और (अहम्) मैं (देवीम्) विद्वानों में होने वाली (वाचम्) वाणी को (विशः परि) सब मनुष्यों में भरपूर (वदामि) बताता हूँ ॥२॥

भावायः—परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य आदि पदार्थों को रचकर सत्य का विधान और असत्य का निषेध वेद द्वारा सब प्राणियों को बताया है ॥२॥

अहं जंजान पृथिवीमुत धामहमृतं जनयं सप्त सिन्धून् ।

अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अंग्नीषोमावजुषे सखाया ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैंने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (धाम्) सूर्य को (जंजान) उत्पन्न किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को और (सिन्धून्) उनकी व्यापक शक्तियों को (अजनयम्) उत्पन्न किया है । (अहम्) मैं (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ (यत्)

जो कुछ है [उसे] (ववामि) बताता हूँ, (यः) जिसमें (सखाया) आपस में मित्र (अग्नीषोमी) अग्नि और जल को (अजुषे) तृप्त किया है ॥३॥

भावार्थ:—परमेश्वर ने सब पृथिवी आदि पदार्थ और इन्द्रियों और इन्द्रियों की शक्तियों को रचकर धर्म और अधर्म का लक्षण बताया है और अग्नि और जल वायु आदि को संसार की स्थिति का कारण रक्खा है उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥३॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥६२॥

१—३ ॥ सन्त्रोक्तदेवता; २, ३ सूनृता देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

धनस्य नैरोग्यस्यचोपदेशः—धन और नीरोगता का उपदेश ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनैषिरो नभोभिः ।

द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥१॥

भावार्थ:—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर (रश्मिभिः) विद्या प्रकाशों से और (इषिरः) शीघ्रगामी (वातः) पवन (प्राणेन) प्राण से और (नभोभिः) मेघों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे । (पयस्वती) रसवाली (ऋतावरी) सत्यशील और (यज्ञिये) संगति करने योग्य (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (पयसा) अपने रस से (नः) हमें (पुनीताम्) शुद्ध करें ॥१॥

भावार्थ:—मनुष्य विज्ञानपूर्वक सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी आदि पदार्थों से शिल्प आदि और शरीर रक्षण आदि में उपकार लेकर सुखी हों ॥१॥

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशोस्तन्वीं वीतपृष्ठाः ।

तया गृणन्तः सधमादेष्टु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥२॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करने वाली (सूनुताम्) प्रिय सत्य वेद वाणी को (आ रभध्वम्) तुम आरम्भ करो, (यस्याः) जिसके (तन्वः) शरीर के (आशाः) विस्तार (वीतपृष्ठाः) सेचन सामर्थ्य पहुंचाने वाले हैं। (तया) उस [वेद वाणी] से (सधमादेशु) परस्पर आनन्द उत्सवों पर (गृणन्तः) बातचीत करते हुए (वयम्) हम लोग (रघीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्वाम) होवें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदविद्या का सर्वत्र प्रचार करके विद्या धन और सुवर्णादि धन बढ़ावें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—प्र० १६। ४४ ॥

वैश्वानरीं वचसे आरंभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।

इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (शुद्धाः) शुद्ध, (शुचयः) पवित्र और (पावकाः) शुद्ध करने वाले (भवन्तः) होते हुए तुम (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करनेवाली [वेद वाणी] को (वचसे) तेज पाने के लिये (आरभध्वम्) आरम्भ करो। (इह) यहाँ पर (इडया) वेद वाणी से (सधमादम्) परस्पर हर्ष उत्सव को (मदन्तः) आनन्दित करते हुए हम (ज्योक्) बहुत काल तक (उच्चरन्तम्) चढ़ते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद विद्या का आश्रय लेकर आप शुद्ध होकर और दूसरे अज्ञानियों को शुद्ध करके परस्पर आनन्द भोगते हुए चढ़ते हुए सूर्य के समान प्रतापी होवें ॥३॥

सूक्तम् ॥६३॥

१—४ ॥ आत्मा देवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष प्राप्ति का उपदेश ॥

यत् ते देवी निर्वृतिरावन्ध दामं ग्रीवास्त्रिविमोक्तं यत् ।

तत् ते वि व्यामवायुषे वचसे दलायादोमदमन्नमद्धि प्रसृतः ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (देवी) प्राप्ति हुई (निर्वृतिः) अलक्ष्मी ने (यत्) जो (दान) रस्ती (ते) तेरे (ग्रीवास्) गले में (आवन्ध) बांध दी है, (यत्) जो [ज्ञानाद् अन्नं, ज्ञान विना] (अभोवधम्) न खुलने वाली है। (तत्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) उत्तम जीवन के लिये, (वचसे) तेज के लिये और (वत्याय) बल के

लिये, [ज्ञानेन = ज्ञान से] (वि स्थायि) मैं खोलता हूँ, (प्रसूतः) आगे बढ़ाया गया तू (अदोमदम्) अक्षय हर्ष युक्त (अन्नम्) अन्न का (अद्वि) भोग कर ॥१॥

भावार्थ:— मनुष्य अज्ञान के फल दरिद्रता आदि दुःखों को ज्ञान द्वारा पुरुषार्थपूर्वक नाश करके अक्षय आनन्द भोगें ॥१॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

यमो मम पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥२॥

भावार्थ:—(तिग्मतेजः) हे तेज नाश करने वाली (निर्ऋते) अलक्ष्मी (ते) तेरे लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (अयस्मयान्) लोह के बनी (बन्धपाशान्, बन्धन की ब्रेडियों को (वि चृत) तोड़ डाल (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारं बार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःख रूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥२॥

भावार्थ:— परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से दुष्करियों को अनेक दारुण दुःख देता है, इस लिये मनुष्य ज्ञान द्वारा पापों से बचकर मृत्यु अर्थात् दुःख से बचे रहें ॥२॥

अयस्यै द्रुपदे वेधिष इहाभिहितो मृत्युभियं सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमस् ॥३॥

भावार्थ:—[हे मनुष्य !] (इह) यहाँ पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों से, (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं, (अभिहितः) धिरा हुआ तू (अयस्ये) लोहे से जकड़े हुए (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (वेधिषे = बध्यसे) बंध रहा है। (यमेन) नियम के साथ (पितृभिः) पालन करने वाले जानियों से (संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहये) ऊपर चढ़ा ॥३॥

भावार्थ:— जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त करें ॥३॥

संसमिद् युवसे वृपन्नग्ने विश्वान्यय आ ।

इहस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥४॥

भावार्थ:—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (अयः) स्वामी

होकर तू (विद्वानि इत्) सब ही [सुखों] को (संसम्) यथावत् रीति से (आ=आनीय) ला कर (युवसे) मिलाता है। और (इडः) प्रशंसा के (पदे) पदपर (सम् इध्यसे) तू सुशोभित होता है, (सः) सो तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धनों को (आ भर) भर दे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य पराक्रमी धर्मात्माओं का आश्रय लेकर सम्पूर्ण धन प्राप्त करें ॥४॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—म० १५।३०। और ऋग्वेद में भी है—म० १०।१६१।१।७। जिसके आगे के शेष तीन मन्त्र अगले सूक्त ६४ में हैं ॥

सूक्तम् ॥६४॥

१-३ ॥ संज्ञानं देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ॥

संगतिलाभोपदेशः—संगति के लाभ का उपदेश ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥१॥

भाषार्थः—(सम् जानीध्वम्) आपस में जान पहिचान करो, (सम् पृच्यध्वम्) आपस में मिले रहो, (जानताम् वः) जानवाले तुम लोगों के (मनांसि) मन (सम्) एकसे होवें [अथवा—(वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सम्) एकसे (जानताम्) होवें] । (यथा) जैसे (पूर्वं) प्रथम स्थान वाले, (संजानानाः) यथावत् जानी (देवाः) विद्वान् लोग (भागम्) सेवनीय परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यों के समूह को (उपासते) सेवन करते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परस्पर मिल कर वेद आदि शास्त्रों का विचार करके ज्ञानी पुरुषों के समान ईश्वर आज्ञा पालन करते हुए अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद के चार मन्त्र वाले अन्तिम सूक्त, म० १०।सू० १६१ के म० २—४ हैं, । पहिला मन्त्र गत सूक्त में आ चुका है। और स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वेदोक्त धर्म विषय में भी आये हैं ॥

स गानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।

समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥२॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो तुम्हारा] (मन्त्रः) मन्त्र, विचार (समानः) एकसा और (समितिः) समिति [सामाजिक व्यवस्था] (समानी) एक सी, (व्रतम्) धर्म का

आचरण (समानम्) एकसा और (एवाम्) इन तुम सब का (चित्तम्) चित्त [सब पदार्थों का ज्ञान] (सह) मिला हुआ होवे। (समानेन) एक से (हविषा) ग्राह्य धर्म के साथ (वः) तुम को (बुधेमि) मैं ग्रहण करता हूँ, (समानम्- एक से (चेतः) चिन्तन [भूत, भविष्यत् के अनुभव के स्मरण] में (अभिसंविशध्वम्) तुम भली भाँति प्रवेश करो ॥२॥

भाषार्थः— मनुष्यों को योग्य है कि सदा वेदमार्ग पर चलकर एक-चित्त होकर धर्मसभा, विद्यासभा, राजसभा आदि बनाकर बुद्धि, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुण बढ़ावें ॥२॥

समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहसंति ॥३॥

भाषार्थः—(वः) तुम्हारा (आकूतिः) निश्चय, उत्साह, अथवा सङ्कल्प (समानो) एकसा और (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय [हार्दिक कर्म] (समाना) एक से होवें। (वः) तुम्हारा (मनः) मन [मनन कर्म] (समानम्) एकसा (अस्तु) होवे, (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (असति) गति (सह) बड़ा सहाय करने वाली होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य धर्म के विचारों में प्रीतिपूर्वक एकमत होकर अपने सब काम समाज द्वारा सिद्ध करके सुख बढ़ावें ॥३॥

सूक्तम् ॥६५॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः, २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः— सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अत्र मन्थुरवायताव वाह मनोयुजा । पराशर त्वं

तेषां पराञ्चं शुष्ममर्द याथा नो रयिमा कृधि ॥१॥

भाषार्थः—(मन्थुः) क्रोध (अव=अवगच्छतु) डीला होवे (आयता) फैले हुए शस्त्र (अव=अवगच्छन्तु) डीले होवें (मनोयुजा) मन के साथ संयोग वाली (वाह) भुजाओं (अव=अवगच्छताम्) नीचे होवें। (पराशर) हे शत्रुनाशक सेनापति ! (त्वम्) तू (तेषाम्) उन [शत्रुओं] का (शुष्मम्) बल (पराञ्चम्) ओधा करके (अर्दं, मिटा दे, (अथ) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (आकृधि) सन्मुख कर ॥१॥

भाषार्थः—चतुर सेनापति शत्रुओं को हराकर शान्तचित्त होकर प्रजा में धन की बढ़ती करे ॥१॥

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ ।

वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥२॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विजयी लोगो ! (निर्हस्तेभ्यः) निहत्ते [निर्बल हम लोगों] के हित के लिये (नैर्हस्तम्) निहत्त [निर्बल शत्रुओं] के ऊपर (यम्) जिस (शरुम्) बाण को (अस्यथ) तुम छोड़ते हो (अनेन) उसी ही (हविषा) ग्राह्य शस्त्र से (अहम्) मैं [प्रजागण वा राजगण] (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (वृश्चामि) काटता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—सब प्रजागण और राजपुरुष मिलकर शत्रुओं के नाश करने के प्रयत्न करें ॥२॥

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः ।

जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिनां ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति ने (असुरेभ्यः) असुर शत्रुओं को (नैर्हस्तम्) निहत्तापन (प्रथमम्) पहिले (चकार) किया था । (स्थिरेण) स्थिर स्वभाव, (मेदिनां) स्नेही (इन्द्रेण) उस बड़े सेनापति के साथ (मम) मेरे (सत्वानः) वीर लोग (जयन्तु) जीतें ॥३॥

भाषार्थः—जिस शूर सेनापति की सहायता से पहिले शत्रुओं को जीता है उसकी सहायता से शत्रुओं को अब भी जीतें ॥३॥

सूक्तम् ॥६६॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्, २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधं प्रायन्त्यस्मान् ।

समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामग्रहारो विविद्धः ॥१॥

भाषार्थः—(शत्रुः) शत्रु (नः) हम पर (अभिदासन्) चढ़ाई करता हुआ (निर्हस्तः) निहत्ता (अस्तु) होवे, [और वे भी,] (ये) जो (सेनाभिः) अपनी सेनाओं के साथ (युधम्) युद्ध करने के लिये (अस्मान्) हम पर (प्रायन्ति) चले आते हैं । (इन्द्र) हे प्रतापी सेनापति इन्द्र ! [उन सब को] (महता) बड़े (वधेन) वध के

साथ (समर्थ) मार गिरा, (एवाम्) इन सब का (अघहारः) दुःखदायी प्रधान (विविद्धः) आर पार छिदकर (व्रातु) भाग जावे ॥१॥

भाषार्थः—चतुर सेनापति शत्रुओं और उनकी सेनाओं को अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा हरा कर भगा देवे ॥१॥

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽथ पराशरीत् ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो तुम (आतन्वानाः) [धनुष बाण] तानते हुए (च) और (आयच्छन्तः) [तरवारें] खींचते हुए और (अस्यन्तः) चलाते हुए (धावथ) दौड़े चले आते हो । (शत्रवः) हे शत्रुओ ! तुम सब (निर्हस्ताः) निहत्ते (स्थन, हो जाओ, (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ने (वः) तुम को (अथ) आज (पराशरीत्) मार गिराया है ॥२॥

भाषार्थः—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं के धावे को रोक कर उन्हें मार गिरावे ॥२॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रोऽङ्गैर्वा म्लापयामसि ।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहे ॥३॥

भाषार्थः—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः) निहत्ते (सन्तु) हो जावें, (तेषाम्) उन के (अङ्गा) अंगों को (म्लापयामसि) हम शिथिल करते हैं । (अथ) फिर (इन्द्र) हे महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ! (तेषाम्) उनके (वेदांसि) सब धनों को (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (वि भजामहे) हम बांट लेंवें ॥३॥

भाषार्थः—विजयी वीर पुरुष शत्रुओं को जीत कर सेनापति की आज्ञानुसार राजविभाग निकाल कर उनका धन बांट लेंवें ॥३॥

सूक्तम् ॥६७॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

परि वत्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।

मुह्यन्त्वयामूः सेना अभित्राणां परस्तराम् ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला राजा (च) और (पूषा) पोषण करने-

वाला मन्त्री (वर्मानि) मार्गों पर (सर्वतः) सब दिशाओं में (परि सस्रतुः) सब ओर चलते रहें हैं । (अमित्राणाम्) पीड़ा देनेवाले शत्रुओं की (अमूः) वे सब (सेनाः) सेनाएं (अथ) आज (परस्तराम्) बहुत दूर मुहन्तु) धबड़ा कर चली जावें ॥१॥

भावार्थः—युद्ध कुशल राजा और मन्त्री के उपाय से शत्रु की सब सेनायें भाग जावें ॥१॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाणं इवाह्वयः ।

तेषां वो अग्निमृढानामिन्द्रा हन्तु वरंवरम् ॥२॥

भावार्थः—(मूढाः) हे धबड़ाये हुए (अमित्राः) पीड़ा देने वाले शत्रुओं ! (अशीर्षाणः) विना शिर वाले [शिर कटे] (अह्वयः इव साँपों के समान (चरत) चेष्टा करो । (इन्द्रः) प्रतापी वीर राजा (अग्निमृढानाम्) अग्नि [आग्नेय शस्त्रों] से धबड़ाये हुए (तेषां वः) उन तुम सबों में से (वरंवरम्) अच्छे अच्छों को चुन कर (हन्तु) मारे ॥२॥

भावार्थः—कुशल सेनापति इस प्रकार व्यूहरचना करे कि शत्रु के सेनावल विध्वंस हो कर धबड़ा जावें और उनके बड़े बड़े नायक मारे जावें ॥२॥

ऐषु नह्य वृषाजिनै हरिणस्या भियं कृधि ।

पराङ्मित्र एषं त्वर्वाची गौरुषेतु ॥३॥

भावार्थः—[हे सेनापति !] (ऐषु) इन [अपने वीरों] में (वृषा=वृष्णः) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (अजिनम्) चर्म [कवच] (आ नह्य) पहिना दे, और [शत्रुओं में] (हरिणस्य) हरिण का (भियम्) डरपोकन (कृधि) करदे । (अमित्रः) शत्रु (पराङ्) उलटे मुख हो कर, (एषतु) चला जावे (गौः) भूमि [युद्ध भूमि और राज्य] (अर्वाची) हमारी ओर (उप एषतु) चली आवे ॥३॥

भावार्थः—सेनापति अपने वीरों को कवच आदि पहिना कर शत्रुओं को भयभीत करके रणभूमि और राज्य अपने हाथ करे ॥३॥

सूक्तम् ॥६८॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ पञ्चपदा विराट्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ॥

चूडाकरणसंस्कारोपदेशः—मुण्डन संस्कार का उपदेश ॥

आयमंगन्तसविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या

रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत् प्रचेतसः । १॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (सविता) काम का चलानेवाला फुरतीला नापित (क्षुरेण) छुरा सहित (आ अगन्) आया है, (वायो) हे शीघ्रगामी पुरुष ! (उष्णेन) तप्त [तत्ते] (उदकेन) जलसहित (आ इहि) तू आ । (आदित्याः) प्रकाशमान, (वद्राः) जानवान्, (वसवः) श्रेष्ठ पुरुष आप (सचेतसः) एकचित्त होकर [बालक के केश] (उन्दन्तु) भिगोवें, (प्रचेतसः) प्रकृष्ट जानवाले पुरुषो तुम (सोमस्य) शान्तस्वभाव (राज्ञः) तेजस्वी बालक का (वपत्=वपयत्) मुण्डन कराओ ॥१॥

भाषार्थः—गृहस्थ प्रवीण शुद्ध नापित को बुलाकर गुनगुने जल से मुण्डन करावें और सब बड़े बड़े विद्वान् पुरुष उत्सव में आकर यथोचित सम्मति दें ॥१॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि—चूडाकर्म संस्कार में लिखे हैं ।

अदितिः श्मश्रुं वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।

चिकित्सन्तु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥२॥

भाषार्थः—(अदितिः) अखण्डित छुरा (श्मश्रु) केश (वपत्) काटे (आपः) जल (वर्चसा) अपनी शोभा से (उन्दन्तु) सींचे । (प्रजापतिः) सन्तान का पालन करने वाला पिता (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये और (चक्षसे) दृष्टि बढ़ाने के लिये (चिकित्सन्तु) [बालक के] रोग की निवृत्ति करे ॥२॥

भाषार्थः—मुण्डन होने के पश्चात् स्नान कराके यथोचित ओषधि खान पान आदि द्वारा बालक को प्रसन्न करें । इस संस्कार से बालक की आयु और दृष्टि बढ़ती है ॥२॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥३॥

भाषार्थः—(येन) जिस विधि के साथ (विद्वान्) अपना कर्म जानने वाले (सविता) फुरतीले नापित ने (क्षुरेण) छुरा से (सोमस्य) शान्त स्वभाव, (राज्ञः) तेजस्वी, (वरुणस्य) उत्तम स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) मुण्डन किया है । (तेन) उसी विधि से (ब्रह्माणः) हे ब्राह्मणो ! (अस्य) इस बालक का (इदम्) यह

गिर (वपत्) मुण्डन कराओ, (अयम्) यह बालक (शोमान्) उत्तम गोश्रों वाला, (अश्ववान्) उत्तम घोड़ों वाला और (प्रजावान्) उत्तम सन्तानों वाला (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग बालकों का मुण्डन संस्कार कराके उन्हें प्रतापी, धनी और बलवान् बनावें ॥३॥

सूक्तम् ॥६६॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्वेता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

गिरावर्गराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।

सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥१॥

भाषार्थः—(गिरी) उपदेश करने वाले संन्यासी में, (अरगराटेषु) ज्ञान के उपदेशकों में विचरने वालों [ब्रह्मचारी आदिकों] के बीच, (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) विद्याओं में (यत्) जो (यशः) यश है ! और (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) बहते हुए जल [अथवा बढते हुए ऐश्वर्य] में और (कीलाले) अन्न में (मधु) जो मीठापन है, (तत्) वह (मयि) मुझ में होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विद्या आदि प्राप्त करके अपना ऐश्वर्य और स्वास्थ्य स्थिर रखकर यश पावे ॥१॥

अश्विना सारधेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।

यथा भर्गस्वती वाचमावदानि जनों अनु ॥२॥

भाषार्थः—(शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) हे कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता ! (सारधेण) सार अर्थात् बल वा धन के पहुँचाने वाले (मधुना) ज्ञान से (मा) मुझ को (अङ्क्तम्) प्रकाशित करो । (यथा) जिससे (जनान् अनु) मनुष्यों के बीच (भर्गस्वतीम्) तेजोमयी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) मैं बोला करूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर मनुष्यों में सारगर्भित सत्य वचन बोलें ॥२॥

मयि वर्चो अयो यशोऽथां यज्ञस्य यत् पर्यः ।

तन्मयि प्रजापतिर्दिवि धामिब दंडतु ॥३॥

भाषार्थः—(मयि) मुझ में (वर्चः) प्रताप, (अथो) और (यशः) यश हो, (अथो) और (यज्ञस्य) देव पूजा आदि यज्ञ का (यत्) जो (पयः) सार है, (तत्) उसको भी (मयि) मुझ में (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (दृढं हतु) दृढ़ करे, (इव) जैसे (विचि) अन्तरिक्ष में (छाम्) सूर्य मण्डल को ॥३॥

भाषार्थः—जैसे परमेश्वर ने आकाश में सूर्य को स्थिर करके आकर्षण, प्रकाश आदि द्वारा महा उपकारी बनाया है, वैसे ही मनुष्य उत्तम शिक्षा प्राप्त करके यशस्वी होवे ॥३॥

सूक्तम् ॥७०॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्व्यवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरभक्त्युपदेशः—परमेश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अंधिदेवने ।

यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते' अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (मांसम्) ज्ञान, (यथा) जैसे (सुरा) ऐश्वर्य, (यथा) जैसे (अक्षाः) अनेक व्यवहार (अधिदेवने) बहुत व्यवहारयुक्त राजद्वार में रहते हैं । (यथा) जैसे (वृषण्यतः) अपने को ऐश्वर्यवान् मानने वाले (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्तुति क्रिया [वा अपनी पत्नी] में (निहन्यते) स्थिर रहता है । (एव) वैसे ही (अघ्न्ये) हे न मारने योग्य प्रजा ! (ते) तेरा (मनः) मन (वत्से) सब में निवास करने वाले परमेश्वर में (अधि) अच्छे प्रकार (निहन्यताम्) दृढ़ होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ भक्ति करके सदा आनन्द भोगे ॥१॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे ।

यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते' अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पद चिह्न से (पदम्) अपना पद (उद्युजे) बढ़ाये जाता है । (यथा) जैसे...म० १ ॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र एक के समान है ॥२॥

यथां प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधिं ।

यथां पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते' अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (प्रधिः) पहिये की पुट्टी [अरों के जोड़ से] और (यथा) जैसे (उपधिः) अरों का जोड़ [पुट्टी से] और (यथा) जैसे (नभ्यम्) नाभि स्थान प्रधौ अधि) पुट्टी के भीतर [जमा होता है], (यथा) जैसे..... म० १ ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र एक के समान है ॥३॥

सूक्तम् ॥७१॥

१ - ३ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

दोषनाशोपदेशः—दोषों के नाश का उपदेश ॥

यदन्नपद्भिं बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।

यदेव किं च प्रतिजग्राहमग्निष्टद्वोता सुहुतं कृणोतु ॥१॥

भाषार्थः—(विरूपम्) अनेक रूप वाला (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (बहुधा) प्रायः (अधि) मैं खाता हूं, (उत्) और (हिरण्यम्) सुवर्ण, (अश्वम्) घोड़ा, (गाम्) गौ, (जगाम्) बकरी, (अविम्) भेड़, और (यत् एव किम् च) जो कुछ भी (अहम्) मैंने (प्रतिजग्राह्) ग्रहण किया है, (होता) दाता (अग्निः) सर्व-व्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक परमेश्वर को आत्मसमर्पण करते हैं, वे सुखी होते हैं ॥१॥

यन्मां हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।

यस्मान्मे मन उदिव रारंजीत्यग्निष्टद्वोता सुहुतं कृणोतु ॥२॥

भाषार्थः—(हुतम्) दिया हुआ [माता पिता आदि से पाया हुआ], अथवा (अनुतम्) न दिया हुआ [स्वयं प्राप्त किया] (पितृभिः) दूसरे विद्वान् महाशयों करके (दत्तम्) दिया हुआ और (मनुष्यैः) मननशील पुरुषों करि के (अनुमतम्) अङ्गीकार किया हुआ (यत्) जो कुछ द्रव्य (मा) मुझ को (आजगाम) प्राप्त

हुआ है। (यस्मात्) जिसके कारण से (मे) मेरा (मनः) मन (उत् इव) उदय होता हुआ सा (रारजीति) अत्यन्त शोभित रहता है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्यों को जो कुछ पदार्थ अन्य महाशयों से अथवा अपने पुरुषार्थ से मिले, उसे विचारपूर्वक धार्मिक रीति से व्यय करें ॥२॥

यदन्नमद्यन्नृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्ननुत संगृणामि ।

वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अनुतेन) असत्य व्यवहार से (अग्नि) मैं खाता हूं, (उत) और (दास्यन्) देना चाहता हुआ [अथवा] (अदास्यन्) न देना चाहता हुआ मैं [जो कुछ] (संगृणामि=संगिरामि) खा जाता हूं। (महतः) पूजनीय (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यम्) मेरे लिये (शिवम्) सुखकारक और (मधुमत्) मीठे रसवाला (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर दुष्ट कर्म छोड़ कर अपने कर्तव्य सत्यमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥७२॥

१—३ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १ जगतो; २, ३ अनुष्टुप् ॥

राज्यवर्धनोपदेशः—राज्य बढ़ाने का उपदेश ॥

यथासितः प्रथयते वशां अनु वपूषि कृष्वन्नसुरस्य मायया ।

एवा ते शेषः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (असितः) बन्धन रहित, स्वतन्त्र परब्रह्मात्मा (वशान् अनु) अपने वशवर्ती प्राणिमियों के लिये (असुरस्य) बुद्धिमान् की (मायया) बुद्धि से (वपूषि) अनेक शरीरों को (कृष्वन्) बनाता हुआ (प्रथयते) विस्तार करता है। (एव) वैसे ही (अयम्) यह (अर्कः) मन्त्र [विचार] (ते) तेरे (शेषः) सामर्थ्य को (सहसा) सहनशक्ति के साथ और (अङ्गम्) अङ्ग को (अङ्गेन) अङ्ग के साथ (संसमकम्) भली भाँति संयुक्त (कृणोतु) करे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे परमेश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता से जगत् को रचकर

महा उपकार किया है, वैसे ही मनुष्य देशों के विचार से अपनी शक्ति बढ़ाकर बढ़ती करें । १॥

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।

यात् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः । २॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (तायादरम्) प्रबन्ध से आदर योग्य (पसः) राज्य (वातेन) उद्योग से (स्थूलभम्) मनुष्यों में प्रकाश वाला (कृतम्) बनाया जाता है, (यावत्) जितना (परस्वतः) पालने में समर्थ पुरुष का (पसः) राज्य होता है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार नीति निपुण, उद्योगी और प्रजापालक राजा के राज्य में उन्नति होती है, वैसे ही शुभ गुणों द्वारा मनुष्य अपना राज्य बढ़ावे ॥२॥

यावदङ्गीनें पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।

यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः । ३॥

भाषार्थः—(यावदङ्गीनम्) जितने अङ्ग हैं उनसे सिद्ध, (पारस्वतम्) पालन समर्थ पुरुषों से सिद्ध, (च) और (गार्दभम्) [बोक उठाने वाले] गवहों से सिद्ध, (यत्) जितना राज्य है । और (यावत्) जितना (वाजिनः) अन्नयुक्त (अश्वस्य) बलवान् पुरुष [राज्य] का है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥३॥

भाषार्थः—जिस राज्य में सब राज्य के अङ्ग, अर्थात्, १ राजा, २—मन्त्री, ३—मित्र, ४—कोश, ५—राज्य प्रबन्ध, ६—गढ़, ७ सेना, (देखो अमर १८ । १७, १८) प्रजापालक अधिकारी और हस्ती गर्दभ आदि पशु और अन्न और बलवान् राजा होते हैं, वहाँ अनेक प्रकार से वृद्धि होती है, वैसे ही सब मनुष्यों को वृद्धि करनी चाहिये ॥३॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥७३॥

१—३ ॥ विद्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्समागमोपदेशः—विद्वानों से समागम का उपदेश ॥

एह यांतु वरुणः सोमो अग्निर्वृहस्पतिर्वसुभिरेह यांतु ।

अस्य श्रियमुपसंयात सर्वे उग्रस्य चेतुः संमनसः सजाताः ॥१॥

भाषार्थः—(वरुणः) सूर्य समान प्रतापी और (सोमः) चन्द्र समान शान्त-
स्वभाव पुरुष (इह) यहाँ पर (आ यांतु) आवे और (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी
(वृहस्पतिः) बड़ी वेदवाणी की रक्षा करनेवाला पुरुष (वसुभिः) उत्तम उत्तम
गुणों वा धनों के साथ (इह) यहाँ पर (आयांतु) आवे । (सजाताः) हे समान
जन्मवाले बान्धवो ! (सर्वे) तुम सब (संमनसः) एक मन होकर, (अस्य) इस
(उग्रस्य, तेजस्वी चेतुः) जानवान् पुरुष की (श्रियम्) सम्पदा को (उपसंयात)
भली भाँति प्राप्त करो ॥१॥

भाषार्थः—गृहस्थी को योग्य है कि अनेक अनेक विद्वानों से सत्कार-
पूर्वक समागम करके गृहलक्ष्मी बढ़ा कर अपनी उन्नति करे ॥१॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।

तान्तर्सेवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥२॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (यः) जो (शुष्मः) पराक्रम (वः) तुम्हारे
(हृदयेषु अन्तः) हृदयों में भरा है, और (या) जो (आकूतिः) उत्साह वा शुभसंकल्प
(वः) तुम्हारे (मनसि) मन में (प्रविष्टा) प्रवेश हो रहा है । [उसी के कारण]
(हविषा) उत्तम अन्न से और (घृतेन) जल से (तान्) उन तुम सब की
(सीवयामि = सेवे) मैं सेवा करता हूँ, (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो !
(वः) तुम्हारी (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य यथावत् शुश्रूषा करके विद्वानों से उत्तम उत्तम
विद्याएँ ग्रहण करके अपने आत्मा को सदा सन्तुष्ट करते रहें ॥२॥

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु ।

वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥३॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (इह) यहां पर (एव) ही (स्त) रहो (अस्मत्) अघि, हम से (मा अप यात) हट कर न जाओ, (पूषा) पोषण करने वाला गृहस्थ (परस्तात्) उत्तर उत्तर काल में (वः) तुम्हारे लिये (अपथम्) अभय (कृणोतु) करे। (वास्तोः) घर का (पतिः) स्वामी [गृहस्थ] (वः) तुमको (अनु) निरन्तर (जोह्वीतु) बुलाता रहे। (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारे (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—जो धार्मिक गृहस्थ विद्वानों को अभय दान करके आदर-पूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, वे संसार में आनन्द भोगते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥७४॥

१—३ ॥ भगो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३, त्रिष्टुप् ॥

सामानस्योपदेशः—एकमता के लिये उपदेश ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः१ः सं मनांसि समु व्रता ।

सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥१॥

भाषार्थः [हे विद्वानो !] (वः) तुम्हारी (तन्वः) विस्तृत विद्याएं (सम्) यथावत् (मनांसि) मनन सामर्थ्य (सम्) यथावत् (उ) और (व्रता) सब कर्म (सम्) यथावत् (पृच्यन्ताम्) मिले रहें। (अयम्) इस (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पतिः) पति (भगः) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमेश्वर] ने (वः) तुम को (वः) तुम्हारे हित के लिये (सम्) यथावत् (सम् अजीगमत्) मिलाया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परस्पर मिल कर उत्तम विद्याएं, उत्तम विचार, और उत्तम कर्म प्राप्त करके सुख भोगें। यह परमेश्वरकृत नियम है ॥१॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।

अथो भगस्य यच्छ्रुन्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥२॥

भाषार्थः—(वः) तुम्हारे (मनसः) मनन का (संज्ञपनम्) विज्ञापन (अथो) और भी (हृदः) हृदय का (संज्ञपनम्) संतोषक कर्म होवे। (अथो) और भी (भगस्य) भगवान् [की प्राप्ति] का (यत्) जो (आप्तम्) तप है, (तेन) उस कारण से (वः) तुमको (संज्ञपयामि) मैं संतुष्ट करता हूं ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग पूर्ण विद्या प्राप्त करके शुद्ध हृदय से भगवान् की भक्ति करके संसार में विद्या प्रचार करें ॥२॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिर्ग्रा अहूणीयमानाः ।

एवा त्रिणामन्नहूणीयमान इमान जनान्संमनसस्कृधीह ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (उग्राः) तेजस्वी (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् [अथवा अदीन देव माता अदिति, पृथ्वी वा वेदवाणी के पुत्र समान मान करने वाले] पुरुष (अहूणीयमानाः) सङ्कोच न करते हुए (वसुभिः) उत्तम गुरुओं और (मरुद्भिः) शत्रुनाशक वीरों के साथ (संबभूवुः) पराक्रमी हुए हैं । (एव) वैसे ही (त्रिणामन् हे तीनों कालों और तीनों लोकों को भूकाने वाले परमेश्वर ! (अहूणीयमानः) क्रोध न करता हुआ तू (इमान्) इन सब (जनान्) जनों को (इह) यहां पर (संमनसः) एकमन (कृधि) कर दे ॥३॥

भाषार्थः—जिस प्रकार से पूर्वज महात्मा विद्वानों से शिक्षा पाकर उपकारक हुए हैं, इसी प्रकार मनुष्य त्रिलोकीनाथ परमात्मा की भक्ति के साथ एकचित्त होकर परोपकार करें ॥३॥

सूक्तम् ॥७५॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनिवारणायोपदेशः— शत्रु के हटाने का उपदेश ॥

निरमुं तुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।

नैर्वाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥१॥

भाषार्थः— मैं (अमुम्) उस [शत्रु]को (ओकसः) उसके घर से (निरुंवे) निकालता हूं, (यः सपत्नः) जो शत्रु (पृतन्यति) सेना चढ़ाता है । (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (एनम्) उसको (नैर्वाध्येन) अपने निर्विघ्न (हविषा) ग्राह्य व्यवहार से (पराशरीत्) मार गिराया है ॥१॥

भाषार्थः—सुपरीक्षित शूरवीरों के समान हम पुरुषार्थ करके अपने शत्रुओं को हटावें ॥१॥

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।

यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

भाषार्थः—(वृत्रहा) शत्रुओं वा अन्धकार का नाश करने वाला (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तम्) चोर को (परमाम्) अतिशय (परावतम्) दूर भूमि में (नुवतु)

भेज देवे । (यतः) जहाँ से वह (शश्वतीभ्यः) बहुत (समाभ्यः) बरसों तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे ॥२॥

भावार्थः—राजा दुराचारी लोगों को दूर स्थान में कारागार के भीतर रखे ॥२॥

एतुं तिस्रः परावत एतु पञ्च जनों अति ।

एतुं तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति ।

शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥३॥

भाषार्थः—जो पुरुष (तिस्रः) तीन [अपने मानुष स्थान, नाम और जाति रूप] (परावतः) उत्कृष्ट भूमियों [वा धामों] को (अति=अतीत्य) उलांघ कर (एतु) चले, और (पञ्च जनान्) पांच [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण, और पाँचवें नीच योनि, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि] प्राणियों [की मर्यादा] को [उलांघ-कर] (एतु) चले । वह पुरुष (तिस्रः रोचनाः) तीन [जीव, प्रकृति और परमेश्वर की] रुचि-योग्य विद्याओं को [अथवा सूर्य, चन्द्र और अग्नि के] प्रकाशों को (अति=अतीत्य) उलांघकर [वहाँ] (एतु) चला जावे, (यतः) जहाँ से वह (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) बहुत बरसों तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे, (यावत्) जब तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) अन्तरिक्ष में (असत्) रहे ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य मानुषी मर्यादा को छोड़ कर महाघोर पातक करते हैं उनकी तामसी वृत्ति हो जाती है, और वे जन्म-जन्मान्तरों तक सदा दुःखसागर में डूबे रहते हैं ॥३॥

इस मन्त्र का मिलान करो—ऋग्वेद २ । २७ । ५, ६ ॥

पद पाठ में (रोचना) पद के स्थान पर सायणभाष्य के अनुसार (रोचनाः) ऐसा पद हमने माना है ॥

सूक्तम् ॥७६॥

१—४ ॥ अग्निर्वेता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनाद्योपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

य एनं परिपीदन्नि समादधति चक्षसे ।

सं भेद्धीं अग्निर्जिह्वाभिरुदंतु हृदयादधि ॥१॥

भाषार्थः—(ये) जो पुरुष (चक्षसे) वर्धन के लिये (एनम्) इस [अग्नि] की

(परिधीवन्ति) सेवा करते और (समावधति) ध्यान करते हैं । (संप्रेढः) [उन करके] अच्छे प्रकार प्रकाशित किया हुआ (अग्निः) अग्नि (जिह्वाभिः) अपनी जिह्वाओं के सहित (हृदयात्) हमारे हृदय से (अधि) अधिकार पूर्वक (उबेतु) उदय होवे ॥१॥

भाषार्थः - जो विद्वान् सूर्य, विजुली आदि अग्नि के गुणों को जानते हैं, उनसे अग्निविद्या प्राप्त करके मनुष्य संसार में फैलावें ॥१॥

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रंभे ।

अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (सांतपनस्य) ताप गुण वाले (अग्नेः) उस अग्नि के (पदम्) प्राप्तियोग्य गुण को (आयुषे) आयु बढ़ाने के लिये (आरंभे) प्रस्तुत करता हूँ, (र्यस्य) जिस [अग्नि] के (आस्यतः) मुख से (उद्यन्तम्) निकलते हुए (धूमम्) धूँ को (अद्धातिः) सत्य जानने वाला पुरुष (पश्यति) देखता है ॥२॥

भाषार्थः - जो मनुष्य शरीरस्थ अग्नि और प्रत्यक्ष अग्नि के गुण जान कर शारीरिक बल बढ़ाते और अस्त्र शस्त्र आदि कला यन्त्रों में उसका प्रयोग करते हैं, वे सुख वृद्धि करके अपना जीवन बढ़ाते हैं ॥२॥

यो अस्य समिधं वेदं क्षत्रियेण समाहिताम् ।

नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (क्षत्रियेण) दुःख से बचाने वाले क्षत्रिय करके (समाहिताम्) संभाली हुई (अस्य) इस [अग्नि] की (समिधम्) प्रकाश किया को (वेदं) जानता है, (सः) वह पुरुष (अभिह्वारे) कुटिल स्थान में (मृत्यवे) मृत्यु पाने के लिये (पदम्) अपना पैर (न) नहीं (निदधाति) जमाता है ॥३॥

भाषार्थः - जहाँ पर राजप्रबन्ध से शिल्प, कला, यन्त्र आदि में अग्नि का यथावत् प्रयोग किया जाता है, वहाँ मनुष्य मृत्यु के कारण दरिद्रता आदि से निर्भय रहते हैं ॥३॥

नैनं धनन्ति पर्यायिणो न सन्नो अबं गच्छति ।

अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वन्नामं गृह्णात्यायुषे ॥४॥

भाषार्थः—(एनम्) उस [क्षत्रिय] को (पर्यायिणः) घेरने वाले शत्रु (न) नहीं (धनन्ति) मारते हैं, और (न) न वह (सन्नान्) घात में बैठने वालों को (अवगच्छति)

जानता है। (यः) जो (विद्वान्) विद्वान् (क्षत्रियः) क्षत्रिय (अग्नेः) अग्नि के (नाम) नाम को (आयुषे) आयुष बढ़ाने के लिये (गृह्णाति) लेता है ॥४॥

भाषार्थः—जो राजा अग्नि के गुण जान कर कलाकुशल होकर अपना बल बढ़ाता है वह शत्रुओं से सदा निर्भय रहता है ॥४॥

सूक्तम् ॥७७॥

१-३ ॥ गोपा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

संपदाप्राप्त्युपदेशः—संपदा पाने का उपदेश ॥

अस्थाद् घौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थान्यश्वाँ अतिष्ठिषम् ॥१॥

भाषार्थः—(घोः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा हुआ है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी हुई है, (इवम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्) ठहरा हुआ है, (पर्वताः) सब पर्वत (आस्थाने) विश्रामस्थान में (अस्थुः) ठहरे हुए हैं। (अश्वान्) घोड़ों को (स्थामि) स्थान पर (अतिष्ठिषम्) मैंने खड़ा कर दिया है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य घोड़े आदि पशुओं को रसरी से बांधता है, वैसे ही सूर्य आदि लोक परमेश्वर नियम से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं, वैसे ही मनुष्यों को धार्मिक कर्मों के लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये ॥१॥

य उदानं परायणं य उदानन्यायनम् ।

आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जिस (गोपाः) भूमिपालक राजा ने (परायणम्) निकल जाने का सामर्थ्य (उदानं) पाया है, (यः) जिस ने (न्यायनम्) भीतर जाने का सामर्थ्य, घोर (यः) जिसने (आवर्तनम्) घूमने और (निवर्तनम्) लौटने का सामर्थ्य (उदानं) पाया है, (तम्) उसको (अपि) ही (हुवे) मैं बुलाता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य नीतिनिपुण और कलाकुशल होवे, उसका आदर-सत्कार सब मनुष्य करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १६ म० ५ ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं तं सन्त्वावृतः ।

सहस्रं त उश्वानस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥३॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे बहुत धन वाले पुरुष ! [हमारी ओर] (निवर्तय) लौट आ । (ते) तेरे (आवृतः) आगमन के उपाय (शतम्) सौ, और (ते) तेरे (उपावृतः) समीप में भ्रमण मार्ग (सहस्रम्) सहस्र (सन्तु) होंवें । (ताभिः) उन क्रियाओं से (नः) हमें (पुनः) अवश्य (आ कृधि) स्वीकार कर ॥३॥

भाषार्थः— जो पुरुष अपने विद्याबल से अनेक रक्षा के उपाय जानते हैं, मनुष्य उनकी सहायता प्राप्त करते रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥७८॥

१—३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ के धर्म का उपदेश ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः ।

जारां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसंनाभि वर्धताम् ॥१॥

भाषार्थः— (अयम्) यह पुरुष (तेन) उस [प्रसिद्ध] (भूतेन) बहुत (हविषा) आहुत अन्न के साथ (आ) सब ओर से (पुनः) अवश्य प्यायताम् बढ़ती करे । (अस्मै) इस पुरुष को (याम् जायाम्) जो बीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (आवाक्षुः) उन लोगों ने प्राप्त कराई है, (ताम् अभि) उस पत्नी के लिये वह [पति] (रसेन) अनुराग से वा पराक्रम से (वर्धताम्) बढ़े ॥१॥

भाषार्थः—अन्न आदि पदार्थों के उपार्जन का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करके माता-पिता आचार्य आदि की अनुमति से स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुरुषार्थपूर्वक उन्नति करें ॥१॥

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।

रथ्या सहस्रवर्चसेभौ स्तामनुपक्षितौ ॥२॥

भाषार्थः—(पयसा) प्राप्ति योग्य अन्न से और (राष्ट्रेण) राज्य वा ऐश्वर्य से (अभि, पत्नी के लिये (वर्धताम्) पति बढ़े, और (अभि) पति के लिये (वर्धताम्) पत्नी बढ़े । (सहस्रवर्चसा) सहस्र प्रकार के तेज वाले (रथ्या) धन से (इभौ) यह दोनों (अनुपक्षितौ) घटती बिना [सदा भरपूर] (स्ताम्) रहें ॥२॥

भाषार्थः—जिस घर में स्त्री पुरुष प्रसन्न रह कर पुरुषार्थपूर्वक परस्पर सहाय करते हैं, वहां सब प्रकार की सम्पदा सदा विराजमान रहती है ॥२॥

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।

त्वष्टा सहस्रमायूँषि दीर्घमायुः कृणोत वाम् ॥३॥

भाषार्थः—(त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर ने [तेरे हित के लिये] (जायाम्) बीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी को, और (त्वष्टा) विश्वकर्मा ने (अस्यै) इस पत्नी के लिये (त्वाम्) तुझे (पतिम्) पति (अजनयत्) उत्पन्न किया है । (त्वष्टा) वही विश्वकर्मा (सहस्रम्=सहस्राणि) बल देने वाले (आयूँषि) जीवन साधन और (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वाम्) तुम दोनों के लिये (कृणोतु) करे ॥३॥

भावार्थः—जो स्त्री पुरुष परमेश्वर की आज्ञा मान कर परस्पर हित करते हैं, वे अनेक प्रकार की वृद्धि करके अति आनन्द और कीर्ति पाते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥७६॥

१—३ ॥ नभसस्पतिर्देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ षडक्षरा पञ्चपदा गायत्री ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सर्वसम्पत्ति पाने का उपदेश ॥

अयं नो नभसस्पतिः सं स्फानो अभि रक्षतु ।

असमार्तिं गृहेषु नः ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (नभसः) सूर्यलोक का (पतिः) स्वामी परमेश्वर (संस्फानः) यथावत् बढ़ता हुआ (नः) हमारे लिये (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमार्तिम्) असामान्य [विशेष] लक्ष्मी वा वृद्धि (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्खे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य सूर्य आदि लोकों के स्वामी परमात्मा की महिमा विचारते हुए विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति से असाधारण धन और वृद्धि पाकर आनन्द भोगें ॥१॥

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥२॥

भाषार्थः—(नभसस्पते) हे सूर्यलोक के स्वामी (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) बल बढ़ाने वाला अन्न (धारय) धारण कर । (पुष्टम्) पुष्टि (आ) और (वसु) धन (आ एतु) खला आवे ॥२॥

भावार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके जो मनुष्य

सूर्य की वृष्टि ताप आदि से उपकार लेते हैं, वे ही सब प्रकार की वृद्धि और धन प्राप्त करते हैं ॥२॥

देवं संस्फान सहस्रापोषस्यैशिषे । तस्य नो रास्व

तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३॥

भावार्थः—(संस्फान) हे सब प्रकार वृद्धि वाले (देव) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सहस्रापोषस्य) सहस्र प्रकार के पोषण का (ईशिषे) तू स्वामी है । (तस्य) उस [पोषण] का (नः) हमें (रास्व) दान कर, (तस्य) उसका (नः) हमारे लिये (धेहि) धारण कर, (तस्य ते) उस तेरी (भक्तिवांसः) भक्तिवाले (स्याम) हम होवें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की भक्तिपूर्वक पुरुषार्थ करके उसके अक्षय भंडार से सब प्रकार के अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा सुखी रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥८०॥

१ ३ ॥ परमात्मा देवता ॥ १, २ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमात्ममहिमोपदेशः—परमात्मा की महिमा का उपदेश ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥१॥

भावार्थः—वह [परमेश्वर] (अन्तरिक्षेण) आकाश के समान अन्तर्यामी रूप से (विश्वा) सब (भूता) जीवों को (अवचाकशत्) अत्यन्त देखता हुआ (पतति, ईश्वर) होता है । (शुनः) उस व्यापक (दिव्यस्य) दिव्य स्वरूप परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है, (तेन, उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥१॥

भावार्थः—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर घट घट वासी होकर सब को कर्मों का फल देता है, उसकी आज्ञा पालन करके हम सदा धर्म आचरण करें ॥१॥

ये त्रयः कालकाञ्चा दिवि देवा इव श्रिताः ।

तान्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो (कालकाञ्जाः) काल अर्थात् सब की संख्या करने वाले परमेश्वर के प्रकाश (दिवि) आकाश में (भिताः) आश्रित (त्रयः) तीन (देवाः इव) देवताओं [अग्नि, वायु और सूर्य निरु० ७।५] के समान वर्तमान हैं। (तान्) उन (सर्वान्) सब [परमेश्वर के प्रकाशों] को (अस्मै) इस [जीव] के हित के लिये (ऋतये) रक्षा करने और (अरिष्टतातये) क्षेम करने को (अह्वे) मैंने बुलाया है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा को महिमार्थें सर्वत्र साक्षात् करके अपनी रक्षा करें ॥२॥

अ॒सु ते जन्मं दि॒वि तं स॒धस्त्वं स॒मुद्रे अ॒न्तर्मे॒हिमा तं पृथि॒व्याम् ।

शु॒नों दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेनां ते ह॒विषां विधेम ॥३॥

भाषार्थः—(असु) प्राणी में [हे परमेश्वर] (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव है, (दिवि) सूर्य मण्डल में (ते) तेरा (सधस्त्वम्) सद्वास है, (समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ते) तेरी (महिमा) महिमा है। (शुनः) व्यापक (दिव्यस्य) दिव्यस्वरूप परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥३॥

भाषार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर को परमाणु से लेकर स्थूल से स्थूल पदार्थों में साक्षात् करते हैं, वे योगी जन आत्मबल प्राप्त करके सुखी रहते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥८१॥

१—३ ॥ वृष्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगर्भधारणोपदेशः—उत्तम गर्भधारण का उपदेश ॥

य॒न्तासि॒ यच्छं॒से ह॒स्ताव॒प रक्षांसि॒ सेषांसि॒ ।

प्र॒जा धनं॑ च गृह्णानः॒ परिह॒स्तो अ॒भृद्य॒म् ॥१॥

भाषार्थः [हे पुरुष] ! तू (यन्ता) नियम में चलने वाला (असि) है, तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को [सहायता के लिए] (यच्छसे) देने वाला है, तू (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अप सेषसि) हटाता है। (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन को (गृह्णानः) सहारा देने हुए (अयम्) यह आप (परिहस्तः) हाथ का सहारा देने वाले (अभूत्) हुए हैं ॥१॥

भाषार्थः—जितेन्द्रिय पुरुष ही सब दरिद्रता आदि विघ्नों को हटा कर प्रजा और धन की रक्षा करके गृहस्थ आश्रम चलाने में समर्थ होते हैं ॥१॥

परिहृस्त वि धारय योनि गर्भाय धातवे ।

मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गर्भयागमे ॥२॥

भाषार्थः—(परिहृस्त) हे हाथ का सहारा देने वाले पुरुष ! (योनिम्) घर को (गर्भाय धातवे) गर्भ पुष्ट करने के लिये (वि) विशेष करके (धारय) संभाल । (मर्यादे) हे मर्यादायुक्त पत्नी ! (पुत्रम्) [गर्भस्थ] कुल शोधक सन्तान को (आ) भले प्रकार से (धेहि) पुष्ट कर । (त्वम्) तू (तम्) उस [सन्तान] को (आगमे) योग्य समय पर (आ गमय) उत्पन्न कर ॥२॥

भाषार्थः—उचित गृह आदि से यथावत् गर्भरक्षा करके पति-पत्नी सावधान रहें जिससे बालक पूरे दिनों में उत्पन्न होवे ॥२॥

यं परिहृस्तमविभरदितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥३॥

भाषार्थः—(पुत्रकाम्या) उत्तम सन्तान की कामना वाली (अदितिः) अखण्डव्रता स्त्री ने (यम्) जिस [जैसे] (परिहृस्तम्) हाथ का सहारा देने वाले पति को (अविभः) धारण किया है । (त्वष्टा) विश्वकर्मा वा शिली परमात्मा (तम्) उस [वैसे ही पति] को (अस्यै) इस पत्नी के लिए (आ बध्नात्) नियमबद्ध करे (यथा) जिससे वह पत्नी (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (जनात्) उत्पन्न करे, (इति) यही प्रयोजन है ॥३॥

भाषार्थः—जिस प्रकार स्त्री पुरुष वेदविहित रीति से प्रेम के साथ उत्तम सन्तान उत्पन्न करते रहे हैं, उसी प्रकार से स्त्री पुरुष परस्पर अनुराग के साथ श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करें ॥३॥

सूक्तम् ॥८२॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः— विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।

इन्द्रस्य वृत्रघ्नो बन्धे वासवस्य शतक्रतोः ॥१॥

भाषार्थः—(आयतः) अति यत्नशाली वा नियमवान् मैं (आगच्छतः) आते हुए और (आगतस्य) आये हुए पुरुष का (नाम) नाम [कीर्ति] (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ । (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशक, (वासवस्य) बहुत धन वाले और (शतशतोः) सैकड़ों कर्मों वाले (इन्द्रस्य) संपूर्ण ऐश्वर्य्य वाले परमात्मा की (वन्धे) मैं प्रार्थना करता हूँ ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न करें जिससे उनके आचरण वर्तमान और पूर्वज महात्माओं के समान धार्मिक हों ॥१॥

येन सूर्या सावित्रीमश्विनो हतुः पथा ।

तेन मामवब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥२॥

भाषार्थः—(येन पथा) जिस मार्ग से (अश्विना) दिन और रात्रि ने (सावित्रीम्) सूर्य सम्बन्धी (सूर्याम्) ज्योति को (ऊहतुः) प्राप्त किया है । (तेन) उसी [मार्ग से] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली भार्या को (आ) मर्यादा-पूर्वक (वहतात्) तू प्राप्त कर, (इति) यह बात (भगः) बड़े ऐश्वर्य्यवाले भगवान् ने (माम्) मुझसे (अवब्रवीत्) कही है ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वर ने आज्ञा दी है कि जिस प्रकार दिन और रात सूर्य को गति के आश्रित होकर उपकार करते हैं इसी प्रकार स्त्री पुरुष धर्म के लिये ही विवाह संस्कार करें ॥२॥

यस्तैऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।

तेना जनीयते जायां महं धेहि शचीपते ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) गणना व्यवहार [अथवा अंकुश, दुष्कर्मों का दण्ड] (बृहन्) बहुत बड़ा और (हिरण्ययः) ज्योतिस्वरूप और (वसुदानः) धन देने वाला है । (तेन) उसी के द्वारा, (शचीपते) वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक परमेश्वर ! (जनीयते) पत्नी की इच्छा वाले (मह्यम्) मुझे (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (धेहि) दे ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर के उत्तम २ गुणों को अपने में धारण करके विद्यावान् और धनवान् होकर पति पत्नी को और पत्नी पति को अपने सदृश ग्रहण करें ॥३॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥८३॥

१—४ ॥ वंधो देवता ॥ १—३ अनुष्टुप्; ४ जगती छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।

सूर्यः कृणोतु मेपजं चन्द्रमा वोऽपौच्छतु ॥१॥

भावार्थः—(अपचितः) हे सुख नाश करने वाली गंडमाला आदि पीड़ाओं ! (प्र पतत) चली जाओ, (सुपर्णः इव) जैसे शीघ्रगामी पक्षी [श्येन] (वसतेः) अपनी वसती से । (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला [बंध वा सूर्य लोक] (मेपजम्) ओषध (कृणोतु) करे और (चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला [बंध वा चन्द्र लोक] (वः) तुम को (अप उच्छतु) निकाल देवे ॥१॥

भावार्थः—जैसे सदैव गंडमाला आदि रोगों को सूर्य वा चन्द्रमा की किरणों द्वारा वा अन्य औषधों से अच्छा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या का नाश करके सुखी होवें ॥१॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णेका रोहिणी द्वे ।

सर्वोसामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥२॥

भावार्थः—(एका) एक [गण्डमाला आदि] (एनी) चितकबरी (एका) एक (श्येनी) श्वेतवर्ण, (एका) एक (कृष्णा) काली और (द्वे) दो (रोहिणी) लाल रंग हैं । (सर्वोसामग्रभं) सब [गण्डमाला आदि पीड़ाओं] का (नाम) नाम (अग्रभम्) मेने ग्रहण किया है, (अवीरघ्नीः) अवीरों कातरों को नाश करती हुई (अप इतन) तुम चली जाओ ॥२॥

भावार्थः—जिस प्रकार चिकित्सक रोग का वात पित्त श्लेष्म आदि निदान समझ कर गंडमाला आदि रोगों की निवृत्ति करता है । उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कुवासनाओं का कारण समझ कर उनका नाश करे ॥२॥

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।

ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गंलुन्तो नंश्चिष्यति ॥३॥

भाषार्थः (रामायणी) प्राण वायु के रमणस्थान नाड़ियों में मार्गवाली (अपचित्) मुख नाश करने वाली गण्डमाला आदि पीड़ा (असूतिका) बाँध होकर (प्र पतिष्यति) चली जायगी । (ग्लौः) हर्षनाशक घाव (इतः) इस [रोगी] से (प्र पतिष्यति) चला जावेगा (सः) वह [घाव] (गलुस्तः) गलाव से कोमल होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जावेगा ॥३॥

भाषार्थः—जिस प्रकार सट्टय की ओषधि से रोग बढ़ने से रुककर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या को मिटा कर सुखी होता है ॥३॥

वीहि स्वामाहुति जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥४॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीति करता हुआ तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) धर्म से देने लेने योग्य क्रिया को (वीहि) प्राप्त हो, (यत्) क्योंकि (स्वाहा) सुन्दर वाणी से और (मनसा) उत्तम विचार से (इदम्) ऐश्वर्य का कारण जान (जुहोहि) मैं देता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर और विद्वानों के उपदेश के अनुसार विचार-पूर्वक पुरुषार्थ के साथ अपना कर्तव्य पालन करके प्रसन्न होवे ॥४॥

सूक्तम् ॥८४॥

१-४ ॥ निष्कृतिर्वेत्ता ॥ १ जगती; २ गायत्री; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

पापमोचनायोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् । भूमि-
रिति त्वाभिप्रमन्वते जना निश्कृतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥१॥

भाषार्थः—(यस्याः) जिस (ते) तेरे (घोरे) भयानक (आसनि) मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) बंधे हुए प्राणियों के (अवसर्जनाय) छुड़ाने के लिये (कम्) कमनीय व्यवहार को (जुहोमि) मैं देता हूँ । (त्वा) उस तुझको (जनाः) पामर लोग (भूमिः इति) यह भूमि अर्थात् आश्रय देने वाली है (अभिप्रमन्वते) मानते हैं; (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (निश्कृतिः इति) यह अलक्ष्मी है (सर्वतः) सब प्रकार से परि वेद) भली भाँति जानता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—अज्ञानी मनुष्य दुष्क्रिया को अपनी उन्नति की (भूमि) आश्रय समझते हैं; और बुद्धिमान् मनुष्य उसको (निश्कृति) अलक्ष्मी अर्थात् अवनति का कारण जानते हैं, इस लिये विद्वान् मनुष्य अज्ञान बन्धन में

फंसे हुए प्राणियों के छुड़ाने के लिये अलक्ष्मी के कारणों को जताकर उत्तम व्यवहार का उपदेश करें ॥१॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।

मुञ्चेमा नमूनेनसः स्वाहा ॥२॥

भाषार्थः—(भूते) हे चिन्ता योग्य [अलक्ष्मी !] [हमारे लिये] (हविष्मती) देने और लेने योग्य क्रिया वाली (भव) हो, (एषः) यह (ते) तेरा (भागः) सेवनीय व्यवहार है, (यः) जो (अस्मासु) हम लोगों के बीच होवे । “इमान्” इन [इस जन्म वाले] और (अमून्) उन [अगले वा पिछले जन्म वाले] जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त करदे, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी है” ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्यतोत्र तप अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ करके भूत भविष्यत् और वर्तमान् क्लेशों के फल को नाश करके सुखी होवे ॥२॥

एवो ष्वं १ स्पन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

यमो महत्त्वं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥३॥

भाषार्थः—(निर्ऋते) हे अलक्ष्मी ! (त्वम्) तू (अनेहा) न मारने वाली होकर (अस्मत्) हमसे (अयस्मयान्) लोहे की बनी (बन्धपाशान्) बन्धन की वेड़ियों को (एवो) अवश्य ही (सु) भले प्रकार (वि चृत) खोल दे । (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्, मेरे लिये (पुनः) बारंबार (इत्) ही (त्वाम्) तुम्हको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःखरूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य पाप कर्मों को छोड़ कर सदा धर्म का आचरण करें । परमेश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से पापियों को सदा दण्ड देता है ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ६ । ६३ । २ में आ चुका है ॥३॥

अयस्मये द्रुपदे वैविषे इहाभिहितो मृत्युभिर्यं सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों से (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुए (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (वैविषे=बध्यसे) बंध रहा है । (यमेन) नियम से (पितृभिः) पालन करने वाले जानियों से (संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू

(इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोह्य) ऊपर चढ़ा ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त करें ॥४॥

यह मन्त्र अ० ६ । ६३ । ३ में आ चुका है ॥

सूक्तम् ॥८५॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।

यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमुं देवा अंधीवरन् ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (देव) दिव्य गुणवाला, (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरणः) स्वीकार करने योग्य [वैद्य अथवा वरणा अर्थात् वरणावृक्ष] [राजरोग आदि को] (वारयात) हटावे । (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस पुरुष में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है (तम्) उसको (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों ने (अंधीवरन्) हटाया है ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार से सर्व्वेष्ट पूर्व्वज विद्वानों से शिक्षा पाकर बड़े बड़े रोगों को वरण वा अन्य ओषधि द्वारा मिटाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम गुण को प्राप्त करके दुष्कर्मों का नाश करे ॥१॥

(वरणः) ओषधि विशेष भी है जिसको वरण, वरणा और उरण आदि कहते हैं । वरण कटु, उष्ण, रक्तदोष, शीत वात हरने वाला, चिकना और दीपन है ॥

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।

देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्रस्य) प्रतापी, (मित्रस्य) स्नेही (च) और (वरुणस्य) सेवनीय पुरुष के (वचसा) वचन से और (सर्वेषाम्) सब (देवानाम्) व्यवहार जानने वाले विद्वानों के (वाचा) वचन से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वयम्) हम लोग (वारयामहे) हटाते हैं ॥२॥

भाषार्थः—जैसे विद्वानों से शिक्षा पाकर वैद्य रोगों की निवृत्ति करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों की निवृत्ति करें ॥२॥

यथा वृत्र इमा आपंस्तस्तम्भं विश्वधा यतीः ।

एवा तै अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (वृत्रः) मेघ ने (विश्वधा) सब ओर (यतीः) बहती हुई (इमाः) इन (आपः=अपः) जलधाराओं को (तस्तम्भ) रोका था । (एव) वैसे ही (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हित करने वाले (अग्निना) अग्नि से (वारये) मैं हटाता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जैसे मेघ ईश्वर नियम से जल की भाफों को मेघमण्डल में रोक लेता है, उसी प्रकार वैद्य रोगी की पाचन शक्ति ठीक करके रोग का रोक दे ॥३॥

सूक्तम् ॥८६॥

१—३ ॥ एकवृषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

साम्राज्योपदेशः—साम्राज्य पाने का उपदेश ॥

इपेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषां पृथिव्या अयम् ।

वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह [परमेश्वर] (इन्द्रस्य) सूर्य का (वृषा) स्वामी, (दिवः) अन्तरिक्ष का (वृषा) स्वामी, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) स्वामी और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणियों का (वृषा) स्वामी है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वशासकता विचार कर अपनी शक्ति बढ़ा कर चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करे ॥१॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।

चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥२॥

भाषार्थः—(समुद्रः) समुद्र (स्रवताम्) बहते हुए जलों का (ईशे=ईष्टे) स्वामी है, (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वश में करने वाला है । (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणाम्) चलने वाले नक्षत्रों का (ईशे) अधिष्ठाता है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों की आकर्षण शक्ति देख कर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥२॥

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।

देवानामर्धं भागंसि त्वमेकवृषो भव ॥३॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] (असुराणाम्) बुद्धिमानों का (सम्राट्) सम्राट्, और (मनुष्याणाम्) मननशील—मनुष्यों का (ककुत्) जिखा (असि) है। (देवानाम्) जय चाहने वालों की (अर्धभाग्) वृद्धि का बांटने वाला (असि) है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सब से अधिक गुणी होकर चक्रवर्ती राजा बने ॥३॥

सूक्तम् ॥८७॥

१—३ ॥ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

आ त्वाहार्धमन्तरंभ्रुवस्तिष्ठाविंचाचलत् ।

विशंस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (त्वा) तुमको (आ=आनीय) लाकर (अहार्धम्) मैंने स्वीकार किया है। (अन्तः) सभा के मध्य (अभूः) तू वर्तमान हुआ है। (भ्रुवः) निश्चित बुद्धि और (अविंचाचलत्) निश्चलस्वभाव होकर (तिष्ठ) स्थिर हो (सर्वाः) सब (विशः) प्रजापति (त्वा वाञ्छन्तु) तेरी कामना करें, (राष्ट्रम्) राज्य (त्वत्) तुमसे (मा अधिभ्रशत्) कभी भ्रष्ट न होवे ॥१॥

भाषार्थः—प्रजागण सबसे उत्तम पुरुष को राजा बना कर उपदेश करें, जिससे वह सदा धार्मिक पुरुषार्थी रहे और बुरे आचरण से राज्य नष्ट न होवे ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १७३ । १—३ । और यह मन्त्र यजुर्वेद में है—१२ । ११ ॥

इहैवैधि मापं च्योष्ठाः पर्वत इवाविंचाचलत् ।

इन्द्रं इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ॥२॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (पर्वतः इव) पहाड़ के समान (अविंचाचलत्) निश्चल स्वभाव तू (इह एव) यहां ही (एधि) रह, (मा अप च्योष्ठाः) कदापि मत गिर। (इन्द्रः इव) सूर्य के समान (इह) यहां पर (ध्रुवः) स्थिर स्वभाव होकर

(तिष्ठ) ठहर, (उ) और (इह) यहां पर (राष्ट्रम्) राज्य को (धारय) अधिकार में रख ॥२॥

भाषार्थः—प्रजागण धार्मिक राजा का यथावत् सहाय करें जिससे वह प्रजापालन में ऐसा दृढ़ रहे, जैसे सूर्य अपनी कक्षा में स्थिर रह कर वृष्टि आदि से अनेक लोकों का पालन करता है ॥२॥

इन्द्र एतमदीधरद् भ्रवं भ्रुवेण हविषा ।

तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) परमेश्वर ने (भ्रुवेण) दृढ़ (हविषा) देने लेने योग्य शुभकर्म के साथ (एतम्) इस राजा को (भ्रुवम्) दृढ़ (अदीधरत्) स्थापित किया है । (अयम्) यही (सोमः) सबका उत्पन्न करने वाला (च) और (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड और वेद का पालक परमेश्वर (तस्मै) उस राजा को (अधि) अधिक अधिक (ब्रवत्) उपदेश करे ॥३॥

भाषार्थः—राजा को योग्य है कि परमेश्वर में श्रद्धा करके प्रजापालन, विद्या आदि शुभकर्म करता हुआ सदा उन्नति करे ॥३॥

सूक्तम् ॥८८॥

१ - ३ ॥ राज्ञः स्तुतिर्वेवता ॥ १, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजसूयज्ञोपदेशः—राजतिलक यज्ञ का उपदेश ॥

ध्रुवा श्रौध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वंभिदं जगत् ।

ध्रुवास पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥१॥

भाषार्थः—(ध्रुः) सूर्यलोक (ध्रुवा) दृढ़ है, (पृथिवी) पृथिवी (ध्रुवा) दृढ़ है । (इवम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (ध्रुवम्) दृढ़ है । (इमे) यह सब (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) दृढ़ हैं, (विशाम्) प्रजाओं का (अयम्) यह (राजा) राजा (ध्रुवः) दृढ़स्वभाव है ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार सूर्य आदि पदार्थ अपने अपने कर्त्तव्य में दृढ़ हैं, ऐसे ही निश्चलस्वभाव धर्मात्मा पुरुष को प्रजा लोग अपना राजा चुने ॥१॥

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।

ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥२॥

भाषार्थः—(राजा) सबका राजा (वरुणः) वरुण, सेवनीय परमेश्वर (ते) तेरे लिये (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (ध्रुवम्) स्थिर, (वेवः) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालन करने वाला परमात्मा (ध्रुवम्) स्थिर, (च) और (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (ध्रुवम्) स्थिर, (च) और (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वर (ध्रुवम्) स्थिर (धारयताम्) रखे ॥२॥

भावार्थः—बली प्रतापी राजा परमात्मा की शासन शक्ति विचार कर प्रजा पालन में सदा कटिबद्ध रहे ॥२॥

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूंश्च त्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह । ३॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (ध्रुवः) दृढ़ और (अच्युतः) अचल होकर तू (शत्रून्) शत्रुओं को (प्र मृणीहि) नाश कर दे और (शत्रूयतः) शत्रु समान आचरण करने वाले (अधरान्) नीचों को (पादयस्व) अपने पैर से दबा दे । (इह) यहां पर (ध्रुवायते) तुम निश्चल स्वभाव के लिये (सध्रीचीः) साथ साथ रहने वाली (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाएँ (संमनसः) एक मनवाली हों, और (समितिः) यह सभा (कल्पताम्) समर्थ होवे ॥३॥

भावार्थः—शूरवीर प्रतापी राजा सब विरोधी दुष्कर्मियों को नाश करके सब देशों की प्रजाओं को वश में रख कर अपनी राजसभा को प्रबल बनावे ॥३॥

सूक्तम् ८६ ॥

१—३ ॥ मुख्यार्थो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रु की जीतने का उपदेश ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरों दत्तं सोमेन वृण्यम् ।

ततः परि प्रजातेन हादिं ते शोचयामसि ॥१॥

भाषार्थः—(प्रेण्यः=प्रेण्याः) तृप्त करने वाली ओषधि का (यत्) जो (इदम्) यह (शिरः) मस्तकबल और (सोमेन) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर करके (दत्तम्) दिया हुआ (वृण्यम्) जो वीरत्व है । (ततः) उससे (परि) सब प्रकार (प्रजातेन) उत्पन्न हुए [साहस] से (ते) तेरी (हादिम्) हादिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से और परमेश्वर के दिये बल से शत्रुओं को पीड़ित करें ॥१॥

शोचयामसि ते हादि शोचयामसि ते मनः ।

वातं धूम इव सध्वं इह मा मेवान्वेतु ते मनः ॥२॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (हादिम्) हादिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं । (ते) तेरे (मनः) मन अर्थात् मनन सामर्थ्य को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं, (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव अन्तु) मेरे ही पीछे पीछे (एतु) चले, (इव) जैसे (सध्वम्) [वायु से] मिला हुआ (धूमः) धुआँ (वातम्) वायु के [साथ साथ चलता है] ॥२॥

भाषार्थः—बलवान् मनुष्य शत्रु को उसके शरीर और आत्मा से व्याकुल करके सदा अपने वश में रखे ॥२॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।

मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (मित्रावरुणौ) मेरे प्राण और अपान वायु (त्वा) तुम्हको, और (देवी) दिव्यगुणवाली (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (त्वा) तुम्हको (मह्यम्) मुझ से, और (भूम्याः) भूमिका (मध्यम्) मध्यस्थान और (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्त (त्वा) तुम्हको (मह्यम्) मुझसे (सम् अस्यताम्) संयुक्त करें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और सांसारिक पैदार्थों के अनुकूल वर्तव्य से शत्रुओं को अपने वश में रखे ॥३॥

सूक्तम् ६० ॥

१—३ ॥ रुद्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कर्मफलोपदेशः—कर्म के फल का उपदेश ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गैर्भ्यो हृदयाय च ।

इदं तामद्य त्वद् वयं विपूर्वी वि वृहामसि ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (रुद्रः) पापियों के कलाने वाले परमेश्वर ने (ते) तेरे (अङ्गैर्भ्यः) अङ्गों [शरीर] को पीड़ा देने (च) और (हृदयाय) हृदय [आत्मा] दुःखाने के लिये (याम्) जिस (इषुम्) बरछी [पीड़ा] को (आस्यत्) छोड़ा है ।

(इदम्) सो (अद्य) अद्य (विषूचीम्) नाना गति वाली (ताम्) उस [बरछी] को (व०म्) हम लोग (त्वत्) तुझ से (वि वृहामसि = ०-मः) उखाड़ते हैं ॥१॥

भाषार्थः- परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से पापियों को शारीरिक और आत्मिक दुःख देता और सुकर्म करने पर उन्हें उस क्लेश से छुड़ाकर आनन्दित करता है ॥१॥

यास्तै शतं धमनयोऽङ्गान्धनु विण्ठिताः ।

तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥२॥

भाषार्थः (धाः) जो (शतम्) सौ [असंख्य] (धमनयः) नाड़ियां (ते) तेरे (अङ्गानि धनु) अङ्गों में (विण्ठिताः) फैली हुई हैं। (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (विषाणि) विषों को (निः=निष्कृष्य) निकाल कर (वयम्) हम (ह्वयामसि=० मः) पुकारते हैं ॥२॥

भाषार्थः- जैसे वैद्य शरीर के भीतरी रोगों को समझ कर दूर करता है, वैसे ही विद्वान् आत्मदोषों को मिटावे ॥२॥

नमस्ते रुद्रस्यते नमः प्रतिहितायै ।

नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥३॥

भाषार्थः-(रुद्र) हे पापियों के हलाने वाले परमेश्वर ! (अस्यते) [बरछी वा बाण] छोड़ने वाले (ते) तुझको (नमः) नमस्कार है, (प्रतिहितायै) तानी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है, (विसृज्यमानायै) छुटती हुई को (नमः) नमस्कार है, और (निपतितायै) लक्ष्य पर पड़ी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है ॥३॥

भाषार्थः- मनुष्य परमेश्वर की विविध दण्डव्यवस्था को विचार कर उसकी उपासना करके पापों से बचें ॥३॥

सूक्तम् ॥६१॥

(-३॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मिकदोषनाशोपदेशः-आत्मिक दोष नाश करने का उपदेश ॥

इमं यवमष्टायोगैः पण्ड्योगेभिरचर्कषुः ।

तेना ते तन्वो३ रपेऽपाचीनमपं व्यये ॥१॥

भाषार्थः-(इमम्) इस [सर्वव्यापी] (यवम्) संयोग वियोग करने वाले परमेश्वर को (अष्टायोगैः) आठ प्रकार के [यम नियम आदि] योगों से और

(वड्योगेभिः) छह प्रकार के [पढ़ना पढ़ाना आदि] ब्राह्मणों के कर्मों से (अचर्कृषुः) उन [महात्माओं] ने कर्षण अर्थात् परिश्रम से प्राप्त किया है। (तेन) उसी [कर्म] से (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के (रपः) पाप को (अवाचोतम्) विपरीत गति करके (अप व्यये) मैं हटाता हूँ ॥१॥

भावार्थः— जिस प्रकार से महर्षियों ने योगसाधन और ब्राह्मण कर्म से ईश्वर को प्राप्त किया है, इसी प्रकार विद्वान् मनुष्य ईश्वर प्राप्ति से आत्मदोष त्यागकर आनन्दित हों ॥१॥

आठ प्रकार के योगाङ्ग यह हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥

योगदर्शन २।२६।

अर्थात् १—यम, २—नियम, ३—आसन, ४—प्राणायाम, ५—प्रत्याहार, अर्थात् जितेन्द्रियता, ६—धारणा, ७—ध्यान और ८—समाधि, यह आठ योग के अङ्ग हैं ॥

ब्राह्मणों के छह कर्म यह हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनुः १।८८।

१—पढ़ना, २ पढ़ाना, ३—यज्ञ करना, ४—यज्ञ कराना, ५—दान देना और ६—दान लेना, यह छह कर्म [प्रभु ने] ब्राह्मणों के वनये हैं ॥

न्य॑ग् वातो॑ वाति॒ न्यक् त॑ति॒ सूर्यः॑ ।

नी॒चीन॑ष॒ध्या दु॒हे न्य॑ग् भवतु॒ ते रपः॑ ॥२॥

भावार्थः—(वातः) वायु (न्यक्) नीचे की ओर (वाति) बहता है, (सूर्यः) सूर्य (न्यक्) नीचे की ओर (तपति) तपता है (अध्या, न मारने योग्य गो [नीचीनम्] नीचे को (दुहे=दुग्धे) दूध देती है, [हे मनुष्य !] (ते) तेरा (रपः) दोष (न्यक्) नीचे की ओर (भवतु) होवे ॥२॥

भावार्थः—जिस प्रकार वायु आदि पदार्थ निर्दोष होकर उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों को त्याग कर उपकारी हों ॥२॥

आ॒प इद् वा॒ उं भेष॑जीरा॒पां अमी॑व॒चःत॑नीः ।

आपो॒ विश्व॑स्य भेष॒जीस्तास्तं॑ कृ॒ण्वन्तु॒ भेष॑जम् ॥३॥

भाषार्थः—(आपः) शुभकर्म वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः = ०-ज्यः) भय निवारक हैं, (आपः) शुभकर्म वा जल (अमीवचातनीः = ०-न्यः) पीड़ा नाशक हैं। (आपः) शुभकर्म वा जल (विश्वस्य) सब के (भेषजीः) भय-निवारक हैं, (ताः) वे (ते) तेरा (भेषजम्) भय निवारण (कुण्वन्तु) करें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदविहित कर्मों को करके अपने आत्मिक, और शारीरिक दोष मिटावें, और जलचिकित्सा करके शारीरिक रोगों की निवृत्ति करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३।७।५।

सूक्तम् ॥६२॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्देवता, १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

वात॑रं॒हा भव॑ वाजिन् यु॒ज्यमा॑न् इन्द्र॑स्य याहि प्र॒सवे॑ मनो॑जवाः ।

यु॒ज्जन्तुं॑ त्वा म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ आ ते॒ त्वष्टां॑ प॒त्सु॒ ज्वं द॑धातु ॥१॥

भाषार्थः—(वाजिन्) हे अन्न वा बलवाले राजन् ! (युज्यमानः) सावधान होकर (वातरंहाः) वायु के समान वेगवाला (भव) हो और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (प्रसवे) आज्ञा में (मनोजवाः) मन के समान गति वाला होकर (याहि) चल । (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं वा धनों वाले (मरुतः) दोषों के नाश करने वाले विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (युज्जन्तु) [राज कार्य में] युक्त करें, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी मनुष्य (ते) तेरे (पत्सु) पगों में (ज्वम्) वेग को (आ) अच्छे प्रकार (दधातु) धारण करे ॥१॥

भाषार्थः—राजा परमेश्वर की वेदविहित आज्ञा में चलकर और नीतिज्ञ विद्वानों से मेल करके राज्य की रक्षा करे और गान विमान द्वारा अभीष्ट देशों में जाकर यथावत् कार्य सिद्ध करे ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० ६ म० ८, ६ ॥

ज॒व॒स्तं अ॒र्वन् नि॒हितो॑ गु॒हा यः श्ये॑ने वातं॒ उत॑ योऽच॑रत् परी॑त्तः ।

तेन॒ त्वं वाजि॑न् बल॑वान् बले॑नार्जि॒ जय॑ सम॑ने पारयि॑ष्णुः ॥२॥

भाषार्थः—(अर्वन्) हे विज्ञानयुक्त राजन् ! (यः) जो (जवः) वेग (ते) तेरे (गुहा=गुहायाम्) हृदय में (निहितः) धरा हुआ है, और (यः) जो (परीत्तः) सब प्रकार दिया हुआ [वेग] (श्येने) श्येन अर्थात् बाज पक्षी में (उत) और (वाते)

पवन में (अचरत्) विचरा है। (वाजिन्) हे वेगयुक्त राजन् ! त्वम्, तू (तेन) उस (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् और (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) पार लगाने वाला होकर (आजिम्) युद्ध को (जय) जीत ॥२॥

भाषार्थः— विद्वान् राजा आत्मिक बल बढ़ाकर शत्रुओं को शीघ्र जीते ॥२॥

तनूँ वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।

अहंतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥३॥

भाषार्थः— (वाजिन्) हे बलवान् राजन् ! (ते) तेरा (तनूः) शरीर (तन्वम्) हमारे शरीर को (नयन्ती) ले चलता हुआ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वामम्) सेवनीय धन और (शर्म) सुख (धावतु) शीघ्र पहुंचावे। (अहंतः) कुटिलता रहित (देवः) विजय चाहने वाले आप (धरुणाय) हमारे धारण के लिये (महः) बड़ी (स्वम्) अपनी (ज्योतिः) ज्योति (आ) भले प्रकार (मिमीयात्) निर्माण करें (दिवि इव) जैसे सूर्यमण्डल में [ज्योति] ॥३॥

भाषार्थः— राजा को योग्य है कि छल कपट छोड़ कर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शिल्प आदि व्यवहारों से अपने लिये और प्रजा के लिये धन और सुख बढ़ाकर अद्वितीय कीर्तिमान् हो ॥३॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥६३॥

१—३ ॥ यमो विश्वे देवाश्च देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सत्सङ्गलाभोपदेशः— सत्सङ्ग के लाभ का उपदेश ॥

यमो मृत्युरंघपारो निर्ऋथो वभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलंशिखण्डः ।

देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ।१।

भाषार्थः—(यमः) न्यायकारी परमेश्वर [पापियों का] (अघमारः) पाप के कारण मारने वाला, (मृषुः) प्राण छोड़ाने वाला, (निष्कृष्यः) निरन्तर पीड़ा देने वाला और [धर्मात्माओं का] (बभ्रुः) पालन करने वाला और (शर्वः) कष्ट काटने वाला (अस्ता) ग्रहण करने वाला और (नीलशिखण्डः) निधियों वा निवासों का देने वाला है। (सेनया) अपनी सेना के साथ (उत्तस्थिवांसः) उठे हुए (ते) वे (देवजनाः) विजय चाहने वाले पुरुष (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीर लोगों को [विघ्न से] (परि) सर्वथा (वृज्जन्तु) छुड़ावें ॥१॥

भाषार्थः—जो शूर वीर विद्वान् स्त्री पुरुष परमात्मा को शत्रुनाशक सुखवर्धक जान कर परोपकार करते हैं, वे ही कीर्ति पाते हैं ॥१॥

मनं॑ वा हो॒मैर्हर॑सा धृ॒तेन॑ शर्वा॒यास्त्रं॑ उ॒त रा॒ज्ञं भ॒वाय॑ ।

नम॑स्यै॒भ्यो नम॑ ए॒भ्यः कृ॒णोम्य॒भ्यत्रा॒स्मद॒घवि॑षा नयन्तु ॥२॥

भाषार्थः—(मनसा) विज्ञान के साथ, (होमः) देने और लेने योग्य व्यवहारों के साथ, (हरसा) अन्धकार हरने वाले (धृतेन) प्रकाश के साथ वर्तमान (शर्वाय) [धर्मात्माओं के] कष्टनाशक, (अस्त्रे) ग्रहण करने वाले (उत) और (भवाय) सुख देने वाले (राज्ञे) राजा परमेश्वर को, और (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) नमस्कार योग्य महात्माओं को (नमः) विनति (कृणोमि) करता हूँ। वे सब (अस्मत्) हम से (अभ्यत्र) दूसरों पर [दुष्कर्मियों पर] (अघविषाः) पाप रूप विषवाली पीड़ाओं को (नयन्तु) ले जावें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के और विद्वानों के वेदविहित उपदेशों को मान कर दुराचारों को छोड़ कर धार्मिक होकर आनन्दित होवें ॥२॥

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद् वि॒श्वे दे॒वा अ॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दसः ।

अ॒ग्नीपो॒मा वरु॑णः पू॒तद॑क्षा वा॒ताप॑र्जन्ययोः सु॒मतौ॑ स्या॒म ॥३॥

भाषार्थः—(विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्यगुणवाले (विश्ववेदसः) संसार के जानने वाले (अरुतः) दोषनाशक विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमें (अघविषाभ्यः) पाप-रूप विषवाली पीड़ाओं के (वधात्) हनन से (त्रायध्वम्) बचाओ। (अग्नीपोमा) अग्नि और चन्द्रलोक और (वरुणः) सूर्यलोक (पूतदक्षाः) पवित्र बलवाले हैं, [उनकी और] (वातापर्जन्ययोः) वायु और मेघ की (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (स्याम) हम रहें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य आप्त विद्वानों के उपदेश और अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों से यथावत् उपकार करके सुखी होवें ॥३॥

सूक्तम् ॥६४॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्व्यता ॥ १, ३ अनुष्टुप्, २, त्रिष्टुप् ॥

शान्तिकरणोपदेशः—शान्ति करने के लिये उपदेश ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि

अमी ये विव्रता स्थन तान वः सं नमयामसि ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनो को (सम्) ठीक रीति से (व्रता = व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से (आकूतीः) संकल्प को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि = ०-प्रः) हम भुक्ते हैं । (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्धकर्मी (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुमको (सम्) ठीक रीति से (नमयामसि = ०-मः) हम भुक्ताते हैं ॥१॥

भावार्थः—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों को माने और धर्मपथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत कर लेवे ॥१॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । १ ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेतं ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्तमान एतं ॥२॥

भाषार्थः - (अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनो को (गृभ्णामि = गृह्णामि) धामता हूँ, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे पीछे (चित्तेभिः—चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ । (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूँ (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्तमानः) मार्ग चलते हुए (आ इत) यहाँ आओ ॥२॥

भावार्थः—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों और प्रजागणों को धर्मपथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥२॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । ६ ॥

ओतं मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।

ओतीं म इन्द्रश्चाग्निश्चर्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥

भाषार्थः—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते) बुने हुए

हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता) परस्पर बुनी हुई है। (च) और (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (ओतो) परस्पर बुने हुए हैं। (सरस्वति) हे विज्ञानवती विद्या ! (इदम्) अब (ऋध्यास्म) हम श्रीमान् होवें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य विज्ञानपूर्वक विद्या प्राप्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर धनी होवें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५।२३।१॥

सूक्तम् ६५॥

१ ३॥ कुष्ठो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।

तत्रामृतस्य चक्षुषं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥१॥

भावार्थः—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश [अधिकार] (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकुष्ठ और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होता है। (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत [पूर्ण सुख] के (चक्षुषम्) दर्शन (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥१॥

भावार्थः—विद्वान् लोग इस ईश्वर नियम को निश्चय करके मानते हैं कि अति विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य उच्च अधिकार के योग्य होता है ॥१॥

(अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष को भी कहते हैं, इसका गुण अ० ३।६।१। में वर्णन हो चुका है। (कुष्ठ) कूट ओपधि विशेष भी है देखो—अ० ५।४।१॥

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्वन्धना दिवि ।

तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत । २॥

भावार्थः—(हिरण्ययी, तेज वाली [अग्नि वा विजुली वा सूर्य से चलने वाली] (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नौः) नाव (दिवि, चलने के व्यवहार में (अचरत्) चलती थी। (तत्र) वहाँ पर (अमृतस्य) अमृत के (पुष्पम्) विकास (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अवन्वत) मांगा है ॥२॥

भावार्थः—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा अग्नि, विजुली और

सूर्य विद्या से, अग्निपोत, पुष्पक विमान आदि यान बना कर आनन्द पाते हैं ॥२॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ५।४।४॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतापुत ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदंकृधि ॥३॥

भावार्थः [हे परमेश्वर !] तू (ओषधीनाम्) ताप रखने वाले [सूर्य आदि] लोकों का (गर्भः) स्तुति योग्य आधार (उत) और (हिमवताम्) शीतस्पर्श-वालों [जल मेघ आदि] का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिसमूह का (गर्भः) आधार (असि) है । (मे) मेरे लिये (इमम्) इस [संसार] को (अगदम्) नीरोग (कृधि) तू कर ॥३॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न पदार्थों का गुण जान कर प्रयोग करते हैं, वे संसार में सुख भोगते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २५।५।७॥

सूक्तम् ॥६६॥

१-३ ॥ १, २ ओषधयः; ३ सोमो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिपाद विराङ्गायत्री ॥

ओषधिगुणोपदेशः—ओषधियों के गुणों का उपदेश ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्वह्नीः शतविचक्षणाः ।

बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१॥

भावार्थः—(सोमराज्ञीः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा चन्द्रमा या सोम-लता को राजा रखने वाली, (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कथनीय और दर्शनीय शुभ गुणों वाली और (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतियों, बड़े विद्वानों द्वारा काम में लायी गयीं, (वह्नीः) बहुत सी (याः) जो (ओषधयः) ताप नाश करने वाली ओषधि हैं, (ताः) वे (नः) हमको (अंहसः) रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य ईश्वररचित ओषधियों का यथावत् परीक्षण-पूर्वक सेवन करके स्वस्थ रह कर आनन्द पावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १०।६७।१८, १५ और यजु० १२।६२, ८६ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्याऽर्धो वरुण्यादुत ।

अथो यमस्य पट्वीशाद् विश्वस्माद् देवकित्विषान् ॥२॥

भाषार्थः—हे [ओषधे] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुए [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पट्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब देवकित्विषात्) इन्द्रियों के दोष से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रमादकारक द्रव्यों को छोड़ कर सात्विक भोजन करें । जिससे साधु स्वभाव रहकर सौगन्द, श्रेष्ठों के अपराध, राजा के बन्धन और इन्द्रियों के विकार से पृथक् रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से है—ऋग्० १० । ६७ । १५, यजु० १२ । ६० ॥

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपांरिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।

सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥३॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ पाप (क्षुषा) नेत्र से (च) और (यत्) जो कुछ (मनसा) मन से और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से (जाग्रतो) जागते हुए [अथवा] (स्वपन्तः) सोते हुए (उपांरिम) हमने किया है । (सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (नः) हमारे (तानि) उन पापों को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पुनातु) शुद्ध करे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के विचार और युक्त आहार विहार से सोते जागते सदा धर्म का विचार और अनुष्ठान करते रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥ ६७ ॥

१—३ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्त्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अभिभूर्देवो अभिभूरग्निर्अभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।

अभ्यर्ह विश्वाः पृतना यथासांयेवा विधेमाग्निर्होत्रा इद हविः ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जिस प्रकार से (अहम्) मैं (अभिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करने वाला (यज्ञः) पूजनीय, (अभिभूः) शत्रुओं का जीतने वाला (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी, (अभिभूः) वैरियों को वश में करने वाला (सोमः) चन्द्र समान सुख देने वाला और (अभिभूः) दुराचारियों का हराने वाला (इन्द्रः) महाप्रतापी होकर

(विश्वाः) सब (पूतनाः) शत्रु सेनाओं को (अग्नि असानि) हरा दूँ। (एव) वैसे ही (अग्निहोत्राः) अग्नि [परमेश्वर सूर्य, बिजुली और आग की विश्वा] के लिये बाणी वाले हम लोग (इदम्) यह (हविः) देने लेने योग्य कर्म (विधेम) करें ॥१॥

भावार्थः— मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाकर शत्रुओं का नाश करके अपनी उन्नति करें ॥१॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावन्त क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।

वाधेयां दूरं निर्वृतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्षुमस्मत् ॥२॥

भावार्थः— (विपश्चिता) हे बड़े बुद्धिमान् (मित्रावरुणा) प्राण और अपान के समान प्रिय माता पिता ! [हम में] (स्वधा) आत्मधारण शक्ति (अस्तु) होवे, (प्रजावन्त) उत्तम प्रजाओं से युक्त (क्षत्रम्) राज्य को (मधुना) मधु-विद्या से [ईश्वर ज्ञान से] (इह) यहाँ पर (पिन्वतम्) सींचो। (निर्वृतिम्) अलक्ष्मी को (पराचैः) अधोमुख करके (दूरम्) दूर (वाधेयाम्) हटाओ और [इसके] (कृतम्) किये हुए (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र) अच्छे प्रकार (मुमुक्षुम्) छुड़ाओ ॥२॥

भावार्थः— जिस प्रकार सन्तान माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर सुख भोगते हैं इसी प्रकार मनुष्य उत्तम ज्ञानियों के सत्संग से क्लेशों का नाश करके सुखी होवें ॥२॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रंभध्वम् ।

ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमङ्गप्रमृणन्तमोजसा ॥३॥

भावार्थः— (सखायः) हे परस्पर सहायक मित्रो ! (इमम्) इस (वीरम् अनु) वीर सेनापति के साथ (हर्षध्वम्) हर्ष करो, (ओजसा) अपने शरीर, बुद्धि और सेना बल से (ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूह को जीतने वाले, (गोजितम्) उनकी भूमि को जीतने वाले, (वज्रबाहुम्) अपनी भुजाओं में शस्त्र रखने वाले, (अङ्गम्) संग्राम को (जयन्तम्) विजय करने वाले (प्रमृणन्तम्) वैरियों को मार डालने वाले (उग्रम्) तेजस्वी, (इन्द्रम् अनु) महा प्रतापी सेनाध्यक्ष के साथ होकर (सम्) अच्छे प्रकार (रंभध्वम्) युद्ध आरम्भ करो ॥३॥

भावार्थः— सेनापति और सैनिक लोग परस्पर सहायक होकर शत्रुओं का राज्य आदि पाकर प्रजापालन करके सदा सुखी रहें ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजा धर्म विषय में पृष्ठ २२४ पर पाया है, और कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ३८ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः ॥ २ बृहती ॥ ३ विराट् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रो जयाति न परां जयाता अधिराजो राजंसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईड्यो बन्धश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमात्मा [हमें] (जयाति) विजय करावे, और (न पराजयातं) कभी न हरावे, (अधिराजः) महाराजाधिराज जगदीश्वर [हमें] (राजयातै) राजा बनाये रखे । [हे महाराजेश्वर !] (चर्कृत्यः) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर, (ईड्यः) प्रशंसनीय, (बन्धः) बन्धना योग्य, (उपसद्यः) शरण लेने योग्य (च) और (नमस्यः) नमस्कार योग्य तू (इह) यहाँ [हमारे बीच] (भव) वर्तमान हो ॥१॥

भावार्थः—सब मनुष्य राजा और प्रजा एक सर्वनियन्ता सर्वाधीश परमपिता जगदीश्वर को महाराजाधिराज जान कर धर्म से परस्पर पालन में प्रवृत्त रहें ॥१॥

मन्त्र १, २, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्म विषय, पृष्ठ २२१ में व्याख्यात है ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभृतिर्जनानाम् ।

त्वं देवीर्विशं इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर, (त्वम्) तू (श्रवस्युः) सब की सुनने वाला (अधिराजः) राजराजेश्वर, (त्वम्) तू ही (जनानाम् अभिभृतिः) अपने भवतों का सब प्रकार ऐश्वर्यदाता [यद्वा, पामर जनो का तिरस्कार करने वाला] (भूः=भूमिः) हुआ है । (त्वम्) तू (इमाः) इन (देवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं पर (वि) विविध प्रकार से (राज) राज्य कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) राज्य [हमारे लिये] (आयुष्मत्) उत्तम जीवन वाला और (अजरम्) जरारहित [नित्य तरुण] (अस्तु) होवे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमदयालु परमात्मा का शरण लेकर सब प्रकार उन्नति करते हुए चिरस्थायी सुख प्राप्त करें ॥२॥

प्राच्यां दिशस्त्वमिन्द्रासि राजतोदीच्या दिशो वृत्रहन्ध्रहोसि ।

यत्र यन्ति स्रोत्पास्तज्जितं तं दक्षिणतो वृषभं एषि हव्यः ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) पूर्व वा सन्मुख वाली दिशा का (उत्त) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर वा बाई दिशा का (राजा अस्ति) राजा है, (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक ! तू (शत्रुहः) हमारे शत्रुओं का नाश करने वाला (अस्ति) है। (यत्र) जिस स्थान में (स्रोत्याः) जल धारायें (यन्ति) चलती हैं (तत्) वह स्थान [समुद्र वा अन्तरिक्ष] (ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (वृषभः) महापराश्रमी, (हव्यः) आवाहन योग्य तू (दक्षिणतः) हमारी दाहिनी ओर (एषि) पहुँचता है ॥३॥

भाषार्थः—परमेश्वर सब स्थान और सब काल में सब का शासक है, जो मनुष्य उस पर विश्वास करते हैं वह उनका सदा सहायक होता है ॥३॥

सूक्तम् ६६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

संग्रामजयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

अभि त्वेन्द्र वरिभतः पुरा वाहुरणाद्वे ।

ह्याम्युग्रं चेतारं पुरुषामानमेकजम् ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे संपूर्ण ऐश्वर्य वाले इन्द्र जगदीश्वर ! (त्वा त्वा) तुभको, तुभको (वरिभतः) तेरे विस्तार के कारण (अहुरणात्) पाप वाले कर्म से (पुरा) पहिले (अभि) सब ओर से (द्वे) मैं बुलाता हूँ। (उग्रम्) तेजस्वी, (चेतारम्) सत्य और असत्य के जानने वाले, (पुरुषामानम्) अनेक उत्तम नाम वाले, (एकजम्) अकेले उत्पन्न [अद्वितीय, तुर्र प्रभु] को (ह्यामि) मैं पुकारता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्यों को उचित है कि उस जगदीश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् जान कर पाप कर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करते रहें ॥१॥

यो अद्य सेन्पों वधो जिघांसन् न उदीरते ।

इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दधः ॥२॥

भाषार्थः—(अद्य) आज (यः) (सैन्यः) शत्रु सेना सम्बन्धी (वधः) शस्त्र समूह (जिघांसन्) मारने की इच्छा करता हुआ (नः) हम पर (उदीरते) बढ़ा आता है। (तत्र) उसमें (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तः) सब प्रकार (परिदधः) हम ग्रहण करते हैं ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य कठिन समय में परमात्मा का आश्रय लेकर शत्रुओं का सामना करके दुःख से निवृत्त हों ॥२॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायंतां नः ।

देव सवितः सोमं राजन्त्सुमनेसं मा कृणु स्वस्तये ॥३॥

भाषार्थः—(त्रातुः) रक्षा करने वाले (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तम्) सब प्रकार (परिदद्यः) हम ग्रहण करते हैं, वह (नः) हमारी (त्रायताम्) रक्षा करे । (देव) प्रकाशस्वरूप, (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) संपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) राजन् जगदीश्वर ! (स्वस्तये) कल्याण पाने के लिये (मा) मुझे (सुमनसम्) उत्तम विचार वाला (कृणु) कर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा की भुजाओं में शरण लेकर शुद्ध अन्तःकरण से पुरुषार्थ करके सुखी रहे ॥३॥

सुक्तम् ॥१००॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः रोग नाश करने का उपदेश ॥

देवा अद्भुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।

तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) जलदाता मेघों ने (विषदूषणम्) विषनाशक औषध रूप विज्ञान को (अद्भुः) दिया है, (सूर्यः) सूर्य ने (अदात्) दिया है, (द्यौः) अन्तरिक्ष ने (अदात्) दिया है, (पृथिवी) पृथिवी ने (अदात्) दिया है । (सचित्ताः) समान ज्ञान-वाली (तिस्रः) तीनों (सरस्वतीः) विज्ञान वाली देवियों ने (अद्भुः) दिया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य मेघ सूर्य आदि पदार्थों और विद्याओं से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥१॥

तीन देवियां यह हैं [अ० १। १२। ८] १—भारती, पोषण करने वाली विद्या, २ इडा, स्तुति योग्य नीति और ३—सरस्वती, विज्ञानवाली बुद्धि ॥

यद् वो देवा उपजीका असिञ्चन् धन्वंयुदकम् ।

तेन देवप्रसूतेन दं दूषयता विषम् ॥२॥

भाषार्थः—(उपजीकाः) हे [परमेश्वर के] आश्रित प्राणियों ! (वः) तुम्हारे लिये (देवाः) विद्वानों ने (धन्वनि) निर्जल स्थान में (यत् उदकम्) जिस जल को (आ—असिञ्चन्) लाकर सींचा है । (देवप्रसूतेन) विद्वानों के दिये हुए (तेन) अमृत से (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयत) नाश करो ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार विद्वान् लोग मरुस्थल में कूप, तड़ाग, जल-नाली आदि द्वारा जल लाकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विज्ञान द्वारा आत्मिक दोष मिटाकर सुखी होंगे ॥२॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।

दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चर्करारसं विषम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे ओषधि !] (असुराणाम्) श्रेष्ठ बुद्धिमानों की (दुहिता) कामनाएं पूरी करने वाली (असि) है, (सा) सो तू (देवानाम्) उत्तम गुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली (असि) है । (दिवः) सूर्य से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (संभूता) उत्पन्न हुई (सा) उस तुझ ने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्वल (चर्कर्य) कर दिया है ॥३॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से उत्पन्न ओषधियों से उपकार होता है, वैसे ही मनुष्य परोपकार करके परस्पर लाभ उठावें ॥३॥

सूक्तम् ॥१०१॥

१—३ ॥ राजा वेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा का धर्म का उपदेश ॥

आ वृषायस्व इवसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च ।

यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (आ) भले प्रकार (वृषायस्व) इन्द्र, बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के समान आचरण कर, (इवसिहि) जीता रह, (वर्धस्व) बढ़ती कर (च) और [हमें] (प्रथयस्व) फैला । (यथाङ्गम्) प्रत्येक अंग में [तेरा] (शेपः) सामर्थ्य (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) इसलिये (योषितम्) सेवनीय नीति को (इत्) ही (जहि) तू प्राप्त हो ॥१॥

भाषार्थः—राजा पुरुषार्थपूर्वक अपनी ओर प्रजा की उन्नति में सदा तत्पर रहे ॥१॥

राज्य की बढ़ती के चार अंग वा उपाय यह हैं [सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् अमर १८ । २०] १—साम, प्रियवचन; २—दान, धन देना; ३—भेद, शत्रुओं में फूट कर देना; ४—दण्ड ॥

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।

तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुस्त्वा तानया पसः ॥२॥

भाषार्थः— (येन) जिस कर्म से (कृशम्) दुर्बल को (वाजयन्ति) बली करते हैं और (येन) जिस से (आतुरम्) अशान्त पुरुष को (हिन्वन्ति) प्रसन्न करते हैं । (तेन) उसी कर्म से (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥२॥

भाषार्थः— राजा निर्बल और रोगियों को यथावत् सुख देकर अपने राज्य को सदा बढ़ावे ॥२॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ४।४।६॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिन् धन्वनि ।

क्रमस्वर्श इव रोहितमनंग्लायता सदा ॥३॥

भाषार्थः (अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूँ, ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि, धनुष में । (अनंग्लायता) बिना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (अशः इव, जैसे हिंसक जन्तु सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्यों से निरालसी होकर शत्रुओं को वश में करके सदा प्रजापालन करे ॥३॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४।४।७॥

सूक्तम् ॥१०२॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

जितेन्द्रियत्वोपदेशः—जितेन्द्रिय होने का उपदेश ॥

यथायं बाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥१॥

भाषार्थः—(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम वाले पुरुष !] (यथा) जैसे (अयम्) यह (बाहः) लद्दू पणु [घोड़ा बैल आदि] (समैति) मिलकर आता है (च) और (सम्) ठीक ठीक (वर्तते) वर्तता है । (एव) वैसे ही

[हे जीव !] (माम् श्रमि) मेरी ओर (ते मनः) तेरा मन (समैतु) मिल कर आवे (च) और (सम् वर्तताम्) ठीक ठीक वर्ताव करे ॥१॥

भावार्थः - जैसे मनुष्य पशु आदि को शिक्षा देकर सुमार्ग पर चलाता है, वैसे ही जितेन्द्रिय पुरुष मन को वश में करके शुभ मार्ग में अपने को चलावे ॥१॥

आहं खिंदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ठ्यामिव ।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥२॥

भाषार्थः—[हे प्राणी !] (श्रहम्) मैं (ते मनः) तेरे मन को (आखिदामि) ऐसे खींचता हूँ (इव) जैसे (राजाश्वः) बड़ा अश्ववार (पृष्ठ्याम्) बागडोर को । (मयि) मुझ में (ते मनः) तेरा मन (वेष्टताम्) लिपटा रहे (यथा) जैसे (रेष्मच्छिन्नम्) व्याकुल करने वाली आंधी से तोड़ा गया (तृणम्) घास ॥२॥

भावार्थः - मनुष्य अपने मन को कुविषयों से खींच कर तत्त्व विचार में ऐसा लगावे, जैसा सुसारथी चंचल घोड़े को बागडोरी से वश में करता है, अथवा जैसे घास आंधी से टूट कर आंधी के वश में हो जाती है ॥२॥

आञ्जनस्य मधुघस्य कुण्ठस्य नलदस्य च ।

तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्धरे ॥३॥

भाषार्थः—(आञ्जनस्य) संसार के प्रकट करने वाले, (मधुघस्य) आनन्द के सींचने वाले, (कुण्ठस्य) गुण जांचने वाले, (नलदस्य) बन्धन काटने वाले (तुरः) शीघ्रकारी, (च) और (भगस्य) बड़े ऐश्वर्यवाले ब्रह्म के (अनुरोधनम्) यथावत् पूजन को (हस्ताभ्याम्) अपने दोनों हाथों [में बल] के लिये (उत्) उत्तम रीति से (भरे) में धारण करता हूँ ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य उस जगदीश्वर के अनन्त शुभगुणों का विचार करके प्रयत्नपूर्वक सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

अथैकादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥१०३॥

१—३ ॥ इन्द्रो वेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रु पराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।

संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विनां ॥१॥

भाषार्थः—[हे शत्रु लोगो !] (बृहस्पतिः) बड़े बड़े सैनिकों का स्वामी (वः) तुम्हारा (सदानम्) खण्डन, (सविता) प्रेरणा करने वाला सेनाध्यक्ष (सन्वानम्) तुम्हारा बन्धन, (मित्रः) सब का मित्र (अर्यमा) न्यायाधीश (सन्वानम्) तुम्हारा खण्डन, (अश्विना) सूर्य चन्द्रमा के समान नियम वाला (भगः) ऐश्वर्यवान् राजा (सन्वानम्) तुम्हारा बन्धन (करत्) करे ॥१॥

भावार्थः—रणक्षेत्र में सब सेनापति लोग अपनी अपनी सेना से शत्रुओं को मारे और बांधें ॥१॥

सं परमान्तसमवमानथो सं ग्रामि मध्यमान् ।

इन्द्रस्तान् पर्यहादाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥२॥

भाषार्थः—(परमान्) ऊँचे वैरियों को (सम्) यथावत्, (अवमान्) नीचे शत्रुओं को (सम्) यथावत् (अथो) और (मध्यमान्) बीच वाले शत्रुओं को (सम्) यथावत् (ग्रामि) खण्ड खण्ड करता हूँ । (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है, (अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) भलेच्छों को (सम् द्या) बांध ले ॥२॥

भावार्थः—प्रत्येक सैनिक सेनादल में शत्रुओं को सब स्थान से मारे और बांधे ॥२॥

अमी ये युधपायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।

इन्द्रस्तान् पर्यहादाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥३॥

भाषार्थः—(अमी ये) वे जो शत्रु (केतून्) ध्वजा पताकायें (कृत्वा) बनाकर (अनीकशः) टोली टोली से (युधन्) युद्ध में (आयन्ति) आते हैं । (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) उन चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है,

(अग्ने) हे विद्वन् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) म्लेच्छों को (सम्
द्य) बांध ले ॥३॥

भाषार्थः—शत्रुओं को रणक्षेत्र में आते हुए देखकर सेनापति व्यूह-
रचना करके उन्हें रोके ॥३॥

सूक्तम् ॥१०४॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

आदानेन सं दानेनामित्राना द्यामसि ।

अपाना ये चैषां प्राणा असुनासूतसमच्छिदन् ॥१॥

भाषार्थः—(आदानेन) आकर्षणपाश से और (सन्धानेन) बन्धन पाश से
(अमित्रान्) अपने शत्रुओं को (आ द्यामसि) हम बांधते हैं । (च) और (एषाम्)
इनके (ये) जो (अपानाः) अपान वायु और (प्राणाः) प्राण वायु हैं । (असून्) उनके
प्राणों को (असुना) अपनी बुद्धि से (सम् अच्छिदन्) उन [हमारे वीरों] ने छिन्न
बिन्न कर दिया है ॥१॥

भाषार्थः—शूरवीर घावा करके अपने अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को
जीवन से हताश करके निर्बल करें ॥१॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।

अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले आचार्यकरके (संशितम्) तीक्ष्ण
किया गया (इदम्) यह (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (तपसा) तप से (अकरम्) मैं ने
बनाया है । (अत्र) यहाँ पर (तः) हमारे (ये) जो (अमित्राः) शत्रु (सन्ति) हैं,
(तान्) उनको (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (त्वम्) तू (आ द्या) बांध ले ॥२॥

भाषार्थः—बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति से सेनापति लोग अस्त्र शस्त्र
बना कर शत्रुओं को वश में करें ॥२॥

ऐनान् यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनी ।

इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोत नः ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि के समान गुणवान् (मेदिनी) प्रीति

करने वाले (सोमः) सेनाप्रेरक युद्धमन्त्री (च) और (राजा) ऐश्वर्यवान् न्यायाधीश दोनों (एनान्) इन शत्रुओं को (आश्रयताम्) बांध लेवें। (महत्त्वान्) शूरों को साथ रखने वाला (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (नः) हमारे (अभिन्नेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (कृणोतु) बनावे ॥३॥

भाषार्थः— सोनासचिव, न्यायमन्त्री और मुख्य सेनापति अपने शूर वीरों से शत्रुओं को परास्त करें ॥३॥

सूक्तम् ॥१०५॥

१—३ ॥ मनुष्यो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्कर्षप्राप्त्युपदेशः—महिमा पाने के लिये उपदेश ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (मनः) मन (मनस्केतैः) मन के विषयों के साथ (आशुमत्) शीघ्रता से (परापतति) आगे बढ़ता जाता है। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) जान वा उपाय के बीच (मनसः) मन के (प्रवाय्यम् अनु) प्राप्ति योग्य देश की ओर (प्र पत) आगे बढ़ ॥१॥

भाषार्थः— मनुष्य मन की कुवृत्तियों को रोक कर ज्ञानपूर्वक शुभ-कर्म में शीघ्र लगावे ॥१॥

यथा वाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥२॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (सुसंशितः) यथाविधि तीक्ष्ण किया हुआ (वाणः) बाण वा शब्द (आशुमत्) वेग से (परापतति) आगे बढ़ा जाता है। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) जान वा उपाय के बीच (पृथिव्याः) पृथिवी के (संवतम् अनु) यथावत् सेवनीय देश की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥२॥

भाषार्थः— जिस प्रकार यथावत् सन्धान किया हुआ बाण और ठीक ठीक बोला गया शब्द लक्ष्य पर शीघ्र पहुँचता है, वैसे ही मनुष्य यथावत् ज्ञान और उपाय से पृथिवी पर अभीष्ट पदार्थ को शीघ्र प्राप्त करे ॥२॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।

एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानुं विक्षुरम् ॥३॥

भाषार्थः (यथा) जैसे (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणें (आशुमत्) शीघ्र (वरापतन्ति) आगे बढ़ती जाती हैं । (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) जान वा उगाय के बीच (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (विलसन् अनु) प्रवाह-स्थान [मेघ मण्डल आदि] की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सूर्य की किरणों के समान वे रोक शीघ्रगामी होकर विज्ञान पूर्वक पुष्पक विमान आदि द्वारा अन्तरिक्ष में प्रवेश करे ॥३॥

सूक्तम् ॥१०६॥

१ ३ ॥ शालादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

दुर्गनिर्माणोपदेशः - गढ़ बनाने का उपदेश ॥

आयंने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।

उत्सो वा तत्र जायतां हृदो वा पुण्डरीकवान् ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (आयने) यागमनमार्ग और (परायणे) निकास में (पुष्पिणीः) फूलवाली (दूर्वाः) दूव घासें (रोहन्तु) उगें (वा) और (तत्र) वहाँ (उत्सः) कुआ (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (हृदः) ताल (जायताम्) होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य दुर्ग और घरों के आल पास के दृश्य को सुख बढ़ाने वाले दूव, जल, कमल आदि से स्वस्थता के लिये सुशोभित रखें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १४२ म० ८ ॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।

मध्ये हृदस्य नो गृहाः पराचीना मुखी कृधि ॥२॥

भाषार्थः—(अपाम्) प्रजाओं का (इदम्) यह (न्ययनम्) निवास स्थान (समुद्रस्य) जल समूह का (निवेशनम्) प्रवेश हो । (नः गृहाः) हमारे घर (हृदस्य) ताल वा खाई के (मध्ये) बीच में हों, [हे राजन् शत्रुओं के] (मुखी) मुखों को (पराचीना, उलटा (कृधि) करदे ॥२॥

भाषार्थः—राजा प्रजा की रक्षा के लिये दुर्ग के चारों ओर जल की गहरी खाई रखे जिससे शत्रुओं का मार्ग रुका रहे ॥२॥

एष मन्त्र का पूर्वाध्वं यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ७ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।

शीतहृदा हि नो भुवोऽग्निक्वणोतु भेषजम् ॥३॥

भाषार्थः - (शाले) हे शाला ! (हिमस्य) शीत के (जरायुणा) जीर्ण करने वाले वस्त्र वा अग्नि के साथ (त्वा) तुझको (परि) अच्छे प्रकार (व्ययामसि) हम प्राप्त होते हैं । (हि) क्योंकि [जब] तू (नः) हमारे लिये (शीतहृदा) ताल के समान शीतल (भुवः) होवे, (अग्निः) अग्नि [ताप] (भेषजम्) भय निवारक कर्म (कृणोतु) करे ॥३॥

भाषार्थः— मनुष्य शीत के लिये उष्ण सामग्री और उसी प्रकार उष्ण ऋतु के लिये शीतल वस्तुओं का भण्डार दुर्ग और घरों में रखे ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वाह्न कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ५ ॥

सूक्तम् ॥१०७॥

१—४ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ आर्घ्यनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

विश्वंजित् त्रायमाणायै मा परि देहि । त्रायमाणे

द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥१॥

भाषार्थः—(विश्वंजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (त्रायमाणां) त्रायमाणा, रक्षा करने वाली [शाला वा ओषधि विशेष] को (मा) मुझे (परि देहि) सौंप । (त्रायमाणे) हे रक्षा करने वाली शाला ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो पाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) सब कुछ धन की (रक्ष) रक्षा कर ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से दृढस्थान बनाकर और त्रायमाणा आदि औषध का सेवन करके मनुष्यों, पशुओं और धन की सर्वथा रक्षा करे ॥१॥

इस मन्त्र में (शाला) शब्द की अनुवृत्ति गतमन्त्र ३ से आती है, और त्रायमाणा ओषधि विशेष भी है जिसके नाम त्रायन्ती, बलभद्रिका आदि हैं ॥

त्रायमाणे विश्वंजिते सा परि देहि । विश्वंजिद्

द्विपाच्च सर्वे नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥२॥

भाषार्थः—(त्रायमाणे) हे त्रायमाणा, रक्षा करने वाली ! (विश्वंजिते) संसार के जीतने वाले परमेश्वर को (सा) मुझे (परिदेहि) सौंप । (विश्वंजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर (नः) हमारे (सर्वम्) सब... अ० १ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम घर और औषध के सेवन से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करें ॥२॥

विश्वं जित् कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि

द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥३॥

भाषार्थः—[विश्वं जित्, हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (कल्याण्यै) कल्याणी, मङ्गल करने वाली [शाला अथवा औषधि विशेष] को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप । (कल्याणि) हे कल्याणि (नः) हमारे (सर्वम्) सब...म० १॥ ३ ॥

भाषार्थः—मन्त्र एक तथा दो के समान ॥३॥

(कल्याणी) औषधि विशेष भी है जिसका नाम मासपरणी है ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्विपाच्च

सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥४॥

भाषार्थः—(कल्याणि) हे कल्याणि, मंगलकारिणी ! [शाला वा औषधि विशेष] सर्वविदे सर्वज्ञ परमेश्वर को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप (सर्वं विद्) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दोपाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) सब कुछ धन की (रक्ष) रक्षाकर ॥४॥

भाषार्थः—मन्त्र एक और दो के समान ॥४॥

सूक्तम् ॥ १०८ ॥

१—५ ॥ मेधा देवता ॥ १, ४, ५, अनुष्टुप्; २, ३ बृहती ॥

बुद्धिधनयोः प्राप्त्युपदेशः—बुद्धि और धन की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि ।

त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥१॥

भाषार्थः—(मेधे) हे धारणावती बुद्धि वा संपत्ति ! (प्रथमा) प्रख्यात (त्वम्) तू (गोभिः) गोओं और (अश्वेभिः) घोड़ों के साथ (नः) हमको (आ गहि) प्राप्त हो । (त्वम्) तू (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ वर्तमान, और (त्वम्) तू (नः) हमारी (यज्ञिया) पूजनीय (असि) है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सूर्य के समान प्रख्यात स्मरणशील बुद्धि और श्रेष्ठ धन प्राप्त करके सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहार सिद्ध करें ॥१॥

मेधा॒महं॒ म॒थ॒मां ब्रह्म॑ण्व॒ती ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ण्डुताम् ।

प्र॒पीतां॑ ब्रह्म॒चाग्नि॑मि॒दं दे॒वाना॑म॒वसे॑ ह॒वे ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (प्रथमाम्) पहिली [अति श्रेष्ठ] (ब्रह्मण्वतीम् ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, वा वेद वा अन्न वा धन की धारण करनेवाली, (ब्रह्मजूताम्) ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों से प्राप्त वा प्रीति की गयी, (ऋषिण्डुताम्) ऋषियों, वेदार्थ जानने वाले मुनियों से स्तुति की गई, (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों अर्थात् वेदपाठ और वीर्यनिग्राहक पुरुषों से (प्रपीताम्) अच्छे प्रकार पान की गयी (मेधाम्) सत्यधारणा करने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (देवानाम्) दिव्य गुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हवे) आवाहन करता हूँ ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य वेद आदि शास्त्र और ऋषि, मुनि, महात्माओं के इतिहासों के विचार से सदा स्मरण वाली बुद्धि और ऐश्वर्य प्राप्त करके संसार में उन्नति करें ॥२॥

यां मे॒धा॒मृ॒भवां॑ वि॒दु॒र्या मे॒धाम॑सु॒रा वि॒दुः ।

ऋ॒ष॒यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां॑ म॒र्यावै॑श्यामसि ॥३॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (मेधाम्) शुभगुण धारण करने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (ऋभवः) सत्य के साथ चमकने वाले महात्मा (विदुः) जानते हैं, (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (असुराः) बड़े बुद्धिमान् पुरुष (विदुः) जानते हैं । (याम्) जिस (भद्राम्) कल्याण करने वाली (मेधाम्) निश्चल बुद्धि वा सम्पत्ति को (ऋषयः) ऋषि लोग (विदुः) जानते हैं (ताम्) उसी को (मयि) अपने में (आ) सब ओर से (वेश्यामसि) हम स्थापित करते हैं ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य बड़े आप्त विज्ञानी पुरुषों के समान निश्चल बुद्धि और सम्पत्ति प्राप्त करके धर्म के आचरण के साथ सदा उपकार करें ॥३॥

यामृ॒षयो॑ भूत॒कृ॒तां मे॒धां मे॒धावि॑नो॒ विदुः॑ ।

तया॒ माम॒ग्य मे॒धया॑ग्नै॒ मेधा॑वि॒नं कृ॒णु ॥४॥

भाषार्थः—(याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले, (मेधाविनः) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाले (ऋषयः) ऋषि लोग (विदुः) जानते हैं । (अग्ने) हे विद्याप्रकाशक परमेश्वर वा

आचार्य ! (तथा मेधया) उसी धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति से (माम्) मुझको (अथ) आज मेधाविनम् उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाला (कृणु) कर ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर की उपासना और आप्त धर्मज्ञ विद्वानों की सेवा से शुद्ध विज्ञान प्राप्त करके उन्नति करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२। मन्त्र १४ ॥

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।

मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेश्यामहे ॥५॥

भावार्थः—(मेधाम्) शुभ गुण वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (सायम्) सायंकाल, (मेधाम्) शास्त्रादि विषयवाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (प्रातः) प्रातःकाल, (मेधाम्) धर्म का स्मरण रखने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (मध्यन्दिनम् परि) मध्याह्न समय में, (मेधाम्) सत्य व्यवहार वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ (वचसा) परस्पर बातचीत से (आ) भले प्रकार (वेश्यामहे) हम स्थापित करते हैं ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य सोते, जागते, और कर्म करते धार्मिक बुद्धि और संपत्ति को सूर्य के प्रकाश के समान विस्तीर्ण करके आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

सूक्तम् ॥ १०६ ॥

१—३ ॥ पिप्पली देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यु तातिविद्धभेषजी ।

तां देवाः समंकल्पयन्निजं जीवित्वा अलम् ॥१॥

भावार्थः—(पिप्पली) पालन करने वाली, पिप्पली [ओषधि विशेष] (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्त, उन्मत्त की ओषधि, (उत) और (अतिविद्धभेषजी) बड़े घाव वाले की ओषधि है । (देवाः) विद्वानों ने (ताम्) उसको (सम् अकल्पयन्) अच्छे प्रकार माना है कि (इयम्) यह (जीवित्वा) जिलाने के लिये (अलम्) समर्थ है ॥१॥

भावार्थः—जिस प्रकार पीपली, ओषधि विशेष के सेवन से अनेक रोग की निवृत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य कर्मों के फलभोग से सुख पावे ॥१॥

पिप्पली के गुण ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीह, शूल, आम आदि रोगों का नाश करना है—शब्दकल्पद्रुम ॥

पिप्पल्यं१ : समंवदन्तायतीर्जननादधि ।

यं जीवमश्नवामहे न स रिष्याति पुरुषः ॥२॥

भाषार्थः—(पिप्पल्यः) पीपली ओषधियों ने (जननात् अधि) जन्म से ही (आयतोः) आती हुई (सम्) आपस में (अववन्त) बातचीत की (यम्) जिस (जीवम्) जीव को (अश्नवामहे) हम प्राप्त हों, (सः पुरुषः) वह पुरुष (न) नहीं (रिष्याति) नष्ट होवे ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सदैव परस्पर संवाद से ओषधियों की उत्पत्ति स्थान और काल का विचार करके उनके प्रयोग से रोगियों को नीरोग करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग आपस में वार्तालाप द्वारा दोषों को हटाकर सुखी होते हैं ॥२॥

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।

वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे पिप्पली] (असुराः) बुद्धिमान् पुरुषों ने (वातीकृतस्य) गठिया के रोगी की (भेषजीम्) ओषधी, (अथो) और (क्षिप्तस्य) उन्मत्त की (भेषजीम्) ओषधि (त्वा) तुझको (नि) निरन्तर (अखनन्) खोदा है और (देवाः) व्यवहारकुशल पुरुषों ने (त्वा) तुझको (पुनः) फिर (उत्) उत्तम रीति से (अवपन्) बोया है ॥३॥

भाषार्थः—जैसे सदैव परीक्षा करके पिप्पली आदि ओषधियों को खोदते और बोते और काम में लाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष विद्या का सुप्रयोग करते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥ ११० ॥

१—३ ॥ अग्निर्वेता ॥ त्रिष्टप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यवर्धनायोपदेशः—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

प्रत्नो हि कपीढ्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नवदश्च सत्सि ।

स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् आचार्य ! (प्रत्नः) प्राचीन, [अनुभवी] (च) और (नव्यः) नूतन [उद्योगी] (ईड्यः) स्तुतियोग्य (च) और (होता) दाता होकर (सनाव्) सदा से (अध्वरेषु) सन्मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित व्यवहारों में

(हि) अवश्य (कम्) मुख से (सत्सि) तू बैठता है। (च) निश्चय करके (स्वाम्) अपने (तन्वम्, शरीर को (पिप्रायस्व) प्रीतियुक्त कर (च) और (अत्मन्वम्) हमारे लिये (सौभगम्) अनेक सुन्दर ऐश्वर्य (प्रा) आकर (यजस्व) दान कर ॥१॥

भाषार्थः - मनुष्य वृद्ध, अनुभवी, उत्साही, उत्तम आचार्य से नम्रता पूर्वक उत्तम शिक्षा ग्रहण करके अपना ऐश्वर्य बढ़ावे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ष० ११।१०॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतार्यमस्य मूलवर्हणात् परि पाह्वेनम् ।

अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥२॥

भाषार्थः—(ज्येष्ठघ्न्याम्) ज्येष्ठ अर्थात् अतिवृद्ध वा उत्तम ब्रह्म को प्राप्त करने वाली क्रिया में (जातः) प्रसिद्ध तू (विचृतोः) अन्धकार से छुड़ाने वाले सूर्य और चन्द्रमा के (यमस्व) नियम के (मूलवर्हणात्) मूल छेदन से (एनम्) इस जीव को (परि पाहि) सब प्रकार बचा। (विश्वा) सब (दुरितानि) विघ्नों को (अति= अतीत्य) उजाँव कर (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (एनम्) इस [प्राणी] को (नेषत्) आप ले चले ॥२॥

भाषार्थः - मनुष्य श्रेष्ठजनों के अनुकरण से पुरुषार्थ के साथ विघ्नों को हटा कर सूर्य और चन्द्रमा के समान सदा नियम में चलकर यश प्राप्त करे ॥२॥

व्याघ्रेऽहथजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।

स मा बंधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥३॥

भाषार्थः—(वीरः) यह वीर पुरुष (नक्षत्रजाः) नक्षत्र के समान गति, उपाय उत्पन्न करने वाला (सुवीरः) महावीर (जायमानः) होता हुआ (व्याघ्रे) व्याघ्र के समान बलवान् (अह्नि) दिन में [माता पिता के बल के समय] (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (पितरम्) पिता को (मा बंधीत्) न मारे और (जनित्रीम्) जन्म देने वाली (मातरम्) माता को (मा प्र मिनीत्) कभी न सतावे ॥३॥

भाषार्थः—शूरवीर पुरुष सुशिक्षित बलवान् माता से जन्म पाकर उनको कष्ट से बचा कर सदा सुखी रख कर अपना सौभाग्य बढ़ावे ॥३॥

सूक्तम् ॥१११॥

१-४ ॥ अग्निर्वैवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-४ अनुष्टुप् ॥

मानसविकारनाशोपदेशः—मानसविकार के नाश का उपदेश ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्यं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।

अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसन्ति ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (मे, मेरे लिये इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को [आत्मा को] (मुमुग्धि) मुक्त कर, (अयम् यः) यह जो [जीव] (बद्धः) बंधा हुआ और (सुयतः) बहुत जकड़ा हुआ (लालपीति) अत्यन्त बर्बरता है । (अतः) फिर यह (ते) तेरे (भागधेयम्) सेवनीय भाग को (अधि) अधिकारपूर्वक (कृणवत्) करे, (यदा) जब वह (अनुन्मदितः) उन्मादरहित (असति, हो जावे ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से दुष्टकर्म छोड़ कर सावधान होकर धार्मिक कर्म करे ॥१॥

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।

कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽसन्ति ॥२॥

भाषार्थः—(अग्निः) विद्वान् पुरुष (ते) तेरे [मन को] (नि शमयतु) शान्त करता रहे, (यदि) जब (ते मनः) तेरा मन (उद्युतम्) व्याकुल होवे । (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूँ, (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) होवे ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर अपनी रोगनिवृत्ति करे ॥२॥

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षस्परि ।

कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसन्ति ॥३॥

भाषार्थः—(देवैनसात्) विद्वानों के लिये [किये] पाप से (उन्मदितम्) उन्मत्त, अथवा (रक्षसः) राक्षस [दुःखदायी जीव वा रोग] से (उन्मत्तम् परि) उन्मत्त पुरुष के लिये (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूँ (यदा) जिस से वह (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) हो जावे ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य दुःखों वा रोगों के कारणों को विचार कर उनकी निवृत्ति करे ॥३॥

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।

पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽसन्ति ॥४॥

भाषार्थः—[हे रोगी !] (अप्सरसः) आकाश, जल वा प्रजाओं में रहने वाली विजुलियां (त्वा) तुभको [विद्वानों में] (पुनः) फिर (दुः) देवें, (इन्द्रः) सूर्य (पुनः) फिर, (भगः) चन्द्रमा (पुनः) फिर [देवें] (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थ (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (दुः) देवें, (यथा) जिससे तू अनुमति (अनुमतिः) उन्माद रहित (असति) होवे ॥४॥

भाषार्थः—वैज्ञानिक पुरुष विजुली सूर्य आदि सब पदार्थों से यथोचित उपकार लेकर स्वस्थ रहकर सुखी होवे ॥४॥

सूक्तम् ॥११२॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कुलरक्षोपदेशः—कुल की रक्षा का उपदेश ॥

मा ज्येष्ठं वधीद्यमग्न एषां मूलवर्हणात् परि पाश्चैनम् ।

स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [रोग] (एषाम्) इन [पुरुषों] के बीच (ज्येष्ठम्) विद्या और वय में बहुत बड़े पुरुष को (मा वधीत्) न मारे, (एनम्) इस [पुरुष] को (मूलवर्हणात्) मूल छेदन से (परि पाहि) सर्वथा बचा । (सः) सो तू (प्रजानन्) जानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (विचृत) खोल दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (तुभ्यम्) तुभको (अनु जानन्तु) अनुमति देवें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों की सम्मति से श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा का सदा उपाय करें ॥१॥

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभरुत्सिता येभिरासन् । स ग्राह्याः

पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् । २ ।

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इन [पिता पुत्र और माता] के (पाशान्) फन्दों को (उन्मुञ्च) खोल दे, (त्रयः) जो तीनों (एभिः) जिन (त्रिभिः) तीनों [ऊँचे, नीचे, मध्यम पाशों] से (उत्सिताः) जकड़े हुए (आसन्) हैं । (सः) सो तू (प्रजानन्) जानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (विचृत) खोल दे, (पितापुत्रौ) पिता पुत्र, (मातरम्) माता, (सर्वान्) सब को (मुञ्च) [दुःख से] मुक्त कर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों के अनुशासन से माता पिता पुत्र आदि सब की यथायोग्य रक्षा करें ॥२॥

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्ग अङ्ग आपित उत्सितश्च ।

वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्निं पृषन् दुरितानि मृक्ष्व । ३॥

भाषार्थः—(परिवित्तः) विवाहित छोटे भाई का बिना विवाहित बड़ा भाई (येभिः) जिन (पाशैः) फन्दों से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (विबद्धः) बंधा हुआ, (आपितः) दुखाया गया (च) और (उत्सितः) जकड़ा गया है । (ते, वे [फन्दे] (विमुच्यन्ताम्) खुल जावें, (हि) क्योंकि वे (विमुचः) खुलने योग्य (सन्ति) हैं, (पृषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्निं) स्त्री के गर्भघाती रोग में [वर्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष्व) दूर कर ॥३॥

भाषार्थः—विद्वान् प्रयत्न करें कि सब सन्तान गुणी होकर अपने अपने समय पर विवाहित होकर सुखी हों और यथावत् ब्रह्मचर्य सेवन से कुल में गर्भ पतन आदि रोग न हों ॥३॥

सूक्तम् ॥११३॥

१-३ ॥ त्रितो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापशोधनोपदेशः—पाप शुद्ध करने का उपदेश ॥

त्रिते देवा अमृजन्तैतदेनस्त्रित एनमनुष्येषु ममृजे ।

ततो यदि त्वा ग्राहिंरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(त्रिते) तीनों कालों वा लोकों में फैले हुए त्रित परमात्मा के बीच [वर्तमान] (देवाः) विद्वानों ने (एतत्) इस (एनः) पाप को (अमृजन्त) शुद्ध किया है, (त्रितः) त्रिलोकनाथ त्रित परमेश्वर ने (एनत्) इस [पाप] को (मनुष्येषु) मनुष्यों में [ज्ञान द्वारा] (ममृजे) जोधा है । [हे मनुष्य !] (ततः) इस पर भी (यदि) जो (त्वा) तुझको (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया आदि] ने (आनशे) घेर लिया है, (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरा (ताम्) उस [पीड़ा] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (नाशयन्तु) नाश करें ॥१॥

भाषार्थः—परमात्मा ने वेद द्वारा मनुष्य को पापनाश का उपाय बताया है, यह बात साक्षात् करके विद्वानों ने अपने दोष नाश किये हैं, इतना जानने पर भी यदि मनुष्य पाप में फंसे तो विद्वानों से पूछकर दोष निवृत्ति करें ॥१॥

मरीचीधूमान् प्र विशानुं पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।

नदीनां फेनौ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्न पृषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥२॥

भाषार्थः—(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मरीचीः) किरणों और (धूमान्) धूमों का (अनु) अनुकरण करके (प्र विश) प्रवेश कर, (उत) और (उदारान्) बड़े दाता वा ऊपर चढ़ने वाले मेवों (वा) और (नीहारान्) कोहरों को (गच्छ) प्राप्त हो । (नदीनाम्) नदियों के (तान्) उन (फेनान्) फेनों के (अनु) पीछे पीछे (वि नश्य) विनष्ट हो जा । (पृषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्न) स्त्री के गर्भ-घाती रोग में [वर्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष्व) दूर कर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य, किरणों, धूम, मेघ, कुहरे, और जल फेन की सूक्ष्मता और शीघ्र गति के अनुसार ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा सूक्ष्म पापों को बहुत शीघ्र नष्ट करके सुखी होंवें ॥२॥

द्वा दशथा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्येनसानि ।

ततो यदि त्वा ग्राहिरानुशेतां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(द्वादशथा) बारह [मन और बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों] में (निहितम् = ०-तानि) ठहरे हुए (मनुष्येनसानि) मनुष्यों के पाप (त्रितस्य—त्रितेन) त्रित परमेश्वर करके [वेद द्वारा] (अपमृष्टम् = ०-ष्टानि) शुद्ध किये गये हैं । (ततः) इस पर भी (यदि) जो.....म० १ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न पापों को वेदज्ञान द्वारा विद्वानों के सत्संग से सर्वथा शोधकर सदा सुखी रहें ॥३॥

इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।

आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यतेन मुञ्चत ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (देवासः) खेल करते हुए (वयम्) हम लोगों ने (यत्) जो (देवहेडनम्) विद्वानों का अनादर (चकृम) किया है (आदित्याः) हे सूर्य समान तेजस्वी ! (यूयम्) तुम लोग (तस्मात्) उस [पाप] से (नः) हमको (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार द्वारा (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—यदि मनुष्यों से प्रमाद के कारण विद्वानों का अनादर हो जावे, तो उनको योग्य है कि वे धार्मिक व्यवहार करके विद्वानों को प्रसन्न करें ॥१॥

ऋतस्यतेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।

यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥२॥

भाषार्थः—(आदित्याः) हे विद्या से प्रकाशमान (यजत्राः) पूजनीय संगति-योग्य पुरुषो ! (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार से (इह) इस [पापकर्म] में (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त करो ! (यत्) क्योंकि (यज्ञवाहसः) हे यज्ञ अर्थात् इन्द्रेश्वर की उपासना वा शिल्पविद्या प्राप्त कराने वाले महाशयो ! (यज्ञम्) देवताओं की पूजा (शिक्षन्तः) करने की इच्छा करते हुए हम लोग (न उपशेकिम) उसे न कर सके ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग प्रमादी आलसी पुरुषों को धार्मिक व्यवहारों में लगाकर पुरुषार्थी बनावें ॥२॥

मेदस्वता यजमानाः सुचाज्यानि जुह्वतः ।

अक्रामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥३॥

भाषार्थः—(यजमानाः) यजमान, ईश्वर उपासक वा पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले विज्ञानी लोग (मेदस्वता) चिकने घृत आदि पदार्थ वाले (सुचा) सुचा [चमसे] से (आज्यानि) यज्ञ के साधन घृत, तेल आदि द्रव्यों को (जुह्वतः) होमते हुए [रहते हैं] ! (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानों ! (वः) तुम्हारी (अक्रामाः) कामना न करने वाले (शिक्षन्तः) [यज्ञ] करने की इच्छा करते हुए हम लोग (न उप शेकिम) उसे न कर सके ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य वैज्ञानिक विद्वानों के समान विद्वानों का सत्कार करके विज्ञान सिद्ध ईश्वरविद्या और शिल्पविद्या को प्राप्त करें ॥३॥

सूक्तम् ॥११५॥

१ ३ ॥ विश्वेदेवा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् विद्वांसो यद्विद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।

यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) यदि (विद्वांसः) जानते हुए, (यत्) यदि (अविद्वांसः) न जानते हुए (वयम्) हम ने (एनांसि) पाप कर्म (चकृम) किये हैं । (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो ! (सजोषसः) समान प्रीति युक्त (यूयम्) तुम (नः) हमें (तस्मात्) उस [अपराध] से (मुञ्चत) मुक्त करो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सब प्रकार के पापों को छोड़ कर सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥१॥

यदि जाग्रद् यदि स्वप्ननेन एनस्योऽकरम् ।

भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥

भाषार्थः—(यदि) जो (जाग्रत्) जागते हुए, (यदि) जो (स्वप्न) सोते हुए (एनस्यः) पापी मैंने (एनः) पाप (अकरम्) किया है (भूतम्) वर्तमान प्राणीसमूह (च) और (भव्यम्) भविष्यत् प्राणीसमूह (द्रुपदात् इव) काठ के बन्धन के सदृश वर्तमान (तस्मात्) उस [पाप] से (मा) मुझको (मुञ्चताम्) छोड़ावें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य ऐसे अपराध कभी भी न करें जिस से वर्तमान और भविष्यत् प्राणियों को दुःख होवे ॥२॥

द्रुपदादिव भुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।

पूतं पवित्रेणैवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैतसः ॥३॥

भाषार्थः—(द्रुपदात्) काष्ठ बन्धन से (भुमुचानः इव) खुटे हुए पुष्प के समान, (स्विन्नः) पसीने में डूबे हुए (स्नात्वा) स्नान करके (मलात्) मल से [खुटे हुए के] (इव) समान (पवित्रेण) शुद्ध करने वाले छन्दा वा अग्नि से (पूतम्) शुद्ध किये हुए (आज्यम् इव) घृत के समान, (विश्वे) सब [दिव्यगुण] (मा) मुझको (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक सर्वथा पापों से शुद्ध रहकर सदा आनन्द भोगें ॥३॥

सूक्तम् ॥११६॥

१—३ ॥ वैवस्वतो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापनिवृत्त्युपदेशः—पाप से निवृत्ति का उपदेश ॥

यद् यामं चक्रुर्नि खनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया ।

वैवस्वते राजान तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) [भूमि को] खोदते हुए (कार्षीवणाः) खेती के सेवन करने वाले किसानों ने (विद्यया) विद्या के साथ (अन्नविदः न) अन्न प्राप्त करने वाले पुरुषों के समान, (यद् यामम्) जिस नियम समूह को (चक्रुः) किया है । (तत्) उसी [नियम समूह] को (वैवस्वते) मनुष्यों के स्वामी (राजानि) राजा परमेश्वर में (जुहोमि) मैं समर्पण करता हूँ, [जिससे] (अथ) फिर (नः) हमारा (अन्नम्) प्राण साधन अन्न (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य और (मधुमत्) ज्ञान-युक्त (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे विद्वानों के समान किसान लोग भूमि जोत कर, बीज बोकर अन्न प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सर्वनियन्ता जगदीश्वर का आश्रय लेकर कर्म करते हुए आनन्द भोगें ॥१॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुमागोमधुना संसृजाति ।

मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद्वापितापराद्धो जिहीडे ॥२॥

भाषार्थः—(मधुभागः) ज्ञान का भाग करने वाला, (वैवस्वतः) मनुष्यों का स्वामी परमेश्वर (भागधेयम्) भाग (कृणवद्) करे और (मधुना) [उस पाप के] ज्ञान के साथ [हमें] (सम् सृजाति) संयुक्त करे । (मातुः) माता को प्राप्त करके (इषितम्) उतावली से किया हुआ (नः) हमारा (यद्) जो (एनः) पाप (आगन्) हो गया है, (वा) अथवा (यत्) जिस पाप के कारण (पिता) पिता, (अपराद्धः) जिसका हमने अपराध किया है, (जिहीडे) क्रोधित हुआ है ॥२॥

भाषार्थः—यदि मनुष्य प्रमाद के कारण माता पिता आदि को अप्रसन्न करे तो वह उनसे क्षमा मांगकर प्रायश्चित्त करके शुद्ध होवे ॥२॥

यदीदं मातुर्यदिं वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।
यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥३॥

भाषार्थः—(यदि) जो (मातुः) माता के प्रति, (यदि वा) अथवा, (पितुः) पिता के प्रति, (भ्रातुः) भ्राता के प्रति, अथवा (पुत्रात्) पुत्र के प्रति (नः) हमारे (चेतसः) चित्त से (इदम्) यह (एनः) पाप (परि) सब ओर से (आगन्) हो गया है । (यावन्तः) जितने (पितरः) पिता के समान माननीय (अस्मान्) हमको (सचन्ते) सदा मिलते हैं [उनके विषय में भी जो पाप हुआ है] (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध (शिवः) शान्त (अस्तु) होवे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सब कुटुम्बियों और सब मान्य पुरुषों को सदा प्रसन्न रखें ॥३॥

सूक्तम् ॥११७॥

१—३ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद्विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

अमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचूर्तं वेत्थ सर्वान् ॥१॥

भाषार्थः—(यमस्य) नियम करने वाले [ऋणदाता] के (अप्रतीत्तम्) बिना चुकाये (यत्) जिस (अपमित्यम्) अपमान के हेतु ऋण को (अस्मि—अस्मामि) मैं प्रहृत्य करता हूँ, ओर (येन बलिना) जिस बलवान् के साथ [ऋण लेकर] (चरामि) मैं घेष्टा करता हूँ । (इदम्) अब (तत्) उससे, (अग्ने) हे विद्वान् ! मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) हो जाऊँ, (त्वम्) तू (सर्वान्) सब (पाशान्) बन्धनों को (विचूर्तम्) खोलना (वेत्थ) जानता है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ करके माता पिता आचार्य आदि की सेवा से देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण चुकावें ॥१॥

इहैव सन्त प्रति दद्य एनञ्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्यं धान्यं १ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥२॥

भाषार्थः—(इह) यहाँ [इस शरीर में] (एव) ही (सन्तः) रहते हुए हम (एनत्) इस [ऋण] को (प्रति दद्यः) चुका दें, (जीवाः) जीते हुए हम (जीवेभ्यः) जीते हुए पुरुषों को (एनत्) यह [उधार] (नि) नियम से (हरामः) दे दें । (यत्) जो

(धान्यम्) धान्य (अपमिष्य) उधार लेकर (ग्रहम्) मैंने (जघस) खाया है, (अग्ने) हे विद्वान् ! (इदम्) अभी (तत्) उससे मैं (अनूः) अक्रुण (भवामि) हो जाऊँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य संसार के सब जीवों का उपकार अपने पर विचार कर अपने और उनके जीवन में ही यथोचित सेवा से उनका ऋण चुकावें ॥२॥

अनृणा अस्मिन्ननृणः परस्मिन् तृतीयं लोके अनृणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥३॥

भाषार्थः—हम (अस्मिन् लोके) इस लोक [बालकपन] में (अनृणाः) अक्रुण, (परस्मिन्) दूसरे [युवापन] में (अनृणाः) अक्रुण और (तृतीये) तीसरे [बुढ़ापे] में (अनृणाः) अक्रुण (स्याम) होंगे । (देवयानाः) विजय चाहने वाले और व्यापारियों के यान अर्थात् विमान रथ आदि के चलने योग्य (च) और (पितृयाणाः) पालन करने वाले विज्ञानियों के गमन योग्य (ये) जो (लोकाः) लोक [स्थान] और (पथः= पन्थानः) मार्ग हैं, (सर्वान्) उन सब में (अनृणाः) हम अक्रुण होकर (आ) सब ओर से (क्षियेम) चलते रहें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अभ्यास से बालकपन का ऋण, गृहस्थ आश्रम में धन और प्रजा पालन आदि की सफलता से युवावस्था का ऋण, और वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सेवन से बुढ़ापे का ऋण चुकाकर महात्माओं के समान धार्मिक परोपकारी बनें ॥३॥

सूक्तम् ॥११८॥

१—१ ॥ अप्सरसो देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद् विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

यद्भस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः ।

उग्रं पश्ये उग्रजितौ तद्द्याप्सरसावनुदत्तामृणं नः ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) यदि (अक्षानाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) पाने योग्य विषय के (उपलिप्समानाः) लाभ की इच्छा करते हुए हमने (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (किल्बिषाणि) अनेक पाप (चकृम) किये हैं । (उग्रं पश्ये) तीव्र दृष्टि वाली, (उग्र-जितौ) उग्र होकर जीतने वाली, (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में विचरने वाली अप्सरायें

सूर्य भूमि दोनों (अथ) आज (नः) हमारे तत् उस (ऋणम्) ऋण को (अनु) अनुग्रह करके (वत्सम्) दे देवें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थों से विज्ञानपूर्वक उपकार लेकर अपना कर्तव्य करें ॥१॥

उग्रं पश्ये राष्ट्रंभृत् किल्बिषाणि यदक्षद्वृत्तमनुं दत्तं न एतत् ।

ऋणाच्चो नर्णमेत्समानो यमस्य लोके अधिरञ्जुरायत् ॥२॥

भाषार्थः—(उग्रं पश्ये), हे तीव्र दृष्टि वाली ! (र.ष्ट्रंभृत्) हे राज्य को पालने वाली ! [सूर्य और पृथिवी] (किल्बिषाणि) हमारे अनेक पाप हैं । (यत्) जो (प्रक्षवत्सम्) इन्द्रियों का सदाचार है, (एतत्) वह (नः) हमें (अनु) अनुग्रह करके (वत्सम्) तुम दोनों दान करो । (ऋणात् ऋणम्) ऋण के पीछे ऋण को (एत्समानः) लगातार बढ़ाने की इच्छा करता हुआ, (अधिरञ्जुः) रसरी लिये हुए [उधार देने वाला] (यमस्य, न्यायाधीश के (लोके) समाज में (नः) हमको (आ) आकर (न) न (अयत्) प्राप्त हो ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य पापों को छोड़कर सदा सदाचार करें जिस से उन्हें संसार में लज्जित न होता पड़े, जिस प्रकार ऋण दाता व्याज पर व्याज बढ़ा कर अपने ऋणी को राजद्वार में लज्जित करता है ॥२॥

यस्नां ऋणं यस्य जायामुपैमि य याचमानो अभ्यमि देवाः ।

ते वाचं वादिषुर्मोक्षं मदेवपत्नी अप्सरसावधीतम् ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (यस्मै ऋणम्) जिस का मुझ पर उधार है, (यस्य) जिसकी (जायाम्) स्त्री के पास (उपैमि) मैं जाऊँ, अथवा (याचमानः) अनुचित मांगता हुआ मैं (यम्) जिसके पास (अभ्यमि) पहुँचूँ । (ते) वे लोग (मत्) मुझसे (उत्तराम्) (वाचम्) बढ़ कर बात (मा वादिषुः) न बोलें, (देवपत्नी) हे दिव्यपदार्थों की रक्षा करने वाली (अप्सरसी) आकाश में चलने वाली, सूर्य और पृथिवी ! (अधीतम्, [यह बात] स्मरण रखो ॥३॥

भाषार्थः—संसार के मनुष्य स्मरण रखें कि ऋण लेने, व्यभिचार करने और अनुचित मांगने से प्रशंसा में बढ़ा लगता है, इससे पुरुषार्थ करके कीर्ति बढ़ावें ॥३॥

सूक्तम् ॥११६॥

१-३ ॥ वैश्वानरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

प्रतिज्ञाप्रतिपालनोपदेशः—वचन के प्रतिपालन का उपदेश ॥

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।

वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिःनयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (अदीव्यन्) व्यवहार न करता हुआ (अहम्) मैं (यत्) जो (ऋणम्) ऋण (कृणोमि) करूँ । (उत) अथवा (अवास्यन्) चुकाना न चाहता हुआ (संगृणामि) प्रण करूँ (वैश्वानरः) सब नरों का स्वामी, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला, (वसिष्ठः) अति उत्तम परमेश्वर (इत्) ही (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोकम्) लोक [समाज] में (उन्मयाति) ऊँचा बढ़ावे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर को साक्षी करके पुरुषार्थ पूर्वक माता पिता आदि के ऋण को चुकावेँ और अपने वचन को मिथ्या न करे ॥१॥

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।

स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानर्थ पक्वेन सह सं भवेम ॥२॥

भाषार्थः—(वैश्वानराय) सब नरों के हितकारी परमेश्वर से (प्रति) प्रत्यक्ष (वेदयामि) निवेदन करता हूँ कि (देवतासु) विद्वानों के विषय [मेरी ओर से] (यत्) जो (ऋणम्) ऋण और (संगरः) प्रण है । (सः) वह परमेश्वर (एतान्) इन (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (विचृतम्) खोल देना (वेद) जानता है, (अथ) सो (पक्वेन सह) उस पक्के [दृढ़] स्वभाव वाले परमेश्वर के साथ (सम् भवेम) हम बने रहें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने ऋण और प्रतिज्ञा को पूरा करके सदा परमेश्वर की आज्ञा पालन करते रहें ॥२॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाभ्याशाम् ।

अनां नानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥३॥

भाषार्थः—(पविता) सब शुद्ध करने वाला (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी (मा) मुझे (पुनातु) शुद्ध करे, (यत्) यदि (मनसा) मन से (अनाजानन्) अज्ञान होकर (याचमानः) [अनुचित] मांगता हुआ मैं (संगरम्) अपनी प्रतिज्ञा और

(आशाम्) उनकी आशा पर (अभिषावामि) पानी फेर दूँ। (तत्र) उस [कर्म] में (यत्) जो (एनः) पाप है, (तत्) उसको (अप सुवामि) मैं हटाऊँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य शुद्धस्वभाव परमात्मा के गुणों को विचारता हुआ अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करे, और प्रमाद करके दुष्ट कर्मों में न पड़े ॥३॥

सूक्तम् ॥१२०॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराट् छन्दः ॥

गृहमोदवर्द्धनायोपदेशः— घर में आनन्द बढ़ाने का उपदेश ॥

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिसिम ।

अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) यदि (अन्तरिक्षम्) आकाश [वहाँ के प्राणियों] को (पृथिवी) भूमि [वहाँ के जीवों] को (उत) और (द्याम्) प्रकाशमान लोक [प्रकाश के जीवों] को, (यत्) यदि (मातरम्) माता (वा) अथवा (पितरम्) पिता को (जिहिसिम) हमने सताया है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का संयोगी (अग्निः) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [पाप] से पूछ करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्मर्षात्) ऊँचा चढ़ावे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को साक्षात् करके संसार के सब जीवों और माता पिता आदि माननीय महात्माओं का उपकार करके धर्मात्माओं के समाज में प्रतिष्ठा पावे ॥१॥

भूमिर्मातादितिनो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिश्चस्त्या नः ।

द्यौर्नैः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिपृत्वा मावं पत्सि लोकात् ॥२॥

भाषार्थः—(अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति (नः) हमारी (जनित्रम्) उत्पत्ति का निमित्त है, (भूमिः) सब के आधार पृथिवी के समान (माता) माता, (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश के समान (नः) हमारा (भ्राता) भ्राता, (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य के समान (नः) हमारा (पिता) पिता (अभिश्चस्त्या = ० शस्त्याः) अपवाद से [अलग करके] (श्म) शान्तिकारक (भवाति) होवे, (जामिम्) बन्धुवर्ग को (श्चत्वा) पाकर (विश्र्यात्) पितरों, विज्ञानियों के प्रिय (लोकात्) समाज से (मा अवं पत्सि) मैं कभी न गिरूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर, परमेश्वर रचित पदार्थों और माता

पिता आदि कुटुम्बियों का उपकार विचार कर उनकी यथावत् सेवा से मनुष्य समाज में कीर्ति बढ़ावे ॥२॥

यत्रा सुहादः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वं १। स्वायाः ।

अश्लोणा अक्षैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥३॥

भाषार्थः—(यत्र) जहाँ पर (सुहादः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (स्वायाः) अपने (तन्वः) शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं । (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग [सुख विशेष] में (अश्लोणाः) बिना लंगड़े हुए और (अक्षैः) अंगों से (अहुताः) बिना टेढ़े हुए हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) देखते रहें ॥३॥

भाषार्थः—जिस घर में सब स्त्री पुरुष सुकर्मी और नीरोग हों उस घर में ही सब कुटुम्बी मिलकर सुख के स्थिर रखने का प्रयत्न करें ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वाध्याय आ चुका है—अ० ३ । २८ । ५ ॥

सूक्तम् ॥१२१॥

१—४ ॥ अग्निर्वेता ॥ १ विराट्; २ त्रिष्टुप्; ३, ४ अनुष्टुप् ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष पाने का उपदेश ॥

विषाणा पाशान् वि व्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।

दुःस्वप्नं दुर्गितं निः प्वासमदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे शूर !] (विषाणा=० - णेन) विविध भक्ति के साथ (पाशान्) फंदों को (अस्मत्) हमसे (अधि, अधिकार पूर्वक (विष्य) खोल दे, (ये) जो उत्तमाः) ऊँचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे फंदे (वारुणाः) जो दैत्य निवारक वरुण परमात्मा से आये हैं । (दुःस्वप्नम्) नींद में उठे कुविचार और (दुर्गितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः) निकाल दे, (अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) जावें ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य भक्ति की शक्ति को बढ़ाकर अपने बुरे कर्म के फल दुःखों को पुरुषार्थ से हटाकर सोते जागते उत्तम विचार करते हैं वे ही पुण्यात्मा कीर्ति पाते हैं ॥१॥

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।

अय तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिज्याति सुकृतस्य लोकम् ॥२॥

भाषार्थः—[हे जीव !] (यत्) यदि तू (वाह्णि) काण्ड में, (च) और (यत्) यदि तू (भूषाम्) भूमि में (च) और (यत्) यदि (वावा) वचन के साथ (बध्यसे) बंधा है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का संयोगी (अग्निः) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [कण्ट] से पृथक् करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥२॥

भाषार्थः - जो मनुष्य बड़ी विपत्तियों में पड़ कर परमात्मा की शरण लेता और पुरुषार्थ करता है वह कण्ट से छूट कर उन्नति पाता है ॥२॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—प्र० ६। १२०। १॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।

मेहामृतस्य यच्छतां प्रेतु बद्धकमोचनम् ॥३॥

भाषार्थः—(भगवती=०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (उदगाताम्) उदय हुए हैं। वे दोनों (इह) यहाँ पर (अमृतस्य) मरण से बचाव [पुरुषार्थ] का (प्रयच्छताम्) दान करें, [तव] (बद्धकमोचनम्) बंधुवे [आत्मा] की मुक्ति (प्र एतु) हो जावे ॥३॥

भाषार्थः - जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा नियम पर चलकर जगत् का उपकार करते हैं, इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य ईश्वर आज्ञा पालन करके आप दुःख से छूटते और औरों को छुड़ते हैं ॥३॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध पहिले आ चुका है—प्र० २। ८। १।

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम् ।

योन्था इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वा अनु क्षिय ॥४॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] (वि जिहीष्व) विविध प्रकार से चल, (लोकम्) समाज को (कृणु) बना, (बद्धकम्) बड़े बंधुवे [आत्मा] को (बन्धात्) बन्ध से (मुञ्चासि) तू छुड़ा दे (योन्थाः) गर्भाशय से (प्रच्युतः) बाहर निकले हुए (गर्भः इव) बालक के समान, (सर्वान्) सब (पथः अन्) मार्गों की ओर (क्षिय) चल ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे दुःख बन्धन से छूट कर आनन्द भोगता है, जैसे गौ आदि का बच्चा गर्भ से उत्पन्न होकर प्रसन्नता से विचरता है ॥४॥

सूक्तम् ॥१२२॥

१—५ प्रजापति वंशता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ विराट्; ५ जगती

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द की प्राप्ति करने का उपदेश ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य ।

अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥१॥

भाषार्थः—(प्रथमजाः) श्रेष्ठों में प्रसिद्ध, (विद्वान्) विद्वान् में (ऋतस्य) सत्य धर्म के (एतम्) इस (भागम्) सेवनीय व्यवहार को (विश्वकर्मन्) जगत् के रचने वाले विश्वकर्मा परमेश्वर में (परि ददामि) समर्पण करता हूँ । (जरसः) बुढ़ापे से (परस्तात्) दूर देश में (अस्माभिः बलम्) अपने दिये हुए (अच्छिन्नम्) बिना टूटे (तन्तुम् अनु) फैले हुए [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] परब्रह्म के पीछे पीछे (सम्) यथावत् (तरेम) हम पार करें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य [अपने शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके अजर अमर के समान तत्त्वज्ञान प्राप्त करके विद्यादान करें ॥१॥

तत् तन्तुमन्वेकं तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमार्यनेन ।

अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिष्यान्त्स स्वर्ग एव ॥२॥

भाषार्थः—(येषाम्) जिन लोगों का (पित्र्यम्) पितरों, माननीयों का प्रिय (बलम्) दान (आयनेन) यथाशास्त्र होता है, (एके) वे कोई (तत्) फैले हुए (तन्तुम् अनु) वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक ब्रह्म के पीछे पीछे (तरन्ति) तरते हैं । (एके) कोई कोई (अबन्धुः) बन्धुरहितों [अनाथों] को (बलतः) बल से हुए और (प्रयच्छन्तः) सौंपते हुए रहते हैं, [जो] (दातुम्) दान करने को (च इत्) अवश्य ही (शिष्यान्) शिष्यों हों, (सः एव) वही [उनको] (स्वर्गः) स्वर्ग है ॥२॥

भावार्थः—जो मनुष्य सुपात्रों का सत्कार करके परमात्मा की आज्ञा पालन करते हैं, वे ही विशेष सुख के भागी होते हैं ॥२॥

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्धाणाः सचन्ते ।

यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥३॥

भाषार्थः—(दम्पती) हे स्त्री पुरुषो ! [सत्कर्म को] (अन्वारभेथाम्) निरन्तर आरम्भ करो, (अनुसंरभेथाम्) मिल कर आरम्भ करते रहो, (श्रद्धाणाः) श्रद्धा वाले लोग (एतम्) इस [स्वर्ग] (लोकम्) लोक को (सचन्ते) निरन्तर सेवते

हैं। (अग्नौ) अग्नि में (पक्वम्) पका हुआ (यत्) जो [अन्न] (वाम्) तुम्हारे लिये (परिविष्टम्) उपस्थित है, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा के लिये (सम् श्येयाम्) तुम दोनों परस्पर आश्रय लो ॥३॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में यथावत् प्रवेश करके परमात्मा में श्रद्धा रखते हुए अपने कर्तव्य का यथावत् पालन करके सदा सुख भोगें ॥३॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः ।

उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥४॥

भाषार्थः—(मनसा) विज्ञान और (तपसा) तप अर्थात् उत्साह के साथ (सयोनिः) निवास करता हुआ मैं (यन्तम्) व्याप्तिशील (बृहन्तम्) सब में बड़े (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्मा को (अन्वारोहामि) निरन्तर ऊँचा होकर प्राप्त करता हूँ। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (जरसः) वयोहानि से (परस्तात्) दूर देश में (उपहूताः) बुलाये गये हम (तृतीये) तीसरे [जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (सधमादम्) हर्षोत्सव (मदेम) मनावें ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य पूरण विज्ञान और तपस्या से परब्रह्म को खोज कर उपकारी होते हैं, वे अजर अमर होकर उस परमात्मा के साथ आनन्द भोगते हैं ॥४॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।

यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥५॥

भाषार्थः—(शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव वाली, (पूताः) पवित्र आचरण वाली, (यज्ञियाः) पूजनीय (इमाः) इन (योषितः) सेवा योग्य स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के (हस्तेषु) हाथों के बीच [विज्ञान के बलों में] (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं बैठाऊँगा हूँ। [हे विद्वान् स्त्री पुरुष !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूँ, (सः) वह (मरुत्वान्) दोषनाशक गुणों वाला (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (तत्) वह वस्तु (मे) मुझे (ददातु) देवे ॥५॥

भाषार्थः—परमात्मा ने विज्ञान प्राप्ति में स्त्री पुरुषों को समान रचा है, इसलिये मनुष्य को विद्वान् स्त्री पुरुषों से सादर विज्ञान प्राप्त करके परमात्मा में श्रद्धालु होकर आनन्दित होवें ॥५॥

सूक्तम् ॥१२३॥

१-५ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्भिः सत्सङ्गोपदेशः - विद्वानों से सत्संग का उपदेश ॥

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं श्वेदधिमावहाज्जातवेदाः ।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥१॥

भाषार्थः—(संधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले सज्जनो ! (वः) तुम्हारे लिये (एतम्) इस (श्वेदधिम्) सुखनिधि परमेश्वर को (परिददामि) सब प्रकार से देता हूँ [उपदेश करता हूँ] (यम्) जिस [परमेश्वर] को (जातवेदाः) विज्ञान को प्राप्त वेदार्थ जानने वाला पुरुष (आवहात्) अच्छे प्रकार प्राप्त होवे, और [जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (तम्) उस परमेश्वर को तुम (स्म) अवश्य (जानीत) जानो ॥१॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वानों से मिलकर सदाचारी होते हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर से मिलते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० १८। ५६। ६०, इनका अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर यहाँ किया गया है ॥

जानीत स्मैतं परमे व्योमन् देवाः संधस्था विद लोकमत्रं ।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै । २॥

भाषार्थः—(संधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले (देवाः) विद्वानो ! (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (एतम्) इस [परमात्मा] को (स्म) अवश्य (जानीत) जानो, और (अत्र) इस [परमात्मा] में (लोकम्) संसार को (विद) जानो [और जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदान आदि पुण्यकर्म को (अस्मै) इस परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (स्म) अवश्य (आविः) प्रकाशित (कृणुत) करो ॥२॥

भावार्थः—सब मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से योगाभ्यास और धर्म का आचरण करके परमेश्वर को जान कर आनन्द करें ॥२॥

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥३॥

भाषार्थः—(देवाः) विद्वान् लोग (पितरः) माननीय, और (पितरः) पालन करने वाले लोग (देवाः) विजयी होते हैं। मैं (यः) चलने फिरने वाला [उद्योगी] (अस्मि) हूँ, मैं ही (सः) दुःख मिटाने वाला (अस्मि) हूँ ॥३॥

भाषार्थः—विद्वान् ही परस्पर पालन करके विजयी, और आत्म-विश्वासी और उद्योगी ही परस्पर सहायक होते हैं ॥३॥

स पंचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥४॥

भाषार्थः—(सः) क्लेशनाशक मैं [अन्न] को (पंचामि) परिपक्व करता हूँ, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूँ, (सः) वही मैं (यजे) विद्वानों को पूजता हूँ (सः) वह मैं (दत्तात्) दान से [सुपात्रों के लिये] (मा यूषम्) पृथक् न होऊँ ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुपात्रों का सत्कार करके कीर्तिमान् होवें ॥४॥

नाकं राजन् प्रतितिष्ठ तत्रैतत् प्रतितिष्ठतु ।

विद्धि पूर्तस्य नो राजन्स देव सुमना भव ॥५॥

भाषार्थः—(राजन्) हे समर्थ मनुष्य ! (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (तत्र) उसी [परमात्मा] में ही (एतत्) यह [तेरा पुण्य कर्म] (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा पावे। (राजन्) हे विद्या से प्रकाशमान ! (नः) हमारे लिये (पूर्तस्य) अन्न दान आदि पुण्य कर्म का (विद्धि) ज्ञान कर, (सः) वह तू, (देव) हे गतिशील ! (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (भव) हो ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने सब शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके पुण्य कर्म करता हुआ सदा प्रसन्न रहे ॥५॥

सूक्तम् ॥१२४॥

१—३ ॥ अग्नि वैवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मशुद्धयुपदेशः—आत्मा की शुद्धि का उपदेश ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षाद्पां स्तोको अभ्यपत्तद् रसेन ।

सपिन्ड्रियेण पर्यसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन । १॥

भाषार्थः—(दिवः) प्रकाशमान सूर्य से, (नु) अथवा (बृहतः) [सूर्य से] बड़े (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अपाम्) जल का (स्तोकः) विन्दु (माम् अग्नि) मेरे ऊपर (रसेन) रस के साथ (अपत्तत्) गिरा है। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (कृतेन)

कर्म से, (अग्ने) हे सर्वव्यापी परमेश्वर ! (इन्द्रियेण) इन्द्रपन अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ, (पयसा) अन्न के साथ (छन्दोभिः) आनन्ददायक कर्मों के साथ (यज्ञैः) विद्या आदि दानों के साथ (अहम्) मैं (सम् = संगच्छेय) मिला रहूँ ॥१॥

भाषार्थः—जैसे जल सूर्य द्वारा खिंच कर मेघमण्डल से बरस कर संसार को पुष्ट करता है, वैसे ही धर्मात्माओं से उत्तम गुण ग्रहण करके मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावे ॥१॥

यदि वृक्षाद्भ्यपपत्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।

यत्रास्पृक्षत् तन्वो ३ यच्च वासस आपो नुदन्तु निश्चीति पराचैः ॥२॥

भाषार्थः—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (तत् फलम्) वह [अशुद्ध] फल, और (यदि) यदि (अन्तरिक्षात्) आकाश से (सः उ वायुः) वही [अशुद्ध] वायु (एव) वैसे ही (अभ्यपपत्तत्) गिर पड़ा है, और (यत्) जिसने (यत्र) जहाँ पर (तन्वः) शरीर का (च) और (वाससः) वस्त्र का (अस्पृक्षत्) स्पर्श किया है, (आपः) जल (निश्चीतिम्) अलक्ष्मी [अशुद्धि] को (पराचैः) उलटे मुँह (नुदन्तु) हटा दें ॥२॥

भाषार्थः—जैसे अशुद्ध फल वा अशुद्ध वायु से मलिन वस्त्र वा शरीर को जल से शुद्ध करते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों से दूषित आत्मा को यथार्थ ज्ञान से शुद्ध कर लेवे ॥२॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तद् पूत्रिममेव ।

सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निश्चीतिर्मा अरातिः ॥३॥

भाषार्थः—(अभ्यञ्जनम्) तेल आदि लगाना, (सुरभि) सुगन्ध चन्दनादि, (सा समृद्धिः) वह सम्पत्ति, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (वर्चः) तेज, (तद्) वही (पवित्रम्) पवित्रता (एव) वैसे ही है (सर्वा) सब (पवित्रा) शोधन के साधन (अस्मत् अधि) हमारे ऊपर (वितता) फैले हुए हैं, (तत्) इस लिये [हम को] (मा) न तो (निश्चीतिः) अलक्ष्मी (मा) और न (अरातिः) कंजूस पुरुष (तारीत्) दबावे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य पवित्र धार्मिक व्यवहारों से संसार के आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करके सदा सुख भोगे ॥३॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अथ त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥१२५॥

१—३ ॥ सुवीरो देवता ॥ १ विराट्, २ जगती, ३ त्रिष्टुप् ॥

सेनासेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेना और सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।

गोभिः संनद्धो असि वीड्यस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥१॥

भाषार्थः—(वनस्पते) हे किरणों के पालन करनेवाले सूर्य के समान राजन् ! (वीड्वङ्गः) बलिष्ठ अङ्गों वाला तू (हि) ही (प्रतरणः) बढ़ाने वाला (सुवीरः) अच्छे अच्छे वीरों से युक्त (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (भूयाः) हो । तू (गोभिः) बाणों और वज्रों से (संनद्धः) अच्छे प्रकार सजा हुआ (असि) है, [हमें] (वीड्यस्व) दृढ़ बना, (ते) तेरा (आस्थाता) श्रद्धावान् सेनापति (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयतु) जीते ॥१॥

भाषार्थः - परस्पर नित्य संबंध वाले सूर्य और किरणों के समान राजा, सेना और प्रजा का परस्पर नित्य संबंध होवे, और जितेन्द्रिय बलवान् राजा के समान सेना और प्रजा भी जितेन्द्रिय और बलवान् होवें ॥१॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋ० ६।४७। २६—२८ और यजुर्वेद २६। ५२-५४ में हैं । इन का भाष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के आशार पर किया गया है ॥१॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भूतं वनस्पतिभ्यः पर्याभूतं सहः ।

अपामोष्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥२॥

भाषार्थः—(दिवः) बिजुली वा सूर्य से और (पृथिव्याः) भूमि वा अन्तरिक्ष से (उद्भूतम्) उत्तम रीति से धारण किये गये (ओजः) बल को (परि) प्राप्त करके, (वनस्पतिभ्यः) वट आदि वनस्पतियों से (आभूतम्) अच्छे प्रकार पुष्ट किये गये (सहः) बल को (परि) प्राप्त करके (गोभिः) किरणों से (आवृतम्) ढाँपे हुए (अपाम्) जलों के (ओष्मानम्) बल को (परि) प्राप्त करके (वज्रम्) शस्त्र समूह और (रथम्) रथ को (इन्द्रस्य) बिजुली के (हविषा) ग्राह्य गुण के साथ (यज) संयुक्त कर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य पृथ्वी आदि भूतों और उनसे उत्पन्न पदार्थों के सम्बन्ध से बल और पराक्रम बढ़ा कर विमान आदि यानों को बना कर आनन्दित हों ॥२॥

इन्द्रस्यौ नो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।

स इमां नो हव्यदाति जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥३॥

भाषार्थः—[हे राजन् ! यहाँ पर] (मरुताम्) शूरों का (अनीकम्) सेनादल, (इन्द्रस्य) विजुली का (ओजः) बल, (मित्रस्य) प्राण [चढ़ने वाले वायु] का (गर्भः) गर्भ [अधिष्ठान] और (वरुणस्य) अपान [उतरने वाले वायु] का (नाभिः) नाभि [मध्यस्थान] है । (सः) सो तू (देव) हे प्रकाशमान ! (रथ) रमणीय स्वरूप विद्वान् ! (नः) हमारे लिये (इमाम्) इस (हव्यदातिम्) देने योग्य पदार्थों की दान क्रिया को (जुषाणः) सेवता हुआ (हव्या) ग्राह्य वस्तुओं को (प्रति) प्रतीति के साथ (गृभाय) ग्रहण कर ॥३॥

भाषार्थः—जिस सेना में शूर वीर सैनिक विजुली की शक्ति और वायु के चढ़ाव उतार क्रियाओं में कुशल होते हैं, वे सेनापति और सेनादल परस्पर सहाय करके विजयी होते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥१२६॥

१—३ ॥ धीरा देवताः ॥ १, २ त्रिष्टुप्, ३ विराट् ॥

राजसेनयोः कर्तव्योपदेश—राजा और सेना के कर्तव्यों का उपदेश ॥

उपश्वासय पृथिवीमुत ध्यां पुरुत्रा तं वन्वतां विष्ठितं जगत् ।

स दुन्दुभे सज्जुरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अपं सेध शत्रून् ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन्] (पृथिवीम्) भूमि वा अन्तरिक्ष को (उत) और (ध्याम्) सूर्य वा विजुली में (उप) उपयोग के साथ (श्वासय) जीवन डाल, (पुरुत्रा) अनेक पदार्थों में (ते) तेरे लिये (विष्ठितम्) व्याप्त (जगत्) जगत् की (वन्वताम्) वे [वीर लोग] याचना करें । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि [होल] के सदृश गर्जन वाले वीर ! (सः) सो तू (इन्द्रेण) ऐश्वर्य व विजुली के अस्त्र समूह से और (देवैः) विजयी वीरों से (सज्जुः) प्रीति करता हुआ (दूरात्) दूर से (दवीयः) अति दूर (शत्रून्) शत्रुओं को (अपसेध) हटा दे ॥१॥

भाषार्थः—राजा वीरों द्वारा विजुली आदि के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को हटा कर चक्रवर्ती राज्य करके आकाश और भूमि पर शांति करे ॥१॥

मन्त्र १, ३ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६। ४७। २६, ३१, यजु० २६। ५५। ५७। इन मन्त्रों का अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ह्येन दुरिता बाधमानः ।

अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामि त इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥२॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (बलम्) बल और (ओजः) पराक्रम (नः) हमें (आ धाः) अच्छे प्रकार दे, [शत्रुओं को] (आ क्रन्दय) सब ओर से रुला और (दुरिता) कष्टों को (बाधमानः) हटाता हुआ (अभि) सब ओर (स्तन) मेघध्वनि कर । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभी [के समान गरजने वाले !] (इतः) यहां से (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति को (अप सेध) हटा दे, तू (इन्द्रस्य) विजली की (मुष्टिः) मूठ [के समान दुष्टों को मारने वाला] (असि) है, [राज्य को] (वीडयस्व) दृढ़ कर ॥२॥

भाषार्थः—जैसे राजा बलवान् होकर यथावत् अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीतकर प्रजा पालन करता है, वैसे ही मनुष्य आत्मदोष मिटा कर धर्मिष्ठ होवे ॥२॥

ग्रामं जयाभी ३ मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।

समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(ग्रामम्) उस [शत्रु सेना] को (प्र) अच्छे प्रकार (जय) जीत ले, (इमे) यह (केतुमद्) ध्वजा पताका वाले शूर (अभि) सब ओर से (जयन्तु) जीत लेवें, (दुन्दुभिः) डोल (वावदीति) ऊँचे स्वर से बजता है । (अश्वपर्णाः) घुड़चढ़ों के पक्ष [सेना दल] वाले (नः) हमारे (नरः) नायक लोग (सम्) ठीक रीति से (पतन्तु) धावा करें, (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् !—(अस्माकम्) हमारे (रथिनः) अच्छे अच्छे रथों पर चढ़े हुए वीर (जयन्तु) जीतें ॥३॥

भाषार्थः—राजा अपने शूर वीरों से दुन्दुभि बजाकर घुड़चढ़े सैन्यकों का दल बना कर शत्रुओं पर धावा करके जीत लेवे ॥३॥

सूक्तम् ॥१२७॥

१-३ ॥ प्रजापतिव्यवस्था ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश का उपदेश ॥

विद्रधस्य वलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।

विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥१॥

भाषार्थः—(वनस्पते) हे वटादि वृक्ष ! (ओषधे) हे अन्न आदि ओषधि ! (विद्रधस्य) ज्ञाननाशक, हृदय के फोड़े के, (बलासस्य) बल के गिराने वाले सन्निपात कफादि रोग के, (लोहितस्य) रुधिर विकार सूजन आदि के, (विसल्पकस्य) शरीर में फैलने वाले हृङ्फूटन के (पिशितम् चन) थोड़े अंश को भी (भा उत शिषः) जोष मत छोड़ ॥१॥

भाषार्थः—वैद्य रोग निदान जानकर उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोग निवृत्ति करे ॥१॥

यौ ते वलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ ।

वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिवक्षणम् ॥२॥

भाषार्थः—(बलास) हे सन्निपात कफ आदि रोग ! (यौ) जो (ते) तेरी (मुष्को) दो गिलटियाँ (कक्षे) [रोगी की] कांख में (अपश्रितौ) आश्रय लिये हुए (तिष्ठतः) स्थित हैं । (अहम्) मैं (तस्य भेषजम्) उसकी ओषधि (वेद) जानता हूँ, (चीपुद्रुः) ग्रहण करने योग्य चीपुद्रु [ओषधि विशेष] (अभिवक्षणम्) ओषध है ॥२॥

भाषार्थः—वैद्य ज्वर, गिलटी आदि रोगों की यथावत् चिकित्सा करे ॥२॥

यो अङ्गयो यः कर्णो यो अक्षयोर्विसल्पकः ।

वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ।

परा तज्ज्ञातं यक्ष्मपधराञ्च सुवामसि ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो (अङ्गयः) अङ्गों में रहने वाला, (यः) जो (कर्णः) कानों में होने वाला, (यः) जो (अक्षयोः) दोनों आँखों का (विसल्पकः) हृङ्फूटन है । (विसल्पकम्) उस हृङ्फूटन रोग को, (विद्रधम्) हृदय के फोड़े को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा को (वि वृहामः) हम उखाड़े देते हैं । (अज्ञातम्) अग्रकट (यक्ष्मम्) उस रात्ररोग को (पधराञ्चम्) नीचे की ओर (परा) दूर (सुवामसि) हम फेंकते हैं ॥३॥

इस मन्त्र का मिलान अ० २ । ३३ । १ से करो ॥

भाषार्थः—सदृष्ट सब प्रकट और अप्रकट रोगों को यथावत् जान कर रोग निवृत्ति करे ॥३॥

सूक्तम् ॥१२८॥

१-४ ॥ शकधूमो वेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द पाने का उपदेश ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानपकुर्वत ।

भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥१॥

भाषार्थः—(यद्) जिस कारण से (नक्षत्राणि) चलने वाले नक्षत्रों ने (शकधूमम्) समर्थ [सूर्य आदि] लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर को (राजानम्) राजा (अकुर्वत) बनाया, और (अस्मै) उसी के लिये (भद्राहम्) शुभ दिन का (प्र प्रायच्छन्) अच्छे प्रकार समर्पण किया, (इति) इसी कारण से (इदम्) यह जगत् (राष्ट्रम्) उस का राज्य (असात्) होवे ॥१॥

भाषार्थः—जिस परमात्मा के वश में सूर्य आदि लोक और सब नक्षत्र हैं, वही जगत् स्वामी हमें सदा आनन्द देता रहे ॥१॥

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः ।

भद्राहं नो अह्ना प्रातारात्री भद्राहमस्तु नः ॥२॥

भाषार्थः—(नः) हमारे लिये (मध्यन्दिने) मध्य दिन में (भद्राहम्, शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (अह्नाम्) सब दिनों के (प्रातः) प्रातःकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन (अस्तु) होवे, (नः) हमारे लिये (रात्री) रात्रि में (भद्राहम्) शुभ दिन अस्तु होवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से सब काल में धर्म का आचरण कर के सदा आनन्द भोगे ॥२॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।

भद्राहमस्मभ्यं राजन्छकधूमं त्वं कुंघि ॥३॥

भाषार्थः—(शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले (राजन्) परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अहोरात्राभ्याम्, दिन और रात्रि से,

(नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों से और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा से (भद्राहम्) शुभ दिन (कृचि) कर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सब काल में, सब स्थान में, सब पदार्थों से उपकार लेकर परमेश्वर की महिमा विचारते हुए सदा सुखी रहें ॥३॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।

तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥४॥

भाषार्थः—(यः) जिस तू ने (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में, (नक्तम्) रात्रि में (अथो) और (दिवा) दिन में (भद्राहम्) शुभ दिन (अकरः) किया है । (नक्षत्रराज) हे नक्षत्रों के राजा ! (शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सदा) सदा (नमः) नमस्कार होवे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य सुखनिधि परमात्मा का उपकार साक्षात् करके संसार का उपकार करते हुए उसकी आज्ञा का पालन करें ॥४॥

सुक्तम् ॥१२६॥

१—३ ॥ इष्टो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

भगेन मा शाश्वेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।

कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥१॥

भाषार्थः—(मेदिना) परममित्र (इन्द्रेण साकम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर के साथ वर्तमान (शाश्वेन) शान्ति के स्पर्श से युक्त (भगेन) ऐश्वर्य से (मा मा) अपने को अवश्य (भगिनम्) बड़े ऐश्वर्य वाला (कृणोमि) मैं करूँ । (वरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप वान्तु) दूर भाग जावें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य आनन्द कन्द परमेश्वर के अखण्ड कोश से उपकार लेकर सुपात्रों को दान करते रहें ॥१॥

येन वृक्षां अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।

तेन मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥२॥

भाषार्थः—[हे परमेश्वर] (वर्चसा सह) तेज के साथ वर्तमान (येन भगेन) जैसे ऐश्वर्य से तू (वृक्षान्) सब स्वीकार योग्य पदार्थों से (अभ्यभवः) बढ़ गया है ।

(तेन) वैसे ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) बड़े ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की सर्व श्रेष्ठ जान कर संसार में तेजस्वी और धनवान् होवें ॥२॥

यो अन्धो यः पुनः सरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।

तेन मा भगिनं कृणवपं द्रान्त्वरतयः ॥३॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (यः) जो (अन्धः) जीवन का आधार और (यः) जो (पुनःसरः) बारंबार आगे बढ़ने वाला (भगः) ऐश्वर्य (वृक्षेषु) सब स्वीकारयोग्य पदार्थों में (आहितः) अच्छे प्रकार धारण किया गया है। (तेन) उस ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को ध्यान करके चिरस्थायी ऐश्वर्य और सुख बढ़ावें ॥३॥

सूक्तम् ॥१३०॥

१—४ ॥ स्मरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्मरणसामर्थ्यवर्धनोपदेशः—स्मरण सामर्थ्य बढ़ाने का उपदेश ॥

रथजितां रथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥१॥

भाषार्थः—(रथजिताम्) रमणीय पदार्थों की जिताने वाली, और (रथजितेयीनाम्) और स्मरणीय पदार्थों के विजयी पुरुषों के समीप रहने वाली (अप्सरसाम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों का (अयम्) यह जो (स्मरः) स्मरण सामर्थ्य है। (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) बुद्ध रहे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों के मत्संग से विज्ञानपूर्वक संसार की उपकारी विद्याओं को स्मरण रखकर उपयोगी बनावें ॥१॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥२॥

भाषार्थः—(असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) स्मरण रखे, (इति) बस यही, (प्रियः) वह प्यारा [सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) चिन्तन करे, (इति) बस यही । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को... म० १ ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य विद्याओं को स्मरण रख कर उपयोग करते हैं वे ही संसार में प्रिय होते हैं ॥२॥

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जिससे (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) स्मरण रखे, और (अहम्) मैं (कदा चन) कभी भी (अमुष्य) उसकी (न) न [भूल करूँ] । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक समस्त विद्याओं को स्मरण रख कर उपयोगी बनावें ॥३॥

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥४॥

भाषार्थः—(मरुतः) हे वायुगणो ! (उत्) उत्तम प्रकार से (मादयत) प्रसन्न करो, (अन्तरिक्ष) हे मध्यलोक ! (उत्) अच्छे प्रकार (मादय) हर्षित कर । (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उत्) उत्तम रीति से (मादय) आनन्दित कर, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम्) मुझको (अनु) व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक प्राण अपान गति, जाठर अग्नि और बाहिर भीतर स्थान को ठीक ठीक रख कर स्वस्थ रहकर अपनी स्मृति बढ़ाते रहें ॥४॥

सूक्तम् ॥१३१॥

१—३ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परपालनोपदेशः—परस्पर पालन का उपदेश ॥

नि शीर्षतो नि प॑त्तत आ॒ध्यो ३' नि तिरामि ते ।

दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (शीर्षतः) अपने मस्तक [सामर्थ्य] से (नि) निश्चय करके, (प॑त्ततः) अपने पद [के सामर्थ्य] से (नि) नियम करके (आध्यः) यथावत् ध्यान धर्मों को (नि) लगातार (तिरामि) मैं पार करूँ । (दे॒वाः) हे विद्वानो ! (स्म॒रम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हि॑णुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥१॥

भाषार्थः— मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ से स्मरण शक्ति बढ़ाकर सुखी होवें ॥१॥

अनु॑मतेऽन्वि॒दं मन्य॑स्वाकू॒ते समि॒दं नमः॑ ।

दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥२॥

भाषार्थः—(अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि ! तू (इवम्) इसको (अनु मन्यस्व) प्रसन्नता से स्वीकार कर, (आकू॒ते) हे उत्साह शक्ति ! (इवम्) वह (नमः) अन्न (सम्) ठीक रीति से [हमारे लिये हो] । (दे॒वाः) हे विद्वानो ! (स्म॒रम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हि॑णुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझमें व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥२॥

भाषार्थः— मनुष्य बुद्धि और उत्साह के साथ अपने सब काम ठीक ठीक सिद्ध करें ॥२॥

यद् धा॒र्वसि त्रि॒योज॑नं पञ्च॒योज॑नपा॒र्श्विनम्॑ ।

तत॒स्त्वं पुन॑रा॒यसि॑ पु॒त्राणां॑ नो असः पि॒ता ॥३॥

भाषार्थः— [हे विद्वान् !] (यत्) जो तू (त्रियोजनम्) तीन योजन, (पञ्च-योजनम्) पांच योजन, अथवा (आश्विनम्) अश्ववार से चलने योग्य देश को (धा॒र्वसि) दौड़ कर जाता है । (ततः) उससे (त्वं) तू (पुनः) फिर (आयसि) आ । और (नः) हमारे (पु॒त्राणाम्) पुत्र आदिकों का (पिता) पिता [पालने वाला] (असः) हो ॥३॥

भाषार्थः— विद्वान् मनुष्य दूर देशों से विद्या और धन प्राप्त करके कुटुम्ब आदि का पालन करे ॥३॥

सूक्तम् ॥१३२॥

१—५ ॥ स्मरो देवता ॥ त्रिपावनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्यं प्राप्ति का उपदेश ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥१॥

भाषार्थः—(देवाः) विजयी लोगों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम्) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चन्) सींचा है । (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (ते) तेरे लिये (वरुणस्य) सर्व श्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्ययुक्त करता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य विजयी शूरों का अनुकरण करके ध्यानपूर्वक स्मरण-शक्ति बढ़ाकर ईश्वर नियम से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥२॥

भाषार्थः—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुणों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच म० १ ॥२॥

भाषार्थः—मन्त्र १ के समान ॥२॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चन्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्राणी) परम ऐश्वर्य करने वाली नीति ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम्) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चन्) सींचा है । (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को म० १ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य यथार्थ नीति, स्मृति और ध्यान पूर्वक ईश्वरनियम से ऐश्वर्यवान् हो ॥३॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चन्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं तै तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्राग्नी) बिजुली और भौतिक अग्नि ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को.....म० १ ॥४॥

भाषार्थः—जैसे बिजुली और अग्नि के नित्य सम्बन्ध से वृष्टि, प्रकाशादि द्वारा, संसार में होती है वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा परस्पर उपकार करें ॥४॥

यं मित्रावरुणौस्मरमसिञ्चतामस्व १ न्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥५॥

भाषार्थः—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (तै, तेरे लिये (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मेणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्ययुक्त करता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य प्राण और अपान के समान संसार में परस्पर उपकारी होकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥५॥

सूक्तम् ॥१३३॥

१—५ ॥ मेखला देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २, ५ अनुष्टुप्; ४ जगती ॥

मेखलाबन्धनोपदेशः—मेखला बांधने का उपदेश ॥

य इमां देवो मेखलामावबन्ध यः संननाह य उं नो युयोज ।

यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उं नो विमुञ्चात् ।१॥

भाषार्थः—(यः देवः) जिस विद्वान् [अचार्य] ने (नः) हमारे (इमाम्) यह (मेखलाम्) मेखला [तागड़ी, पेटी, कटिबन्धन] (आवबन्ध) अच्छे प्रकार बांधी है, (यः) जिसने (संननाह) सजाई है । (उ, और (यः) जिसने (युयोज) संयुक्त की है । (यस्य देवस्य, जिस विद्वान् के प्रशिषा) उत्तम शासन से (चरामः) हम विचरते हैं (सः) वह (नः) हमें (पारम्) पार (इच्छात्) लगावें, (सः उ) वही [कण्ठ से] (विमुञ्चात्) मुक्त करे ॥१॥

भाषार्थः—वेदारम्भ संस्कार के अंतर्गत मेखलाबन्धन एक संस्कार

है। आचार्य-ब्रह्मचारी के मेखला इसलिये बांधे कि वह कटि को कस कर फुर्ती से वेदों को पढ़ कर संसार में उपकारी होवे ॥१॥ (अहंता)

आहुतास्यमिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।

पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥२॥

भाषार्थः—(मेखले) हे मेखला ! तू (आहुता) यथाविधि दान की गई (असि) है, (ऋषीणाम्) धर्ममार्ग बताने वाले ऋषियों का (आयुधम्) शस्त्ररूप (असि) है। (व्रतस्य) उत्तम व्रत वा नियम के (पूर्वा) पहिले (प्राश्नती) व्याप्त होने वाली और (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली तू (भव) हो ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य नियमपूर्वक मेखला से कटि कस कर कर्म करते हैं वे ही वीर होते हैं ॥२॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि न्निर्वाचन भूतात् पुरुषं यमायं ।

तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥३॥

भाषार्थः—(भूतात्) प्राप्त (मृत्योः) मृत्यु से (पुरुषम्) इस पुरुष, आत्मा को (निर्वाचन्) बाहिर निकालता हुआ (अहम्) मैं (यमायं) नियम पालन के लिये (यत्) जो (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, वेदपाठी और वीर्य निग्राहक पुरुष (अस्मि) हूं। (तम्) वैसे (एनम्) इस आत्मा को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान, (तपसा) तप [योगाभ्यास] और (श्रमेण) परिश्रम के साथ (अनया मेखलया) इस मेखला से (अहम्) मैं (सिनामि) बांधता हूं ॥३॥

भाषार्थः—जो ब्रह्मचारी मेखला के समान शरीर को कसकर शीत उष्ण आदि द्वन्द्व का सहन करके आलस्य आदि मृत्यु को हटाते हैं वे ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥३॥

श्रद्धायां दृहिता तपसोऽधि जाता स्वसऋषीणां भूतकृतां बभूव ।

सा नां मेखले मतिमा धेहि मेधामयां नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥४॥

भाषार्थः—[वह मेखला] (श्रद्धायाः) श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि, विश्वास] की (दृहिता) पूरण करने वाली [यद्वा पुत्री समान प्रिय], (तपसः) तप [योगाभ्यास] से (अधि) अच्छे प्रकार (जाता) उत्पन्न हुई, (भूतकृताम्) सत्यकर्मों (ऋषीणाम्) ऋषियों [सन्मार्गदर्शकों] की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली [अथवा बहिन के समान हितकारिणी] (बभूव) हुई है। (सा) सो तू मेखले हे मेखला !

(नः) हमें (मतिम्) मननशक्ति और (मेधाम्) निश्चय बुद्धि (आ) सब और से (धेहि) दान कर, (अयो) और भी (नः) हमें (तपः) योगाभ्यास (च) और (इन्द्रियम्) इन्द्र का चिह्न [पराक्रम वा परम ऐश्वर्यं] (धेहि) दान कर ॥४॥

भावार्थः—जो श्रद्धालु, तपस्वी ऋषियों के समान शुभकर्म के लिए कटिबद्ध रहते हैं, वे ही मननशक्ति और निश्चल बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥४॥

यां त्वा पूर्वं भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे ।

सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥५॥

भाषार्थः—(याम् त्वा) जिस तुम्हको (पूर्वं) पहिले (भूतकृतः) सत्यकर्मी (ऋषयः) ऋषियों ने (परि वेधिरे) चारों ओर बांधा था । (सा त्वम्) सो तू, (मेखले) हे मेखला ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (माम्) मुझ में (परि) सब ओर से स्वजस्व) चिपट जा ॥५॥

भावार्थः—जो मनुष्य ऋषियों के समान कटिबद्ध होकर शुभकार्य करते हैं, वे ही कीर्तिमान् होते हैं ॥५॥

सूक्तम् ॥१३४॥

१—३ ॥ वज्रो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः; २ गायत्री; ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुशासनोपदेशः—शत्रुओं के शासन का उपदेश ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावांस्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम् ।

शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातुष्णिहा वृत्रस्यैव शचीपतिः ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (वज्रः) वज्र [दण्ड] (ऋतस्य) सत्य धर्म की (तर्पयताम्) तृप्ति करे, (अस्य) इस [शत्रु] के (राष्ट्रम्) राज्य को (अव=अवहृत्य) नाश करके [उसके] (जीवितम्) जीवन को (अप हन्तु) नाश कर देवे, (ग्रीवाः) गले की नाड़ियों को (शृणातु) काटे और (उष्णिहा) गुद्दी की नाड़ियों को (प्रशृणातु) तोड़ डाले, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्म्मों वा बुद्धियों का पति [मनुष्य] (वृत्रस्य) अपने शत्रु के [ग्रीवा आदि] को ॥१॥

भावार्थः—राजा यथावत् शासन से शत्रुओं को नाश करके प्रजापालन करे ॥१॥

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।

वज्रेणावहतः शयाम् ॥२॥

भाषार्थः—[वह शत्रु] (उत्तरेभ्यः) ऊँचे लोगों से (अधरोऽधरः) नीचे नीचे और (गूढः) गुप्त होकर (पृथिव्याः) पृथिवी से (मा उत् सृपत्) कभी न उठे, और (वज्रेण) वज्र से (अवहतः) मार डाला गया (शयाम्) पड़ा रहे ॥२॥

भाषार्थः—अधर्मी लोगों को श्रेष्ठों के बीच उच्च आसन कभी न मिले ॥२॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।

जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्च मनु पातय ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो पुरुष (जिनाति) अत्याचार करे, (तम्) उसको (अनु इच्छ) हूँ ले, (यः) जो (जिनाति) उपद्रव करे (तम् इत्) उसी को (जहि) मार डाल, (वज्र) हे वज्रधारी (त्वम्) तू (जिनतः) अत्याचारी के (सीमन्तम्) मस्तक को (अन्वञ्चम्) लगातार (अनुपातय) गिरावे जा ॥३॥

भाषार्थः—राजा नीतिपूर्वक दुराचारियों को सदा दण्ड देवे ॥३॥

सूक्तम् ॥१३५॥

१—३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

खादनपानोपदेशः—ज्ञान पान का उपदेश ॥

यदश्नामिं वल्लं कुर्वे इत्थं वज्रमा ददे ।

स्कन्धानमुष्यं शातयन् वृत्रस्यैव शचीपतिः ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ (अश्नामि) मैं खाता हूँ [उसे] (वल्लम्) बल (कुर्वे) बना देता हूँ, (इत्थम्) तब मैं (वज्रम्) वज्र को (आ ददे) ग्रहण करता हूँ । (अमुष्य) उस [शत्रु] के (स्कन्धान्) कन्धों को (शातयन्) तोड़ता हुआ, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्म वा बुद्धि का स्वामी [शूर] (वृत्रस्य) शत्रु वा अन्धकार के ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य पाचन शक्ति से भोजन को भलीभाँति पचावे, जिस से वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर उसे सुखदायक हो । इसी मन्त्र का विवरण मन्त्र २ तथा ३ में है ॥१॥

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।

प्राणानमुष्यं संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ [जल दुग्ध आदि] पिबामि में पीता हूँ, (सम्) यथाविधि (पिबामि) पीता हूँ (इव) जैसे (संपिबः) यथाविधि पीने वाला (समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्) जीवन बलों को (संपाय) चूस कर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (पिबामः) पीवें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य न्यूनाधिक मात्रा और देश काल का विचार करके जल दुग्ध आदि पीकर पुष्टि बढ़ाकर सुख प्राप्त करें ॥२॥

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।

प्राणानमुष्यं संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ वस्तु (गिरामि) मैं खाता हूँ, (सम्) यथाविधि (गिरामि) खाता हूँ, (इव) जैसे (संगिरः) यथाविधि खाने वाला (समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्) जीवन शक्तियों को (संगीर्य) चबाकर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (गिरामः) खावें ॥३॥

भाषार्थः—जो निरालसी मनुष्य विचारपूर्वक भोजन करके उसे पचाते हैं, वे बलवान् रहते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥१३६॥

१—३ ॥ नितत्नी देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ बृहती ॥

केशवर्धनोपदेशः केश के बढ़ाने का उपदेश ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।

तां त्वां नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥१॥

भाषार्थः—(ओषधे) हे ओषधि ! तू (देव्याम्) दिव्य [प्रकाशवाली, अच्छे गुणवाली] (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि) ठीक ठीक (जाता) उत्पन्न हुई (देवी) दिव्य गुणवाली (असि) है । (नितत्नि) हे नीचे को फैलने वाली, नितत्नी ! [ओषधी विशेष] (ताम् त्वां) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के (दृंहणाय) दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) हम खोदते हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि को केश दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये काम में लावे। काचमाची फल, जीवन्तीफल और भृङ्गराज वा भृङ्गरा ओषधि के भी केश बढ़ाना आदि गुण हैं ॥१॥

दृंहं प्रतनान् जनयाजातान् जातानुवर्षीयसस्क्रुधि । २॥

भाषार्थः—[हे नितत्नी !] (प्रतनान्) पुराने [केशों] को (दृंहं) दृढ़कर, (अजातान्) बिना उत्पन्न हुआ को (जनय) उत्पन्न कर, (उ) और (जातान्) उत्पन्न हुआ को (वर्षीयसः) बहुत लम्बा (कृधि) बना ॥२॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में नितत्नी ओषधि के गुणों का वर्णन है ॥२॥

यस्ते केशोऽवपद्यते समुल्लो यश्च वृश्चते ।

इदं तं विश्वभेषज्याभि पिञ्चामि वीरुधा । ३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य] (यः) जो (ते) तेरा (केशः) केश (अवपद्यते) गिर जावे (च) और (यः) जो (समूलः) समूल (वृश्चते) टूट जावे। (इदम्) अब (तम्) उस को (विश्वभेषज्या) सब [केश रोगों] की ओषधि (वीरुधा) उस जड़ी बूटी से (अभि पिञ्चामि) चुपड़ कर ठीक करता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि से केशों के रोगों को दूर करें ॥३॥

सूक्तम् ॥१३७॥

१—३ ॥ नितत्नी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश बढ़ाने का उपदेश ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रै केशवर्धनीम् ।

तां वीतहव्य आमरदसितस्य गृहेभ्यः ॥१॥

भाषार्थः—(केशवर्धनीम्) केश बढ़ाने वाली (याम्) जिस [नितत्नी ओषधि] को (जमदग्निः) जलती अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष ने (दुहित्रै) पूति करनेवाली क्रिया के लिये (अखनत्) खोदा है। (ताम्) उस [ओषधि] को (वीतहव्यः) पाने योग्य पदार्थ का पाने वाला ऋषि (असितस्य) मुक्त स्वभाव महात्मा के (गृहेभ्यः) घरों में (आ अमरत्) लाया है ॥१॥

भाषार्थः—इस सूक्त में (नितत्नी) पद की अनुवृत्ति गत सूक्त से

आती है। जिस प्रकार से वैद्य जन परम्परा से एक दूसरे के पीछे शिक्षा पाते चले आये हैं वैसे ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते रहें ॥१॥

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्तै असिताः परि ॥२॥

भाषार्थः—(केशाः) केश (अभीशुना) अंगुली से (मेयाः) मापने योग्य, फिर (व्यामेन) दोनों [ऊपर नीचे के] भुज दण्ड से (अनुमेयाः) मापने योग्य (आसन्) होगये हैं। वे (असिताः) काले होकर (ते) तेरे (शीर्ष्णः) शिर से (नडाः इव) नरकट घास के समान (परि वर्धन्ताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥२॥

भाषार्थः—केशरोगी मनुष्य वैद्य की सम्मति से रोगनिवृत्ति करे ॥२॥

दृढ मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्तै असिताः परि ॥३॥

भाषार्थः—(ओषधे) हे ओषधि ! [केशों के] (मूलम्) मूल को (दृढं) दृढ़ कर, (अग्रम्) अग्र भाग को (आ यच्छ) बड़ा, (मध्यम्) मध्यभाग को (वि यमय) लम्बा कर। (केशाः) केश (असिताः) काले होकर (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर से (नडा इव) नरकट घास के समान (परि वर्धन्ताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥३॥

भाषार्थः—मन्त्र २ के समान ॥३॥

सूक्तम् ॥१३८॥

१—५ ॥ ओषधिरिन्द्रश्च देवते ॥ १, २, ४, ५, अनुष्टुप्, ३ पङ्क्तिः ।

निर्बलत्वनिवारणोपदेशः—निर्बलता हटाने का उपदेश ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिभ्रुतास्यौषधे ।

इमं मे अद्य पुरुषं बलीबर्माण्णिनं कृधि ॥१॥

भाषार्थः—(ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) सब ओषधियों में (श्रेष्ठतमा) अति श्रेष्ठ और (अभिभ्रुता) बड़ी विख्यात (असि) है। (मे) मेरे लिये (अद्य अत्र) इस (इमम्) इस (बलीबर्म्) बलहीन (पुरुषम्) पुरुष को (ओषणिनम्) सब प्रकार उपयोगी (कृधि) बना ॥१॥

भाषार्थः—वैद्य उत्तम ओषधि द्वारा बलहीन पुरुषों को बलवान् बनावें ॥१॥

क्लीबं कृण्वोपशिनमयौ कुरीरिणं कृधि ।

अथास्येन्द्रो ग्रावंभ्यामुभे भिनत्वाण्डयौ ॥२॥

भाषार्थः—(क्लीबम्) बलहीन पुरुष को (ओपशिनम्) उपयोगी (कृधि) बना, (अथो) और भी (कुरीरिणम्) कर्मकारी (कृधि) बना । (अथ) और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले वैद्य आप (ग्रावभ्याम्) पथर समान दो दृढ़ शस्त्रों से (अस्य) इस [रोगी] के (उभे) दोनों (आण्डयो) आंडी [वा अंडिनी, दोनों अंडकोश के रोग] को (भिनत्सु) छेदे ॥२॥

भाषार्थः—वैद्य अंडकोश के आंडी, अंडिनी, पथरी आदि रोगों को दृढ़ शस्त्रों से तोड़ कर ओषधि करें ॥२॥

क्लीब क्लीबं त्वांरं वध्रे वाघ्रि त्वाकरमरंसारं त्वांकरम् ।

कुरीरंमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥३॥

भाषार्थः—(क्लीब) हे निबल करने वाले रोग ! (त्वा) तुझको मैंने (क्लीबम्) निबल (अकरम्) कर दिया है, (वध्रे) हे बल को बांधने वाले रोग ! (त्वा) तुझको (वाघ्रिम्) शक्तिहीन (अकरम्) मैंने कर दिया है, (अरस) हे नीरस करने वाले रोग ! (त्वा) तुझे (अरसम्) नीरस (अकरम्) मैंने कर दिया है । (अस्य) इस [स्वस्थ] पुरुष के (शीर्षणि) शिर पर (कुरीरम्) कर्म सामर्थ्य (च) और (कुम्बम्) विस्तृत आभूषण (अधिनिदध्मसि) हम अधिकारपूर्वक रखते हैं ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य बलहीन क्रियाहीन रोगियों को स्वस्थ और उत्साही बनावें ॥३॥

ये तं नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठन्ति वृष्ण्यम् ।

ते तं भिनत्ति शम्यवामुष्या अधि मुष्कयोः ॥४॥

भाषार्थः—[हे रोगी !] ये, जो (ते, तेरी (नाड्यौ) दो नाड़ियाँ (देवकृते) मंद अर्थात् उन्माद से पीड़ित हैं और (ययोः) जिन दोनों में (वृष्ण्यम्) ढीलापन (तिष्ठन्ति) स्थित है । (ते) तेरे लिये (ते) उन दोनों [नाड़ियों] को (शम्यवामुष्याः) उस [स्वस्थ नाड़ी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों में (शम्यवा) शान्तिकारक शम्या [हल के जुये के कील के समान] शस्त्र से, (अधि) अधिकारपूर्वक (भिनत्ति) मैं छेदता हूँ ॥४॥

भाषार्थः—वैद्यराज विचारपूर्वक अन्य मर्म नाड़ियों को छोड़कर अण्डकोश की रोगग्रस्त नाड़ियों को छेद कर स्वस्थ करे ॥४॥

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।

एवा भिनद्धि ते शेषोऽमुष्या अर्धि मुष्कयोः ॥५॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (स्त्रियः) स्त्रियां (नडम्) नरकट घास आदि को (कशिपुने) अन्न वा वस्त्र के लिये (अश्मना) पत्थर से (भिन्दन्ति) तोड़ती हैं । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (अमुष्याः) उस [नीरोग नाड़ी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों के (शेषः) रोग बल को (अधि) अधिकार के साथ (भिनद्धि) मैं तोड़ता हूँ ॥५॥

भाषार्थः—जैसे किसी तृण में से अन्न वा वस्त्र की सार वस्तु बचाकर अभीष्ट भाग को तोड़ डालते हैं, वैसे ही चिकित्सक लोग मर्म स्थल को छोड़कर रोगकारक नाड़ी को छेदकर स्वस्थ करें ॥५॥

सूक्तम् ॥१३६॥

१—५ ॥ वम्पती देवते ॥ १ जगती, २,३,५ अनुष्टुप्, ४ पुरजल्लिक् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशाः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिये उपदेश ॥

न्यस्तिका श्रोहिथ सुभगं करणी मम ।

शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।

तया सहस्रपण्या हृदयं शोषयामि ते ॥१॥

भाषार्थः—[हे विद्या !] (न्यस्तिका) नित्य प्रकाशमान और (मम) मेरी (सुभगं करणी) सुन्दर ऐश्वर्य करने वाली तू (श्रोहिथ) प्रकट हुई है । (ते) तेरे (प्रतानाः) उत्तम फैलाव (शतम्) सौ [अनेक], और (नितानाः) नियमित विस्तार (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस [तैंतीस देवताओं के जानने वाले] हैं ।

[हे ब्रह्माचारिणि !] (तया) उस (सहस्रपण्या) सहस्रों पानन शक्ति वाली विद्या से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (शोषयामि) मैं सुखाता हूँ [प्रेममग्न करता हूँ] ॥१॥

भाषार्थः—ब्रह्माचारी समावर्तन के पश्चात् यथार्थ विद्या से संसार के सब पदार्थ और तैंतीस देवताओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने सदृश विदुषी स्त्री से विवाह की कामना करे । तैंतीस देवता यह हैं,—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म,

कृकल, देवदत्त और धनञ्जय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—
१२ आदित्य अर्थात् महीने १ इन्द्र अर्थात् बिजुली,—१ प्रजापति अर्थात्
यज्ञ—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद विषय, पृष्ठ ६६—६८ ॥१॥

शुष्यंतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।

अथो नि शुष्य मां कामे नाथो शुष्कास्या चर ॥२॥

भाषार्थः—[हे ब्रह्मचारिणि ! (मयि) मेरे विषय में (ते हृदयम्) तेरा
हृदय (शुष्यंतु) सूख जावे, (अथो) और (आस्यम्) सुख (शुष्यंतु) सूख जावे ।
(अथो) और भी (माम्) मुझ को (कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा,
(अथो) और तू भी (शुष्कास्या) सुखे सुखवाली हो कर (चर) विचर ॥२॥

भाषार्थः—विद्वान् वर और कन्या परस्पर गुणों का परिचय करके
वाचिक और मानसिक प्रेम से गृह आश्रम में प्रवेश करने की चेष्टा
करें ॥२॥

सं वननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।

अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥३॥

भाषार्थः—(बभ्रु) हे पालनशील ! (कल्याणि) हे मङ्गलकारिणी
विद्या ! (संवननी) यथावत् सेवनीय और (समुष्पला) यथाविधि निवास की रक्षा
करने हारी तू [हम दोनों को] (सम्) मिला कर (नुद) आगे बढ़ा । (अमूं) उस
[विद्युथी] को (च च) और (माम्) मुझ को (सम्) मिला कर (नुद) आगे बढ़ा,
[हम दोनों के] (हृदयम्) हृदय को (समानम्) एक (कृधि) कर दे ॥३॥

भाषार्थः—जो स्त्री पुरुष पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थ बनते हैं, वे ही
परस्पर उपकार करके सदा सुखी रहते हैं ॥३॥

ययौदकसंपुपोऽपशुष्यत्यास्यम् ।

एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥४॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (उदकम्) जल को (अपपुषः) न पीनेवाले पुरुष का
(आस्यम्) सुख (अपशुष्यति) सूख जाता है । (एव) वैसे ही (माम्) मुझ को
(कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा (अथो) और तू भी (शुष्कास्या)
सुखे सुखवाली होकर (चर) विचर ॥४॥

भावार्थः— जैसे अति प्यासे मनुष्य को जल की बड़ी चिन्ता रहती है, वैसे ही पति पत्नी पूर्ण प्रीति से एक दूसरे का ध्यान रखें ॥४॥

यथां नकुलो विच्छिद्यं सन्ध्यात्यर्हि पुनः ।

एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥५॥

भावार्थः— (यथा) जैसे (नकुलः) कुत्सित कर्म न ग्रहण करने वाला, नेवला (ग्रहिम्) साँप को (विच्छिद्यं) टुकड़े टुकड़े करके (पुनः) फिर (सन्ध्याति) समाहित चित्त हो जाता है । (एव) वैसे ही (वीर्यावति, हे बलवती ! (कामस्य) कामना के (विच्छिन्नम्) धाव को (संधेहि) भर दे ॥५॥

भावार्थः— जैसे नेवला जन्तु साँप को मार कर आप स्वस्थ और शांत हो जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष विदुषी पत्नी को पाकर दुःख नाश करके आनन्द भोगता है ॥५॥

सुव्रतम् ॥१४०॥

१—३ ॥ दन्तौ देवते ॥ १ बृहती, २ त्रिष्टुप्, ३ पङ्क्तिः ॥

बालस्यान्नप्राशनोपदेशः—बालक के अन्नप्राशन का उपदेश ॥

यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।

तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥१॥

भावार्थः— (व्याघ्रौ) व्याघ्र के समान बलवान् (यौ) जो (दन्तौ) ऊपर नीचे के दांत (अवरूढौ) उत्पन्न होकर (पितरम्) पिता को (च) और (मातरम्) माता को (जिघत्सतः) काटने की इच्छा करते हैं । (ब्रह्मणः) हे अन्न के (पते) स्वामी ! (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानवाले गृहस्थ ! (तौ, उन दोनों को (शिवौ) सुखकारक (कृणु) कर ॥१॥

भावार्थः—जब दांत निकलने पर बालक माता पिता के काटने लगे, तब गृहस्थ उनका अन्नप्राशन करके उस का पोषण करे ॥१॥

ब्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् । एषं वां भागो

निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥२॥

भावार्थः— [हे दांतों की दोनों पक्तियों !] (ब्रीहिम्) चावल अन्नम्) खाओ, (यवम्) जौ (अत्तम्) खाओ, (अथो) फिर (माषम्) उरद, (अथो) फिर

(तिलम्) तिल [खाओ], (वाम्) तुम दोनों का (एषः) यह (भागः) भाग [चावल जो आदि] (रत्नधेयाय) रत्नों के रखने योग्य कोश के सिधे (निहितः) अत्यन्त हित है, (वन्तौ) हे ऊपर नीचे के दाँतो ! (पितरम्) बालक के पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥२॥

भाषार्थः—माता पिता दाँत निकलने पर बालक को चावल, जौ आदि सामान्य अन्न और फिर अधिक पौष्टिक उरद आदि और चिकने तिल आदि चटावें जिससे बालक पुष्ट होकर माता पिता को सुख देवे और उन्नति करे ॥२॥

उपहृतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुङ्गलौ । अन्यत्र वां
घोरं तन्वः१ : परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३॥

भाषार्थः—(उपहृतौ) आपस में स्पर्धा वाले, (सयुजौ) एक दूसरे से मिले हुए (दन्तौ) दोनों ओर के दाँत (स्योनौ) सुख देने वाले और (सुङ्गलौ) बड़े मङ्गल वाले हों। (दन्तौ) हे दोनों ओर के दाँतो ! (वाम्) तुम्हारा (घोरम्) दुःखदायी कर्म [बालक के] (तन्वः) शरीर से (अन्यत्र) अलग (परा एतु) चला जावे (पितरम्) इसके पिता (च), और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥३॥

भाषार्थः—माता पिता बालक के नखे निकले दाँतों को मुलहटी आदि ओषधि से स्वस्थ करें, जिससे वे सब सुख से निकलें ॥३॥

सूक्तम् ॥१४१॥

१—३ ॥ आचार्यो मातापितरो च वेवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—वृद्धि करने का उपदेश ॥

वायुरेनाः समाकर्त्तु त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।

इन्द्रं आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥१॥

भाषार्थः—(वायुः) शीघ्रगामी आचार्य (एनाः) इन [प्रजाओं] को (समाकर्त्तु) एकत्र करे, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी वह (पोषाय) [उनके मानसिक और शारीरिक] पोषण के लिये (ध्रियताम्) स्थिर रहे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला वही (आभ्यः) इन [प्रजाओं] से (अधि) अनुग्रह पूर्वक (ब्रवद्) बोले, (रुद्रः) ज्ञान दाता अध्यापक (भूम्ने) उनकी वृद्धि के लिये (चिकित्सतु) शासन करे ॥१॥

भाषार्थः—जितेन्द्रिय दूरदर्शी आचार्य विद्यालय में ब्रह्मचारियों को उत्तम विद्या से समृद्ध करे ॥१॥

लोहितेन स्वधित्तिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।

अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥२॥

भाषार्थः—[हे आचार्य !] (लोहितेन) प्रकाश के साथ और (स्वधित्तिना) और आत्मधारण सामर्थ्य के साथ (कर्णयोः) हमारे दोनों कानों में (मिथुनम्) विज्ञान (कृधि) कर । (अश्विना) कामों में व्याप्ति वाले माता पिता ने (लक्ष्म) [हम में] शुभ लक्षण (अकर्ताम्) किया है, (तत्) वह [शुभलक्षण] (प्रजया) सन्तान के साथ (बहु) अधिक समृद्ध (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थः—जहां गुणी माता पिता और आचार्य बालकों के शिक्षक होते हैं, वहां बालक गुणी, धनी और बली होते हैं ॥२॥

यथा चक्रुर्देवसुरा यथा मनुष्या उत ।

एवा सहस्रपोषायं कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥३॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (देवासुराः) व्यवहार जानने वाले बुद्धिमानों ने (उत) और (यथा) जैसे (मनुष्याः) मननशील पुरुषों ने [शुभलक्षण को] (चक्रुः) किया है । (अश्विना) हे कर्तव्यों में व्यापक माता पिता ! (एष) वैसे ही (सहस्रपोषाय) सहस्रों प्रकार के पोषण के लिये [हम में] (लक्ष्म) शुभलक्षण (कृणुतम्) तुम करो ॥३॥

भाषार्थः—माता पिता को योग्य है कि पूर्वज महात्माओं के समान अपने सन्तानों को शुभगुणी बनावें ॥३॥

सूक्तम् ॥१४२॥

१—३ ॥ यवो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अन्नबृद्ध्युपदेशः—अन्न की वृद्धि का उपदेश ॥

उच्छ्रयस्व बहुभैव स्वेन महसा यव ।

मृणीहि विश्वा पात्राणि या त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥१॥

भाषार्थः—(यव) हे जो अन्न ! तू (स्वेन) अपने (महसा) बल से (उत् श्रयस्व) ऊंचा आश्रय ले और (बहुः) समृद्ध (भव) हो । (विश्वा) सब (पात्राणि)

जिनसे रक्षा की जावे ऐसे राक्षसों [विघ्नों] को (मृणौहि) मार, (विष्वा) आकाशीय (राक्षसिः) बिजुली आदि उत्पात (त्वा) तुझको (मा बधीत्) नहीं नष्ट करें ॥१॥

भाषार्थः—किसान लोग खेती विद्या में चतुर होकर प्रयत्न करें कि उत्तम जौ आदि बीजों से नीरोग और पुष्टिकारक अन्न उपजे ॥१॥

आशृण्वन्तं यत्र देवं यत्र त्वच्छावदामसि ।

तदृच्छयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥२॥

भाषार्थः—(आशृण्वन्तम्) [हमें] अंगीकार करों वाले (त्वा) तुझ (वेद्यम्) दिव्य गुण वाले (यवम्) जौ आदि अन्न को (यत्र) जहाँ पर (अच्छावदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहें, (तत्) वहाँ पर (द्यौः इव) सूर्य के रूपान (उत् अध्यस्व) ऊँचा आश्रय ले और (समुद्रः इव) अन्तरिक्ष के समान (अक्षितः) अवरहित (एषि) हो ॥२॥

भाषार्थः—जहाँ पर किसान लोग खेती की अच्छे प्रकार देख भाल करते हैं वहाँ जौ अन्न के वृक्ष ऊँचे होते और उपज में अच्छी बढ़ती होती है ॥२॥

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।

पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥३॥

भाषार्थः—[हे जौ आदि अन्न !] (ते) तेरे (उपसदः) निकटवर्ती कार्यकर्ता लोग (अक्षिताः) बिना घाटे और तेरी (राशयः) रासों (अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होंगे । (पृणन्तः) तेरे भरती करने वाले लोग (अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होंगे और (अत्तारः) तेरे खाने वाले (अक्षिताः) बिना हानि (सन्तु) होंगे ॥३॥

भाषार्थः—चतुर किसानों के उद्योग से अन्न की भारी उपज होती है, लोग अन्न का व्यापार करते और भोजन करते हैं ॥३॥

॥ इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

॥ इति षष्ठं काण्डम् समाप्तम् ॥

* ओ३म् *

अथर्ववेद भाषाभाष्यम् ॥

—:०ॐ:०ॐ:०ॐ:०ॐ:—

सप्तमं काण्डम् ॥

—: ॐ :—

प्रथमोऽनुवाकः ॥

—ॐ:०ॐ:०ॐ:०ॐ:—

सूक्तम् ॥१॥

१—२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

धी॒ती वा॒ ये अ॒न॒यन् वा॒चो अ॒ग्रं म॒न॒सा वा॒ येऽव॑दन्नृतानि ।

तृती॒र्येन॒ ब्रह्म॑णा वावृ॒थाना॑स्तुरी॒र्येणाम॑न्वत् नाम धे॒नोः ॥१॥

भाषार्थः— (ये) जिन लोगों ने [एक] (धीती) अपने कर्म से (वाचः) वेद-
वाणी के (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (वा) निश्चय करके (अनयन्) पाया है, (वा) और
(ये) जिन्होंने [दूसरे] (मनसा) विज्ञान से (ऋतानि) सत्य वचन (अवदन्) बोले हैं।
और जो (तृतीयेन) तीसरे [हमारे कर्म और विज्ञान से परे] (ब्रह्मणा) प्रवृद्ध ब्रह्म
[परमात्मा] के साथ (वावृथानाः) वृद्धि करते रहे हैं, उन लोगों ने (तुरीयेण) चौथे
[कर्म विज्ञान और ब्रह्म से अथवा धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त मोक्ष पद] के साथ
(धेनोः) तृप्त करनेवाली शक्ति, परमात्मा के (नाम) नाम अर्थात् तत्त्व को
(अमन्वत्) जाना है ॥१॥

भाषार्थः— जो योगी जन वेद के तत्त्व को जानकर कर्म करते, और विज्ञानपूर्वक सत्य का उपदेश करके परमेश्वर की अपार महिमा को खोजते आगे बढ़ते जाते हैं, वेही मोक्ष पद पाकर परमात्मा की आज्ञा में विचरते हुए स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हैं ॥१॥

स वेदं पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।

स धाम्नीर्णोदन्नरिक्षं स्वः १ । स इदं विश्वमभवत् स आभवत् । २॥

भाषार्थः— (सः) वह (पुत्रः) अनेक प्रकार रक्षा करने वाला परमेश्वर (पितरम्) पालन के हेतु सूर्य को (सः) वह (मातरम्) निर्माण के कारण भूमि को (देव) जानता है, (सः) वह (सूनुः) सर्व प्रेरक (भुवत्) है, (सः) वह (पुनर्मघः) बारंबार धनदाता (भुवत्) है । (सः) उसने (अन्तरिक्षम्) आकाश और (धाम्) प्रकाशमान (स्वः) सूर्यलोक को (आर्णोत्) घेर लिया है, (सः) वह (इवम्) इस (विश्वम्) जगत् में (अभवत्) व्याप रहा है, (सः) वही (आ) समीप होकर (अभवत्) वर्तमान हुआ है ॥२॥

भाषार्थः— जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड में व्यापकर सब का धारण कर रहा है, वही हम में भरपूर है । ऐसा समझने वाले पुरुष आत्मबल पाकर पुरुषार्थी होते हैं ॥२॥

इस मन्त्र का मिलान—अ० २ । २८ । ४ । से भी करो ॥

सूक्तम् ॥२॥

१ ॥ अथर्वा प्रजापतिर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः— ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गमं पितुरसुं युवानम् ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥१॥

भाषार्थः— (यः) जिस आप ने (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय, (पितरम्) पालनकर्त्ता, (देवबन्धुम्) विद्वानों के हितकारी, (मातुः) निर्माण के कारण पृथिवी के (गर्भम्) गर्भ [गर्भ समान व्यापक], (पितुः) पालन हेतु सूर्य के (असुम्) प्राण, (युवानम्) संयोजक वियोजक (अथर्वाणम्) निश्चल परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तूने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस [ब्रह्म] का (इह इह) यहाँ पर ही (ब्रवः) उपदेश कर ॥१॥

भाषार्थः—जिन महर्षियों ने सर्वनियन्ता परमेश्वर के गुणों को साक्षात् किया है, उनके उपदेशों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से बारंवार विचार द्वारा आनन्द प्राप्त करें ॥१॥

सूक्तम् ॥३॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

अया विष्टा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिर्हृर्वराय गातुः ।

स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वातन्वमैरयत ॥१॥

भाषार्थः (अया विष्टा) इस रीति से (कर्वराणि) कर्मों को (जनयन्) प्रकट करते हुए (सः) दुःखनाशक, (घृणिः) प्रकाशमान, (उरुः) विस्तीर्ण, (गातुः) पाने योग्य वा गाने योग्य प्रभु ने (हि) ही (वराय) उत्तम फल के लिये (मध्वः) ज्ञान के (धरुणम्) धारण योग्य (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (प्रत्युदैत्) प्रत्यक्ष उदय किया है और (स्वया) अपनी (तन्वा) विस्तृत शक्ति से (तन्वम्) विस्तृत सृष्टि को (ऐरयत) प्रकट किया है ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकाशस्वरूप, दयामय परमात्मा ने हमारे सुख के लिये संसार रचा और वेदज्ञान दिया है, उसके उपकारों को विचारते हुए हम सदा सुधार करते रहें ॥१॥

सूक्तम् ॥४॥

१ ॥ प्रजापतिर्वायुर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेशः—ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश ॥

एकया च दशभिश्चा सृहुते द्वाभ्यामिष्ट्ये विशत्या च ।

तिसृभिश्च बहसे त्रिशतां च विद्युर्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१॥

भाषार्थः—(सृहुते) हे बड़े दानी परमात्मन् ! (इष्ट्ये) हमारी इच्छा पूर्ति के लिये (एकया च च दशभिः) एक और दश [ग्यारह], (द्वाभ्यां च विशत्या) दो और बीस [बाईस], (च, और (तिसृभिः च त्रिशता) तीन और तीस [तीस] (विद्युभिः) विशेष योजनाओं के साथ [हमें] (बहसे) तू ले चलता है, (वायो) हे सर्वव्यापक ईश्वर (ताः) उन [योजनाओं] को (इह) यहाँ [हम में] (वि) विशेष करके (मुञ्च) छोड़ दे ॥१॥

वाला मन्त्री (बर्त्मानि) मागों पर (सर्वतः) सब दिशाओं में (परि सञ्चतुः) सब ओर चलते रहें हैं । (अमित्राणाम्) पीड़ा देनेवाले शत्रुओं की (अमूः) वे सब (सेनाः) सेनाएं (अथ) आज (परस्तराम्) बहुत दूर मुह्यन्तु) घबड़ा कर चली जावें ॥१॥

भावार्थः—युद्ध कुशन राजा और मन्त्री के उपाय से शत्रु की सब सेनायें भाग जावें ॥१॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाणं इवाहंयः ।

तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥२॥

भावार्थः—(मूढाः) हे घबड़ाये हुए (अमित्राः) पीड़ा देने वाले शत्रुओं ! (अशीर्षाणः) बिना शिर वाले [शिर कटे] (अहयः) इव साँपों के समान (चरत) चेष्टा करो । (इन्द्रः) प्रतापी वीर राजा (अग्निमूढानाम्) अग्नि [आग्नेय ऋत्विजों] से घबड़ाये हुए (तेषां वः) उन तुम सबों में से (वरंवरम्) अच्छे अच्छों को चुन कर (हन्तु) मारे ॥२॥

भावार्थः—कुशल सेनापति इस प्रकार व्यूहरचना करे कि शत्रु के सेनादल विध्वंस हो कर घबड़ा जावें और उनके बड़े बड़े नायक मारे जावें ॥२॥

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।

पराङ्मित्र एषं त्वर्वाची गौरुषेपतु ॥३॥

भावार्थः—[हे सेनापति !] (ऐषु) इन [अपने वीरों] में (वृषा=वृष्णः) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (अजिनम्) चर्म [कवच] (आ नह्य) पहिना दे, और [शत्रुओं में] (हरिणस्य) हरिण का (भियम्) डरपोकान्त (कृधि) कर दे । (अमित्रः) शत्रु (पराङ्) उलटे मुख हो कर, (एषतु) चला जावे (गौः) भूमि [युद्ध भूमि और राज्य] (अर्वाची) हमारी ओर (उप एषतु) चली आवे ॥३॥

भावार्थः—सेनापति अपने वीरों को कवच आदि पहिना कर शत्रुओं को भयभीत करके रणभूमि और राज्य अपने हाथ करे ॥३॥

सूक्तम् ॥६८॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ पञ्चपदा विराट्, २ अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ॥

जूटाकरणसंस्कारोपदेशः—मुण्डन संस्कार का उपदेश ॥

आयमंगन्तसविता क्षुरेणोष्णेन वःय उदकेनेहि । आदित्या

रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत् प्रचेतसः । १॥

भाषार्थः—(अयम्) यह (सविता) काम का चलानेवाला फुरतीला नापित (क्षुरेण) छुरा सहित (आ अगन्) आया है, (वायो) हे शीघ्रगामी पुरुष ! (उष्णेन) तप्त [तत्ते] (उदकेन) जलसहित (आ इहि) तू आ । (आदित्याः) प्रकाशमान, (यद्राः) जानवान्, (वसवः) श्रेष्ठ पुरुष आप (सचेतसः) एकचित्त होकर [बालक के केश] (उन्दन्तु) भिगोवें, (प्रचेतसः) प्रकृष्ट जानवाले पुरुषो तुम (सोमस्य) शान्तस्वभाव (राज्ञः) तेजस्वी बालक का (वपत्=वपयत्) मुण्डन कराओ ॥१॥

भाषार्थः—गृहस्थ प्रवीण शुद्ध नापित को बुलाकर गुनगुने जल से मुण्डन करावें और सब बड़े बड़े विद्वान् पुरुष उत्सव में आकर यथोचित सम्मति देवें ॥१॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि—चूडाकर्म संस्कार में लिखे हैं ।

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वचसा ।

चिकित्सन्तु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥२॥

भाषार्थः—(अदितिः) अलण्डित छुरा (श्मश्रु) केश (वपत्) काटे (आपः) जल (वचसा) अपनी शोभा से (उन्दन्तु) सींचे । (प्रजापतिः) सन्तान का पालन करने वाला पिता (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये और (चक्षसे) दृष्टि बढ़ाने के लिये (चिकित्सन्तु) [बालक के] रोग की निवृत्ति करे ॥२॥

भाषार्थः—मुण्डन होने के पश्चात् स्नान कराके यथोचित ओषधि खान पान आदि द्वारा बालक को प्रसन्न करें । इस संस्कार से बालक की आयु और दृष्टि बढ़ती है ॥२॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥३॥

भाषार्थः—(येन) जिस विधि के साथ (विद्वान्) अपना कर्म जानने वाले (सविता) फुरतीले नापित ने (क्षुरेण) छुरा से (सोमस्य) शान्त स्वभाव, (राज्ञः) तेजस्वी, (वरुणस्य) उत्तम स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) मुण्डन किया है । (तेन) उसी विधि से (ब्रह्माणः) हे ब्राह्मणो ! (अस्य) इस बालक का (इदम्) यह

भाषार्थः—(यत्) जब (देवाः) विद्वानों ने (पुरुषेण) अपने अग्रगामी आत्मा के साथ (हविषा) देने और लेने योग्य व्यवहार से (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अतन्वत्) फैलाया। वह ब्रह्म (नु) अब (तस्मात्) उस [आत्मा] से (ओजीयः) अधिक बलवान् (अस्ति—आसीत्) हुआ, (यत्) जिस [ब्रह्म] को उन्होंने (विहृद्येन) विशेष देने योग्य व्यवहार से (ईजिरे) पूजा था ॥४॥

भाषार्थः—विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीवात्मा से अधिक ओजस्वी शक्तिविशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥४॥

इस मन्त्र का पूर्वाह्नं ऋग्वेद में है—म० १०।६६।७। और—यजु० ३१।१४।

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तो गोरङ्गैः पुरुषायजन्त ।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥५॥

भाषार्थः—(देवाः) विद्वान् लोग [ईश्वर की सीमा के विषय में] (मुग्धाः) मूढ़ होकर (उत) भी (शुना) जान से [परमात्मा को] (अयजन्त) मिले हैं, (उत) और (गोः) वेदवाणी के (अङ्गैः) अंगों से [उसे] (पुरुषा) विविध प्रकार से (अयजन्त) पूजा है। (यः) जिस आपने (इमम् यज्ञम्) इस पूजनीय परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तू ने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस परमेश्वर का (इह इह) यहां पर ही (ब्रवः) उपदेश कर ॥५॥

भाषार्थः—ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञानपूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश करके संसार को आगे बढ़ाते हैं ॥५॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० ७।२।१॥

सूक्तम् ॥६॥

१-४ ॥ अदितिर्वेवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ निचुञ्जगती ॥

मन्त्रः १, प्रकृतिलक्षणोपदेशः—मन्त्र १, प्रकृति के लक्षण का उपदेश ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१॥

भाषार्थः—(अदितिः=अदितेः) अदीन वा अखाण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से

(द्यौः) प्रकाशमान सूर्य, (अदितिः) अदिति से (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश, (अदिति) अदिति से (माता) हमारी माता, (सः पिता) वह हमारा पिता, (सः पुत्रः) वह हमारा पुत्र [सन्तान] है। (अदितिः) अदिति से (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण वाले पदार्थ, (अदितिः) अदिति से (पञ्च) विस्तृत [वा पञ्चभूत रचित] (जनाः) सब जीव, (अदितिः) अदिति से (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) उत्पन्न होने वाला जगत् है ॥१॥

भाषार्थः—जो संसार उत्पन्न हुआ है और जो आगे उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर नियम के अनुसार अदिति वा प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण से रचा जाता है ॥१॥

यह मन्त्र ऋक्० में है—म० १। ८६। १०, यजु० २५। २३। और निर० ४। २३ में है। भगवान् यास्क मुनि कहते हैं [इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति वा] यह मन्त्र अदिति की महिमा कहता है अथवा यह सब वस्तुएं अदीन हैं—निर० ४। २३ ॥

मन्त्रः २, पृथ्वीविषयोपदेशः—मन्त्र २, पृथ्वी के विषय का उपदेश ॥

महीम् षु मातरं सुव्रतानां मृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

तुविक्षत्राम् जरन्तीम् रूचीं सुशर्मणि मदिति सुप्रणीतिम् ॥२॥

भाषार्थः—(महीम्) पूजनीय, (मातरम्) माता [के समान हितकारिणी], (सुव्रतानाम्) सुकर्मियों के (ऋतस्य) सत्यधर्म की (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत बल वा धन वाली, (अजरन्तीम्) न घटने वाली, (रूचीम्) बहुत फैली हुई, (सुशर्मणिम्) उत्तम घर वा सुख वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीति वाली (अदितिम्) अदिति, अदीन पृथ्वी को (उ) ही (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सु) अच्छे प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥२॥

भाषार्थः—जो मनुष्य पृथिवी के गुणों में चतुर होते हैं, वे ही राज्य भोगने, बल और धन बढ़ाने, धार्मिक नीति चलाने और प्रजा पालने आदि शुभगुणों के योग्य होते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है, २१। ५ ॥

मन्त्रः ३, वेदवाणीगुणोपदेशः—मन्त्र ३, वेद वाणी के गुणों का उपदेश ॥

सुत्रामां पृथ्वीं द्यामनेहसं सुशर्मणि मदिति सुप्रणीतिम् ।

देवीं नावं स्वरित्रामनांसो अस्रवन्तीमा रूहेमा स्वस्तये । ३॥

भाषार्थः—(सुत्रामाणम्) अच्छे प्रकार रक्षा करने वाली, (पृथिवीम्) फैली हुई, (द्याम्) प्राप्ति योग्य, (अग्नेहसम्) अखण्डित, (सुशर्माणम्) अत्यन्त सुख देने वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीतिवाली (अदितिम्) अदिति, अदीन वेद विद्यारूप, (वंचीम्) देवताओं, विद्वानों की बनाई हुई, (स्वरित्राम्) सुन्दर बलियों वाली, (अश्वन्तीम्) न चूने वाली (नावम्) नाव पर (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अनागसः) निर्दोष हम (आ रुहेम) चढ़ें ॥३॥

भाषार्थः - जो मनुष्य अखण्ड वेदविद्या को प्राप्त होते हैं, वे संसार के विघ्नों से ऐसे पार होते, जैसे विज्ञानी शिल्पी की बनाई नाव से बड़ समुद्र को पार कर जाते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १०।६३।३०, और यजुः० २१॥६॥

मन्त्रः ४, परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ४, परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महोपदितिं नाम वचसा करामहे ।

यस्या उपस्थं उर्वंश्नरिषं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥

भाषार्थः—(वाजस्य) अन्न वा बल के (प्रसवे) उत्पन्न करने में (नु) अब (मातरम्) निर्माण करने वाली, (महोम्) विशाल, (अदितिम्), अदीन शक्ति, परमेश्वर को (नाम) प्रसिद्ध रूप से (वचसा) वेद वाक्य के साथ (करामहे) हम स्वीकार करें। (यस्याः) जिस [शक्ति] की (उपस्थे) गोद में (उह) यह बड़ा (अन्तरिक्षम्) आकाश है, (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सुखों वाला (शर्म) घर (नि) नियम के साथ (यच्छात्) देवे ॥४॥

भाषार्थः—जो परमेश्वर सब जगत् का निर्माता और नियन्ता है, उसकी उपासना ही से सब मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १।५ और १८।३० ॥

सूयतम् ॥७॥

१ ॥ देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

देवगुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दितैः पुत्राणामदितैरकारिषमवं देवानां बृहतामनर्मणाम् ।

तेषां हि धामं गभिषक् समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१॥

भाषार्थः—(वितेः) दीनता से (पुत्राणाम्) शुद्ध करने वाले वा बहुत बचाने वाले, (अवितेः) अदीनता के (देवानाम्) देने वाले वा प्रकाश करने वाले, (बृहताम्) बड़े गुण वाले, (अनर्मणाम्) हिंसा न करने वाले वा अजेय (तेषाम्) उन पुरुषों के (धाम) धारण सामर्थ्य को (हि) ही (गमिष्यद्) गहराई से युक्त, (समुद्रियम्) [पार्थिव और अन्तरिक्ष] समुद्र में रहनेवाला (अव) निश्चय करके (अकारिष्यम्) मैंने जाना है, (कः चन) कोई भी (परः) शत्रु (एनान्) इनको (नमसा) [उनके] अन्न वा सत्कार के कारण (न) नहीं (अस्ति) पाता है ॥१॥

भाषार्थः—जो धर्मात्मा मनुष्य दीनता छोड़ कर संसार में आत्मा और शरीर की अदीनता का दान करते हैं, वे पृथ्वी और आकाश में यान विमान आदि द्वारा अधिकार जमाते और शत्रुओं को जीतते हैं ॥१॥

सूक्तम् ॥८॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरेता तै अस्तु ।

अये ममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (भद्रात्) एक मङ्गल कर्म से (श्रेयः) अधिक मङ्गलकारी कर्म को (अधि) अधिकारपूर्वक (प्र इहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालक परमेश्वर (ते) तेरा (पुरेता) अग्रगामी (अस्तु) होवे । (अय) फिर तू (इमम्) इस [अपने आत्मा] को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वर) श्रेष्ठ फल में (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से दूर (सर्ववीरम्) सर्व-वीर, सबमें वीर (आ) सब ओर से (कृणुहि) बना ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से अधिक अधिक उन्नति करते हुए आगे बढ़े जाते हैं, वे ही सर्ववार निर्विघ्नता से अपना जीवन सुफल करते हैं ॥१॥

सूक्तम् ॥६॥

१-४ ॥ पूषा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री; ४ अनुष्टुप् ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।

उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परां च चरति मजानम् ॥१॥

भाषार्थः—(पूषा, पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (पूषाम्) सब मार्गों में से (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (दिवः) सूर्य के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है। (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (उमे) दोनों (प्रियतमे) [परस्पर] अति प्रिय (सघस्त्रे) एक साथ स्थिति करने वाले [सूर्य और पृथिवी लोक] (अभि) में (आ) हमारे निकट (च च) और (परा) दूर (चरति) विचरता रहता है ॥१॥

भाषार्थः—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि लोकों को परस्पर आकर्षण से धारण करता है, वही हमारा पालन पोषण करता है चाहे हम अपने घर के निकट वा दूर हों ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ६ ॥

पूषेना आशा अतुं वेद सर्वाः सो ब्रह्मा अभयतमेन नेषत् ।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्व्वोरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥२॥

भाषार्थः—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (इमाः) इन (सर्वाः) सब (आशाः) दिशाओं को (अतुं) लगातार (वेद) जानता है, (सः) वह (ब्रह्मान्) हमें (अभयतमेन) अत्यन्त अभय [मार्ग] से (नेषत्) ले चले। (स्वस्तिदाः) मङ्गल-दाता, (आघृणिः) बड़ा प्रकाशमान (सर्व्वोरोः) सब में वीर, (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (अप्रयुच्छन्) विना झुक किये हुए (पुरः) हमारे आगे आगे (एतु) चले ॥२॥

भाषार्थः—सर्व्वव्यापक, मङ्गलप्रद, सर्व्ववीर, महाबुद्धिमान् परमेश्वर को निरन्तर सहायक जानकर, मनुष्य उत्तम कर्मों में आगे बढ़े ॥२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ५ ॥

पृषन् तव व्रते वयं न रिण्येम कदा चन ।

स्तोतारस्त इह स्मसि ॥३॥

भाषार्थः—(पूषन्) हे पूषा, पालन करने वाले परमेश्वर ! (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में [रहकर] (वयम्) हम (कदा चन) कभी भी (न) न (रिण्येम) दुःखी होयें। (इह) यहाँ पर (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले, (स्मसि) हन लोग हैं ॥३॥

भाषार्थः—पुरुषार्थी लोग परमेश्वर के गुण और कर्मों के अनुकूल चलकर सदा सुखी रहते हैं ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६। ५४। १ और यजु० ३४। ४१ ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।

पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥४॥

भाषार्थः—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमात्मा (दक्षिणम्) अपना दाहिना (हस्तम्) हाथ (परस्तात्) पीछे से [हमारे पुरुषार्थानुकूल] , परि) सब ओर (दधातु) धारण करे। वह (नः) हमें (नष्टम्) नष्ट बल को (पुनः) फिर (आजतु) लावे, [पाये हुए] (नष्टेन) नष्ट बल के साथ (सम् गमेमहि) हम मिले रहें ॥४॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य बायें हाथ की अपेक्षा दाहिने हाथ से अधिक उपकार करता है, वैसे ही परमात्मा अपनी पूरण कृपा हम पर रखे, जिससे हम प्रयत्नपूर्वक अपने खोये बल [प्रारब्ध फल] को फिर पाकर रख सकें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६। ५४। १० ॥

सूक्तम् ॥१०॥

१ ॥ सरस्वती देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सरस्वतीविषयोपदेशः—सरस्वती के विषय का उपदेश ॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः ।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥१॥

भाषार्थः—(सरस्वति) हे सरस्वती, विज्ञानवती स्त्री ! [वा वेदविद्या] (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन, दूध का आधार (शशयुः) प्रशंसा पाने वाला, (यः) जो (मयोभूः) सुख देनेवाला और (यः) जो (सुम्नयुः) उपकार करने वाला, (सुहवः) अच्छे प्रकार ग्रहणयोग्य और (यः) जो (सुदत्रः) बड़ा दानी है। (येन) जिस स्तन से (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकरणीय अंगों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है (तम्) उस स्तन को (इह) यहां (धातवे) पीने के लिये (कः) तू ने ठीक किया है ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार विदुषी माता का दूध पीकर बालक शरीर से पुष्ट हो कान्तिमान् होता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष वेद विद्या का अमृत पान करके आत्मबल से पुष्ट होकर कीर्तिमान् होता है ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६४। ४६। और यजुर्वेद,

३८।५। और श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि, जातकर्म में बालक के स्तनपान करने के विषय में आया है ॥

सूक्तम् ॥११॥

१ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अन्तरक्षोपदेशः—अन्न की रक्षा का उपदेश ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्सुर्य ऋष्वो देवः केतुर्विश्वमा भृषंतीदम् ।

मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य । १ ॥

भाषार्थः—(देव) हे जलदाता मेघ ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) विस्तीर्ण और (यः) जो (ऋष्वः) इधर उधर चलनेवाला वा बड़ा, (वधः) आकाश में रहने वाला, (केतुः) जताने वाला भंडा रूप (स्तनयित्सुः) गर्जन (इदम् विश्वम्) इस सब स्थान में (आभूषति) व्यापता है । (नः) हमारे (सस्यम्) धान्य को (विद्युता) चमकमाती बिजुली से (मा वधीः) मत नाश कर, और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (उत) भी (मा वधीः) मत सुखा ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का विचार रख कर पहिले से अन्न आदि के संचय से रक्षा का उपाय कर लेवे ॥१॥

सूक्तम् ॥१२॥

१—४ ॥ सभापतिर्वेवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २—४ अनुष्टुप् ॥

सभापतिकर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्यों का उपदेश ॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।

येनो संगच्छः उप मा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः संगतेषु । १ ।

भाषार्थः—(प्रजापतेः) प्रजापति अर्थात् प्रजारक्षक पुरुषार्थ की (दुहितरौ) पूरण करने वाली [वा दो पुत्रियों के समान हितकारी] (संविदाने) यथावत् मेल वाली (सभा, सभा, विद्वानों की संगति (च च) और (समितिः) एकता (मा) मुझे (अवताम्) तृप्त करें । (येन) जिस पुरुष के साथ (संगच्छे) मैं मिलूँ, (सः) वह (मा) मुझे (उप) आदर से (शिक्षात्) समर्थ करे, (पितरः) हे पितरों, पालन करने वाले विद्वानो ! संगतेषु सम्मेलनों के बीच मैं (चारु) ठीक ठीक (वदानि) बोलूँ ॥१॥

भाषार्थः—सभापति ऐसा सुशिक्षित और सुयोग्य पुरुष हो कि संगठन की सफलता के लिये सब सभासद एकमत हो जावें, और उसके धर्मयुक्त वचन को मानकर उसके सहायक रहें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० ६ । सू० ६४ । से करो ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि ।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥२॥

भाषार्थः—(सभे) हे सभा ! (ते) तेरा (नाम) नाम (विष्ठा) हम जानते हैं, तू (नरिष्ठा) नरों की इष्ट देवी (वं) ही (नाम) नाम वाली (असि) है । (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (सभासदः) सभासद हैं, (ते) वे सब (मे) मेरे लिये (सवाचस) एक वचन (सन्तु) होंवें ॥२॥

भाषार्थः—उसी सभा से मनुष्यों का इष्ट सिद्ध होता है, जहां पर सभापति और सभासद एक मन होकर धर्म का प्रचार करते हैं ॥२॥

एषामहं समासीनानां वचो विज्ञानमा ददे ।

अस्या सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥३॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं [सभापति] (एषाम्) इन (समासीनानाम्, यथावत् बंटे हुए पुरुषों का (वचः) तेज और (विज्ञानम्) विज्ञान (आ ददे, अंगीकार करता हूं (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (माम्) तुझ को (अस्याः) इस (सर्वस्याः संसदः) सब सभा का (भगिनम् ऐश्वर्यवान् (कृणु) कर ॥३॥

भाषार्थः—जहां सभापति और सब सभासद एकमत होकर अपना पराक्रम और विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म विचार बढ़ाते हैं, वहां पर सब ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥३॥

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।

तद् वा वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥४॥

भाषार्थः—[हे सभासदो !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) मन (परागतम्) उचट गया है (वा) अथवा (यत्) जो (इह वा इह) इधर उधर [प्रति-कूल विषयों में] (बद्धम्) बंधा हुआ है (वर्तयामसि) हम लौटाते हैं [जिससे] (वः मनः) तुम्हारा मन (मयि) मुझ में (रमताम्) ठहर जावे ॥४॥

भाषार्थः—सभापति अपनी विशेष विज्ञानता से सभासदों का ध्यान निर्धारित विषय पर खींच कर कार्यसिद्धि करे ॥४॥

सुक्तम् ॥१३॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं को हराने का उपदेश ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणमुद्यंस्तेजोस्याददे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१॥

भाषार्थः—(यथा) जैसे (उद्यन्) उदय होते हुए (सूर्यः) सूर्य ने (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (तेजोसि) तेजों को (आददे) लेलिया है । (एव) वैसे ही (द्विषताम्) द्वेषी (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च च) और (पुंसां) पुरुषों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैंने ले लिया है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य अधर्मी वैरियों को दबा कर ऐसा निस्तेज कर देवे, जैसे सूर्य के निकलने पर तारे निस्तेज हो जाते हैं ॥१॥

यावन्तो मा सपत्नानां रायन्तं प्रतिपश्यथ ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥२॥

भाषार्थः—(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने लोग तुम (मा रायन्तम्) मुझ आते हुए को (प्रतिपश्यथ) निहारते हो । (द्विषताम्) उन वैरियों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैं लिये लेता हूँ (इव) जैसे (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोते हुए पुरुषों का ॥२॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य के उदय होने पर सोने वाले आलसियों का बल घट जाता है वैसे ही तेजस्वी पुरुष अपने वैरियों को पराक्रमहीन कर देवे ॥२॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥१४॥

१-४ ॥ सविता देवता ॥ १. २ अनुष्टुप्, ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वं देवं सवितारं मोष्याः कविक्रतुम् ।

अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥१॥

भाषार्थः - (त्वम्) उस (देवम्) सुखदाता (ओष्योः) सूर्य और पृथिवी के (सवितारम्) उत्पन्न करने वाले, (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ बुद्धि वा कर्म वाले, (सत्यसवम्) सच्चे ऐश्वर्य वाले, (रत्नधाम्) रमणीय विशालों वा हीरा आदिकों वा लोकों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (मतिम्) मनन करने वाले, परमेश्वर को (अभि अभि) बहुत भले प्रकार (अर्चामि) मैं पूजता हूँ ॥१॥

भाषार्थः— राजा, प्रजा और सब विद्वान् लोग उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके सदा धर्म के अनुकूल वरतें और आनन्द भोगें ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से सामवेद में हैं—पू० १।८।८ और यजु० ४।२५ ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सर्वामनि ।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुं कृपात् स्वः ॥२॥

भाषार्थः - (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊँची, (अमतिः) व्यापनेवाली (भाः) चमक (सर्वामनि) सृष्टि के बीच (अदिद्युतत्) चमकी हुई है । (हिरण्यपाणिः) अन्धकार वा दरिद्रता हरने वाले सूर्य आदि और सुवर्ण आदि तेजों के व्यवहार वाले, (सुक्रतुं) उत्तम बुद्धि वा कर्मवाले उस ईश्वर ने (कृपात्) अपने सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख (अमिमोत) रचा है ॥२॥

भाषार्थः— उस जगदीश्वर की अनन्तशक्ति का विचार करके मनुष्य मोक्ष आनन्द के लिये सदा प्रयत्न करें ॥२॥

सावीर्हि देव प्रथमायं प्रित्रे वर्ष्माणंमस्यै वरिमाणंमस्यै ।

अधास्मभ्यं सवितर्वायौणि दिवोदिव आ सृवा भूरि पशवः ॥३॥

भाषार्थः— देव, हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू ने (हि) ही (प्रथमाय)

हमसे पहले वर्तमान (पित्रे) पालन करने वाले (अस्मै) इस [पुरुष] को और (अस्मै) इस [दूसरे पुरुष] को (वर्ष्माणम्, उच्च स्थान और (वरिमाणम्) कैलाश वा उत्तम-पन (सावीः) दिया है। (अथ) तो (सवितः) हे सर्वप्रेरक परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (दिवोदिवः) सब दिनों (वार्याणि) उत्तम विज्ञान और धन और (भूरि) बहुत (पशवः) मनुष्य, गौ, घोड़ा, हाथी आदि (आ सुव) भेजता रहे ॥३॥

भाषार्थः—जिस प्रकार परमेश्वर ने हमसे पहिले उपकारी महात्माओं को उच्च पदवी दी है, वैसे ही परमेश्वर की आज्ञा मान कर हम भी सुख के भागी होवें ॥३॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूषि ।

पिवात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्ज्ञा चित् क्रमते अस्य धर्मेणि ॥४॥

भाषार्थः—(दमूनाः) दमनशील ज्ञान स्वभाव, (देवः) व्यवहारकुशल, (वरेण्यः) स्वीकार योग्य (सविता) चलाने वाला पुरुष (पितृभ्यः) पालन करने वाले विद्वानों के हित के लिये (रत्नम्) रमणीय धन, (दक्षम्) बल और (आयूषि) जीवन साधनों को (दधत्) धारण करता हुआ (सोमम्) अमृत का (पिवात्) पान करे, और (एनम्) इस [परमेश्वर] को (इष्टे) यज्ञ में (ममदत्) प्रसन्न करे, (परिज्ज्ञा) सब ओर चलने वाला पुरुष (चित्) ही (अस्य) इस [परमेश्वर] के (धर्मेणि) धर्म अर्थात् नियम में (क्रमते) चला जाता है ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा करते हैं, और सर्वव्रगति होते हैं, वे ही आनन्द रस पीते हुए ईश्वर की आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगते हैं ॥४॥

सूक्तम् ॥१५॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कृत्य का उपदेश ॥

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणो सुमतिं विश्ववाराम् ।

यामस्य कण्ठो अदुहत् प्रपीना सहस्रधारां महिषो भगाय ॥१॥

भाषार्थः—(सवितः) हे सब ऐश्वर्य वाले आचार्य ! (ताम्) उस (सत्यसवाम्) सत्य ऐश्वर्यवाली, (सुचित्राम्) बड़ी विचित्र, (विश्ववाराम्) सब से स्वीकार करने योग्य (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषय वाली वृद्धि] को (अहम्) मैं (प्रा) आदर-पूर्वक (वृणो) मांगता हूँ, (याम्) जिस (प्रपीनाम्) बहुत बड़ी हुई, (सहस्रधाराम्)

सहस्रों विषयों की धारण करने वाली [सुमति] को (अस्य, इस [जगत्] के (भगाय) ऐश्वर्य के लिये (कण्वः) मेधावी, (महिषः) पूजनीय परमात्मा ने (अदुहत्) परिपूर्ण किया है ॥१॥

भाषार्थः—तपस्वी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी योगी, आप्त विद्वान् पुरुषों से संसार के हित के लिये परमेश्वरदत्त वेद द्वारा अपनी बुद्धि को बढ़ाते रहें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ७४ ॥

सूक्तम् ॥१६॥

१ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ २ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयेन ज्योतयेन महते सौमगाय ।

संशितं चित् संतरं सं शिक्षाधि विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

भाषार्थः—(बृहस्पते) हे बड़े सज्जनों के रक्षक ! (सवितः) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त उपदेशक ! (एनम्) इस [राजा] को (महते) बड़े (सौमगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (वर्धय) बढ़ा और (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (चित्) और (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (एनम्) इस [राजा] को (सन्तरम्) अतिशय करके (सम्) यथावत् (शिक्षाधि) शिक्षा दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् सम्म लोग (एनम्) इस [राजा] के (अनु मदन्तु) अनुकूल प्रसन्न हों ॥१॥

भाषार्थः—राजसभा का उपदेशक राजा आदि सज्जनों को उत्तम उत्तम उपदेश द्वारा सुशीलता प्राप्त कराके ऐश्वर्य बढ़ाने में प्रवृत्त करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २७ । ८ ॥

सूक्तम् ॥१७॥

१—४ ॥ धाता देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्, ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थकृत्योपदेशः—गृहस्थ के कर्म का उपदेश ॥

धाता दधातु नो रविमीशानो जगत्पतिः ।

स नः पूर्णेन यच्छतु ॥१॥

भाषार्थः—(ईशानः) ऐश्वर्यवान् (जगतः पतिः) जगत् का पालने वाला, (धाता) धाता विधाता [सृष्टि कर्ता] (नः) हमें (रविम्) घन (दधातु) देवे । (सः) वही (नः) हमको (पूर्णेन) पूर्ण बल से (यच्छतु) ऊँचा करे ॥१॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग जगत्पति परमात्मा के अनुग्रह से प्रयत्न करके धन और बल बढ़ाकर सुखी रहें ॥१॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।

वयं देवस्यं धीमहि सुमतिं विश्वराधसः । २॥

भावार्थः—(धाता) सब का पोषण करने वाला ईश्वर (दाशुषे) उदारचित्त पुरुष को (प्राचीम्) अच्छे प्रकार आदर योग्य (अक्षिताम्) अक्षय (जीवातुम्) जीविका (दधातु) देवे । (विश्वराधसः) सर्वधनी (देवस्य) प्रकाशस्वरूप ईश्वर की (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषय वाली बुद्धि] को (वयम्) हम (धीमहि) धारण करें ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर के धारण पोषण आदि गुणों के चिन्तन से बुद्धि बढ़ा कर धनी और बली होंवें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि—सीमन्तोन्नयन में और निरुक्त ११।११। में आया है ।

धाता विश्वा वायां दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।

तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदिति सजोषाः ॥३॥

भावार्थः—(धाता) सब का धारण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब (वायां) उत्तम विज्ञान और धन (प्रजाकामाय) प्रजा, उत्तम सन्तान भृत्य आदि चाहने वाले (दाशुषे) दानशील पुरुष को (दुरोणे) उसके घर में (दधातु) देवे । (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग और (देवाः) उनम गुण और (सजोषाः) समान प्रीति वाली (अदितिः) अदीन भूमि (तस्मै) उस पुरुष को (अमृतम्) अमृत [पूर्ण मुख] (सम्) यथावत् (व्ययन्तु) पहुँचावें ॥३॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की संगति, उत्तम गुणों की प्राप्ति और भूगोल विद्या की उन्नति से विज्ञानपूर्वक सुख-वृद्धि करें ॥३॥

धाता रातिः संवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।

त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥४॥

भावार्थः—(सविता) सर्वप्रेरक, (धाता) धारण करने वाला, (रातिः) दानाध्यक्ष, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (निधिपतिः) निधिपति [कोशाध्यक्ष] और

(अग्निः) अग्नि समान [अविद्या रूपी अन्धकार का नाश करने वाला] विद्वान् पुरुष [यह सब अधिकारी] (नः) हमारे (इदम्) इस [गृहस्थ कर्म] को (जुषन्ताम्) सेवन करें। (विष्णुः) सर्व व्यापक, (संरराणः) सम्यक् दाता, (त्वष्टा) निर्माता परमेश्वर (प्रजया) प्रजा के सहित वर्तमान (यजमानाय, पदार्थों के संयोजक वियोजक विज्ञानी को (द्रविणम्) दान वा धन (दधातु) देवे ॥४॥

भाषार्थः—जैसे राजा राज्य की उन्नति के लिये अनेक अधिकारी रखता है, वैसे ही गृहस्थ लोग घर का प्रबन्ध करके परमेश्वर के अनुग्रह से दान और धन बढ़ावे ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८ । १७ ॥

सूक्तम् ॥१८॥

१—२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ॥

दूरदर्शित्वोपदेशः—दूरदर्शी होने का उपदेश ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्दी३ दं दिव्यं नमः ।

उद्गो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ध्या दृतिम् ॥१॥

भाषार्थः—(पृथिवि) हे अन्तरिक्ष ! [वायु] (इदम्) इस (दिव्यम्) आकाश में छाये हुए (नभः) जल को (प्र) उत्तम रीति से (नभस्व, गिरा और (भिन्दि, छिन्न भिन्न कर दे [किया दे] । (धातः) हे पोषक, सूर्य ! (ईशानः) समर्थ तू (नः) हमारे लिये (दिव्यस्य) दिव्य [उत्तम गुण वाले] (उद्गः) जलके (दृतिम्) पात्र [मेघ] को (वि ध्य) खोल दे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे अन्तरिक्षस्थ वायु और सूर्य के संयोग वियोग सामर्थ्य से आकाश से जल बरस कर संसार का उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या आदि शुभ गुणों की बरसा से उपकार करें ॥१॥

न प्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।

आपश्चिदस्मै घृतमित क्षरन्ति यत्र सोमः सद्मित तत्र भद्रम् ॥२॥

भाषार्थः—(घ्रन्) चमकता हुआ सूर्य (न तताप) न तपावे (न) न (हिमः) शीत (जघान) मारे, [किन्तु] (जीरदानुः) गति देनेवाला (पृथिवी) अन्तरिक्ष [जल को] प्र अच्छे प्रकार (नभताम्) गिरावे । (आपः) सब प्रजायें (चित्) भी (अस्मै) इस [जगत्] के लिये (घृतम्) सार रस (इत्) ही (क्षरन्ति) बरसती हैं, (यत्र) जहाँ (सोमः) ऐश्वर्य है (तत्र) वहाँ (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) कल्याण है ॥२॥

भाषार्थः—जैसे दूरदर्शी ऐश्वर्यवान् पुरुष ठीक ठीक वृष्टि से लाभ उठाकर अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अतिशीत के दुःखों से बचे रहते हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुष शान्त स्वभाव परमात्मा के विचार से आत्मिक क्लेशों से अलग रहकर मङ्गल मनाते हैं ॥२॥

सूक्तम् ॥१६॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—बढ़ती करने का उपदेश ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः ।

संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु । १ ॥

भाषार्थः—(प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (इमाः) इन सब (प्रजाः) सृष्टि के जीवों को (जनयति) उत्पन्न करता है, वह (सुमनस्यमानः) शुभचिन्तक (धाता) पोषक परमात्मा [इनका] (दधातु) पोषण करे [जो] (संजानानाः) एक ज्ञान वाली, (संमनसः) एक मन वाली और (सयोनयः) एक कारण वाली है, (पुष्टपतिः) वह पोषण का स्वामी [प्रजायें] (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषण (दधातु) धारण करे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के प्रजापालकत्व आदि गुणों का विचार कर के प्रीतिपूर्वक अपनी वृद्धि करें ॥१॥

सूक्तम् ॥२०॥

१-६ । अनुमतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्, ३—५ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्षज्ञ देवेषु मन्यताम् ।

अग्निश्च हव्यदाह्नो भवतां दाशुषे मम । १ ।

भाषार्थः—(अनुमतिः) अनुमति, अनुकूल बुद्धि (अद्य) आज (नः) हमारे (यज्ञम्) संगति व्यवहार को (देवेषु) विद्वानों में (अनु मन्यताम्) निरन्तर माने । (च) और (अग्निः) अग्नि [पराक्रम] (मम दाशुषे) मुझ दाता के लिये (हव्य-दाह्नः) ग्राह्य पदार्थों का पहुँचाने वाला (भक्षतम्) होवे ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य धार्मिक व्यवहारों में अनुकूल बुद्धिवाले और पराक्रमी होते हैं, वेही उत्तम पदार्थों को पाकर सुखी होते हैं ॥१॥

निरुक्त ११ । २६ के अनुसार (अनुमति) पूर्णमासी का नाम है । अर्थात् हमारा समय पूर्णमासी के समान पुष्टि और हर्ष करनेवाला हो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३४ । ६ ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।

जुषस्वं हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥२॥

भाषार्थः—(अनुमते) हे अनुमति ! [अनुकूल बुद्धि] (त्वम्) तू (इत्) अवश्य [हमारी प्रार्थना] (अनु मंससे) सदा मानती रहे, (च) और (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याण (कृधि) कर । (हव्यम्) ग्रहण योग्य (आहुतम्) यथावत् दिया पदार्थ (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) सन्तान भृत्य आदि (ररास्व) दे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम बुद्धि द्वारा पथ्य कुपथ्य विचार कर युक्त आहार विहार करके उत्तम सन्तान और भृत्य आदि पाकर सुख भोगें ॥२॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से यजु० में है—३४ । ८ ॥

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम् ।

तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥३॥

भाषार्थः—(अनुमन्यमानः) निरन्तर जानने वाला परमेश्वर (प्रजावन्तम्) उत्तम सन्तान, भृत्य आदि वाला, (अक्षीयमाणम्) न घटने वाला (रयिम्) धन (अनु) अनुग्रह करके (मन्यताम्) जतावे । (वयम्) हम (तस्य) उसके (हेडसि) क्रोध में (अपि) कभी (मा भूम) न होवें, (अस्य) इसके (सुमृडीके) उत्तम सुल में और (सुमतौ) सुमति [कल्याणी बुद्धि] में (स्याम) बने रहें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य धार्मिक रीति में प्राप्त किये धन से प्रजा पालन करके ईश्वर की आज्ञा में सुखके साथ सदा वर्तमान रहें ॥३॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।

तेनां नो यज्ञं पिष्टृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४॥

भाषार्थः—(सुप्रणीते) हे उत्तम नीतिवाली ! [वा भले प्रकार चलाने वाली] (अनुमते) अनुमति ! [अनुकूल बुद्धि] (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) नाम [यज्ञ] (सुहवम्) आदर से आवाहन योग्य, (सुदानु) बड़ा दानी (अनुमतम्) निरन्तर माना गया है । (विश्ववारे) हे वरणीय पदार्थों वाली ! (तेन) उस [अपने यज्ञों से (नः)

हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (विपूहि) पूरण कर दे, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (नः) हमें (सुवीरम्) अच्छे वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दे ॥४॥

भाषार्थः—सब मनुष्य सर्वमाननीय ज्ञान द्वारा धन आदि पदार्थ प्राप्त करके कीर्तिमान् हों ॥४॥

ए॒मं य॒ज्ञम॒नु॒मति॑र्ज॒णाम॒ सु॒क्षेत्र॑तायै॒ सु॒वीर॑तायै॒ सु॒जा॑तम् ।

भ॒द्रा ह्य॒स्याः प्र॑म॒तिर्व॒भूव॒ से॒मं य॒ज्ञम॑वतु॒ दे॒वगो॑पा ॥५॥

भाषार्थः—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (सुजातम्) बहुत प्रसिद्ध (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [संगति व्यवहार] में (सुक्षेत्रतायै) अच्छी भूमियों और (सुवीरतायै) साहसी वीरों की प्राप्ति के लिये (आ जगाम) आई है । और (अस्याः) इसकी (हि) ही (प्रमतिः) अनुग्रह बुद्धि (भद्रा) कल्याणी (वभूव) हुई है, (सा) वही (देवगोपा) विद्वानों की रक्षिका [अनुमति] (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की (अवतु) रक्षा करे ॥५॥

भाषार्थः—जिस प्रकार मनुष्य वेदद्वारा सत्यज्ञान पाकर चक्रवर्ती राज्य और उत्साही वीरों के पराक्रम से सुखबुद्धि करते रहें, वैसे ही मनुष्य अनूकूल मति से प्रतिकूल बुद्धि छोड़कर सदा सुखी रहें ॥५॥

अनु॒मतिः॒ सर्व॑मि॒दं ब॒भूव॒ यत् तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यद् च॒ विश्व॑मे॒जति॑ ।

तस्या॑स्ते दे॒वि सु॒मतौ॒ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॒ हि मंस॑से नः । ६ ।

भाषार्थः—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (इदम्) इस (सर्वम्) सब में (बभूव) व्यापी है, (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) खड़ा होता है, (चरति) चलता है, (च) और (विश्वम्) सब (यत्) जो कुछ भी (एजति) चेष्टा करता है [हाथ पांव चलाता है] । (देवि) हे देवी ! तस्याः ते) उस तेरी (सुमतौ) सुमति [अनुग्रह बुद्धि] में (स्याम) हम रहें, (अनुमते) हे अनुमति ! तू हि ही (नः) हमें (अनु) अनुग्रह से (मंससे) जानती रहे ॥६॥

भाषार्थः—जो मनुष्य प्रतिकूलता त्याग कर प्रत्येक कर्तव्य में अनुकूलता देवी का ध्यान रखते हैं वेही परमेश्वर के कृपापात्र होते हैं ॥६॥

सूक्तम् ॥२१॥

१ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

ईश्वराज्ञापानोपदेशः—ईश्वर की आज्ञा के पालन का उपदेश ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।

स पूर्व्यो नूतनमाविवांसत् तं वर्तेनिरनु' वाटत एकमिप् पुरु ॥१॥

भाषार्थः—(विश्वे) हे सब लोगो ! (वचसा) वचन [सत्य वचन] से (दिवः) सूर्य के (पतिम्) स्वामी से (समेत) आकर मिलो, (एकः) वह एक (विभूः) सर्वव्यापक प्रभु (जनानाम्) सब मनुष्यों का (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य] है । (सः) वह (पूर्व्यः) सब का हितकारी ईश्वर (नूतनम्) इस नवीन [जगत्] को (आविवांसत्) विविध प्रकार निवास कराता है, (वर्तेनिः) प्रत्येक वर्तने योग्य मार्ग (तम् एकम् अनु) उस एक [परमात्मा] की ओर (इत्) ही (पुरु) अनेक प्रकार से (ववृते) घुमा है ॥१॥

भाषार्थः— जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अपने आकर्षण में रखकर इस नूतन जगत् का [जिसमें नित्य नये आविष्कार होते हैं] धारण करता है, विद्वान् लोग उसी की महिमा को खोजते जाते हैं ॥१॥

सूक्तम् ॥२२॥

१-२ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ १ अक्षरपङ्क्तिः; २ त्रिपादनुष्टुप् ॥

विज्ञानप्राप्त्युपदेशः—विज्ञान की प्राप्ति का उपदेश ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) यह [परमेश्वर] (नः कवीनाम् सहस्रम्) हम सहस्र बुद्धिमानों में (आ) व्यापकर (दृशे) दर्शन के लिये (विधर्मणि) विरुद्धधर्मी [पञ्च-भूतरचित स्थूल जगत्] में (मतिः) ज्ञानस्वरूप और (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप है ॥१॥

भाषार्थः— पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने संसार में परमात्मा की महिमा निहार कर विद्वान् लोग विज्ञान, शिल्प आदि के नये आविष्कार करते हैं ॥१॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥

भाषार्थः—(ब्रध्नः) नियम में बांधने वाले [सूर्यरूप] परमेश्वर ने (समीचीः) परस्पर मिली हुई, (अरेपसः) निर्मल, (सचेतसः) समान चेताने वाली, (मन्यु-

मत्तमाः) अत्यन्त चमकने वाली (उषसः) उषाओं को (स्वसरे) दिनमें (गोः) पृथिवी के (चित्ते) ज्ञान के लिये (सम्) यथावत् (ऐरयन्) भेजा है ॥२॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर, सूर्य के आकर्षण द्वारा पृथिवी के घुमाव से रात्रि के पश्चात्, प्रकाश करता है। वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान नाश करके ज्ञान के साथ प्रकाशमान होते हैं ॥२॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥२३॥

१ ॥ प्रजा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

दौःस्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराग्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१॥

भाषार्थः—(दौःस्वप्न्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराग्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥१॥

भावार्थः—राजा की सुनीति से प्रजा गण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥१॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४। १७। ५ ॥

सूक्तम् ॥२४॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्यं पाने का उपदेश ॥

यन्न इन्द्रो अखनन्द् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जो [ऐश्वर्यं] (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने और (यत्) जो (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी पुरुष ने (अखनन्त्) खोदा है, और (यत्) जो (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल, (स्वर्काः) बड़े बज्रवाले (मरुतः) दूर लोगों ने [खोदा है] । (तत्) वह [वैसाही ऐश्वर्यं] (अस्मभ्यम्) हमें (सत्यधर्मा) सत्य धर्मा, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाला (सविता) सृष्टिकर्ता परमेश्वर (नि) नियम पूर्वक (यच्छात्) देता रहे ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार ऐश्वर्यवान्, प्रतापी, व्यवहार निपुण, दूर-वीर पुरुषों ने ऐश्वर्य पाया है । उसी प्रकार विज्ञानी सत्यपराक्रमी पुरुष परमेश्वर के अनन्त कोश से ऐश्वर्य पाते रहें ॥१॥

(मरुतः) शब्द का विशेष विवरण अ० १ । २० । १ । में देखो ॥

सूक्तम् ॥२५॥

१—२ ॥ विष्णुवरुणौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमन्त्रिशोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

ययोरोजसा स्कमिता रजांसि यौ वीर्यवीरतमाश्विष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रनीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहृतिः ॥१॥

भाषार्थः—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कमिता) धंभे हुए हैं, (यौ) जो दोनों (वीर्यः) अपने पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर और (श्विष्ठा) महाबली हैं, (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने बलों से (अप्रनीतौ) न रुकने वाले होकर (पत्येते) ऐश्वर्यवान् हैं, [उन दोनों] (विष्णुम्) ध्यापनशील [वा सूर्य समान प्रतापी] राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ [वा जल समान उपकारी] मन्त्री को (पूर्वहृतिः) सब लोगों का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥१॥

भाषार्थः—जहां पर राजा और मन्त्री बलवान् और धार्मिक होते हैं, वहां प्रजागण उनका सदा सन्मान करते हैं ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८ । ५६ ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः ।

पुरा देवस्य धर्मेणा सहोभिर्विष्णुमग्नं वरुणं पूर्वहृतिः ॥२॥

भाषार्थः—(यस्य) जिन (देवस्य) व्यवहारकुशल [राजा और मन्त्री] के (प्रदिशि) अच्छे शासन में (धर्मेणा) उनके धर्म अर्थात् नीति और (सहोभिः) पराक्रम से (इवम्) यह [राज्य] है, (यत्) जो कुछ (पुरा) हमारे सम्मुख (शचीभिः) अपने कर्मों से (विरोचते) जगमगाता है, (च) और (प्र चानति) श्वास लेता है (च) और (वि चष्टे) निहारता है, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ मन्त्री को (पूर्वहृतिः) सब का आवाहन (अग्नं) पहुंचा है ॥२॥

भाषार्थः— जहां राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से प्रजा के सब स्थावर और जंगम पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, वहां सब लोग प्रसन्न रह कर उस राज्य की प्रशंसा करते हैं ॥२॥

सूक्तम् ॥२६॥

१—८ ॥ विष्णुर्वेता ॥ १, २, ८ त्रिष्टुप्; ३ यत्पोरुवु... द्विपात् त्रिष्टुप्, उह... अनुष्टुप्; ४—७ गायत्री ॥

व्यापकेश्वरसुगोत्रेणः—व्यापक ईश्वर के सुगों का उपदेश ॥

विष्णोर्नु कं प्रा दौचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।

यो अस्कभापदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः । १॥

भाषार्थः—(विष्णोः) विष्णु व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (कम्) सुख से (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं, (यः) जिसने (पार्थिवानि) भूमिस्व और अन्तरिक्षस्थ (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार रचा है, (यः) जिस (उरुगायः) बड़े उपदेशक प्रभु ने (उत्तरम्) सब अवयवों के अन्त (सधस्थम्, साध में रहने वाले कारण को (विचक्रमाणः) चलाते हुए (त्रेधा) तीन प्रकार से [उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप से] [उन लोकों को] (अस्कभायत्) यांभा है ॥१॥

भाषार्थः— जो परमेश्वर परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति देकर अनेक लोकों को बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से धारण करता है उसकी भक्ति सब मनुष्य सदा किया करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १५४ । १ । और यजुर्वेद में ५।१८॥

प्र तद् विष्णुं स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुंचरो गिरिष्ठाः ।

परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२॥

भाषार्थः—(भीमः) डरावने, (कुंचरः) टेढ़े टेढ़े चलने वाले [ऊँचे नीचे दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) आखेट डूढ़ने वाले सिंह आदि के समान, (तत्) वह (विष्णुः) सर्वव्यापी विष्णु (वीर्याणि) अपने पराक्रमों को (प्र) अच्छे प्रकार (स्तवते) स्तुति योग्य बनाता है। वह (परावतः) समीप दिशा से और (परस्याः) दूर दिशा से आ जगम्यात् आता रहे ॥२॥

भावार्थः—जैसे सिंह का पराक्रम जंगली पशुओं में विदित होता है, वैसे ही सर्वव्यापी, पापियों के दण्ड देने वाले परमात्मा का सामर्थ्य निकट और दूर सब लोकों में प्रसिद्ध है ॥२॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग ऋग्वेद में है—म० १।१५४।२। और यजु० अ० ५।२०। (मृगो न गिरिष्ठाः) यह पाद निरुक्त १।२० में व्याख्यात है ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

धृतं धृतयोने पिब मम यज्ञपतिं तिर ॥३॥

भाषार्थः—(यस्य) जिसके (उरुषु) विस्तीर्ण [उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूप] (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) विविध क्रमों [नियमों] में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (अधिक्षियन्ति) भले प्रकार रहते हैं। [वही] (विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु तू (उरु) विस्तार से (वि क्रमस्वो) विक्रमी हो, और (नः) हमें (क्षयाय) ज्ञान वा ऐश्वर्य के लिये (उरु) विस्तार के साथ (कृधि) कर। (धृतयोने) हे प्रकाश के घर! (धृतम्) धृत के समान तत्त्वरस (पिब=पायय) [हमें] पान करा और (यज्ञपतिम्) पूजनीय कर्म के रक्षक मनुष्य को (प्र प्र) अच्छे प्रकार (तिर) पार लगा ॥३॥

भावार्थः—जो सर्वव्यापक परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों का स्वामी है, सब मनुष्य उसकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥३॥

(यस्य उरुषु...) यह पाद ऋग्वेद में है—१।१५४।२। और यजु० ५।२०॥ (उरु विष्णो...) यह मन्त्र यजुर्वेद में है—५।३८, ४१॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समृद्धमस्य पांसुरे ॥४॥

भाषार्थः—(विष्णुः) विष्णु सर्वव्यापी भगवान् ने (समूहम्) आपस में एकत्र किये हुए वा यथावत् विचारने योग्य (इदम्) इस जगत् को (विचक्रमे) पराक्रमयुक्त [शरीरवाला] किया है, उसने (अस्थ) इस जगत् के (पदा) स्थिति और गति के कर्मों को (त्रेधा) तीन प्रकार (पांसुरे) परमाणु वाले अन्तरिक्ष में (नि बधे) स्थिर किया है ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणुओं से रचकर उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, अर्थात् नीचे, मध्यम और ऊँचे स्थानों में धारण किया है ॥४॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। २२। १७, यजु०-५। १५, और साम० पू० ३। ३। ६।, और उ० ८। २। ८। भगवान् यास्क ने निरु० १२। १८, १६ में भी इस मन्त्र की व्याख्या की है ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥५॥

भाषार्थः—(गोपाः) सर्वरक्षक (अदाभ्यः) न दबने योग्य (विष्णुः) विष्णु अन्तर्यामी भगवान् ने (त्रीणि) तीनों (पदा) जानने योग्य वा पाने योग्य पदार्थों [कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक] को (वि चक्रमे) समर्थ [शरीरधारी] किया है। (इतः) इसी से वह (धर्माणि) धर्मों वा धारण करनेवाले [पृथिवी आदि] को (धारयन्) धारण करता हुआ है ॥५॥

भाषार्थः—जो परमेश्वर नानाविध जगत् को रचकर धारण कर रहा है, उसी की उपासना सब मनुष्य नित्य किया करें ॥५॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। २२। १८, यजु०-३४। ४३, और साम० उ० ८। २। ५ ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥६॥

भाषार्थः—(विष्णोः) सर्वव्यापक विष्णु के (कर्माणि) कर्मों [जगत् का बनाना, पालन, प्रलय आदि] को (पश्यत) देखो, (यतः) जिससे उसने (ब्रतानि) व्रतों [सब के कर्तव्य कर्मों] को (पस्पशे) बाँधा है। (युज्यः) वह योग्य [अथवा सब से संयोग रखनेवाले दिशा, काल, आकाश आदि में रहने वाला] परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीव का (सखा) सखा है ॥६॥

भाषार्थः—जिस परमेश्वर ने संसार रचकर सब को नियम में बांधा है, वही सब में रमकर सब का हितकारी है ॥६॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । १८, यजु—६ । ४, १३ । ३३, और साम० उ०—८ । २ । ५ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुरातंतस् ॥७॥

भाषार्थः—(सूरयः) बुद्धिमान् पण्डित लोग (विष्णोः) सर्वव्यापक विष्णु के (तद्) उस (परमम्) अति उत्तम (पदम्) पाने योग्य स्वरूप को (सदा) सदा (पश्यन्ति) देखते हैं (इव) । जैसे (दिवि) प्रकाश में (आतंतम्) फैला हुआ (चक्षुः) नेत्र [दृश्य पदार्थों को देखता है] ॥७॥

भाषार्थः—जैसे प्राणी सूर्य आदि के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से अपने आत्मा में जगदीश्वर के आनन्दस्वरूप मोक्ष पद को साक्षात् करके आनन्द पाते हैं ॥७॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । २०, यजु०—६ । ५, साम० उ०—८ । २ । ५ ॥

द्विो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।

हस्तौ पृणस्वबहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सध्यात् ॥८॥

भाषार्थः—(विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु ! (विषः) सूर्य लोक से (उत) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से, (वा) अथवा, (विष्णो) हे विष्णु ! (महः) बड़े (उरोः) चौड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धन समूहों से (हस्तौ) दोनों हाथों को (पृणस्व) भर, (उत) और (दक्षिणात्) दाहिने (उत) और (सध्यात्) बायें हाथ से (आप्रयच्छ) अच्छे प्रकार से दान कर ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर रचित सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक लोकान्तर और सब पदार्थों से विज्ञानपूर्वक उपकार लेकर धन आदि की प्राप्ति से आनन्द भोगें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है—५ । १६ ॥

सूक्तम् ॥२७॥

१ ॥ इडा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

इ॒दे॒वास्माँ॑ अ॒नु॒व॒स्तां व्र॒तेन॒ यस्याः॑ प॒दे पु॒न॒ते दे॒व॒यन्तः॑ ।

घृ॒तप॑दी श॒क्वरी॒ सोम॑पृ॒ष्ठोप॑ य॒ज्ञम॑स्थित वै॒श्वदे॒वी ॥१॥

भाषार्थः—(इडा एव) वही प्रशंसनीय विद्या (अस्मान्) हमें (व्रतेन) उत्तम कर्म से (अनु) अनुग्रह करके (वस्ताम्) ढके [शोभायमान करे], (यस्याः) जिसके (पदे) अधिकार में (देवयन्तः) उत्तमगुण चाहने वाले पुरुष (पुनते) शुद्ध होते हैं । [और जो] (घृतपदी) प्रकाश का अधिकार रखने वाली, (शक्वरी) समर्थ, (सोम-पृष्ठा) ऐश्वर्य सींचने वाली, (वैश्वदेवी) सब उत्तम पदार्थों से सम्बन्ध वाली होकर (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद द्वारा शास्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, वाणिज्यविद्या आदि प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावे ॥१॥

सूक्तम् ॥२८॥

१ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्ञकर्मोपदेशः यज्ञ करने का उपदेश ॥

वे॒दः स्व॒स्तिर्द्रु॒घणः॑ स्व॒स्तिः पर॒शुर्वे॒दिः पर॒शुर्नः॑ स्व॒स्ति ।

ह॒वि॒ष्कृ॒तो य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञका॑मा॒स्ते दे॒वासाँ॑ य॒ज्ञमि॑मं जु॒षन्ता॑म् ॥१॥

भाषार्थः—(वेदः) वेद [ईश्वरीय ज्ञान] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (द्रुघणः) मुदगर [मोंगरी] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (वेदिः) वेदी [यज्ञ भूमि, हवनकुण्ड आदि], (परशुः) फरसा [वा गड़ासी] और (परशुः) कुल्हाड़ी (नः) हमें (स्वस्ति) मङ्गलकारी हो । (हविष्कृतः) देने लेने योग्य व्यवहार करने वाले, (यज्ञियाः) पूजनीय, (यज्ञकामाः) मिलाप चाहने वाले (ते) वे (देवाः) विद्वान् लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय कर्म को] (जुषन्ताम्) स्वीकार करें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य वेदज्ञान द्वारा सब उचित सामग्री लेकर विद्वानों के सत्संग से अग्नि में हवन तथा शिल्पसम्बन्धी संयोग वियोग आदि क्रिया करके आनन्दित रहें ॥१॥

सूक्तम् ॥२९॥

१ - २ अग्नाविष्णू देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्युत्सूर्यगुणोपदेशः—विजुली और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

अग्नाविष्णू महि तद् वाँ महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।

दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वाँ जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्नाविष्णू) हे विजुली और सूर्य ! (वाम्) तुम दोनों का (तत्) वह (महि) बड़ा (महित्वम्) महत्व है, गुह्यस्य) रक्षणीय, वा गुप्त (घृतस्य) सार रस के (नाम) भुकाव की (पाथः) तुम दोनों रक्षा करते हो । (दमेदमे) घर घर में [प्रत्येक शरीर वा लोक में] , सप्त) सात (रत्ना) रत्नों [धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, गज्जा और वीर्य] को (दधानौ) धारण करने वाले हो, (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जय शक्ति (घृतम्, सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) भले प्रकार (चरण्यात्) बनावे ॥१॥

भाषार्थः—जाठर अग्नि वा विजुली अन्न को पकाकर उसके सार रस से सात धातु, रस, रुधिर आदि बनाकर शरीर को पुष्ट करता है । और सूर्य पार्थिव जल को खींच कर मेघ बनाकर वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥१॥

अग्नाविष्णू महि धामं प्रियं वाँ वीथो घृतस्य गुह्यां जुषाणौ ।

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वाँ जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥२॥

भाषार्थः—(अग्नाविष्णू) हे विजुली और सूर्य (वाम्) तुम दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) प्रीति करने वाला (धामं) धर्म वा नियम है, तुम दोनों (घृतस्य) सार रस के गुह्या) सूक्ष्म तत्त्वों को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (वीथः) प्राप्त होते हो । (दमेदमे) घर घर में (सुष्टुत्या) बड़ी स्तुति के साथ (वावृधानौ) वृद्धि करते हुए [रहते हो,] (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जयशक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (उत्) उत्तमता के साथ (चरण्यात्) प्राप्त हो ॥२॥

भाषार्थः—विजुली वा शारीरिक अग्नि और सूर्य के नियम बड़े अद्भुत हैं, विजुली अन्न के रस से शरीर को पुष्टि करती और सूर्य मेघ की जलवृष्टि से संसार को बढ़ाता है ॥२॥

सूक्तम् ॥३०॥

१ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शुभकर्मकरणोपदेशः—शुभ कर्म करने का उपदेश ॥

इवाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अंकरयम् ।

इवाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥१॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी ने (मे) मेरा (स्वावतम्) स्वागत [किया है], (अयम्) इस (मित्रः) मित्र [माता पिता आदि] ने (स्वावतम्) स्वागत (अकः) किया है। (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक [आचार्य] (मे) मेरा (स्वावतम्) स्वागत, और (सविता) प्रजाप्रेरक शूर पुरुष (स्वावतम्) स्वागत (करत्) करे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सदा ऐसे शुभ कर्म करे जिससे संसार के सब पदार्थ और विद्वान् लोग उसके उपकारी हों ॥१॥

सूक्तम् ॥३१॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठामिर्मघवच्छूर जिव्व ।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमुं द्विष्मस्तमुं प्राणो जहातु ॥१॥

भाषार्थः—(मघवन्) हे बड़े धनी ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् ! (नः) हमें (यद्य) आज (बहुलाभिः) अनेक (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथासम्भव श्रेष्ठ (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाओं से (जिव्व) प्रसन्न कर । (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, (सः) वह (अधरः) नीचा हो कर (पवीष्ट) चला जावे, (उ) और (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम वैर करते हैं, (तम्) उसको (उ) भी (प्राणः) उसका प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥१॥

भाषार्थः—राजा अपने शूर वीरों सहित यथाशक्ति सब प्रकार के उपायों से शिष्टों का पालन और दुष्टों का निवारण करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३ । ५३ । २१ ॥

सूक्तम् ॥३२॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाकर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के कर्म का उपदेश ॥

उपे प्रियं पनिपन्तं युवानमाहुतीदृधम् ।

अगन्म बिभ्रन्तो नमो दीर्घपायुः कृणोतु मे ॥१॥

भाषार्थः—(नमः) वक्ष को (बिभ्रन्तः) धारण करते हुए [पुरुषार्थ करते हुए] हम लोग (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (पनिपन्तम्) अत्यन्त व्यवहारकुशल,

(युवानम्) पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले वा बलवान्, (आहुतिबूधम्) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया के बढ़ाने वाले राजा को (उप अग्नम्) प्राप्त हुए हैं वह (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥१॥

भावार्थः— जिस प्रकार नीति कुशल, प्रतापी राजा अनेक विद्याओं के दान से प्रजा की रक्षा करे, उसी प्रकार प्रजा भी उसके उपकारों को सम्मान पूर्वक ग्रहण करे ॥१॥

सूक्तम् ॥३३॥

१ ॥ विश्वे देवादेवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिवर्धनोपदेशः—सब सम्पत्तियों के बढ़ाने का उपदेश ॥

सं मां सिञ्चन्तु मरुतः । सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं मायमग्निः
सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१॥

भावार्थः (मरुतः) वायु के भोके (मा) मुझे (सम्) भले प्रकार (सिञ्चन्तु) सींचे, (पूषा) पृथिवी (सम्) भले प्रकार और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक सूर्य [वा मेघ] (सम्) भले प्रकार [सींचे] । (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [शारीरिक अग्नि वा बल] (मा) मुझको (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि (च) और (धनेन) धन से (सम्) भले प्रकार (सिञ्चतु) सींचे (च) और (मा) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥१॥

भावार्थः - मनुष्य वायु आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर शारीरिक आत्मिक बल, सन्तान भृत्य आदि बढ़ा कर यश प्राप्त करें ॥१॥

सूक्तम् ॥३४॥

१ ॥ अग्निदेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजराजपुरुषकर्तव्योपदेशः—राजा और राजपुरुष के कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्नै जातान् प्र णुंदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अश्वस्पदं कुण्ठव्ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्वाम ॥१॥

भावार्थः—(अग्ने) हे बलवान् राजन् वा सेनापति ! (मे) मेरे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) वैरियों को (प्रणुद) निकाल दे, (जातवेदः) हे बड़े बुद्धिवाले राजन् ! (अजातान्) अप्रसिद्ध [शत्रुओं] को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटादे । (वे) जो (पृतन्यवः) संग्राम चाहने वाले [विरोधी] हैं, (उम्हें) (अश्वस्पदम्) अपने पाँव

तले (कृणुष्व) करले (ते) वे (वयम्) हम लोग (अदितये) अदीन भूमि के लिये (अनागतः) निर्विघ्न होकर (स्याम) रहें ॥१॥

भाषार्थः— राजा आदि सब लोग गुप्त दूतों द्वारा प्रकट और गुप्त दुष्टों को वश में करें, जिससे धर्मात्मा लोग निर्विघ्नता से संसार का उपकार करते रहें ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वाह्न कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१५।१॥

सूक्तम् ॥३५॥

१-३ ॥ जातवेदा देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्त्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्रान्यान्तसपत्नान्तसहसा सहस्व प्रत्यजातः न जातवेदो नुदस्व ।

इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

भाषार्थः— (जातवेदः) हे बड़े धनवाले राजन् ! (सहसा) अपने बल से (प्रान्यान्) दूसरे लोगों [विरोधियों] को (प्र सहस्व) हरा दे और (अजातान्) अप्रकट (सपत्नान्) बैरियों को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (पिपृहि) पूर्ण कर, (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल लोग (एनम् अनु) इस आप के साथ साथ (मदन्तु) प्रसन्न हों ॥१॥

भाषार्थः— राजा अपनी सुनीति से बाहरी और भीतरी बैरियों का नाश करके प्रजापालन करे । और प्रजागण उस राजा के साथ साथ ऐश्वर्य, बढ़ा कर सदा प्रसन्न रहें ॥१॥

इमा यास्तै शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।

तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२॥

भाषार्थः— [हे राजन् !] (ते) तेरी (इमाः) यह (याः) जो (शतम्) सौ [बहुत] (हिराः) सूक्ष्म नाड़ियां (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (धमनीः) स्थूल नाड़ियां हैं । (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (बिलम्) छिद्र को (अहम्) मैं [प्रजागण] ने (अश्मना) व्यापक [अथवा पाषाण समान दृढ़] उपाय से (अपि) निश्चय करके (अधाम्) पुष्ट किया है ॥२॥

भाषार्थः— प्रजागण राजा की शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर उसे सदा प्रसन्न रखें ॥२॥

परं योने रवरं ते कृणोमि मा त्वां प्रजाभि भून्मोत सृनुः ।

अस्वं १ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (ते) तेरे (योनेः) धर के (परम्) शत्रु को (अवरम्) नीच (कृणोमि) बनाता हूँ, (त्वा) तुझको (मा) न तो (प्रजा) प्रजा भृत्य आदि (उत) और (मा) न (सृनुः) पुत्र (अभि भूत) तिरस्कार करे। (त्वा) तुझको (अस्वम्) बुद्धिमान् और (अप्रजसम्) अताड़नीय पुरुष (कृणोमि) मैं करता हूँ और (ते) तेरे (अपिधानम्) ओढ़ने [कवच] को (अश्मानम्) पत्थर समान दृढ़ (कृणोमि) मैं बनाता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—बुद्धिमान्, बलवान् दृढ़स्वभाव राजा ऐसी सुनीति का प्रचार करे कि उससे उसकी प्रजा और सन्तान में फूट न पड़े, किन्तु सब प्रीति पूर्वक रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥३६॥

१ ॥ मित्रे देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परमित्रत्वोपदेशः—परस्पर मित्रता का उपदेश ॥

अक्षयौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम् ।

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासन्ति ॥१॥

भाषार्थः—(नौ) हम दोनों की (अक्षयौ) दोनों आँखें (मधुसंकाशे) जान की प्रकाश करने वाली और (नौ) हम दोनों का (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) यथावत् विकाश वाला [होवे] । (माम्) मुझको (हृदि अन्तः) अपने हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर ले, (नौ) हम दोनों का (मनः) मन (इत्) भी (सह) एकमेल (असन्ति) होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनस्य आपस में प्रीतियुक्त रह कर सदा धर्मयुक्त व्यवहार करके प्रसन्न रहें ॥१॥

सूक्तम् ॥३७॥

१ ॥ वन्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वासंसा ।

यथासौ मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥१॥

भाषार्थः—[हे स्वामिन् !] (मनुजातेन) मननशील मनुष्यों में प्रसिद्ध (मम वाससा) अपने वस्त्र से (त्वा) तुम्हें (अभि दधामि) मैं बांधती हूँ। (यथा) जिससे तू (केवलः) केवल (मम) मेरा (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥१॥

भाषार्थः—निवाह में विद्वानों के बीच वस्त्र का गठिवन्धन करके वधू और वर दूहप्रतिज्ञा करें कि पत्नी पतिव्रता और पति पत्नीव्रत होकर गृहस्थ आश्रम को प्रीति पूर्वक निवाहें ॥१॥

सूक्तम् ॥३८॥

१—५ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरुदम् ।

परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् । १॥

भाषार्थः—[हे स्वामिन् ! मैं वधू] (मांपश्यम्) लक्ष्मी के देखने वाले [खोजने वाले], (अभिरुदम्) परस्पर संगति देने वाले, (परायतः) दूर जाने वाले के निवर्तनम् लौटाने वाले, (आयतः) आने वाले के (प्रतिनन्दनम्) स्वागत करने वाले (इदम्) इस [प्रतिज्ञा रूप] (भेषजम्) भयनिवारक औषध को (खनामि) खोदती हूँ [प्रकट करती हूँ] ॥१॥

भाषार्थः—जिस प्रकार वैद्य उत्तम औषधि को खोद कर उपकार लेता है। इसी प्रकार वधू वर प्रतिज्ञा करके परस्पर सुख बढ़ावें ॥१॥

येना निचक्र आसुरीन्द्र देवेभ्यस्परि ।

तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥२॥

भाषार्थः—(येन) जिस [उपाय] से (आसुरी) बुद्धिमानों वा बलवानों के हित करने वाली बुद्धि ने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य को (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (परि) सब ओर से (निचक्रे) नियत किया था। (तेन) उसी [उपाय] से (ग्रहम्) मैं (त्वम्) तुम्हें (नि कुर्वे) नियत करती हूँ, (यथा) जिस से मैं (ते) तेरी (सुप्रिया) बड़ी प्रीति करने वाली (असानि, रहूँ ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकाल में बुद्धि और बल द्वारा उत्तम गुण प्राप्त करते रहे हैं, उसी प्रकार दम्पती प्रयत्न करके परस्पर प्रीति के साथ उत्तम गुण प्राप्त करें ॥२॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।

प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥३॥

भाषार्थः—[हे वधू !] (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली तू (सोमम्) चन्द्रमा को, (उत) और (प्रतीची) प्रतिज्ञापूर्वक मार्गवाली तू (सूर्यम्) सूर्य को, और (प्रतीची) प्रतिष्ठा पूर्वक उपायवाली तू (विश्वान्) सब (देवान्) उत्तम गुणों को (असि अससि) प्राप्त होती है, (ताम् त्वा) उस तुझको (अच्छावदामसि) हम स्वागत करके बुलाते हैं ॥३॥

भाषार्थः— सब स्त्री पुरुष चन्द्रसमान शांत स्वभाव, सूर्य समान तेज-स्विनी और सर्वगुणवती वधू का यथावत् आदर करें ॥३॥

अहं वंदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तियाश्चन । ४॥

भाषार्थः—(अहम्) मैं (न इत्) अभी (वदामि) बोल रही हूँ, (त्वम् त्वम्) तू तू (अह) भी (सभायाम्) सभा में (वद) बोल । (त्वम्) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्) दूसरी स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥४॥

भाषार्थः— वधू और वर पंचों के सम्मुख दृढ़प्रतिज्ञा करके सदाचारी रह कर धर्म पर चलते रहें ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भेद से आचुका है—अ० ७ । ३७ । १ ॥

यदि वासिं तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोषं धिर्बद्धेव न्यनयत् ॥५॥

भाषार्थः—[हे पति !] तू (यदि वा) चाहे (तिरोजनम्) मनुष्यों से अदृष्ट स्थान में (असि) है, (यदि वा) चाहे (नद्यः) नदियाँ (तिरः) बीच में हैं । (इयम्) यह [प्रतिज्ञारूप] (ओषधिः) ओषधि (मह्यम्) मेरे लिये (ह) ही (त्वाम्) तुझको (बद्ध्वा इव) बांध कर जैसे (न्यनयत्) ले आवे ॥५॥

भाषार्थः— मनुष्य वाणिज्य, युद्ध आदि के लिये दूर परदेशों में जाकर अपने देश को लौटा करें ॥५॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥३६॥

१ ॥ तुपर्णः सूर्यो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् ।

अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥१॥

भावार्थः—(दिव्यम्) दिव्य गुण वाले, (पयसम्) गतिवाले, (बृहन्तम्) विशाल, (अपाम्) अन्तरिक्ष के (गर्भम्) गर्भसमान बीच में रहने वाले, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों के (वृषभम्) बरसाने वाले, (अभीपतः) सब ओर जल वाले मेघ से (वृष्ट्या) वृष्टि द्वारा (तर्पयन्तम्) तृप्त करने वाले, (रयिष्ठां) धन के बीच ठहरने वाले, (सुपर्णम्) सुन्दर किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् पुरुष को (नः) हमारे (गोष्ठे) गोठ वा वार्तालाप स्थान में (आ) लाकर (स्थापयाति) [यह पुरुष] स्थान देवे ॥१॥

भावार्थः—जैसे सूर्य सब लोकों के बीच ठहर कर भूगोल आदि लोकों को प्रकाश, वृष्टि आदि से सुखी करता है, वैसे ही जो विद्वान् ज्ञान और उपदेश से सब जनों को आनन्दित करे, उसका सब लोग आदर करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है - १। १६४। ५२ ॥

सूक्तम् ॥४०॥

१—२ ॥ सरस्वान् देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

यस्य व्रतं पशवो यन्ति सर्वे यस्य व्रत उपतिष्ठन्त आपः ।

यस्य व्रते पुष्टपतिर्निविष्टस्तं सरस्वन्तमवसे हवामहे ॥१॥

भावार्थः—(यस्य) जिसके (व्रतम्) सुन्दर नियम पर (सर्वे, सब (पशवः) पशु अर्थात् प्राणी (यन्ति) चलते हैं, (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित रहते हैं । (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी, पूषा सूर्य (निविष्टः) प्रवेश किये हुए है, (तम्) उस (सरस्वन्तम्) बड़े विज्ञान वाले परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥१॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर के नियम से यह सब लोक लोकान्तर परस्पर आकर्षण में रह कर एक दूसरे का सहाय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर परस्पर उपकार करें ॥१॥

आ प्रत्यश्च दाशुषं दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् ।

रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

भावार्थः—(प्रत्यश्चम्) प्रत्यक्षव्यापक, (दाशुषे) आत्मदान करने वाले [भक्त] को (दाश्वंसम्) सुख देने वाले (पुष्टपतिम्) पोषण के स्वामी, (रयिष्ठाम्) धन में स्थिति वाले, (रायः) धन के (पोषम्) बढ़ाने वाले, (श्रवस्युम्) सुनने वाले, (रयीणाम्) अनेक धनों के (सदनम्) भण्डार (सरस्वन्तम्) बड़े ज्ञानवान् परमेश्वर को (वसानाः) स्वीकार करते हुए हम लोग (इह) यहाँ पर (आ) सब प्रकार (हुवेम) बुलावें ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक परमेश्वर के अनन्त भण्डार से अनेक प्रकार के धन प्राप्त करके सुखी रहें ॥२॥

सूक्तम् ॥४१॥

१—२ ॥ श्येनो देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

अति धन्वान्यत्यपरतर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।

तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

भावार्थः—(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाले, (अवसानदर्शः) अन्त के देखने वाले, (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा ने (धन्वानि) निर्जल देशों को (अति) अत्यन्त करके और (अपः) जलों को (अति) अत्यन्त करके (तर्द) पीड़ित [वशीभूत] किया है । (शिवः) मङ्गलकारी परमेश्वर (अवरा) अत्यन्त श्रेष्ठ (विश्वानि) सब (रजांसि) लोकों को (तरन्) तराता हुआ (सख्या) मित्ररूप (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (आ जगम्यात्) आवे ॥१॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर के आधीन वृष्टि, अनावृष्टि, मनुष्यों के कर्मों के फल और श्रेष्ठों को मुक्ति दान आदि हैं । उस परमात्मा की भक्ति करके मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।

स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥२॥

भाषार्थः—(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाला, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप, (सुपर्णः) बड़ी पालन शक्ति वाला, (सहस्रपात्) सहस्रों, असीम पाद अर्थात् गति शक्ति वाला, [मन से अधिक वेग वाला—यजु० ४०।४] (शतयोनिः) सैकड़ों [अग्रणीत] लोकों का धर, (वयोधाः) अन्नदाता (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा है । (सः) वह (नः) हमें (वसु) वह धन (नि) निरन्तर (यच्छात्) देवे, (यत्) जो (पराभृतम्) पराक्रम से धारण किया गया (अस्माकम्) हमारे (पितृषु) पितरों [बड़े बूढ़ों] के बीच (स्वधावत्) आत्मधारण शक्ति वाला (अस्तु) होवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्यों को विचारकर अनेक उद्योगों के साथ विद्वानों का पालन करके सदा आनन्द भोगें ॥२॥

सूक्तम् ॥४२॥

१—२ ॥ सोमास्त्रो देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजवैद्ययोगुणोपदेशः—राजा और वैद्य के गुणों का उपदेश ॥

सोमास्त्रा वि वृंहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविधेशं ।

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥

भाषार्थः—(सोमास्त्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान सुखदायक राजा और वैद्य !] तुम दोनों (विषूचीम्) विमूचिका, [हुलकी आदि] को (विबृहतम्) छिन्न भिन्न कर दो, (या अमीवा) जो रोग (नः गयम्) हमारे घर वा सन्तान में (आविधेश) प्रवेश कर गया है । (निर्ऋतिम्) दुःखदायिनी कुनीति को (पराचैः) शोधे मुंह करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ, और (कृतम्) उसके किये हुए (एनः) दुःख को (चिद) भी (अस्मत्) हम से (प्र मुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥१॥

भाषार्थः—जो राजा और वैद्य कारणों को समझ कर कुनीति और रोग का प्रतिकार करते हैं, वहां प्रजागण दुःख से छूटकर सुखी रहते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।७४।२, ३। इनका भाष्य महर्षि दयानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सोमारुद्रा युवमे तान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।

अवस्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥१॥

भाषार्थः—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और भेष [के समान उपकारी राजा और वैद्य !] (युवम्) तुम दोनों (एतानि विद्वा भेषजानि) इन सब औषधों को (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (धत्तम्) रखो । (यत्) जो (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (बद्धम्) लगा हुआ और (कृतम्) किया हुआ (एनः) दोष (अस्मत्) होवे, [उसे] (अस्मत्) हमसे (अव स्यतम्) नष्ट करो और (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥१॥

भाषार्थः—राजा और वैद्य वैद्यक विद्या के प्रचार से प्रजा को कुपथ्य आदि दोषों से बचाकर नीरोग और पुरुषार्थी बनाकर सुखी रखें ॥१॥

सुक्तम् ॥४३॥

१ ॥ वाचो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याणी वाचः प्रचारोपदेशः—कल्याणी वाणी के प्रचार का उपदेश ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा विभर्षि सुमनस्यमानः ।

तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु धोषम् । १॥

भाषार्थः—[हे पुरुष !] (ते) तेरी (एकाः) कोई [वाचायें] (शिवाः) कल्याणी है और (ते) तेरी (एकाः) कोई (अशिवाः) अकल्याणी हैं [और कोई माध्यमिका हैं], (सर्वाः) इन सब को (समनस्यमानः) अच्छे प्रकार मनन करता हुआ तू (विभर्षि) धारण करता है । (तिस्रः) यह तीनों (वाचः) वाचायें (अस्मिन् अन्तः) इस [आत्मा] के भीतर (निहिताः) रखी रहती हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाः) एक [कल्याणी वाणी] (धोषम् अनु) उच्चारण के साथ साथ (वि) विशेष करके (पपात) ऐश्वर्यवती हुई है ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य अपने हृदय में हित, अहित और उदासीनता का विचार करके एक हित ही बोलते हैं, वही ऐश्वर्यवान् पुरुष संसार को ऐश्वर्यवान् करते हैं ॥१॥

सुक्तम् ॥४४॥

१ ॥ इन्द्राविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सभासेनेशकर्मोपदेशः—सभा और सेना के स्वामी के कर्म का उपदेश ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः ।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेयां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

भाषार्थः—(विष्णो) हे विजुली [के समान व्याप्त होने वाले सभापति !] (च) और (इन्द्रः) हे वायु [के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति !] (उभा) तुम दोनों ने [शत्रुओं को] (जिग्यथुः) जीता है, और तुम दोनों (न) कभी नहीं (परा जयेथे) हारते हो, (एनयोः) इन [तुम] दोनों में से (कतरः चन) कोई भी (न) नहीं (परा जिग्ये) हारा है। (यत्) जब (अपस्पृधेयाम्) तुम दोनों ललकारे हो, (तत्) तब (सहस्रम्) असंख्य [शत्रु सेनादल] को (त्रेधा) तीन विधि पर [ऊँचे, नीचे और मध्य स्थान में] (वि) विविध प्रकार से (ऐरयेथाम्) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥१॥

भाषार्थः—जहां पर सभापति और सेनापति पराक्रमी, प्रतापी और नीतिमान् होते हैं, वहां शत्रु लोग नहीं ठहरते ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।६६।८॥

इसका भाष्य यहां महर्षि दयानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सूक्तम् ॥४५॥

१—२ ॥ भेषजं देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईर्ष्यादोषनिवारणोपदेशः—ईर्ष्या दोष के निवारण का उपदेश ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्शभृतम् ।

दूरात् त्वा मन्य उद्भृतभीर्घ्याया नाम भेषजम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे भयनिवारक ज्ञान !] (सिन्धुतः) समुद्र [के समान गम्भीर स्वभाव वाले (विश्वजनीनात्) सब जनों के हितकारी (जनात्) उनके पास से, दूरात्) दूर देश से (परि) सब प्रकार (आभृतम्) लाये हुए और (उद्भृतम्) उत्तमता से पुष्ट किये हुए (त्वा) तुमको (ईर्घ्यायाः) दाह का (नाम) प्रसिद्ध (भेषजम्) भय-निवारक औषध (मन्ये) मैं मानता हूं ॥१॥

भाषार्थः—जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम औषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्व हितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्ष्या छोड़ कर दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझें ॥१॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।

एतामेतस्येर्षामुदुनाग्निमिव शमय ॥२॥

भाषार्थः—(अस्य) इस (बहतः) जलती हुई (अग्नेः इव) अग्नि के समान (पृथक्) अथवा (बहतः) जलती हुई (दावस्य) वन अग्नि के [समान] (एतस्य) इस पुरुष की (एताम्) इस (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (शमय) शान्त कर दे, (इव) जैसे (उद्ना) जल से (अग्निम्) आग को ॥२॥

भाषार्थः ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है, इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रखे जैसे अग्नि को जल से ॥२॥

सूक्तम् ॥४६॥

१—३ ॥ सिनीवाली देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुणों का उपदेश ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिद्दि नः ॥१॥

भाषार्थः—(पृथुष्टुके) हे बहुत स्तुतिवाली ! (सिनीवालि) अन्नवाली [वा प्रेमयुक्त बल करने वाली] गृहपत्नी ! (या) जो तू (देवानाम्) दिव्यगुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वा ग्रहण करनेवाली (असि) है । सो तू (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य, (आहुतम्) सब प्रकार स्वीकार किये व्यवहार का (जुषस्व) सेवन कर और (देवि) हे कामनायोग्य देवी ! (नः) हमारे लिये (प्रजाम्) सन्तान (विदिद्दि) दे ॥१॥

भाषार्थः—जिस घर में अन्नवती, सुशिक्षित, व्यवहार कुशल स्त्रियाँ होती हैं, वहीं उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२ । ३२ । ६ । और यजुर्वेद—३४ । १० । तथा—निद० ११ । ३२ । में व्याख्यात है ॥

या सुबाहुः स्वर्गुरिः सुधूमा बहुसूवरी ।

तस्यै त्रिपत्न्यै हविः सिनीवास्यै जुहोतन ॥२॥

भाषार्थः—(या) जो (सुबाहुः) शुभकर्मों में भुजा रखने वाली, (स्वर्गुरिः) सुन्दर व्यवहारों में ग्रहगुरी रखने वाली, (सुधूमा) भली भाँति आगे चलने वाली, और (बहुसूवरी) बहुत प्रकार से वीरों को उत्पन्न करने वाली, [गता है] ।

(तस्यै) उस (विश्वपत्न्यै) प्रजाओं की पालने वाली, (सिनीवाह्यै) बहुत अन्न वाली [गृहपत्नी] को (हविः) देने योग्य पदार्थ का (शुहोतन) दान करो ॥२॥

भाषार्थः— जो स्त्रियां गृहकार्य में चतुर वीर सन्तान उत्पन्न करने-हारी हैं उनका सत्कार सब मनुष्यों को सदा करना चाहिये ॥२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२।३२।७॥

या विश्वपत्नीन्द्रमसिं प्रतीचीं सहस्रस्तुकाभिद्यन्तीं देवी ।

विष्णोः पतिं तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥३॥

भाषार्थः—(या) जो (विश्वपत्नी) सन्तानों की पालने वाली, (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली, (सहस्रस्तुका) सहस्रों स्तुतिवाली, (अभिद्यन्ती) चारों ओर चलती हुई (देवी) देवी तू (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (असि—अससि) ग्रहण करती है । (विष्णोः पतिं) हे कामों में व्यापक वीर पुरुष की पत्नी ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (हवींषि) देने योग्य पदार्थ (राता) दिये गए हैं, (देवि) हे देवी ! (पतिम्) अपने पति को (राधसे) सम्पत्ति के लिये (चोदयस्व) आगे बढ़ा ॥३॥

भाषार्थः— स्त्रियां गृहकार्य में चतुर रह कर अपने पतियों द्वारा धन संचय कराकर संतान पालन आदि कार्य करती रहें ॥३॥

सुवतम् ॥४७॥

१—२ ॥ कुहूद्वेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुण का उपदेश ॥

कुहू देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवां जोहवीमि ।

सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(सुकृतम्) सुन्दर काम करने वाली, (विद्मनापसम्) कर्तव्यों को जानने वाली, (देवीम्) दिव्यगुणवाली (कुहूम्) कुहू, अर्थात् अद्भुत स्वभाव वाली, स्त्री को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (सुहवा) विनीत बुलावे के साथ (जोहवीमि) मैं बुलाता हूँ । (सा) वह (नः) हमें (विश्ववारम्) सब उत्तम व्यवहार वाले (रयिम्) धन को (नि) नित्य (यच्छात्) देती रहे और (शतदायम्) असंख्य धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥१॥

भाषार्थः— गुणवती, समझदार स्त्री गृहकार्य में परिमित व्यय कर धनवती होकर अपने संतानों को उत्तम वीर बनावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से— निरु० ११।३३। में व्याख्यात है ॥

कुहूदेवानांममृतस्य पत्नीहव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।

शृणोतु यज्ञमुशती नो अथ रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥२॥

भाषार्थः—(देवानाम्) विद्वानों के बीच (अमृतस्य) अमर [पुरुषार्थी] पुरुष की (पत्नी) पत्नी (हव्या) बुलाने योग्य वा स्वीकार करने योग्य, (कुहूः) कुहू अर्थात् विचित्र स्वभाववाली स्त्री (नः) हमारे (अस्य) इस (हविषः) ग्रहण योग्य कर्म का (जुषेत) सेवन करे । (यज्ञम्) सत्संग की (उशती) इच्छा करती हुई (चिकितुषी) विज्ञानवती वह (अथ) आज (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (दधातु) पुष्ट करे ॥२॥

भाषार्थः—जिस घर में युशुस्वी पुरुष की पत्नी सब घरवालों की सुधि रखने वाली और परिमित व्ययवाली होती है । वहां वह धन बढ़ाकर सब को आनन्द देती है ॥२॥

सूक्तम् ॥४८॥

१—२ ॥ राका देवता ॥ जगती छन्दः ॥

स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्यों का उपदेश ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुंवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्वना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(राकाम्) राका, अर्थात् सुख देने वाली वा पूर्णमासी के समान शोभायमान पत्नी को (सुहवा) सुन्दर बुलावे से और (सुष्टुती) बड़ी स्तुति से (अहम्) मैं (हुंवे) बुलाता हूं, (सुभगा) वह शोभायवती [बड़े ऐश्वर्यवाली] (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (त्वना) अपने आत्मा से (बोधतु) समझे । और (अच्छिद्यमानया) न टूटती हुई (सूच्या) सुई से (अपः) कर्म [गृहस्थ कर्तव्य] को (सीव्यतु) सीयें, और (शतदायम्) सैकड़ों धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (दधातु) देवे ॥१॥

भाषार्थः—पुरुष सुखदायिनी, अनेक शुभगुणों से शोभायमान पूर्ण-मासी के समान पत्नी को आदर से बुलावे और वह ध्यान देकर पति के सम्मति से गृहस्थ कर्तव्य को लगातार प्रयत्न से करती हुई वीर पुरुषार्थी संतान उत्पन्न करे, जैसे अच्छी दूढ़ सुई से सींकर वस्त्र को सुन्दर बनाते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—२। ३२। ४, ५। और महर्षि दयानन्द कुल संस्कार विधि, सीमन्तोन्नयन प्रकरण में हैं। और मन्त्र एक—निरु० ११। ३१। में व्याख्यात है ॥

यास्तं राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।

ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥२॥

भाषार्थः—(राके) हे सुखदायिनी ! वा पूर्णमासी समान शोभायमान पत्नी ! (याः) जो (ते) तेरी (सुमतयः) सुमतियाँ (सुपेशसः) बहुत सुवर्ण वाली है, (याभिः) जिनसे तू (दाशुषे) धन देने वाले [गुप्त पति] को (वसूनि) अनेक धन (ददासि) देती है। (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (ताभिः) उन [सुमतियों] से (नः) हमें (सहस्र-पोषम्) सहस्र प्रकार से पुष्टि को (रराणा) देती हुई, (सुमनाः) प्रसन्न मन होकर (अद्य) आज (उपागहि) समीप आ ॥२॥

भाषार्थः—विदुषी, सुलक्षणा, विचारशील, प्रसन्नचित्त पत्नी धन और सम्पत्ति की रक्षा और बढ़ती हुई पतिप्रिया होकर घर में सुख बढ़ाती रहे ॥२॥

सूक्तम् ॥४६॥

१-२ देवपत्न्यो देवताः ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः ॥

राजवद्राजीन्यायोपदेशः—राजा के समान रानी को न्याय का उपदेश ॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये । याः

पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु ॥१॥

भाषार्थः—(याः) जो (उजतीः) [उपकार की] इच्छा करती हुई (देवानाम्) विद्वानों वा राजाओं की (पत्नीः) पत्नियाँ (नः) हमें (अवन्तु) तृप्त करें और (तुजये) बल वा स्थान के लिये और (वाजसातये) अन्न देने वाले संग्राम [जीतने] के लिये (नः) हमारी (प्र) अक्षे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें। और (अपि) भी (याः) जो (पार्थिवास्तः) और जो पृथिवी की रानियाँ (अपाम्) जलों के (व्रते) स्वभाव में [उपकारवाली] हैं, (ताः) वे सब (सुहवाः) सुन्दर बुलावे योग्य (देवीः) देवियाँ (नः) हमें (शर्म) घर वा सुख (यच्छन्तु) दें ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् और राजा लोगों के समान उनकी स्त्रियाँ भी उप-कार करके प्रजा पालन करें ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—५। ४६। ७, ८; और निरुक्त में भी व्याख्यात हैं १२। ४५, ४६ ॥

उत्तमा व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट् ।

आ रोदसी वरुणानी शृणोतु वरन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनम् ॥२॥

भाषार्थः— (उत्त) और भी (देवपत्नीः) विद्वानों वा राजाओं की पत्नियाँ, [अर्थात्] (राट्) ऐश्वर्यवाली, (इन्द्राणी) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, (अग्नायी) अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, (अश्विनी) शीघ्रगामी पुरुष की स्त्री [प्रजा की] (ग्नाः) वाणियों को (व्यन्तु) व्याप्त हों। (आ) और (रोदसी) रुद्र, जानवान् पुरुष की स्त्री अथवा (वरुणानी) श्रेष्ठजन की पत्नी [वाणियों को] (शृणोतु) सुने और (यः) जो (जनीनाम्) स्त्रियों का [न्याय का] (ऋतुः) काल है, (देवीः) यह सब देवियाँ [उसकी] (व्यन्तु) चाहना करें ॥२॥

भाषार्थः— स्त्रियां स्त्रियों को अपनी न्याय सभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहिर के भगड़ों को उचित समय पर निर्णय करें, और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें ॥२॥

सुषुप्तम् ॥५०॥

१-६ ॥ इन्द्र आत्मा वा देवता ॥ १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः— मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यथा वृक्षमग्निर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।

एवाहमथ कितवानक्षैर्वध्यासमप्रति ॥१॥

भाषार्थः— (यथा) जैसे (अग्निः) बिजुली (विश्वाहा) सब दिनों (अप्रति) बे रोक होकर (वृक्षम्) पेड़ को (हन्ति) गिरा देती है। (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (अथ) आज (अप्रति, बे रोक होकर (अक्षैः) पाशों से (कितवान्) जान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को (वध्यासम्) नाश करूँ ॥१॥

भाषार्थः— मनुष्यों को योग्य है कि जुआरी लुटेरे आदिकों को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें ॥१॥

तराणाप्रतुराणां विशमर्वर्जुषीणाम् ।

समेतु विश्वतो भर्गो अन्तर्हस्तं कृतं मम ॥२॥

भाषार्थः—(तुराणाम्) शीघ्रकारी, (अतुराणाम्) अशीघ्रकारी (अवर्जुषी-
णाम्) [शत्रुओं को] न रोक सकने वाली (विशाम्) प्रजाओं का (भगः) धन
(विश्वतः) सब प्रकार (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथ में आये हुए (कृतम्) कर्म को
(समैतु) यथावत् प्राप्त हो ॥२॥

भाषार्थः—बलवान् राजा सब प्रकार प्रजा के धन को अपने वश में
रख कर रक्षा करे ॥२॥

ईडे अग्निं स्वावंसु नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत् कृतं नः ।

रथैरिव प्र भरे वाजयजिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम् ॥३॥

भाषार्थः—(स्ववसुम्) बन्धुओं को धन देने वाले (अग्निम्) विद्वान् राजा
को (नमोभिः) सत्कारों के साथ (ईडे) मैं डूँडता हूँ, (प्रसक्तः) सन्तुष्ट वह (इह)
यहाँ पर (नः) हमारे (कृतम्) कर्म का (वि चयत्) विवेचन करे । (प्रदक्षिणम्) उसकी
प्रदक्षिणा [आदर से पूज्य को दाहिनी ओर रखकर घूमना] (प्र) अच्छे प्रकार (भरे)
मैं धारण करता हूँ (इव) जैसे (वाजयजिः) शीघ्र चलने वाले (रथैः) रथों से,
[जिससे] (महताम्) शूरवीरों में (स्तोमम्) स्तुति को (रृध्याम्) मैं बढ़ाऊँ ॥३॥

भाषार्थः—प्रजागण विद्वानों के सत्कार करने वाले विवेकी राजा के
अधीन रह कर आदरपूर्वक उसकी आज्ञा मानकर शूरवीरों में अपना यश
बढ़ावें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ६० । १ ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृत्तमस्माकमंशमुदवा भरभरे ।

अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृण्वया रुज ॥४॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र राजन् ! (त्वया) तुझ (युजा)
सहायक वा ध्यानी के साथ (वयम्) हम लोग (वृत्तम्) धरने वाले शत्रु को (जयेम)
जीत लेंगे (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) भाग को (भरे भरे) प्रत्येक संग्राम में (उत्)
उत्तमता से (प्रव) रख । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण देश को
(सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के
(वृण्वया) साहसों को (प्र रुज) तोड़ दे ॥४॥

भाषार्थः—सब योधा लोग सेनापति की सहायता लेकर अपने धन
जन आदि की रक्षा करके शत्रुओं को जीतें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १०२ । ४ ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।

अविं वृको यथा मयदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥५॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (संलिखितम्) यथावत् लिखे हुए (त्वा) तुमको (अजैषम्) मैंने जीत लिया है, (उत) और संरुधम्) रोक डालने वाले को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है । (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) बकरी को (मयत्) मथ डालता है, (एव) वैसे ही (ते) तेरे (कृतम्) कर्म को (मथ्नामि) मैं मथ डालूँ ॥५॥

भाषार्थः—जिस दुष्ट जन का नाम राजकीय पुस्तकों में लिखा हो, और बड़ा विघ्नकारी हो उसको यथावत् दण्ड मिलना चाहिये ॥५॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः । ६॥

भाषार्थः—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहारकुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी शत्रु को (जयति, जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करने वाला जुआरी (काले) [हार के] समय पर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है । (यः) जो (देवकामः) शुभगुणों का चाहने वाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इव) ही (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥६॥

भाषार्थः—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभगुण चाहने वाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्मबल पाता है ॥६॥

मन्त्र ६, ७ मुख्य भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ४२ । ६, १०

गोभिष्टरेमामंति दुरेवा यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।

वयं राजंसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥७॥

भाषार्थः—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गए राजन् ! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गतिवाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) यव आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को । (वयम्) हम लोग (राजंसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥७॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।

गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनं जयो हिरण्यजित् ॥८॥

भाषार्थः—(कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथ में और (जयः) जीत (मे) मेरे (सव्ये) बायें हाथ में (आहितः) स्थित है । मैं (गोजिद्) भूमि जीतने वाला, (अश्वजित्) घोड़े जीतने वाला, (धनंजयः) धन जीतने वाला और (हिरण्यजित्) सुवर्ण जीतने वाला (भूयासम्) रहूँ ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर सुखी होवें ॥९॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणींभिव ।

सं मां कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नद्यत ॥९॥

भाषार्थः—(अक्षाः) हे व्यवहारकुशल पुरुषो ! (क्षीरिणीम्) बड़ी दुधेल (गाम् इव) गौ के समान (फलवतीम्) उत्तम फल वाली (द्युवम्) व्यवहार शक्ति (वत्) दानकरो । (कृतस्य) कर्म की (धारया) धारा [प्रवाह] से (मां) मुझको (सम् नह्यत) यथावत् बांधो (इव) जैसे (स्नाव्ना) डोरी से (धनुः) धनुष को [बांधते हैं] ॥९॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन सुफल करें ॥१०॥

सूक्तम् ॥५१॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मा दधरादघायोः ।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥१॥

भाषार्थः—(बृहस्पतिः) बड़े शूरों का रक्षक सेनापति (नः) हमें (पश्चात्) पीछे, (उत्तरस्मात्) ऊपर (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतनेवाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (पुरस्तात्)

आगे से (उत्त) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिम्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की सर्वथा रक्षा करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ॥ १० । ४२ । ११ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥५२॥

१—२ ॥ प्रजापतिर्वेत्ता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

परस्परैकमत्योपदेशः—आपस में एकता का उपदेश ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विनो युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥१॥

भाषार्थः—(स्वेभिः) अपनी के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) एक मत और (अरणेभिः) बाहिर वालों के साथ (संज्ञानम्) एकमत हो । (अश्विना) हे माता पिता ! (युवम्) तुम दोनों (इह) यहां पर (अस्मासु) हम लोगों में (संज्ञानम्) एकमत (नि) निरन्तर (यच्छतम्) दान करो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य माता पिता आदिकों से शिक्षा पाकर वेद द्वारा संसार में एकता फैलावे ॥१॥

सं जानामहे मनसा सं चिकित्वा मा युष्मह मनसा दैव्येन ।

मा घोषा उत् स्थुर्वहुले विनिर्हते मेघुः पसदिन्द्रस्याहन्वागते ॥२॥

भाषार्थः—(मनसा) आत्मबल के साथ (सम् जानामहे) हम मिले रहें, (चिकित्वा) ज्ञान के साथ (सम्) मिले रहें, (दैव्येन) विद्वानों के हितकारी (मनसा)

विज्ञान से (मा युष्महि) हम अलग न हों। (बहुले) बहुत (विनिर्हते) विविध वध के कारण युद्ध होने पर (घोषाः) कोलाहल (मा उत् स्वुः) न उठें, (इन्द्रस्प) बड़े ऐश्वर्यावान् राजा का (इषुः) बाण (अहनि) दिन [न्याय दिन] (आगते) आने पर [हम पर] (मा पत्तत्) न गिरे ॥२॥

भाषार्थः— मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से एकमत रहने का प्रयत्न करें। और ऐसा काम न करें जिससे आपस में युद्ध होवे और पाप के कारण राजा के दण्डनीय हों ॥२॥

सूक्तम् ॥५३॥

१-७ ॥ १-३ अग्निः, ४-६ प्राणापानौ, ७ सूर्यो देवता ।

१-३ त्रिष्टुप्, ४ आस्तारपङ्क्तिः, ५-७ अनुष्टुप् ॥

विदुषां कर्त्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिषस्तेरमुञ्चः ।

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्पद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१॥

भाषार्थः— (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (यत्) जिस कारण से (अमुत्रभूयात्) परलोक में होनेवाले भय से और (बृहस्पतेः) बड़ों के रक्षक (यमस्य) नियम कर्ता राजा के [सम्बन्धी] (अभिषस्तेः) अपराध से (अधि) अधिकारपूर्वक (अमुञ्चः) तू ने जुड़ाया है। (देवानाम्) विद्वानों में (भिषजा) वैद्यरूप (अश्विना) माता पिता [वा अध्यापक, उपदेशक] ने (मृत्युम्) मृत्यु [मरण के कारण दुःख] को (अस्पत्) हम से (शचीभिः) कर्मों द्वारा (प्रति) प्रतिकूल (प्रौहताम्) हटाया है ॥१॥

भाषार्थः— परमेश्वर ने वेदद्वारा बताया है कि मनुष्य गुप्त मानसिक कुविचार छोड़कर परलोक में निरक पतन से, और प्रकट जारोरिक पाप छोड़कर राजा के दण्ड से बचकर आनन्दित रहें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७-६ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ तं सयुजांविह स्ताम् ।

शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोषा अधिधा वसिष्ठः ॥२॥

भाषार्थः— (प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (सं क्रामतम्) भिन्नकर चलो, (शरीरम्) इसके शरीर को (मा जहीतम्) मत छोड़ो। [हे मनुष्य !] वे दोनों (ते) तेरे लिये (सयुजौ) मिले हुए (इह) यहाँ पर (स्ताम्) रहें, (शतम्

शरवः) सौ वरस तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) तू जीता रहे, (अग्निः) सर्व व्यापक परमेश्वर [वा जाठराग्नि] (ते) तेरा (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला और (वसिष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण अपान और जाठराग्नि को सम रख सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें ॥२॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।

अग्निष्टदाहानिर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (आयुः) जीवन सामर्थ्य (पराचैः) पराङ्मुख होकर (अतिहितम्) घट गया है, (तौ, वे दोनों) (प्राणः) प्राण और (अपानः) अपान (पुनः) फिर (आ इताम्) आवें । (अग्निः) वैद्य वा शरीराग्नि (तत्) उस [आयु] को (निर्ऋतेः) महा विपत्ति के (उपस्थात्) पास से (आ अहाः) लाया है, (तत्) उसको (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पुनः) फिर (आ वेशयामि) प्रविष्ट करता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे, मनुष्य वैद्यों की सभ्यति से जाठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें ॥३॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो ऽवहाय परां गात् ।

सप्तर्विभ्यं एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे बहन्तु ॥४॥

भाषार्थः—(प्राणः) प्राण (इमम्) इस [प्राणी] को (मा हासीत्) न छोड़े, (मो) और न (अपानः) अपान वायु (अवहाय) छोड़ कर (परागात्) चला जावे । (एनम्) इस पुरुष को (सप्तर्विभ्यः) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (परि ददामि) मैं समर्पण करता हूँ, (ते) वे (एनम्) इसको (स्वस्ति) आनन्द के साथ (जरसे) स्तुति के लिये (बहन्तु) ले चलें ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि से स्वस्थ रख कर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनद्वाहाविव व्रजम् ।

अयं जरिष्णः शैवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

भाषार्थः—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (प्र विशतम्)

प्रवेश करते रहो, (इव) जैसे (अनड्वाहौ) रथ ले चलने वाले दो बैल (वज्रम्) गोशाला में । (अयम्) यह जीव (जरिष्णः) स्तुति का (दोषधिः) निधि, (अरिष्टः) दुःखरहित होकर (इह) यहाँ पर (वर्धताम्) बढ़ती करे ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥५॥

आ ते प्रःणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।

आयुर्नो विश्वतो दधद्यमप्रर्वरेण्यः ॥६॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम अच्छे प्रकार आगे बढ़ाते हैं, और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (परा सुवामि) मैं दूर निकालता हूँ । (अयम्) यह (अरेण्यः) स्वीकरणीय (अग्निः) जाठराग्नि (नः) हमारे (आयुः) आयु को (विश्वतः) सब प्रकार (दधत्) पुष्ट करे ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य पुरुषार्थपूर्वक निबलता आदि रोगों को नाश करके अपना जीवन सब प्रकार सुफल करें ॥६॥

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥७॥

भाषार्थः—(तमसः) अन्धकार से (परि) पृथक् होकर (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुख में (उद् रोहन्तः) ऊपर चढ़ते हुए (वयम्) हमने (देवत्रा) प्रकाशमानों में (देवम्) प्रकाशमान, (उत्तमम्) उत्तम (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप, (सूर्यम्) सब के प्रेरक सूर्य जगदीश्वर को (अगन्म) पाया है ॥७॥

भाषार्थः—विद्वान् योगीजन विद्या के प्रकाश से मुक्ति सुख को भोगते हुए ज्योतिःस्वरूप परमात्मा में निरन्तर विचरते हैं ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २१, २७ । १०, ३५ । १४, ३८ । २४ ॥

सूक्तम् ॥५४॥

१-२ ॥ शचीपतिर्वेता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याग्रहणोपदेशः—वेदविद्या के ग्रहण का उपदेश ॥

ऋचं सामं यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।

एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥१॥

भाषार्थः—(ऋचम्) स्तुति विद्या [ईश्वर से लेकर समस्त पदार्थों के ज्ञान], (साम) दुःख नाशक मोक्ष विद्या का (यजामहे) हम सत्कार करते हैं, (यान्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) वे [सब प्राणी] करते हैं। (एते) यह दोनों (सर्वसि) [संसार रूपी] बैठक में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों के बीच (यजम्) सङ्गति (यच्छतः) दान करते हैं ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्य वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित हों ॥१॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्वलम् ।

एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जिस लिये (ऋचम्) पदार्थों की स्तुतिविद्या, (साम) दुःखनाशक मोक्षविद्या और (यजुः) विद्वानों के सत्कार, विद्यादान और पदार्थों के सङ्गतिकरण द्वारा (हविः) ब्राह्मकर्म, (ओजः) मानसिक बल और (बलम्) शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) मैंने पूछा है [विचारा है]। (तस्मात्) इसलिये, (शचीपते) हे वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक आचार्य ! (एषः) यह (पृष्टः) पूछा हुआ (वेदः) वेद (मा) मुझको (माहिंसीत्) न दुःख देवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य विचारपूर्वक वेदों का अध्ययन करके उत्तम कर्म से मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाकर आनन्दित हों ॥२॥

सूक्तम् ॥ ५५ ॥

१ ॥ वसुवैवता ॥ विराडुष्णिक् छन्दः ॥

वेदमार्गग्रहणोपदेशः—वेद मार्ग के ग्रहण का उपदेश ॥

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।

तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥१॥

भाषार्थः—(वसो) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (ये) जो (ते) तेरे (दिवः) प्रकाश के (पन्थानः) मार्ग (अव) निश्चय करके हैं, (येभिः) जिनके द्वारा (विश्वम्) संसार को (ऐरयः) तूने चलाया है। (तेभिः) उनसे ही (सुम्नया) सुख के साथ (नः) हमें (आ धेहि) सब ओर से पुष्टकर ॥१॥

भाषार्थः - मनुष्य परमेश्वर के वेदमार्ग पर चलकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पुष्टि करें ॥१॥

सूक्तम् ॥५६॥

१-८ ॥ ओषधिवैवता ॥ १-३, ५-८ अनुष्टुप्, ४ बृहती ॥

विषहरणोपदेशः—विष नाश का उपदेश ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।

तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥१॥

भाषार्थः—(इयम्) इस (वीरुत्) जड़ी बूटी ने (तिरश्चिराजेः) तिरछी रेखाओं वाले, (असितात्) कृष्णवर्ण वाले, (कङ्कपर्वणः) काक वा चिल्ह पक्षी के समान जोड़ वाले (पृदाकोः) फुसकारते हुए साँप से (संभृतम्) पाये हुए (तत्) उस (विषम्) विष को (परि) सब प्रकार (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥१॥

भावार्थः—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा सर्प आदि के विष को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् विद्या द्वारा मानसिक दोषों का नाश करे ॥१॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।

सा विहृतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥२॥

भाषार्थः—(इयम्) यह [ब्रह्मविद्या] (वीरुत्) जड़ी बूटी (मधुजाता) मधुर-पन से उत्पन्न हुई, (मधुश्चुत्) मधुरपन टपकानेवाली है। (मधुला) मधुरपन देने वाली और (मधूः) मधुर स्वभाव वाली है। (सा) वही (विहृतस्य) बड़े कुटिल विष की (भेषजी) ओषधि (अथो) और (मशकजम्भनी) मच्छरों [मच्छर के समान गुणों] की नाश करनेवाली है ॥२॥

भावार्थः—जैसे उत्तम ओषधि से बड़े बड़े विष और क्लेश नाश होते हैं, वैसे ही मनुष्य ब्रह्म विद्या द्वारा अपने दोषों का नाश करे ॥२॥

यतो दृष्टं यतो धीनं ततस्ते निह्नियामसि ।

अर्भस्य तृपदं शिनो मशकस्यारसं विषम् ॥३॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (यतः) जहाँ पर (दृष्टम्) काटा गया है और (यतः) जहाँ पर (धीनम्) [रुधिर] पिया गया है, (ते) तेरे (ततः) उसी [अङ्ग] से (अर्भस्य) छोटे (तृपदं शिनो) तीव्र काटनेवाले (मशकस्य) मच्छर के (अरसम्) निर्बल [किये हुए] (विषम्) विष को (निः) निकालकर (ह्नियामसि) हम वचन देते हैं ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सुपरीक्षित औषधियों से प्रयत्नपूर्वक विष आदि रोग नाश करें ॥३॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्त्रा वृजिना कृणोषि ।

तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥४॥

भाषार्थः—(अयम् यः) यह जो [विषरोगी] (वक्रः) टेढ़े शरीरवाला (विपरुः) विकृत जोड़ों वाला (व्यङ्गः) ढीले अङ्गों [हाथ पैरों] वाला (मुखानि) अपने मुख के अवयवों [दांत नाक नेत्र आदि] को (वक्त्रा) टेढ़ा और (वृजिना) एँठे मरोड़े (कृणोषि=कृणोति) करता है । (ब्रह्मणः पते) हे बड़े ज्ञान के स्वामी [वैद्य-राज !] (त्वम्) तू (तानि) उन [अङ्गों] को (सम् नमः) मिलाकर ठीक कर दे (इव) जैसे (इषीकाम्) कांस वा मूँजको [रसरी के लिये] ॥४॥

भाषार्थः—वैद्य लोग विष रोगी को औषध आदि से शीघ्र स्वस्थ करें ॥४॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्येऽपसर्पतः ।

विषं ह्यं स्याद्विषयो एनमजीजभम् ॥५॥

भाषार्थः—(अस्य) इस (अरसस्य) निबल [तुच्छ वा काटने वाले], (नीची-नस्य) नीचे पड़े हुए, (अपसर्पतः) रेंगते हुए, (शर्कोटस्य) काटकर टेढ़ा कर देनेवाले [बीछ आदि] के (विषम्) विष को (हि) निश्चय करके (आ-अदिधि) मैंने खण्डित कर दिया है (अथो) और (एनम्) इस [जन्तु] को (अजीजभम्) मैंने कुचिल डाला है ॥५॥

भाषार्थः—बीछ आदि के विष को हटाकर उस विषैले जन्तु को भी मार डालें जिससे वह औरों को न सतावे ॥५॥

न ते बाहोर्वेकमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।

अथ किं पापयामुषा पुच्छे विभर्ष्यर्भकम् ॥६॥

भाषार्थः—[हे बीछ !] (न) न तो (ते) तेरे (बाहोः) दोनों भुजाओं में (बलम्) बल (अस्ति) है, (न) न (शीर्षे) शिर में (उत) और (न) न (मध्यतः) बीच में है । (अथ) फिर (किम्) क्यों (अमुषा पापया) उस पाप बुद्धि से (पुच्छे) मूँछ में (अर्भकम्) थोड़ा सा [विष] (विभर्षि) तू रखता है ॥६॥

भाषार्थः—जैसे बीछ सामने से निविष होता है और पीछे से चट्ट

डंक मारता है, मनुष्यों को ऐसी कुटिलता छोड़ कर सर्वथा सरल स्वभाव होना चाहिये ॥६॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूयः ।

सर्वे भल ब्रवाथ शाकौटमरसं विषम् ॥७॥

भाषार्थः—[हे बीछू वा सर्प !] (त्वा) तुम्हको (पिपीलिकाः) चिउंटियें (अदन्ति) खा जाती हैं और (मयूयः) मोरनियें (वि वृश्चन्ति) काट डालती हैं । [हे मनुष्यो !] (सर्वे) तुम सब (शाकौटम्) बीछू वा सर्प के (विषम्) विष के (अरसम्) निबल (भल) भली भाँति (ब्रवाथ) बतलाओ ॥७॥

भाषार्थः—जैसे चिउंटी, मोर मोरनी आदि विषैले जीवों का आहार कर जाते हैं, वैसेही मनुष्य ओषधि द्वारा विष को निबल करके हटावे ॥७॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।

आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावंसत् ॥८॥

भाषार्थः—[हे बीछू !] (यः) जो तू (उभाभ्याम्) दोनों (पुच्छेन) पूँछ से (च च) और (आस्येन) मुख से (प्रहरसि) चोट मारता है । (ते) तेरे, (आस्ये) मुख में (विषम्) विष (न) नहीं है, (उ) तो, (ते) तेरे (पुच्छधौ) पूँछ की बँली में (किम्) क्या (असत्) होवे ॥८॥

भाषार्थः—बीछू के मुख में तो विष नहीं होता, उसकी पूँछ के विष को भी विद्वान् लोग ओषधि द्वारा नाश करें ॥८॥

सूक्तम् ॥५७॥

१—२ ॥ सरस्वती देवता ॥ जगती छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनों अनु ।

यदात्मनि तन्वां मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१॥

भाषार्थः—(वदतः मे) मुझ बोलने वाले का (यत्) जो [मन] (आशसा) किसी हिंसा से (विचुक्षुभे) व्याकुल हो गया है, (अथवा) (जनान् अनु) मनुष्यों के पास (चरतः) चलकर (याचमानस्य) मुझ माँगने वाले का (यत्) जो [मन] व्याकुल हो गया है] । (अथवा) (मे तस्थः) मेरे शरीर के (आत्मनि) आत्मा में

(यत् विरिष्टम्) जो कष्ट है, (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (तत्) उसको (घृतेन) प्रकाश वा सारतत्त्व से (आ) भली भाँति (पृणत्) भर देवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुए फैलेशों को विद्या द्वारा नाश करें ॥१॥

सप्त संरन्ति शिशवे मरुत्वन्ते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।

उभे इदंस्पोभे अस्य राजत उभे यन्तेते उभे अस्य पुष्यतः । २॥

भाषार्थः—(सप्त) सात [इन्द्रियां अर्थात् दो कान, दो नयने, दो श्रोत्र, एक मुख] (मरुत्वन्ते) सुवर्ण वाले (शिशवे) दुःखनाशक बालक [वा प्रशंसनीय वा उदार विद्वान्] के लिये [मुख से] (संरन्ति) बरसती हैं, (अपि) और (पुत्रासाः) पुत्रों [पुत्र समान हितकारी पुरुषों] ने (पित्रे) उस पिता [पिता तुल्य माननीय] के लिये (ऋतानि) सत्य धर्मों को (अप्यवीवृतन्) प्रवृत्त किया है । (उभे) दोनों [वर्तमान और भविष्यत् जन्म वा अवस्था] (इत्) ही (अस्य) इस [विद्वान्] के होते हैं, (अस्य) इसके (उभे) दोनों (राजतः) ऐश्वर्यवान् होते हैं, (उभे) दोनों (यन्तेते) प्रयत्नशाली होते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इसका (पुष्यतः) पोषण करते हैं ॥२॥

भाषार्थः—धनी, परोपकारी, विद्वान् पुरुष इस जन्म और परजन्म और वर्तमान और भविष्यत् काल में पूर्ण सुख भोगते हैं ॥२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में कुछ भेद से है—१० । १३ । ५ ।

सूक्तम् ॥५८॥

१—२ । इन्द्रावरुणौ देवते ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाजनकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा जन के कर्त्तव्य का उपदेश है ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मय्य धृतव्रतौ ।

युवो रथौ अध्वरोदेववीतये प्रति स्वसंरमुप यातु पीतये ॥१॥

भाषार्थः—(सुतपौ) हे पुत्रों के रक्षा करने वाले ! (धृतव्रतौ) उत्तम कर्मों के धारण करने वाले ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान वर्त्तमान राजा और प्रजाजन (इमम् सुतम्) इस पुत्र को (मद्यम्) आनन्ददायक (सोमम्) ऐश्वर्य [वा बड़ी बड़ी ओषधियों का रस] (पिबतम्=पाययतम्) पान कराओ, (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) मार्ग बताने वाला (रथः) विमान आदि यान (देववीतये) दिव्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये और (पीतये) वृद्धि के लिये (प्रति स्वसंरम्) प्रति-दिन वा प्रतिघर (उप यातु) माया करे ॥१॥

भाषार्थः— राजा और प्रजागणों को चाहिये कि परस्पर रक्षक होकर परस्पर उन्नति करें ॥१॥

म० १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—६।६८।१०, ११॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृष्णा वृषेथाम् ।

इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् वर्हिषि मादयेथाम् ॥२॥

भाषार्थः—(वृष्णा) हे बलिष्ठ ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान राजा और प्रजाजनो तुम (मधुमत्तमस्य) अत्यन्तज्ञानयुक्त, (वृष्णः) बल करने वाले (सोमस्य) ऐश्वर्य की (वृषेथाम्) बरसा करो । (वाम्) तुम दोनों का (इदम्) यह (परिषिक्तम्) सब प्रकार सींचा हुआ (अन्धः) अन्न है, (अस्मिन्) इस (वर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) आनन्दित करो ॥२॥

भाषार्थः— जो राजा और प्रजागण सब की उन्नति के लिये पुरुषार्थ करते हैं, वे ही सत्कार योग्य होते हैं ॥२॥

सूक्तम् ॥५६॥

१ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ।

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (विद्युता) बिजुली से (हतः) मारे गये (वृक्षः इव) वृक्ष के समान वह (आ मूलात्) जड़ से लेकर (अनु) निरन्तर (शुष्यतु) सूख जावे ॥१॥

भाषार्थः— जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वाङ्ग आ चुका है—अ० ६।३७।३॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥६०॥

१-७ ॥ गृहपतिर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-७ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

ऊर्जं विभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।

गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा विभीत मत् ॥१॥

भाषार्थः—(ऊर्जम्) पराक्रम (विभ्रत्) धारण करता हुआ, (वसुवनिः) धन उपार्जन करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला, (अघोरेण) अभयानक, (मित्रियेण) मित्र के (चक्षुषा) नेत्र से [देखता हुआ] (सुमनाः) सुन्दर मन वाला, (वन्दमानः) [तुम्हारे] गुण बलानता हुआ मैं (गृहान्) घर के लोगों में (आ एमि) आता हूँ । (रमध्वम्) तुम प्रसन्न होओ, (मत्) मुझ से (मा विभीत) भय मत करो ॥१॥

भाषार्थः— स्त्री पुरुष शरीर और आत्मा का बल और धन आदि पदार्थ प्राप्त करके बड़ी प्रीति से प्रसन्नचित्त रह कर गृहस्थाश्रम को सिद्ध करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ । ४१ ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।

पूर्णा वामेन तिष्ठतस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥

भाषार्थः— (इमे) यह (गृहाः) घर के लोग (मयोभुवः) आनन्द देने वाले, (ऊर्जस्वन्तः) बड़े पराक्रमी, (पयस्वन्तः) उत्तम जल, दुग्ध आदि वाले, (वामेन) उत्तम धन से (पूर्णाः) भरपूर (तिष्ठन्तः) खड़े हुए हैं । (ते) वे लोग (आयतः) आते हुए (नः) हमको (जानन्तु) जानें ॥२॥

भाषार्थः— घर के लोग बाहिर से आये हुए गृहस्थों और अतिथियों का यथावत् सत्कार करें ॥२॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।

गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥३॥

भाषार्थः—(प्रवसन्) परदेश वसता हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन [गृहस्थों]

का (अध्येति) स्मरण करता है, और (येषु) जिनमें (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रीतिभाव है, (गृहान्) उन घर वालों को (उप ह्वयामहे) हम प्रीति से बुलाते हैं, (ते) वे लोग (आयतः) आते हुए (नः) हम को (जानन्तु) जानें ॥३॥

भाषार्थः— जिस प्रकार परदेश गया हुआ पुरुष प्रीति से घर वालों का स्मरण करता रहता है, वैसे ही घर वाले प्रीति से उसका स्मरण रखें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—३। ४२ और संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

उपहृता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।

अशुध्या अतृष्या स्त गृहः मास्मद् विभीतन । ४॥

भाषार्थः— (भूरिधनाः) बड़े धनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादिष्ट पदार्थों से आनन्द करने वाले (सखायः) मित्र लोग (उपहृताः) स्वागत किये गये हैं । (गृहाः) हे घर के लोगो ! (अशुध्याः, अतृष्याः, स्त) तुम भूखे प्यासे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) मत भय करो ॥४॥

भाषार्थः— बाहिर से आये हुए और घर वाले सब पुरुष प्रसन्न हो कर परस्पर आनन्द करें ॥४॥

उपहृता इह गाव उपहृता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाक उपहृतो गृहेषु नः ॥५॥

भाषार्थः— (इह) यहां पर (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (गावः) गायें (उपहृताः) आदर से बुलायी गयीं, और (अजावयः) भेड़ बकरो (उपहृताः) पास में बुलायी गयीं होंगें । (अथो) और भी (अन्नस्य) अन्न का (कीलाक) रसीला पदार्थ (उपहृतः) पास लाया गया हो ॥५॥

भाषार्थः— मनुष्य दूध वाले गौ आदि पशु और भोजन के उत्तम पदार्थ संग्रह करके परस्पर रक्षा करें ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३। ४३ । और संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अतृष्या अशुध्या स्त गृहा मास्मद् विभीतन ॥६॥

भाषार्थः—(सूनुतावन्तः) प्रिय सत्य वचन वाले, (सुभगाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (इरावन्तः) उत्तम भोजन वाले, (हंसामुदाः) हंस हंस कर प्रसन्न करने वाले, (गूहाः) हे घर के लोगो ! तुम (अनुष्याः, अक्षुष्याः स्त) प्यासे भूखे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा विभीतन) मत भय करो ॥६॥

भाषार्थः— जो मनुष्य परस्पर सत्यभाषी, धर्मात्मा होते हैं, वे ही ऐश्वर्य बढ़ाकर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥६॥

इहैव स्त मातुं गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।

ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥७॥

भाषार्थः— (इह एव) यहां ही (स्त) रहो, (अनु) पीछे पीछे (मा गात) मत चलो, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप वाली वस्तुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो । (भद्रेण सह) कुशल के साथ (आ ऐष्यामि) मैं आऊंगा, [फिर] (मया) मेरे साथ (भूयांसः) अधिक अधिक होकर (भवत) रहो ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य परदेश जाने पर प्रतिज्ञा करके स्वदेशवृद्धि की चिन्ता रखे ॥७॥

सूक्तम् ॥६१॥

१ २ ॥ अग्निर्वेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्राप्त्युपदेशः—वेद विद्या प्राप्ति का उपदेश ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥१॥

भाषार्थः— (अग्ने) हे विद्वन् आचार्यः ! (यत्) जिस कारण से (तपसा) तप [शीत, उष्ण, मुख दुःख आदि द्वन्द्वों के सहन] से (तपः) ऐश्वर्य के हेतु (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि सत्पत्रत] को (उपतप्यामहे) हम ठीक ठीक काम में लाते हैं । [उसीसे] हम (श्रुतस्य) वेदशास्त्र के (प्रियाः) प्रीति करने वाले (आयुष्मन्तः) प्रशंसनीय आयु वाले और (सुमेधसः) तीव्रबुद्धि (भूयास्म) हो जावें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य तप अर्थात् द्वन्द्वों का सहन और पूर्ण ब्रह्मचर्य के सेवन से वेद विद्या प्राप्त करके यशस्वी तीव्रबुद्धि होकर संसार का उपकार करें ॥१॥

अग्ने तपस्तप्यामहे उप तप्यामहे तपः ।

श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः ॥२॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! हम (तपः) तप [द्वन्द्व सहन] (तप्यामहे) करते हैं, और (तपः) ब्रह्मचर्यादि व्रत (उप तप्यामहे) यथावत् साधते हैं । (श्रुतानि) वेदशास्त्रों को (शृण्वन्तः) सुनते हुए (वयम्) हम (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन वाले और (सुमेधसः) तीव्र बुद्धि वाले [हो जावें] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य द्वन्द्व सहन और ब्रह्मचर्य सेवन से वेदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके संसार में कीर्तिमान् हों ॥२॥

सूक्तम् ॥६२॥

१ ॥ अग्निर्वेवता ॥ जगती छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्नीनजयत् पुरोहितः ।

नाभां पृथिव्यां निहितो बबिद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥१॥

भाषार्थः—(अयम्) इस (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक, (वृद्धवृष्णः) बड़े बल वाले, (पुरोहितः) सब के अगुआ (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति ने (रथी इव) रथ वाले योद्धा के समान (पत्नीन्) [शत्रु की] सेनाओं को (अजयत्) जीत लिया है । (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (नाभां) नाभि में (निहितः) स्थापित किया हुआ (बबिद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान वह [उनको] (अधस्पदम्) पांव के तले (कृणुताम्) कर लेवे, (ये) जो (पृतन्यवः) सेना बढ़ाने वाले हैं ॥१॥

भावार्थः—जो शूरवीर पुरुष सब शत्रुओं को जीत कर सज्जनों की रक्षा करे, वही गोलाकार पृथिवी के बीच में सब ओर से चक्रवर्ती राजा होकर संसार में उपकारी बने ॥१॥

सूक्तम् ॥६३॥

१ ॥ अग्निर्वेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

पृतनजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात् ।

स नः पर्यदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥१॥

भाषार्थः—(पृतनाजितम्) संग्राम जीतने वाले, (सहमानम्) विजयी, (अग्निम्) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति को (उपर्थः) स्तुतियों के साथ [उसके] (परमात्) बहुत ऊँचे (सघस्यात्) निवास स्थान से (हवामहे) हम बुलाते हैं। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल (अग्निः) तेजस्वी सेनापति (विश्वा) सब (दुर्गाणि) दुर्गों को (अति) उलाँच कर और (दुरितानि) विघ्नों को (अति) हटाकर (नः) हमें (पर्वत्) पार लगावे, और (क्षामत्) समर्थ करे ॥१॥

भाषार्थः—जो शूर सेनापति शत्रुओं के गढ़ तोड़ कर विजय पाता है वही प्रजापालन में समर्थ होता है ॥१॥

सूक्तम् ॥६४॥

१—२ ॥ १ आपः; २ अग्निर्वैवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुन्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।

आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(कृष्णः) कौवे वा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (अभिनिष्पतन्) सम्मुख आते हुए इदम् यत् यह जो कष्ट (अपीपतत्) गिराया है। (आपः) उत्तम कर्म (मा) मुझको (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) कष्ट से (पान्तु) बचावें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न करके सब बाहिरी और भीतरी विपत्तियों से बचें ॥१॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवापृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु ॥२॥

भाषार्थः—(निर्ऋते) हे कठिन आपत्ति ! (ते) तेरे (मुखेन) मुख के सहित (कृष्णः) कौवे अथवा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (इदम्) यह (यत्) जो कुछ कष्ट (अवापृक्षत्) एकत्र किया है। (गार्हपत्यः) गृहपति [आत्मा] से संयुक्त (अग्निः) पराक्रम (तस्मात्) उस (एनसः) कष्ट से (मा) मुझको (प्रमुञ्चतु) छोड़ा देवे ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य आत्मपराक्रम करके विघ्नों को हटा कर सुखी रहें ॥२॥

सूक्तम् ॥६५॥

१-३ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वैद्यकर्मोपदेशः—वैद्य के कर्म का उपदेश ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपांमार्गं रुरोहिंथ ।

सर्वान् मच्छपथो अधि वरीयो यावया इतः ॥१॥

भाषार्थः—(अपामार्गं) हे सर्व संशोधक वैद्य ! [वा अपामार्गं औषध !]
(त्वम्) तू (हि) निश्चय करके (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूलगतिवाले रोगों का नाश
करने वाला (रुरोहिंथ) उत्पन्न हुआ है । (इतः मत्) इस मुझसे (सर्वान्) सब
(अपथान्) शापों [दोषों] को (अधि) अधिकार पूर्वक (वरीयः) अति दूर (यावयाः)
तू हटा देवे ॥१॥

भाषार्थः—जैसे वैद्य अपामार्ग आदि औषध से रोगों को दूर करता
है, वैसे ही विद्वान् अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को हटावे ॥१॥

अपामार्गं औषध विशेष है जिससे कफ, बवासीर, खुजली, उदररोग और विष
रोग का नाश होता है—देखो अ० ४ । १७ । ६ ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वां चेरिम पापया ।

त्वया तद् विश्वतोमुखापांमार्गापं मृज्महे ॥२॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ (दुष्कृतम्) दुष्कर्म (यद् वा) अथवा (यत्) जो
कुछ (शमलम्) मलिन कर्म (पापया) पाप बुद्धि से (चेरिम) हमने किया है ।
(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख रखने वाले ! [अतिदूरदर्शी] (अपामार्गं) हे सर्वथा
संशोधक ! (त्वया) तेरे साथ (तत्) उसको (अप मृज्महे) हम शोधते हैं ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य दुष्कर्म और मलिनकर्म से उत्पन्न रोगों को सदैव
की सम्मति से औषध द्वारा निवृत्त करें ॥२॥

श्यावदंता कुनखिनां वण्डेन यत् सहापिम

अपांमार्गं त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे । ३ ।

भाषार्थः—(श्यावदंता) काले दांत वाले, (कुनखिना) दूषितनख वाले
(वण्डेन) वण्डे [टेढ़े मेढ़े अङ्ग वाले रोगी] के (सह) साथ (यत्) जो (आसिम)
रहे हैं । (अपामार्गं) हे सर्वथा संशोधक ! [वैद्य वा अपामार्गं औषध !] (त्वया) तेरे
साथ (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उन सब को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥३॥

भाषार्थः—यदि रोग की व्याकुलता से शरीर अङ्गभङ्ग हो जावे, उसे ओषधि द्वारा स्वस्थ करें ॥३॥

सूक्तम् ॥६६॥

१ ॥ ब्राह्मणं देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविज्ञानव्याप्त्युपदेशः - वेद विज्ञान की व्याप्ति का उपदेश ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोळपेषु ।

यदश्रवन् पशवं उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥१॥

भाषार्थः—(यदि=यत्) जो [ब्रह्मज्ञान] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यदि) जो (वाते) वायु में (यदि) जो (वृक्षेषु) वृक्षों में, (वा) और (यदि) जो (उलपेषु) कोमल तृणों [अन्न आदि] में (आस) व्याप्त था । (यत्) जिस (उद्यमानम्) उच्चारण किये हुए को (पशवः) सब प्राणियों ने (अश्रवन्) सुना है, (तत्) वह (ब्राह्मणम्) वेद विज्ञान (पुनः) बारंबार [अथवा परजन्म में] (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त होवे ॥१॥

भाषार्थः—ईश्वर ज्ञान सब पदार्थों में, और सब पदार्थ ईश्वर ज्ञान में हैं मनुष्य उस ईश्वर ज्ञान को नित्य और जन्म जन्म में प्राप्त करके मोक्षपद भागी होवे ॥१॥

सूक्तम् ॥६७॥

१ ॥ मन्त्रोक्त देवताः ॥ बृहती छन्दः ॥

सुकर्मकरणायोपदेशः - सुकर्म करने का उपदेश ॥

पुनर्मैत्रिन्द्रियं पुनरात्मा द्विषिणं ब्राह्मणं च ।

पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रियम्) इन्द्रत्व [परम ऐश्वर्य] (मा) मुझको (पुनः) अवश्य [वा फिर जन्म में], (आत्मा) आत्मबल, (द्विषिणम्) धन (च) और (ब्राह्मणम्) वेद-विज्ञान, (पुनः) अवश्य [वा परजन्म में] (आ एतु) प्राप्त होवे (धिष्ण्याः) बोलने में चतुर (अग्नयः) विद्वान् लोग (यथास्थाम) यथास्थान [कर्मानुसार मुझको] (इह) यहां (एव) ही (पुनः) अवश्य [वा परजन्म में] (कल्पयन्ताम्) समर्थ करें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सदा सुकर्मी होकर इस लोक और परलोक का आनन्द प्राप्त करें ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, पुनर्जन्म विषय, पृष्ठ २०३ में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ॥६८॥

१-३ ॥ सरस्वती देवता ॥ १ अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप्, ३ गायत्री ॥

सरस्वत्याराधनोपदेशः—सरस्वती की आराधना का उपदेश ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥१॥

भाषार्थः—(देवि) हे देवी (सरस्वति) सरस्वती ! [विज्ञानवती वेद विद्या] (ते) अपने [दिव्येषु] दिव्य (व्रतेषु) व्रतों [नियमों] में और (धामसु) धर्मों [धारण शक्तियों] में [हमारे] (आहुतम्) दिये हुए (हव्यम्) ग्राह्य कर्म को (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) [उत्तम] प्रजा (ररास्व) दे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उत्तम विद्या प्राप्त करके सब प्रजा प्राणीमात्र को उत्तम बनावें ॥१॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं १ यत् ।

इमानि ते उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२॥

भाषार्थः—(सरस्वति) हे सरस्वती ! (इवम्) यह (घृत) जो (ते) तेरा (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (हव्यम्) ग्राह्य कर्म है, और (इवम्) यह [जो] (पितृणाम्) पिता समान माननीय विद्वानों के (आस्यम्) मुख पर रहनेवाला (हविः) ग्राह्य पदार्थ है । और [जो] (ते) तेरे (इमानि) यह सब (शंतमानि) अत्यन्त शान्ति देनेवाले (उदिता) वचन हैं, (तेभिः) उनसे (वयम्) हम (मधुमन्तः) उत्तम ज्ञानवाले (स्याम) होवें ॥२॥

भाषार्थः—जिस वेदविद्या का प्रकाश सारे संसार भर में फैल रहा है, और विद्वान् लोग जिसका अभ्यास करके उपदेश करते हैं, उस विद्या से सब मनुष्य लाभ उठावें ॥२॥

शिवा नः शंतमा भव मुमृदोका सरस्वति ।

मा ते युयोम सुदृशः । ३ ॥

भाषार्थः—(सरस्वति) हे सरस्वती ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) कल्याणी, (शंतमा) अत्यन्त शान्ति देनेवाली और (सुमूडीका) अत्यन्त सुख देनेवाली (भव) हो । हम लोग (ते) तेरे (संदृशः) यथावत् दर्शन [यथार्थ स्वरूप के ज्ञान] से (मा युयोम) कभी अलग न होवें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य नित्य अभ्यास से विद्या का ठीक ठीक स्वरूप जान कर आत्मा को सदा शान्त रखें ॥३॥

सूक्तम् ॥६६॥

१ ॥ वातादयो देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सुखाय प्रयत्नोपदेशः—सुख के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः । अहानि शं

भवंतु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१॥

भाषार्थः—(शम्) सुखकारी (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (वातु) चले, (शम्) सुखकारी (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शम्) (तपतु) तपे । (अहानि) दिन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवंतु) होवें, (रात्री) रात्रि (शम् प्रति) सुख के लिये (धीयताम्) धारण की जावे (शम्) सुखकारी (उषाः) उषा [प्रभात बेला] (नः) हमारे लिये (वि) विविध प्रकार (उच्छतु) चमके ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा से ऐसे काम करें जिसमें वायु, सूर्य आदि पदार्थों से प्रतिक्षण सुख मिलता रहे ॥१॥

सूक्तम् ॥७०॥

१-५ ॥ इन्द्रोऽग्निर्वा देवता ॥ १,२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

शत्रुदमनोपदेशः—शत्रु के दमन का उपदेश ॥

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।

तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुति इन्त्वस्य ॥१॥

भाषार्थः—(असौ) वह [शत्रु] (यत् किम्) जो कुछ (मनसा) मन से, (च च) और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से, (यज्ञैः) सज्जति कर्मों से, (हविषा) भोजन से और (यजुषा) दान से (जुहोति) आहुति करता है । (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) मिली हुई (निर्ऋतिः) निर्ऋति, दरिद्रता आदि अलक्ष्मी (सत्यात् पुरा) (सत्यात् पुरा)

सफलता से पहिले (अस्य) इसकी (तत्) उस (आहुतिम्) आहुति को (हन्तु) नाश करे ॥१॥

भाषार्थः— जो शत्रु मन, वचन और कर्म से प्रजा को सताने का उपाय करे, निपुण सेनापति शीघ्र ही उसे धनहरण आदि दण्ड देकर रोक देवे ॥१॥

यातुधाना निऋतिराट् रक्षस्ते अस्य धनन्वनृतेन सत्यम् । इन्द्रेयिता देवा आज्यमस्य मध्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥२॥

भाषार्थः—(निऋतिः) अलक्ष्मी (आत् उ) और भी (ते) वे सब (यातु-धानाः) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) सफलता को (अनृतेन) मिथ्या आचरण के कारण (ध्नन्तु) नाश करें (इन्द्रेयिताः) इन्द्र, परम ऐश्वर्य वाले सेनापति के भेजे हुए (देवाः) विजयी शूर (अस्य) इसके (आज्यम्) धृत [तत्त्वपदार्थ] को (मध्नन्तु) विध्वंस करें, (असौ) वह [शत्रु] (यत्) जो कुछ (जुहोति) आहुति दे, (तत्) वह (मा सम् पादि) सम्पन्न [सफल] न होवे ॥२॥

भाषार्थः—सेनापति की नीतिनिपुणता से शत्रुओं में निर्धनता और परस्पर फूट पड़ जाने से शत्रु लोग निर्बल होकर आधीन हो जावे ॥२॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।

आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥३॥

भाषार्थः—(अजिराधिराजौ) शीघ्रगामी दोनों बड़े राजा [दरिद्रता] और [मृत्यु—म० १] (सम्पातिनौ) भ्रष्ट मारने वाले (श्येनौ इव) दो श्येन वा बाज पक्षी के समान (पृतन्यतः) उस चढ़ाई करने वाले शत्रु के (आज्यम्) धृत [तत्त्व-पदार्थ] को (हताम्) नाश करें (यः कः च) जो कोई (नः) हम से (अभ्यघायति) दुष्ट आचरण करे ॥३॥

भाषार्थः—दुःखदायी शत्रुओं के नाश करने में राजा शीघ्रता करे ॥३॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि न ह्याभ्यास्यम् ।

अग्नेर्देवस्य मनुना तेन तेऽवधिषं हविः ॥४॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (ते) तेरे (अपाञ्चौ) पीछे को चढ़ाये गये (उभौ) दोनों (बाहू) भुजाओं को (अपि) और (आस्यम्) मुखको (न ह्याभि) मैं बाँधता हूँ ।

(देवस्य) विजयी (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजन आदि ग्राह्यपदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥४॥

भाषार्थः— राजा दुराचारियों को दण्ड देकर कारागार में रखकर प्रजा की रक्षा करे ॥४॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्प्यम् ।

अग्नेर्घोरस्यं मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥५॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (अपि नह्यामि) बांधे देता हूँ और (आस्प्यम्) मुख को (अपि) भी (नह्यामि) बन्द करता हूँ । (घोरस्य) भयंकर (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना, उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजनादि ग्राह्य पदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥५॥

भाषार्थः— मन्त्र चार के समान ॥५॥

सूक्तम् ॥७१॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिगुणोपदेशः—सेनापति के गुणों का उपदेश ॥

परिं त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।

धूषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरवतः ॥१॥

भाषार्थः—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धूषद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश करने वाले कर्म से युक्त [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुभ-को (दिवे दिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परिधी बनाते हैं ॥१॥

भाषार्थः—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८७ । २२ ॥

सूक्तम् ॥७२॥

१-३॥ इन्द्रोदेवता ॥ १ अनुष्टुप्, २, ३ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्विष्यम् ।

यदि श्रातं जुहोतेन यद्यश्रातं ममत्तन ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्यो !] (उत् तिऽत) खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य के (ऋत्विज्यम्) सब काल में मिलने वाले (भागम्) ऐश्वर्य समूह को (अथ पश्यत) खोजो । (यदि) जो (श्रोतम्) वह परिपक्व [निश्चित] है, (जुहो-तन) ग्रहण करो, (यदि) जो (अश्रातम्) । अपरिपक्व [अनिश्चित] है, [उसे पक्का, निश्चित करके] (ममत्तन) तृप्त [भरपूर] करो ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य बड़े मनुष्यों के समान निश्चित ऐश्वर्य प्राप्त करें, और अनिश्चितकर्म को विवेकपूर्वक निश्चित करके समाप्त करें ॥१॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १७६ । १-३ ॥

श्रा॒तं ह॒विरो वि॑न्द्र प्र या॒हि ज॒गाम॒ सूर॑ो अध्व॒नो वि मध्य॑म् ।

परि॑ त्वा॒सते नि॒धिभिः॒ सखा॑यः कु॒लपा॒ न त्रा॑ज॒पति॑ चरन्तम् ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (श्रातम्) परिपक्व [निश्चित] (हविः) ग्राह्यकर्म को (ओ) अवश्य (सु) भले प्रकार से (प्र याहि) प्राप्त हो, [जैसे] (सूरः) सूर्य (अध्वनः) अपने मार्ग के (मध्यम्) मध्य भाग को (वि) विशेष करके (जगाम) प्राप्त हुआ है । (सखायः) सब मित्र (निधिभिः) अनेक निधियों के साथ (त्वा) तेरे (परि आसते) चारों ओर बैठते हैं, (न) जैसे (कुलपाः) कुल रक्षक लोग (चरन्तम्) चलते फिरते (त्राजपतिम्) घर के स्वामी को ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य दुपहर के सूर्य के समान तेजस्वी होकर अपने कर्तव्य को पूरा करें, पुरुषार्थी मनुष्य के ही अन्य सब लोग सहायक होते हैं ॥२॥

श्रा॒तं म॑न्य ऊ॒धनि॒ श्रा॒तम॑नौ सु॒श्रुतं॑ म॒न्ये तदु॑तं नवी॑यः ।

मा॒ध्यन्दि॑नस्य॒ सवन॑स्य द॒ध्नः पि॒वेंद्र॑ वज्रि॒न् पुरु॑कु॒जु॒षाणः॑ ॥३॥

भाषार्थः—(ऊधनि) [दूसरों को] चलाने वा सींचने में (श्रातम्) परिपक्वता [निश्चय पन] (अनौ) अग्नि यथात् पराक्रम में (श्रातम्) परिपक्वता (मन्ये) मैं मानता हूँ, [जो] (ऋतम्) सत्य धर्म है, (तत्) उसको (नवीयः) अधिक स्तुतियोग्य, (सुश्रुतम्) सुपरिपक्व [सुनिश्चित कर्म] (मन्ये) मैं मानता हूँ । (वज्रिन्) हे बज्र-धारी ! (पुरुकृत) हे अनेक कर्म करने वाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य ! (जुषाणः) प्रसन्न होकर (माध्यन्दिनस्य) मध्य दिन के (सवनस्य) काल वा स्थान को (दध्नः) धारण शक्ति का (पिब) पान कर ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्य वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखकर परोपकार और पराक्रम करके सूर्य के समान तेजस्वी हो ॥३॥

सूक्तम् ॥७३॥

१—११ ॥ १—५ अश्विनो; ६, ७ सविता; ८, ११ अग्न्या; ९, १० अग्निर्वेता ॥ १, ४ जगती; २ बृहती; ३, ५-११ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो धर्मो दुह्यते वामिषे यधु ।

वयं हि वां पुरुदमांसो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥१॥

भाषार्थः—(वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी], (दिवः) आकाश के [मध्य] (रथी) रथवाला (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (धर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है] (वाम्) तुम दोनों की (इषे) इच्छापूर्ति के लिये यधु ज्ञान (दुह्यते) परिपूर्ण किया जाता है । (पुरुदमांसः) बड़े दमनशील, (कारवः) काम करने वाले (वयम्) हम लोग (वाम्) तुम दोनों को (हि) ही, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुष ! (सधमादेषु) अपने उत्सवों पर (हवामहे) बुलाते हैं ॥१॥

भाषार्थः—सब स्त्री पुरुष विज्ञानी शिक्षकों से विविध विद्यायें प्राप्त करें । और सब लोग ऐसे विद्वान् स्त्री पुरुषों के सरसंग से लाभ उठावें ॥१॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां धर्म आ गतम् ।

दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्त्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

भाषार्थः—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों के लिये (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्नि, अग्नि समान तेजस्वी (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त, (धर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है], (आ गतम्) तुम दोनों आओ । (वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! और (दस्त्रा) हे दर्शनीयो वा रोगनाशको ! (धेनवः) वेदवाणियाँ (नूनम्) अवश्य (इह) यहाँ पर (दुह्यन्ते, दुही जाती हैं, और (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (मदन्ति) आनन्द पाते हैं ॥२॥

भाषार्थः—जो स्त्री पुरुष वेद विद्या द्वारा विज्ञानी होकर कीर्तिमान् होते हैं, बुद्धिमान् उनसे उपदेश पाकर लाभ उठाते हैं ॥२॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।

तमु विश्वे अमृतांसो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यारना रिशन्ति ॥३॥

भाषार्थः—(देवेषु) उत्तम गुणों में वर्तमान, (अश्विनोः) दोनों चतुर स्त्री

पुरुषों का (यः) जो (स्वाहाकृतः) सुन्दरवाणी से सिद्ध किया गया (शुचिः) पवित्र (देवपानः) विद्वानों से रक्षा योग्य (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (चमसः) मेघ [के समान उपकारी] है। (तम् उ) उसी [उत्तम व्यवहार को] (जुषाणः) सेवन करते हुए (विद्ये) सब (अमृतासः) अमर [निरालसी] लोग (गन्धर्वस्य) पृथिवी रक्षक सूर्य के (आसना) मुख से [महा तेजस्वी होकर] (प्रति) प्रत्यक्ष (रिहन्ति) पूजते हैं ॥३॥

भाषार्थः— विद्वान् स्त्री पुरुषों के उत्तम व्यवहारों का अनुकरण करके पुरुषार्थी लोग उनको सराहते हैं ॥३॥

यदुस्त्रियास्वाहुंतं घृतं पयोऽयं स वांमश्विना भाग आ गतम् ।

माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं धर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४॥

भाषार्थः—(यत्) जैते (उस्त्रियासु) गीवों में (घृतम्) घृत और (पयः) दूध (आहुतम्) दिया गया है, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (आ गतम्) आगो, (अयम् सः) वही (वाम्) तुम दोनों का (भागः) भाग [सेवनीय व्यवहार] है। (माध्वी, हे मधुविद्या [वेद विद्या] के जानने वाले, (विदथस्य) जानने योग्य कर्म के (धर्तारा) धारण करने वाले, (सत्पती) सत्पुरुषों के रक्षा करने वाले ! तुम दोनों (दिवः) सूर्य के (रोचने) प्रकाश में (तप्तम्) ऐश्वर्ययुक्त (धर्मम्) प्रकाशमान [धर्म] का (पिबतम्) पान करो ॥४॥

भाषार्थः— जैसे गौ से घृत दुग्ध आदि सार पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष संसार के सब पदार्थों से तत्त्वज्ञान प्राप्त करें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म विद्या का प्रकाश करके आनन्दित हों ॥४॥

ततो वां प्रपो नक्षतु स्वहोता प्र वांमध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।

मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्त्रियायाः ॥५॥

भाषार्थः—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों को (स्व-होता, धन देने वाला, (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (धर्मः) प्रकाशमान धर्म (नक्षतु) व्याप्त होवे, (पयस्वान्) ज्ञानवान् (अध्वर्युः) अहिंसा कर्म चाहने वाला [वह धर्म] ((वाम्) तुम दोनों के लिये (प्रचरः), प्रचारित होवे। तुम दोनों (तनायाः) उपकारी विद्या के (दुग्धस्य) परिपूर्ण (मधोः) मधुविद्या [ईश्वर ज्ञान] की (वीतम्) प्राप्ति करो और (पातम्) रक्षा करो, [जैसे] (उस्त्रियायाः) गौ के (पयसः) दूध की [प्राप्ति और रक्षा करते हैं] ॥५॥

भाषार्थः—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि वे धर्मनिष्ठ होकर विद्या प्राप्त करके सर्वहितकारी कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥५॥

उपं द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पयं उस्त्रियायाः ।

वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥६॥

भाषार्थः—(गोधुक्) हे विद्या के बोहने वाले विद्वान् ! (पयसा) विज्ञान से (ओषम्) अन्धकार दाहक व्यवहार को (घर्मे) प्रकाशमान यज्ञ के बीच (उप) आदर से (द्रव) प्राप्त हो, और (आ) सब ओर से (सिञ्च) सींच [जैसे] (उस्त्रियायाः) गौ के (पयः) दूध को । (वरेण्यः) श्रेष्ठ (भविता) सब के चलाने वाले परमेश्वर ने (नाकम्) मोक्ष मुख का (वि अख्यत्, व्याख्यान किया है, वही (उपसः) अन्धकार नाशक उषा के (अनुप्रयाणम्) निरन्तर गमन का (वि) विशेष करके (राजति) राजा होता है ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य गौ के दूध के समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रकाश करे । जैसे सूर्य का प्रकाश लगातार सब देशों पर चला आता है, उसी प्रकार परमात्मा ने सब के लिये मोक्ष का उपदेश वेद द्वारा किया है ॥६॥

उपं ह्वये सुदुधां धेनुमेनां सुहस्तो गोधुगुत दौहदेनाम् ।

श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्तोर्भीद्धोर्ध्वस्तदु षु प्र वोचत् ।७।

भाषार्थः—(सुदुधाम्) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करनेवाली (एताम्) इस (धेनुम्) विद्या को (उप ह्वये) मैं स्वीकार करता हूं, (उत) वैसेही (सुहस्तः) हस्त-क्रिया में चतुर (गोधुक्) विद्या को बोहने वाला [विद्वान्] (एनाम्) इस [विद्या] को (बोहत्) दुहे । (सविता) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर श्रेष्ठम् श्रेष्ठ (सवम्, ऐश्वर्य को (नः) हमारे लिये (साविषत्) उत्पन्न करे । (अभीद्धः) सब ओर प्रकाशमान (धर्मः) प्रतापी परमेश्वर ने (तत् उ) उस सब को (सु) अच्छे प्रकार (प्र वोचत्) उपदेश किया है ॥७॥

भाषार्थः—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य प्राप्त करें । जिस प्रकार परमेश्वर ने उसका उपदेश किया है ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। २६।

दिङ् कुण्वती वंसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती पनसा न्यागन् ।

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्नयेयं सा वर्धता महते सौभगाय ॥८॥

भाषार्थः—(हिङ्कृष्वती) गति वा वृद्धि करने वाली, (वसुपत्नी) धन की रक्षा करने वाली, (वसूनाम्) श्रेष्ठों के बीच (वस्सम्) उपदेशक पुरुष को (इच्छन्ती) चाहने वाली [वेदवाणी] (मनसा) विज्ञान के साथ (न्यागन्) निश्चय करके प्राप्त हुई है। (इयम्) यह (अघ्न्या) हिंसा न करने वाली विद्या (अश्विभ्याम्) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये (पयः) विज्ञान को (बुहाम्) परिपूर्ण करे, (सा) वही [विद्या] (महते) अत्यन्त (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े ॥८॥

भाषार्थः—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करे ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१।१६४।२७॥

जुष्टो दमूना अतिथिदुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।

विश्वो अग्ने अभियुजो विहस्य शत्रूयतामा भ्रा भोजनानि ॥९॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विजली सद्गुण उत्तम गुण वाले राजन् ! (जुष्टः) सेवा किया गया वा प्रसन्न किया गया, (दमूनाः) शम दम आदि से युक्त, (अतिथिः) सदा गतिशील [महापुरुषार्थी], (विद्वान्) विद्वान् तू (नः) हमारे (दुरोणे) घर में वर्तमान (इमम्) इस (यज्ञम्, उत्तम दान को) उप याहि सादर प्राप्त हो। और (शत्रूयताम्) शत्रु समान आचरण करने वालों की (विश्वोः) सब (अभियुजः) चढ़ाई कर्त्ती हुई सेनाओं को (विहस्य) अनेक प्रकार से मार कर (भोजनानि) पालन साधनों को (भ्रा, सब ओर से (भर) धारण कर ॥९॥

भाषार्थः—सब प्रजागण धर्मात्मा पराक्रमी राजा को सदा प्रसन्न रखें, जिससे वह शत्रुओं को जीत कर प्रजापालन करता रहे ॥९॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ५।४।५॥

अग्ने शश्वे महते सौभगाय तव द्युभनान्युत्तमानि सन्तु।

सं जास्त्यम् सृष्टमा कुण्ड्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥

भाषार्थः—(शश्वे) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (महते) हमारे बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (तव) तेरे (द्युभनानि) यश वा धन (उत्तमानि) अति ऊँचे (सन्तु) हों। (जास्त्यम्) [हमारे] पत्नीपतिधर्म [गृहस्थ आश्रम] को (सृष्टमा) सुन्दर नियम युक्त (सम्) आ बहुत ही भले प्रकार (कुण्ड्व) कर, (शत्रूयताम्) शत्रुसमान आचरण करने वालों के (महांसि) बलों को (अभि तिष्ठ) परास्त कर दे ॥१०॥

भाषार्थः—संयमी पुरुषार्थी स्त्री पुरुष बड़ा ऐश्वर्य, कीर्ति, बल प्राप्त करके शत्रुओं को जीत कर प्रजा पालन करें ॥१०॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५।२८।३। और यजु०—३३।१२॥

सुयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।

अद्धि तृणं घन्ये विश्वदानीं पिवं शुद्धमुदकपाचरन्ती ॥११॥

भाषार्थः—[हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो !] (सुयवसात्) सुन्दर अन्न प्रादि भोगने वाली और (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (हि) ही (भूयाः) हो, (अध) फिर (वयम्) हमलोग (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होंगे । (अघ्न्ये) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! (विश्वदानीम्) समस्त दानों की क्रिया का (आचरन्ती) आचरण करती हुई तू [हिंसा न करने वाली गौ के गमान] (तृणम्) घास [अल्प मूल्य पदार्थ] को (अद्धि) खा और (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिव) पी । ११॥

भाषार्थः—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥११॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१।१६४।४०॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥७४॥

१-४ ॥ १, २ वंशः, ३ त्वष्टा, ४ जातवेदा देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्, ४ त्रिष्टुप् ॥

शारीरिकमानसिकरोगनिवारणोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग हटाने का उपदेश ॥

अपचित्तां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम ।

मुनेर्देवस्य मूलं सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥१॥

भाषार्थः—(लोहिनीनाम्) रक्तवर्णां (अपचिताम्) गण्डमाला आदि रोगों की (माता) माता (कृष्णा) काले रंग वाली है, (इति) यह (शुश्रुम) हमने सुना है । (अहम्) मैं (मुनेः) मननशील (देवस्य) विद्वान् वैद्य के (मूलेन) मूल ग्रन्थ से (ताः सर्वाः) उन सब को (विध्यामि, छेदता हूँ ॥१॥

भाषार्थः— गण्डमाला आदि चर्म रोगों में पहिले काले धब्बे पड़ते, फिर रक्त वर्ण होजाते हैं, सद्वैद्य बड़े बड़े वैद्यों के मूल ग्रन्थों से कारण समझकर उनका छेदन आदि करे इसी प्रकार मनुष्य आत्मदोषों को हटावे ॥१॥

(मूल) ओषधि विशेष भी है जिसे पीपलामूल कहते हैं ॥

इस सूक्त का मिलान अ० सू० ६ । ८३ से करो ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् ।

इदं जघन्यामाम्पापा छिन्नानि स्तुकांमिव ॥२॥

भाषार्थः—(आसाम्) इन [गण्डमालाओं] में से (प्रथमाम्) पहिली को (विध्यामि) छेदता हूँ, (उत) और (मध्यमाम्) बीचवाली को (विध्यामि) तोड़ता हूँ । (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) नीचे वाली को (इवम्) अभी (आ) सब और (छिन्नानि) मैं छिन्न भिन्न करता हूँ (इव, जैसे (स्तुकाम्) उनके बाल को ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य रोगों के नाश करने में बहुत शीघ्रता करें ॥२॥

त्वाष्ट्रेण।हं वचसा वि ते ईर्ष्याममीमदम् ।

अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि । ३ ।

भाषार्थः—[हे मनुष्य !] (त्वाष्ट्रेण) सब के बनाने वाले परमेश्वर के (वचसा) वचन से (अहम्) मैंने (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (वि शमीमदम्) मद रहित करदिया है (अथो) और (पते) हे स्वामिन् ! [परमेश्वर !] ,यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध है, (ते) तेरे (तम्) उसको (उ) अवश्य (शमयामसि) हम शान्त करते हैं ॥३॥

भाषार्थः—जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करे ॥३॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समंक्तो विश्वाहा सुमना दीदिरीह ।

तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥४॥

भाषार्थः—(व्रतपते) हे उत्तम नियमों के रक्षक परमेश्वर ! [वा विद्वान् !] (त्वम्) तू (व्रतेन) उत्तम नियम से (समंक्तः) संगति करता हुआ (सुमनाः) प्रसन्नचित्त होकर (विश्वाहा) सब दिन (इह) यहाँ पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो । जातवेदः) हे प्रसिद्ध बुद्धि वा धन वाले ! (प्रजावन्तः) उत्तम प्रजाओं वाले (सर्वे वयम्) हम सब लोग (समिद्धम्) अच्छी भाँति प्रकाशमान (तम् त्वा) उस तुझको (उप सदेम) पूजा करते रहें ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के वेदोक्त धर्मों पर चलकर सामाजिक उन्नति करके सदा प्रसन्न रहें ॥४॥

सूक्तम् ॥७५॥

१-२ प्रजा देवताः ॥ १ त्रिष्टुप्, २ मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

सामाजिकोन्नत्युपदेशः— सामाजिक उन्नति का उपदेश ॥

प्रजावन्तीः सूयवंसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।

मा वं स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु ॥१॥

भाषार्थः—[हे मनुष्य प्रजाओ !] (प्रजावन्तीः) उत्तम सन्तान वाली, (सूयवंसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जल स्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतने वाला, डाकू उचकका आदि [वश में करे], (रुद्रस्य) पीड़ा-नाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥१॥

भाषार्थः - मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुए और अन्न जल आदि का सुश्रवन्ध करते हुए सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें, जिस से उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥१॥

यह मन्त्र या चुका है - अ० ४।२१।७ ॥

पदज्ञा स्थ रमेतयः संहिता विश्वनाम्नीः । उप मा देवादेवेभिरेत ।

इमं गोष्ठमिदं सदीं घृतेनास्मान्समुक्षत ॥२॥

भाषार्थः—[हे प्रजापति ! तुम] पदज्ञाः) पददंडी [वा अपने पद] को जानने वाली, रमेतयः) क्रीड़ा करने वाली, (संहिताः) यथावत् हित करने वाली वा परस्पर मिली हुई और (विश्वनाम्नीः) व्याप्त नामवाली (स्थ) हो । (देवीः) हे दिव्य गुण वाली देवियो ! (देवेभिः) उत्तम गुणों के साथ (मा) मुझ को (उप) समीप से (आ इत) प्राप्त होओ । (इमम्) इस (गोष्ठम्) वाचनालय को, (इदम्) इस (सदः) बैठक को और (अस्मान्) हमको (घृतेन) प्रकाश से (सम्) यथावत् (उक्षत) बढ़ाओ ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के मार्ग और अपनी स्थिति को जान कर परस्पर हित करके सामाजिक उन्नति करें ॥२॥

सूक्तम् ॥७६॥

१-६ ॥ १-५ वैद्यः, ६ इन्द्रो देवता ॥ १,३-५ अनुष्टुप्, २ द्विपदा जगती, ६ त्रिष्टुप् ॥

१-५ ॥ रोगनाशस्य, ६ मनुष्यधर्मस्योपदेशः—१-५ रोग नाश और ६ मनुष्य-धर्म का उपदेश ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असंतीभ्यो असत्तराः ।

सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेंदीयसीः ॥१॥

भाषार्थः—(आ) सब ओर से (सुस्रसः) बहुत बहनेवाले पदार्थ से (सुस्रसः) बहुत बहने वाली और (असंतीभ्यः) बहुत बुरी [पीड़ाओं] से (असत्तराः) अधिक बुरी, (सेहोः) सेहू [नीरस वस्तु विशेष] से (अरसतराः) नीरस [शुष्कस्वभाव] और (लवणात्) लवण से (विक्लेंदीयसीः) अधिक गल जानेवाली [गण्डमालाओं] को [नष्ट कर दिया है—म०३] ॥१॥

भावार्थः—मन्त्र १ तथा २ का सम्बन्ध (निर्हीः) “नष्ट कर दिया है” क्रिया मन्त्र ३ के साथ है । जैसे गण्डमालायें कभी सूख जाती, कभी हरी हो जाती हैं, ऐसी ही कुवासनायें कभी निर्बल और कभी सबल हो जाती हैं ॥१॥

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपक्ष्याः ।

विजाम्नि या अपचितः स्वयं स्रसः ॥२॥

भाषार्थः—(याः) जो (प्रैष्याः) गले पर (अथो) और (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्षियों [कंधो] के जोड़ों पर (अपचितः) गण्डमालायें [कुडियां] हैं। और (याः) जो (स्वयंस्त्रसः) अपने आप बहने वाली (अपचितः) फुसियां (विजाम्नि) गुहा स्थान पर हैं [उनकी नष्ट कर दिया है—म० ३] ॥२॥

भाषार्थः—दुःखदायी रोगों को वैद्य लोग नष्ट करें ॥२॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीयमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदिं श्रितः ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो [क्षय रोग] (कीकसाः) हंसली की हड्डियों को (प्रशृणाति) तोड़ देता है और (तलीयम्) हथेली और तलवे के चर्म पर (अवतिष्ठति) जम जाता है। (च) और (यः) जो (कः) कोई (ककुदिं) शिर में (श्रितः) ठहरा हुआ है, (तम्) उस (सर्वम्) सब (जायान्यम्) क्षय रोग को [उस वैद्य ने] (निः) निरन्तर (हाः) नष्ट कर दिया है ॥३॥

भाषार्थः—वैद्य रोगों के लक्षण जान कर उचित चिकित्सा करे ॥३॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विंशति पुरुषम् ।

तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥४॥

भाषार्थः—(पक्षी) पंख वाला [उड़ाऊ] (जायान्यः) क्षयरोग (पतति) उड़ता है, (सः) वह (पुरुषम्) पुरुष में (आ विंशति) प्रवेश कर जाता है। (तत्) यह (अक्षितस्य) भीतर व्यापे हुए (च) और (सुक्षतस्य) बहुत फोड़ों वाले, (उभयोः) दोनों प्रकार के [क्षयरोग] की (भेषजम्) ओषधि है ॥४॥

भाषार्थः—सद्वैद्य भीतरी और बाहिरी लक्षणों से रोग की पहिचान कर निवृत्ति करे ॥४॥

विद्म वै तं जायान्यं जानं यतो जायान्यं जायसे ।

कथं ह तत्र त्वं हन्तो यस्य कृष्णो हविर्गृहे ॥५॥

भाषार्थः—(जायान्यं) हे क्षयरोग ! (वं) निश्चय करके (ते) तेरा (जानम्) जन्मस्थान (विद्य) हम जानते हैं, (यतः) जहाँ से, (जायान्यं) हे क्षयरोग ! (जायसे) तू उत्पन्न होता है। (त्वम्) तू (तत्र) वहाँ पर (कथम् ह) किस प्रकार मे ही [मनुष्य को] (हन्तः) मार सकता है, (यस्य) जिसके (गृहे) घर में (हविः) ग्राह्य कर्म को (कृष्णः) हम करते हैं ॥५॥

भाषार्थः—जो मनुष्य रोगों का कारण जान कर पृथ्वी का सेवन और कृपय का त्याग करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं ॥५॥

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।

माध्यन्दिने सर्वेन आ वृषस्व रयिष्ठानों रयिष्मामु धेहि । ६॥

भाषार्थः—(धृषत्) हे निर्भय ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (वसूनाम्) धनों के निमित्त (समरे) युद्ध में (वृत्रहा) अनुनाशक हो कर (कलशे) [संसाररूप] कलश में [वर्तमान] (सोमम्) अमृत रस को (पिब) पी । (माध्यन्दिने) मध्य दिन के (सर्वेन) काल वा स्थान में (आ वृषस्व) सब प्रकार बली हो, (रयिष्ठानः) धनों का स्थान तू (रयिष् धन को (अस्मामु) हम लोगों में (धेहि) धारण कर ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि पथ्य कर्मों से स्वस्थ, बलवान् और मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी होकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन संचय करके सब को सुखी रखे ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ६ ॥

सूक्तम् ॥७७॥

१—३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

वीराणां कर्तव्योपदेशः—वीरों के कर्तव्य का उपदेश ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुष्टन । अस्माकोती रिशादसः । १॥

भाषार्थः—(सांतपताः) हे बड़े ऐश्वर्य में रहने वाले ! (रिशादसः) हे हिंसकों के मारने वाले (मरुतः) शूर विद्वान् मनुष्यो ! (अस्माक) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये (इदम्) इस और (तत्) उस (हविः) ग्रहणयोग्य वस्त्र का (जुष्टन) स्वीकार करो ॥१॥

भाषार्थः—पराक्रमी विद्वान् मनुष्य प्रजा की पुकार को सब प्रकार सुनकर रक्षा करें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २० । १ । से करो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है— ७ । ५६ । ६ ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हगायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।

द्रवः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हतना तम् ॥२॥

भाषार्थः—(वसवः) हे वसाने वाले (मरुतः) शूरो ! (यः) जो (द्रुहंणायुः) अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ (मर्तः) मनुष्य (चित्तानि) हमारे चित्तों के (तिरः) आड़े होकर (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है । (सः) वह [हमारे लिये] (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट] के (पाशान्) फन्दों को (प्रति) प्रत्यक्ष (मुञ्चताम्) छोड़ देवे, (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तपाने वाले (तपसा) ऐश्वर्य वा तुपक आदि हथियार से (हन्तन) मार डालो ॥२॥

भाषार्थः—शूर वीर पुरुष दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । १६ । ८ ॥

संवत्सरीणां मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगंगा मानुषासः । ते अस्मत्
पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥३॥

भाषार्थः—(संवत्सरीणाः) पूरे निवास काल तक [जीवन भर] प्रार्थना किये गये, (स्वर्काः) बड़े बच्चों वाले (उरुक्षयाः) बड़े घरों वाले, (सगंगाः) सेनाओं वाले, (मानुषासः) मनन शील (मरुतः) शूर पुरुष हैं । (ते) वे (सांतपनाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (मत्सराः) प्रसन्न रहने वाले, (मादयिष्णवः) प्रसन्न रखने वाले पुरुष (अस्मत्) हम से (एनसः) पाप के (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्चन्तु) छोड़ा दें ॥३॥

भाषार्थः—वे शूर वीर पुरुष धन्य हैं जो प्रसन्नता से पुरुषार्थ करके सब को क्लेशों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥७८॥

१-२ अग्निदेवता ॥ १ स्वराड् गायत्री; २ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

वि तं मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।

इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने । १॥

भाषार्थः—[हे आत्मा !] (ते) तेरी (रशनाम्) रसरी को, (योक्त्रम्) जोते वा डोरी को और (नियोजनम्) बन्धन गाँठ को (वि) विशेष करके (वि) विविध प्रकार (वि मुञ्चामि) मैं खोलता हूँ । (अग्ने) हे अग्नि [समान बलवान् आत्मा !] (इह) यहाँ पर (एव) ही (त्वम्) तू (अजस्रः) दुःखरहित होकर (एधि) रह ॥१॥

भाषार्थः—जो पुरुषार्थी योगी जन तीन गाँठों अर्थात् आध्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं, वे संसार में रह कर सब को सुखी रखते हैं ॥१॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनजिंम त्वा ब्रह्मणा दैव्येन ।

दीदिहि१ स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वीचो हविर्दो देवतसु ॥२॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे अग्नि [तुल्य पराक्रमी आत्मा !] (अस्मै, इस [प्राणी] के लिये (क्षत्राणि) अनेक बलों को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (त्वा) तुझको (दैव्येन) परमेश्वर से पाये हुए (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (युनजिम्) मैं नियुक्त करता हूँ । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) यहाँ पर (द्रविणा) अनेक धन (भद्रम्, आनन्द से (दीदिहि) प्रकाशित कर, (इमम्) इस [मनुष्य] को (देवतासु) विद्वानों के बीच (हविर्दाम्) देने योग्य पदार्थ का देने वाला (प्र वीचः) तू ने सूचित किया है ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य ब्रह्मचर्य योगाभ्यास आदि शुभ गुणों से अपने बलों को बढ़ा कर परोपकारी हो कर कीर्ति बढ़ावे ॥२॥

सूक्तम् ॥७६॥

१—४ ॥ अमावास्या देवता ॥ १, ३—४ त्रिष्टुप्; २ विराट् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः— परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।

तेनां नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१॥

भाषार्थः— (अमावास्ये) हे अमावास्या ! [सब के साथ बसी हुई शक्ति परमेश्वर !] (यत्) जिस कारण से (ते) तेरी (महित्वा, महिमा से (संवसन्तः) यथावत् वसते हुए (देवाः) विद्वानों ने (भागधेयम्) अपना सेवनीय काम (अकृण्वन्) किया है । (तेन) उसी से, (विश्ववारे) हे सब से स्वीकार करने योग्य शक्ति ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरा कर, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (नः) हमें (सुवीरम्) बड़े वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दान कर ॥१॥

भाषार्थः— इस मन्त्र में (अमावास्ये, संवसन्तः) पद [वस—रहना, ढाकना] धातु से बने हैं । विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में आश्रय लेकर सृष्टि के सब पदार्थों से उपकार करके सब को वीर पुरुषार्थी और धनी बनावे ॥१॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका—अ० ७ । २० । ४ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३' मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।

मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्र्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥२॥

भाषार्थः— (अहम्) मैं (एव) ही (अमावास्या) अमावास्या [सब के साथ वसी हुई शक्ति] (अस्मि) हूँ, (मयि) मुझ में [वर्तमान होकर] (इमे) यह सब (सुकृतः) सुकर्मों लोग (माम्) लक्ष्मी में (आ वसन्ति) यथावत् वास करते हैं । (मयि) मुझ में (उभये) दोनों प्रकार के (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ अर्थात् (साध्याः) साधने योग्य [स्वावर] (च) और (इन्द्र्येष्ठाः) जीव को प्रधान रखने वाले [जंगम] पदार्थ (सम्—समेत्य) मिलकर (अगच्छन्त) प्राप्त हुए हैं ॥२॥

भाषार्थः— इस मन्त्र में (अमावस्या, वसन्ति) पद [वस—रहना, टांकना] धातु से बने हैं । परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि वह अन्तर्यामी होकर समस्त, चर और अचर संसार को अपने वश में रखता है ॥२॥

यजुर्वेद अ० ४० म० १ में ऐसा वचन है ।

ईशा वास्यमिदं थं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ॥

(इदम् सर्वम्) यह सब, (यत् किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) जगत् है, (ईशा, ईश्वर से (वास्यम्) वसा हुआ है ॥

आगन् रात्रीं संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेश्यन्ती ।

अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥३॥

भाषार्थः— (वसूनाम्) निवास स्थानों [लोको] का (संगमनी) संयोग करने वाली, (ऊर्जम्) पराक्रम और (पुष्टम्) पोषण और (वसु) धन (आवेश्यन्ती) दान करती हुई (रात्री, मुख देने वाली शक्ति] (आ अगन्) आई है । (अमावास्यायै) उस अमावास्या [सब के साथ वास करने वाली शक्ति, परमेश्वर] को (हविषा) आत्मदान [पूरण भक्ति] से (विधेम) हम पूजें, (ऊर्जम्) पराक्रम को (पयसा) ज्ञान के साथ (दुहाना) पूरण करती हुई वह (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हुई है ॥३॥

भाषार्थः— इस मन्त्र में (अमावास्यायै, वसूनाम्, वसु) पद [वस रहना] धातु से बने हैं । जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से पुरुषार्थ और भक्ति के साथ उपकार लेते हैं, वे ही ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥३॥

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वां रूपाणि परिभुर्ज्जान ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्वाम पतयो रयीणाम् ॥४॥

भाषार्थः—(अमावास्या) हे अमावास्या ! [सब के साथ निवास करने वाली शक्ति, परमेश्वर !] (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक होकर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (ज्जान) उत्पन्न किया है । (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥४॥

भाषार्थः—परमेश्वर ही अनुपम, सर्वशक्तिमान् और सब सृष्टि का कर्ता है, उसी की शरण लेकर विद्या सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १२१ । १० । और यजुर्वेद—अ० २३ । ६५ ॥

सूक्तम् ॥८०॥

१ - ४ ॥ पौर्णमासी देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।

तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम । १॥

भाषार्थः—(पश्चात्) पीछे (पूर्णा) पूर्णा, (पुरस्तात्) पहिले (उत) और (मध्यतः) मध्य में (पूर्णा) पूर्ण (पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय वा आकारवान् पदार्थों की आधारशक्ति, परमेश्वर] (उत् जिगाय) सब से उत्कृष्ट हुई है । (तस्याम्) उस [शक्ति] में (देवैः) उत्तम गुणों और (महित्वा) महिमा के साथ (संवसन्तः) निवास करते हुए हम (नाकस्य) सुख की (पृष्ठे) ऊँचाई पर [वा तिचाई में] (इषा) पुरुषार्थ से (सम्) यथावत् (मदेम) आनन्द भोगें ॥१॥

भाषार्थः—परमेश्वर सृष्टि से पहिले और पीछे और मध्य में वर्तमान और सर्वोत्कृष्ट है, उसी के आश्रय से मनुष्य उत्तम गुणी होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥१॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।

स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥२॥

भाषार्थः— (वयम्) हम लोग (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, (वाजिनम्) महाबलवान् (पौर्णमासम्) पौर्णमास [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों के आधार परमेश्वर] को (पञ्चामहे) पूजते हैं। (सः) वह (नः) हमें (अक्षिताम्) बिना घटी हुई और (अनुपदस्वतीम्) बिना घटने वाली (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) देवे ॥२॥

भाषार्थः— मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके पुरुषार्थ के साथ ऐश्वर्यवान् होवे ॥२॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जैजान ।

यत्कामास्ते जुहुवस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् । ३॥

भाषार्थः— (प्रजापते) हे प्रजापालक परमेश्वर ! ((त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक हो कर (एतानि) इन (दिश्व) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥३॥

भाषार्थः— यह मन्त्र अ० ७। ७६। ४। में आ चुका है, (अमावास्ये) के स्थान पर यहां (प्रजापते) पद है, भावार्थ समान है ॥३॥

३—(प्रजापते) हे प्रजापालक। अन्यद्गतम्—अ० ७। ७६। ४॥

पौर्ण मासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां राज्ञांमतिशर्वरेषु ।

ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाकं सुकृतः प्रविष्टाः ॥४॥

भाषार्थः— (पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों की आधार शक्ति] (अह्नाम्) दिनों के बीच (राज्ञांम) राज्ञियों के (अतिशर्वरेषु) अत्यन्त अन्धकारों में (प्रथमा) पहिली (यज्ञिया) पूजा योग्य (आसीत्) हुई है। (यज्ञिये) हे पूजायोग्य शक्ति ! (ये) जो (ह्वाम्) तुम्हें (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से (अर्धयन्ति) पूजते हैं, (अमी) यह सब [वर्तमान] और (ते) वे [आगे और पीछे होने वाले] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (नाके) आनन्द में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं ॥४॥

भाषार्थः— जो परमेश्वर सृष्टि और प्रलय से अनादि और अनन्त है, उसकी पूजा करके सब मनुष्य आनन्द पाते हैं ॥४॥

सूक्तम् ॥८१॥

१-६ ॥ १ सोमाकीं; २-६ चन्द्रमा देवता ॥ १ जगती, २, ६ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः; ५ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती ॥

सूर्यचन्द्रलक्षणोपदेशः—सूर्य, चन्द्रमा के लक्षणों का उपदेश ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परिं यातोऽर्णवम् ।

विश्वान्यो भुवना विचष्टे ऋतूरन्यो विदधञ्जायसे नवः ॥१॥

भाषार्थः—(एतौ) यह दोनों [सूर्य, चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) बिचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (शिशू) [माता पिता के दुःख हटाने वाले] दो बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) चारों ओर (यातः) चलते हैं । (अन्यः) एक [सूर्य] (विदधा) सब (भुवना) भूवर्गों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यः) दूसरा तू [चन्द्रमा] (ऋतून्) ऋतुओं को [अपनी गति से] (विदधत्) बनाता हुआ [शुक्ल पक्ष में] (नवः) नवीन (जायसे) प्रकट होता है ॥१॥

भाषार्थः—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से आकाश में घूमते हैं और सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को प्रकाश पहुँचाता है । चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आरम्भ से एक एक कला बढ़कर वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० । ८५ । १८, १९ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरूपसामेष्यग्रम् ।

भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥

भाषार्थः—(चन्द्रमः) हे चन्द्रमा ! तू [शुक्लपक्ष में] (नवोनवः) नया नया (जायमानः) प्रकट होता हुआ (भवसि) रहता है, और (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) जताने वाला तू (उपसाम्) उपाओं [प्रभातवेलाओं] के (अग्रम्) आगे (एषि) चलता है । और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) उत्तम पदार्थों को (भागम्) सेवनीय उत्तम गुण (वि दधासि) विविध प्रकार देता है, और (दीर्घम्) लम्बे (आयुः) जीवन काल को (प्र) अच्छे प्रकार (तिरसे) पार लगाता है ॥२॥

भाषार्थः—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है और दिनों, अर्थात् प्रतिपदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता है । और पृथिवी के पदार्थों में जीवन शक्ति देकर पृष्ठिकारक होता है ॥२॥

भगवान् यास्क का मत—निरु० ११ । ६ । “नया नया प्रकट होता हुआ”—यह शुक्लपक्ष के आरम्भ से अभिप्राय है । दिनों को जताने वाला उपाओं के आगे चलता है, यह कृष्णपक्ष की समाप्ति से अभिप्राय है । ~~यह~~ कहते हैं कि दूसरा पाद सूर्य देवता का है ॥”

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा अंसि ।

अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥३॥

भाषार्थः—(सोमस्य) हे अमृत के (अंशो) बांटने वाले ! (युधाम्) हे युद्धों के (पते) स्वामी ! (वै) निश्चय करके तू (अनूनः) न्यूनता रहित [सम्पूर्ण] (नाम) प्रसिद्ध (अंसि) है । (दर्शं) हे दर्शनीय ! (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा से (च च) और (धनेन) धन से (अनूनम्) सम्पूर्ण (कृधि) कर ॥३॥

भाषार्थः—[पूर्ण चन्द्रमा अमृत का बांटने वाला इसलिये है कि उसकी किरणों से पार्थिव पदार्थों और प्राणियों में पोषण शक्ति पहुंचती है । और युद्धों का स्वामी इस कारण है कि पौर्णमासी को पार्थिव समुद्र का जल चन्द्रमा की ओर लहराता है, अथवा उल्लेखादि युद्धों अर्थात् ग्रह और तारा गणों के परस्पर निकट हो जाने वा टकरा जाने का काल चन्द्रमा की गति से निर्णय किया जाता है—देखो सूर्यसिद्धान्त, अध्याय ७ । श्लोक १८-२३ । मनुष्य पौष्टिक पदार्थों से उपकार लेकर प्रजावान् और धनवान् हों ॥३॥

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः ।

समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥४॥

भाषार्थः—[चन्द्र !] तू (दर्शः) दर्शनीय (असि) है, (दर्शतः) देखने का साधन (असि) है, (समग्रः) सम्पूर्ण गुण वाला, और (समन्तः) सम्पूर्ण कला वाला, (असि) है । (गोभिः) गौघों से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) अन्य पशुओं से (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि प्रजा से, (गृहैः) घरों से (धनेन) और धन से (समग्रः) सम्पूर्ण और (समन्तः) परिपूर्ण (भूयासम्) मैं रहूँ ॥४॥

भाषार्थः—जिस प्रकार पूर्णचन्द्र संसार का उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्य सब विधि से परिपूर्ण होकर परस्पर सहायक रहें ॥४॥

यो३'स्वान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व ।

आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जो मनुष्य (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, और (वयम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) विरोध करते हैं, (त्वम्) तू [हे चन्द्र !] (तस्य) उसको (प्राणेन) प्राण से (प्याप्यायस्व) विपुक्त कर । (वयम्) हम लोग

(गोभिः) गौश्रों से (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) [हाथी भैंस भेड़ आदि] अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि से, (गृहैः) घरों से, और (धनेन) धन से (आ) सब प्रकार (प्यायिषीमहि) बढ़ें ॥५॥

भावार्थः—चन्द्रमा आदि के उत्तम गुण कुव्यवहार से दुःखदायक और सुव्यवहार से सुखदायक होते हैं ॥५॥

(प्यायिषीमहि) के स्थान पर पं० सेवकलाल के पुस्तक में (प्यायिषीमहि) पाठ है ॥

यं देवा अंशुमां प्राययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति ।

तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरायाययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

भावार्थः—(यम्) जिस (अंशुम्) अमृत [चन्द्रमा के रस] को (देवाः) प्रकाशमान सूर्य की किरणें [शुक्लपक्ष में] (आप्याययन्ति) बढ़ा देती हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) बिना घटे हुए को (अक्षिताः) वे व्यापक [किरणें] (भक्षयन्ति) [कृष्ण पक्ष में] खा लेती हैं। (तेन) उसी [नियम] से (अस्मान्) हमको (भुवनस्य) संसार के (गोपाः) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा, (वरुणः) श्रेष्ठ बँध और (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, आचार्य (आ) सब प्रकार (प्याययन्तु) बढ़ावें ॥६॥

भावार्थः—जिस नियम से सूर्य की किरणें चन्द्रमा के अनिष्ट रस को खींचकर अमृत उत्पन्न करती हैं, वैसे ही राजा आदि गुरुजन प्रजा के दुःखों का नाश करके सुख प्राप्त करावें ॥६॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥८२॥

१-६ ॥ अग्निर्वेता ॥ १, ४-६ त्रिष्टुप्; २ बृहती; ३ अगती ॥

वेदविज्ञानोपदेशः—वेद के विज्ञान का उपदेश ॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासुभद्रा द्रविणानि धत्त ।

इमं यज्ञं न रत देवतां नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (सुष्टुतिम्) बड़ी स्तुति वाले, (गव्यम्) पृथिवी वा स्वर्ग के लिये हितकारक, (आजिम्) प्राप्तियोग्य परमेश्वर को (अभि) भले प्रकार (अर्चत) पूजो, और (अस्मासु) हम लोगों में (भद्रा) सुखों और (द्रविणानि) बलों और धनों को (धत्त) धारण करो। (देवता) प्रकाशमान तुम सब (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (नः) हम में (नयत) पहुँचाओ, (घृतस्य) प्रकाशित ज्ञान की (धाराः) धारायें [धारण शक्तियों वा प्रवाह] (मधुमत्, श्रेष्ठ विज्ञानयुक्त कर्म को (पवन्ताम्) शुद्ध करें ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों का उपकार करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ४ । ५८ । १० ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बल्लेन ।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥२॥

भाषार्थः—मैं (अग्रे) सब से पहिले वर्तमान (अग्निम्) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मयि) अपने में (क्षत्रेण) [दुःख से बचाने वाले] राज्य, (वर्चसा) प्रताप और (बलेन सह) बल के साथ (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। मैं (मयि) अपने में (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] को, (मयि) अपने में (आयुः) जीवन को, (मयि) अपने में (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के द्वारा (दधामि) धारण करता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य अनादि, अनन्त, परमात्मा का भरोसा रखकर शारीरिक, आत्मिक बल बढ़ा कर राज्य आदि की वृद्धि करें ॥२॥

इहैवाग्रे अग्निं धारया रयि मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः ।

क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥३॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (इह एव) यहाँ पर ही (रयिम्) धन को (अग्निं) अधिकार पूर्वक (धारया) पुष्ट कर, (पूर्वचित्ताः) पहिले से सोचने वाले [घाती], (निकारिणः) अपकारी [दुष्ट] लोग (त्वा) तुझ को (मा नि क्रन्) नीचा न करें। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (तुभ्यम्) तेरे (क्षत्रेण) [विघ्न से

वचाने वाले] राज्य के साथ [हमारा] (सुयमम्) सुन्दर नियम वाला कर्म (अस्तु) होवे, (ते) तेरा (उपसत्ता) उपासक [आश्रित जन] (अग्निष्टुतः) अजेय होकर (वर्धताम्) बढ़ता रहे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य दूरदर्शी नीतिज्ञ हो कर धात लगाने वाले शत्रुओं से बच कर धर्म के साथ अपनी और प्रजा की उन्नति करें ॥३॥

अन्वग्निरुपसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।

अनु सूर्ये उपसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश । ४ ।

भाषार्थः—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उपसाम्) उपासों के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सब को चलाने वाले परमेश्वर] ने (उपसः) उपासों में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आ विवेश) प्रवेश किया है ॥४॥

भाषार्थः—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रच कर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्य का उपास्य है ॥४॥

प्रत्यग्निरुपसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।

प्रति सूर्यस्य पुरुषा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

भाषार्थः—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उपसाम्) उपासों के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सबसे पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुषा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब और (ततान) लाया है ॥५॥

भाषार्थः—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचारकर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥५॥

घृतं तै अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनु रद्या समिन्धे ।

घृतं तै देवीर्नैप्त्यं आ बहन्तु घृतं तुभ्यं दुहता गावो अग्ने ॥६॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (ते) तेरा (धृतम्) प्रकाश (दिव्ये) दिव्य [सूक्ष्म] कारण में और (सद्यस्ये) मिलकर ठहरने वाले कार्य रूप जगत् में है, (धृतेन) प्रकाश के साथ वर्तमान त्वां) तुझ को (मनुः) मननशील पुरुष (अद्य) अब (सम्) यथावत् (इन्ध्रे) प्रकाशित करता है। (ते) तेरे (धृतम्) प्रकाश को (देवीः) उत्तम गुणवाली, (नप्यः) न गिरनेवाली प्रजाएं [हमें] (आ वहन्तुः) प्राप्त करावें, (अग्ने) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (गावः) वेद वाणियां (तुभ्यम्) तेरे (धृतम्) प्रकाश को (बुद्धताम्) परिपूर्ण करें ॥६॥

भाषार्थः—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की सत्ता और शक्ति को कारण और कार्य रूप जगत् में साक्षात् करके संसार को पुरुषार्थी बनावें ॥६॥

सूक्तम् ॥८३॥

१-४ ॥ वरुणो देवता ॥ १ अनुष्टुप्, २ पङ्क्तिः, ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वर नियमोपदेशः—ईश्वर के नियम का उपदेश ॥

अप्सु तै राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु । १॥

भाषार्थः—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (ते) तेरा (हिरण्ययः) तेजोमय (गृहः) गृहण सामर्थ्य (अप्सु) सब प्राणों में (मिथ) एक दूसरे के साथ [वर्तमान है] । (ततः) उसी से (धृतव्रतः) नियमों के धारण करनेवाले (राजा) राजा आप (सर्वा) सब (धामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) खोल दें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना से पापों को छोड़, धर्म में प्रवृत्त होकर क्लेशों से मुक्त होवें ॥१॥

धाम्नीधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।

यदापो अध्न्या इति वरुणेति यद्वचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

भाषार्थः—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (इतः) इस (धाम्नोधाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (नः) हमें (मुञ्च) छुड़ा । (यत्) जिस कारण से (आपः) यह प्राण (अध्न्याः) न मारने योग्य गो [के तुल्य] हैं, (इति) इस प्रकार से, (वरुण) हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ! (इति) इस प्रकार से, (यत्) जो कुछ (वचिम) हमने कहा है, [इसी कारण से] (वरुण) हे दुःखनिवारक ! (नः) हमें (ततः) उस [बन्धन] से (मुञ्च) छुड़ा ॥२॥

भाषार्थः—जो लोग परमात्मा को बन्धनमोचक जानकर विरुद्ध आचरण से गौंके समान अपने और पराये प्राणों की रक्षा करते हैं, वे हृदय की गांठ खुल जाने से सदा आनन्दित रहते हैं ॥२॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । १८ ॥

उत्तु॒त्तमं वरु॒ण पाश॑म॒स्पद॑वा॒धमं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।

अथा व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवा॑ना॒गसो॑ अ॒दितये॑ स्याम । ३॥

भाषार्थः—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम्) ऊँचे वाले (पाशम् पाश को (उत्) उपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अथ) नीचे से, और (मध्यमम्) बीचवाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथाय) खोल दे । (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्डनीय जगदीश्वर ! (अथ) फिर (वयम्) हमलोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः) निरपराधी (स्याम) होवें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके धर्माचरण से भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्लेशों को अलग करके सदा सुखी रहें ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है । १ । २४ । १५ और यजु० १२ । १२ । और अथर्ववेद में भी है—१८ । ४ । ६६ ॥

मा॒स्त् पाशा॑न् वरु॒ण मुञ्च॑ सर्वा॒न् य उत्त॑मा अ॒धमा वारु॑णा ये ।

दुष्स्व॑प्य॒ दुरि॑तं नि ध्वा॒स्मदथ॑ गच्छेम सु॒कृत॑स्य॒ लोक॑म् ॥४॥

भाषार्थः—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः) ऊँचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे [फन्दे] (वारुणाः) दोष निवारक वरुण परमेश्वर से आये हैं । (दुष्स्वप्यम्) नींद में उठे कुविचार और (दुरितम्) बिघ्न को (अस्मत्) हम से (निःस्व) निकाल दे, (अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥४॥

भाषार्थः—जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुष्कर्मों से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से पीछे आ चुका है । अ० ६ । १२१ । १ ॥

सूक्तम् ॥८४॥

१-३ ॥ १ अग्निः, २, ३ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराट्ग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह । विश्वा
अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिश्च परि पाहि नो गयम् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे प्रतापी राजन् (अनाधृष्यः) सब प्रकार अजेय, (जात-
वेदाः) बड़ा जानवान् वा धनवान्, (अमर्त्यः) अमर [यशस्वी], (विराट्) बड़ा
ऐश्वर्यवान्, (क्षत्रभृद्) राज्यपोषक होकर तू (इह) यहाँ पर (दीदिहि) प्रकाशमान
हो । (विश्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (प्रमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ तू
(मानुषीभिः) मनुष्यों की हितकारक (शिवाभिः) मुक्तियों के साथ (अथ) अब (नः)
हमारे (गयम्) घर की (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर ॥१॥

भावार्थः—नीतिज्ञ, प्रतापी राजा प्रजाओं को कष्टों से मुक्त करके
सदा सन्तुष्ट रख उन्नति करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७ । ७ ॥

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषम चर्षणीनाम् ।

अपानुदोजनेममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (चर्षणीनाम् वृषभ) हे
मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (वामम्) उत्तम (क्षत्रम्) राज्य और (ओजः अभि) पराक्रम के
लिये (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है । तू ने (अमित्रयन्तम्) अमित्र समान आच-
रण वाले जनम् लोगों को (अप अनुदः) हटा दिया है (उ) और (देवेभ्यः) विजय
चाहने वालों के लिये (उरुम्) विस्तीर्ण (लोकम्) स्थान (अकृणोः) किया है ॥२॥

भावार्थः—राजा के पराक्रमी होने से सेनापति लोग और प्रजागण
भी ओजस्वी होते हैं ॥२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । ३ ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परंस्याः ।

सृकं संशायं पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताडि वि मृधो नुदस्व । ३ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (भीमः) भयानक (कुचरः) टेढ़े चलने वाले
[ऊँचे नीचे, दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न)

आखेट इङ्गने वाले] सिंह आदि के समान आप (परावतः) समीप देश और (परस्थाः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्, आते रहें। (तिग्मम्) उत्साह वाले (सूक्ष्म्) वाण और (पविम्) वज्र को (संशाय) तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को (वि) विशेष कर (ताडि) ताड़नाकर और (मूधः) हिसकों को (वि नुदस्व) निकाल दे ॥३॥

भाषार्थः—राजा सिंह के समान पराक्रमी होकर शस्त्र अस्त्रों को तीक्ष्ण करके शत्रुओं को जीत प्रजा को सुखी रखे ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०।१८०।२। और यजु० १८।७१। इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७।२६।२॥

सूक्तम् ॥८५॥

१ ॥ ताक्ष्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्यम् षु वाजिनै देवजुतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।

अरिष्टनेमि पृतनाजिमाशु स्वस्तये ताक्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

भाषार्थः—(त्यम् उ, उम ही (वाजिनम्) अन्नवाले (देवजुतम्) विद्वानों से प्रेरणा किये गए, (सहोवानम्) महाबली, (रथाताम्) रथों के [जल थल और आकाश में] (तरुतारम्) तिराने [चलाने] वाले, (अरिष्टनेमिम्) अटूट वज्रवाले, (पृतनाजिम्) सेनाओं को जीतने वाले (आशुम्) व्यापने वाले, (ताक्ष्यम्) महावेगवान् राजा को (इह) यहाँ पर (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिये (सु) आदर से (आ) भले प्रकार (हुवेम) हम बुलावें ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् प्रजागण उत्तम गुणी राजा को अपनी रक्षा के लिये आवाहन करते रहें ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०।१७८।१। साम० पू० ४।५।१, और निरुक्त १०।२८ में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ॥८६॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवैहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।

हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

भाषार्थः—(त्रातारम्) पालन करने वाले (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले राजा को, (अवितारम्) तप्त करने वाले (इन्द्रम्) सभाध्यक्ष [राजा] को, (हवेहवे) संग्राम संग्राम में (सुहवम्) यथावत् संग्राम वाले, (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) सेनापति [राजा] को, (शक्रम्) शक्तिमान्, (पुरुहूतम्) बहुत [लोनों] से पुकारे गए (इन्द्रम्) प्रतापी राजा को (नु) शीघ्र (हुवे) मैं बुलाता हूँ, (मघवान्) बड़ा धन वाला (इन्द्रः) राजा (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) मञ्जल (कृणोतु) करे ॥१॥

भाषार्थः—सब मनुष्य धर्मार्त्ता, न्यायकारी, जितेन्द्रिय, शूरवीर राजा का सदा आदर करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।४७।११, यजु० २०।५०, और साम० पू० ४।५।२॥

सूक्तम् ॥८७॥

१ ॥ रुद्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरमहिमोपदेशः—ईश्वर की महिमा का उपदेश ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वँ१ न्तर्य ओषधीर्वीरुष आविवेश ॥

य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥१॥

भाषार्थः—(यः) जो (रुद्रः) रुद्र, ज्ञानवान् परमेश्वर (अग्नौ) अग्नि में, (यः) जो (अप्सु अग्नौ) जल के भीतर है, (यः) जिसने (ओषधीः) उष्णता रखने वाली अन्न आदि ओषधियों में और (वीरुषः) विविध प्रकार उगने वाली बेलों वा बूटियों में (आविवेश) प्रवेश किया है। (यः) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों [उपस्थित पदार्थों] को (चाक्लृपे) रचा है, (तस्मै) उस (अग्नये) सर्वव्यापक (रुद्राय) रुद्र, दुःखनाशक परमेश्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥१॥

भाषार्थः—जो अद्भुत स्वरूप, सर्वप्रकाशक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥१॥

सूक्तम् ॥८८॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ बृहती छन्दः ॥

कुसंस्कारनाशोपदेशः—कुसंस्कार के नाश का उपदेश ॥

अपेह्वरिररूपरिर्वा अंसि । विषे विषमपृक्था विषमिद्

वा अगृक्थाः । अहिमे वाभ्यर्पेहि तं जहि ॥१॥

भाषार्थः— [हे विष !] (अप इहि) चला जा, (अरिः अतिः) तू शत्रु है, (अरिः) तू शत्रु (वै) ही (अति, है)। (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपृष्याः) तू ने मिला दिया है, (विषम्) विष को (इत्) ही (वै) हाँ (अपृष्याः) तू ने मिला दिया है (अहिम्) सांप के पास (एव) ही (अभ्यपेहि) तू चला जा, (तम्) उसको (जहि) मार डाल ॥१॥

भाषार्थः— जैसे विष में विष मिलाने से अधिक प्रचण्ड हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की इन्द्रियाँ एक तो आप ही पाप की ओर चलायमान होती हैं, फिर कुसंस्कार वा कुसंगति पाकर अधिक प्रचण्ड विपरीत हो जाती हैं। जैसे वैद्य विष को विष से मारता है, वैसे ही विद्वान् जितेन्द्रियता से इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥१॥

सूक्तम् ॥८६॥

१-४ ॥ १, २ अग्निः; ३ आपः; ४ भूमिद् देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्,
४ गायत्री ॥

विद्वत्सङ्क्षोपदेशः—विद्वानों की संगति का उपदेश ॥

अपो दि०श अ०चायिषं र०सेन स०पृक्षमहि ।

प०स्वानग्नि आ०गमं तं मा सं सृ०ज व०र्चसा ॥१॥

भाषार्थः— (दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्षमहि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान् ! (पस्वान्) गति वाला मैं (आ अगमम्) आया हूँ, (तम्) उस (मा) भुक्तको (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृजं) संयुक्त कर ॥१॥

भाषार्थः— मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २२ ॥

सं मा०ग्ने व०र्चसा सृ०ज सं म०जया स०मायुषा ।

वि०शुर्मे अ०स्य दे०वा इन्द्रो वि०धात् स०ह कृ०पिभिः ॥२॥

भाषार्थः— (अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) भुक्तको (वर्चसा) [वृद्ध विद्या के] तेज से (सम्) अच्छे प्रकार (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार और (आयुषा) जीवन से (सम् सृजं) अच्छी प्रकार संयुक्त कर। (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस

(मे) मुक्तको (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋविभिः सह) ऋषियों के साथ [मुक्त] (विद्यात् जाने ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावे ॥२॥

इदमापः प्र वंहतावद्यं च मलं च यत् ।

यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् । ३॥

भावार्थः—(आपः) हे जल [के समान शुद्धि करने वाले विद्वानो !] (इदम्) इस [सब] को (प्रवहत) बहा दो, (यत् जो कुछ [मुक्त में] (अवद्यम्, अकथनीय [निन्दनीय] (च च) और (मलम्) मलिन कर्म है। (च) और (यत्) जो कुछ (अनृतम्) झूठ मूठ (अभिदुद्रोह) बुरा चीता है, (च) और (यत्) जो कुछ (अभीरुणम्) निर्भय [निरपराधी] पुरुष को (शेपे) मैंने दुर्वचन कहा है ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को सुधारे ॥३॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—६। १७ ॥

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि ॥४॥

भावार्थः—[हे विद्वन् !] तू (एधः) बड़ा हुआ (असि) है, (एधिषीय) मैं बढ़ूँ, (समित्) तू प्रकाशमान (असि) है, मैं (सम्) ठीक ठीक (एधिषीय) प्रकाशमान होऊँ। (तेजः असि) तू तेज है, (तेजः) तेज को (मयि) मुझ में (धेहि) धारण कर ॥४॥

भावार्थः—मनुष्य विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध विद्वानों से सुशिक्षा पाकर उन्नति करते हुए तेजस्वी होवे ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २३ ॥

सूक्तम् ॥ ६० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्, ३ जगती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततैरिव गुह्यितम् ।

ओजो दासस्य दम्भय ॥१॥

भाषार्थः—[हे राजन् !] (पुराणवत्) पुराण [पुराणे नियम] के अनुसार (दासस्य) दुःखदायी डाकू के (भोजः) बल को (व्रततेः) बेल के (गुण्यितम् इव) गांठ के समान (अपि) निश्चय करके (वृश्च, काट दे और (वम्भय) हटा दे ॥१॥

भाषार्थः—राजा चोर आदि दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी रखे ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—८ । ४० । ६ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहे ।

म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥२॥

भाषार्थः—(वयम्) हम लोग (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले राजा के साथ (अस्य) इस [शत्रु] के (संभृतम्) एकत्र किये हुए (तत्) उस (वसु) धन को (वि भजामहे) बांट लेवें । [हे शत्रु !] (वरुणस्य) शत्रु निवारक राजा की (व्रतेन) व्यवस्था से (ते) तेरी (भ्रजः) तमक और (शिभ्रम्) डिठाई को (म्लापयामि) मैं भेदता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—राजा और राजपुरुष यथान्याय शत्रु को धनदण्ड आदि देकर निर्बल करदें ॥२॥

यथा शेषो अपायान्ते स्त्रीषु चासदनावयाः ।

अवस्थस्य वनदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।

यदाततमव तत् तनु यदुत्तं नि तत् तनु ॥३॥

भाषार्थः—(अवस्थस्य) हिंसा में रहने वाले, (वनदीवतः) गाली बकने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्का उत्पन्न करने वाले, (नितोदिनः) नित्य सताने वाले पुरुष का (शेषः) पराक्रम (यथा) जिस प्रकार (अपायान्ते) मिट जावे (च) और (स्त्रीषु) स्तुति योग्य स्त्रियों [वा उनके समान सज्जन प्रजाओं] में (अनावयाः) न पहुँचने वाला (असत्) होवे, [उसी प्रकार हे राजन् !] (यत्) जो कुछ [उसका बल] (प्राततम्) फैला हुआ है, (तत्) उसे (अव तनु) संकुचित कर दे और (यत्) जो कुछ [सामर्थ्य] (उत्ततम्) ऊँचा फैला है, (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे ॥३॥

भाषार्थः—राजा सज्जनों के सतानेवाले अत्याचारियों को सदा वश में रखे ॥३॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥६१॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वाँ अवीभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।

वार्यतां द्वेषो अभयं नः कृणोत सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥१॥

भावार्थः—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से जाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (अवीभिः) अनेक रक्षाधर्मों से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देनेवाला (भवतु) होवे । वह (द्वेषः) वैरियों को (वार्यताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करनेवाले (स्याम, होवें) ॥१॥

भावार्थः—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । १२ । तथा १० । १३१ । ६ । और यजु०—२० । ५१ ॥

सूक्तम् ॥६२॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स सुत्रामा स्वर्वाँ इन्द्रो अस्मद्वाराच्चिद् द्वेषः सनुतयुयोतु ।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सोमनसे स्याम ॥१॥

भावार्थः—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) महा प्रतापी राजा (अस्मत्) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुधर्मों को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे । (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य) पूजा योग्य राजा की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करनेवाली (सोमनसे) प्रसन्नता में (स्याम) रहें ॥१॥

भावार्थः—सब मनुष्य प्रजारक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर सदा प्रसन्न रहें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।४७।१३। तथा १०।१३१।७।
और यजु० २०।५२॥

सूक्तम् ॥६३॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ भाषत्री छन्दः ॥

शूरलक्षणोपदेशः— शूरों के लक्षणों का उपदेश ॥

इन्द्रेण मन्थुना वयमभि ध्याम पृतन्यतः । दन्तो वृत्राण्यप्रति ॥१॥

भावार्थः—(इन्द्रेण) प्रतापी सेनापति के साथ और (मन्थुना) क्रोध के साथ (वृत्राणि) [घेरने वाले] सेनादलों को (अप्रति) वे रोक (दन्तः) मारते हुए (वयम्) हम लोग (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वालों को (अभि ध्याम) हरा दें ॥१॥

भावार्थः—शूर सेनानी के साथ समस्त सेना शूर होकर शत्रुओं को मारे ॥१॥

सूक्तम् ॥६४॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजःस्तुत्युपदेशः—राजा की स्तुति का उपदेश ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषा सोमं नयामसि ।

यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥१॥

भावार्थः—(ध्रुवम्) दृढ़ स्वभाव (सोमम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) आत्मदान वा भक्ति के साथ (अव नयामसि) हम स्वीकार करते हैं । (यथा) जिससे [वह] (इन्द्रः) प्रतापी राजा (नः) हमारे लिये (केवलीः) सेवा-स्वभाव वाली (विशः) प्रजाओं को (संमनसः) एक मन (करत्) कर देवे ॥१॥

भावार्थः—सब मनुष्य विद्वान् राजा का अभिषेक करके प्रार्थना करें कि आप सब प्रजा को परस्पर मिलाकर प्रसन्न रखें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है— १०।१७३। ६। और यजु० ७।

२५ ॥

सूक्तम् ॥६५॥

१-३ । शूभ्री देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधनिवारणोपदेशः— काम और क्रोध के निवारण का उपदेश ॥

उदस्य श्यावौ विधुरौ गृध्रौ घामिव पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥१॥

भाषार्थः—(अस्य) इस [जीव] के (श्यावौ) दोनों गति शील (विधुरौ) व्यथा देने वाले, (गृध्रौ) बड़े लोभी [काम क्रोध] (घाम् इव) आकाश को जैसे (उत् पेततुः) उड़ गये हैं । (उच्छोचनप्रशोचनौ) अत्यन्त दुःखाने वाले और सब ओर से दुःखाने वाले दोनों (अस्य) इसके (हृदः) हृदय के (उच्छोचनौ) अत्यन्त दुःखानेवाले हैं ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य काम-क्रोध के वशीभूत होकर बड़ी बड़ी व्यर्थ कल्पनायें करके सदा दुःखी रहते हैं ॥१॥

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाशिव ।

कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥२॥

भाषार्थः—(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों को (उत् अतिष्ठिपम्) उठा दिया है, (इव) जैसे (श्रान्तसदौ) थक कर बैठे हुए (गावौ) दो बैलों को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते हुए (कुर्कुरौ) [कुर कुर करते वाले] कुत्तों को, और (इव) जैसे (उदवन्तौ) दो घुस आने वाले (वृकौ) भेड़ियों को ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य काम क्रोध रूप शत्रुओं को विचारपूर्वक तुरन्त हटावे ॥२॥

आतोदिनौ नितोदिनावथौ संतोदिनावृत ।

अपि नह्याम्यस्य मेढूं य इतः स्त्री पुमान् जभारं ॥३॥

भाषार्थः—(अथौ) और भी (आतोदिनौ) दोनों गय और से सताने वालों, (नितोदिनौ) नित्य सताने वालों, (उत्) और (संतोदिनौ) मिलकर सताने वालों को (इतः) यहाँ पर [हमारे बीच] (यः) जिस किसी (स्त्री) स्त्री [वा] (पुमान्) पुरुष ने (जभारं) स्वीकार किया है, (अस्य) उसके (मेढूं) सेचनसामर्थ्य [वृद्धि शक्ति] को (अपि) सर्वथा (नह्यामि) मैं बाधता हूँ ॥३॥

भाषार्थः—जो स्त्री पुरुष काम क्रोध में फँस जाते हैं, वे अनेक पाप बन्धनों में पड़कर शक्तिहीन और वृद्धिहीन होकर कष्ट भोगते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥६६॥

१ ॥ प्रजापतिर्वेधता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधशान्त्युपदेशः—काम क्रोध की शान्ति का उपदेश ॥

असदन् गावः सदनेऽपसद् वसति वयः ।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाग्निं वृक्कावन्तिष्ठिपम् ॥१॥

भाषार्थः—(गावः) गौयें (सदने) बैठक में (असदन्) बैठ गयी हैं, (वयः) पक्षी ने (वसतिम्) घोंसले में (अपसत्) बसेरा लिया है । (पर्वताः) पहाड़ (आस्थाने) विश्राम स्थान पर (अस्थुः) ठहर गये हैं, (वृक्को) दोनों रोक डालने वाले वा रोकने योग्य [काम क्रोध] को (स्थाग्निं) स्थान पर (अतिष्ठिपम्) मैंने ठहरा दिया है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में (गृध्रौ) काम क्रोध का अर्थ गत सूक्त से आता है । जैसे गौएँ आदि अपने-२ स्थान पर विश्राम करते हैं, ऐसे ही मनुष्य काम क्रोध को विद्या आदि से शान्त करके प्रसन्न रहें ॥१॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ६ । ७७ । १॥

सूक्तम् ॥६७॥

१-८ ॥ १,२ इन्द्रः; ४, ७ विश्वे देवाः; ५, ६, ८ यज्ञो देवता ॥

१-४ त्रिष्टुप्; ५ आर्ची भुरिग् गावत्री, ६ प्राजापत्या बृहती, ७ साम्नी भुरिक् जगती, ८ उपरिष्ठाद् बृहती छन्दः ॥

मनुष्य धर्मोपदेशः—मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

यद्य स्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतृश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।

ध्रुवम्यो ध्रुवमुता श्विष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम् ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जिस लिये कि (अथ) आज (स्वा) तुमको (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रयत्नसाध्य (यज्ञे) संगतियोग्य व्यवहार में, (चिकित्वम्) हे जानवान् ! (होतः) हे दानी पुरुष ! (इह) यहां पर (अवृणीमहि) हमने चुना है [वर्णों किया है] । (श्विष्ठ) हे महाबली ! तू (ध्रुवम्) दृढ़ता से (उत) और भी (ध्रुवम्) दृढ़ता से (अवः) आ, (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (प्रविद्वान्) पहिले से जानने वाला तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप से (याहि) प्राप्त कर ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्या और बल प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३ । २६ । १६ । और यजुर्वेद-८ । २० ॥ में है ।

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।

सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञिषानाम् ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमें (मनसा) विज्ञान के साथ और (गोभिः) इन्द्रियों वा वाणियों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (हरिवन्) हे श्रेष्ठमनुष्यों वाले ! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (स्वस्था) अच्छी सत्ता [क्षेम कुशल] के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यत्) जो [ब्रह्म] (देवहितम्) विद्वानों का हितकारक (अस्ति) है, [उस] (ब्रह्मणा) ब्रह्मा, वेद, धन वा अन्न के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (सम्) ठीक ठीक (नेष) तू ले चल ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से मनस्वी, वाग्मी, और कार्य-कुशल होकर सब को उन्नति की ओर प्रवृत्त करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५।४२।४ और यजु० ८।१५॥

यानावह उ॒शतो॒ दे॒व दे॒वांस्तान् प्रेर॑य॒ स्वे अ॒ग्ने स॒धस्य॑ ।

ज॒क्षि॒र्वांसः॑ प॒पिवांसो॑ म॒धून्प॒स्मै ध॑त्तव॒सवो॑ वसू॒नि ॥३॥

भाषार्थः—(देव) हे प्रकाशमान अध्यापक ! (यान्) जिन (उशतः) लालसा वाले (देवान्) विद्वानों को (आ अवहः) तू लाया है, (अग्ने) हे विद्वान् ! (तान्) उन्हें (स्वे) अपनी (सधस्ये) बैठक में (प्र ईरय) ले चल । (वसवः) हे श्रेष्ठ जनो ! तुम (मधूनि) मधुर वस्तुओं को (जक्षिर्वांसः) खा चुक कर और (पपिवांसः) पी चुक कर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (वसूनि) उत्तम जानों को (धत्त) दान करो ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्वानों से शिक्षा लेकर श्रेष्ठ गुण प्राप्त करके सुखी होवें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है ॥ ८।१६॥

सु॒गा वो॑ दे॒वाः स॒द॒ना अ॒कर्म॑ य आ॒ज॒ग्म स॒वने॑ मा जु॒षाणाः॑ ।

व॒ह॒मा॒ना भ॒र॒माणाः॑ स्वा वसू॒नि वसू॑र्ध॒र्म दि॒व॒मा रो॒ह॒तानु॑ ॥४॥

भाषार्थः—(देवाः) हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारे लिये (सुगा) सुख से पहुँचने योग्य (सदना) आसनों को (अकर्म) हमने बनाया है, (ये) जो तुम [अपने] (सवने) ऐश्वर्य में (मा) मुझे (जुषाणाः) प्रसन्न करते हुए (आजग्म) आये हो (स्वा) अपनी (वसूनि) श्रेष्ठ वस्तुओं को (वहमानाः) पहुंचाते हुए और (भरमाणाः) पुष्ट करते हुए तुम (वसुम्) श्रेष्ठ (धर्मम्) दिन और (दिवम् अनु) व्यवहार के बीच (आ रोहत) चढ़ते जाओ ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों का आदर मान करके अपनी उन्नति करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८ । १८ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५॥

भाषार्थः—(यज्ञ) हे पूजनीय पुरुष ! (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त हो, (यज्ञपतिम्) पूजनीय व्यवहार के पालने वाले को (गच्छ) प्राप्त हो । और (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के साथ (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य उत्तम व्यवहार और उत्तम मनुष्यों के साथ से अपने मनुष्य धर्म का कर्त्तव्य करता रहे ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—८ । २२ ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ॥६॥

भाषार्थः—(यज्ञपते) हे पूजनीय व्यवहार के पालनेवाले पुरुष ! (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] द्वारा (सह-सूक्तवाकः) सुन्दर वचनों के उपदेशों के सहित (सुवीर्यः) बड़े दारत्ववाला [होवे] ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद मन्त्रों के मनन और उपदेश से अपना पराक्रम बढ़ावे ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८ । २२ ॥

वषट्कृतेभ्यो वषट्कृतेभ्यः ।

देवां गातुविदो गातुं विच्चा गातुमित ॥७॥

भाषार्थः—(कृतेभ्यः) दिये हुए [माता पिता आदि से पाये हुए] पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो], (अकृतेभ्यः) न दिये हुए [स्वयं प्राप्त किये हुए] पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो] । (गातुविदः) हे पृथिवी के जानने वाले ! (देवाः) हे विजय चाहनेवाले बीरों ! (गातुम्) मार्ग को (विच्चा) पाकर (गातुम्) पृथिवी को (दत्त) प्राप्त हो ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य माता पिता आदि से पाये हुए और अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुए पदार्थों से यथावत् उपकार लेवे । और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी होवे ॥७॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग यजुर्वेद में है—८।२१॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् । स्वाहा दिवि स्वाहा
पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते वां स्वाहा । ८॥

भाषार्थः—(मनसःपते) हे मन के स्वामी [मनुष्य !] (इमम्) इस (नः) अपने [हमारे] (यज्ञम्) संतिकरण व्यवहार को (दिवि) आकाशमें [वर्तमान] (देवेषु) दिव्य पदार्थों में (स्वाहा) सुन्दरवाणी के साथ, [अर्थात्] (दिवि) सूर्य में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (वाते) वायु में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (वाम्) मैं धारण करे ॥८॥

भाषार्थः—मनुष्य वेद द्वारा अपनी मनन शक्ति बढ़ाकर सूर्यविद्या, पृथिवीविद्या अन्तरिक्ष विद्या और वायुविद्या में निपुण होकर उपकार करे ॥८॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछ भेदसे यजुर्वेद में है—८।२१॥

सूक्तम् ॥६८॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्राह्यपदार्थप्राप्त्युपदेशः—ग्राह्य पदार्थ पाने का उपादेश ॥

सं वहिरिक्तं हविषा धृतेन समिन्द्रं वसुना सं मरुद्भिः ।

सं देवैर्विश्वदेवेभिरिक्तमिन्द्रं गच्छतु दिवि स्वाहा ॥१॥

भाषार्थः—(हविषा) ग्रहण से और (धृतेन) सेवन से (सम्) ठीक ठीक, (इन्द्रेण) ऐश्वर्य से और (वसुना) धन से (सम्) ठीक ठीक, (मरुद्भिः) विद्वानों से (सम्) ठीक ठीक, (अवतम्) सुचारु गया (वहिः) वृद्धि कर्म, और (देवैः) प्रकाशमान (विश्वदेवेभिः) सब उत्तम गुणों से (सम्) ठीक ठीक, (अवतम्) संभाला गया (हविः) ग्राह्य पदार्थ (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के साथ (इन्द्रम्) प्रतापी पुरुष को (गच्छतु) पहुँचे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रयत्न के साथ विद्या और धन की रक्षा और वृद्धि करके ऐश्वर्यवान् होवे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२।२२॥

सूक्तम् ॥६९॥

१ ॥ यजमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्रचारोपदेशः—विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

परि' स्तृणीहि परि' धेहि धेदि' मा जामि मौषीरमुया शयानाम् ।

होतृपदनं हरितं हिरण्यं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥१॥

भाषार्थः—[हे विद्वान् !] (वेदिम्) विद्या [वा यजभूमि] परि) सब ओर (स्तृणीहि) फैला और (परि) सब ओर (धेहि) पुष्टकर (अमुया) उस [विद्या] के साथ (शयानाम्) वर्तमान (जामिम्) गति को (मा मौषीः) मत लूट । (होतृपदनम्) दाता का घर (हरितम्) हरा भरा [स्वीकार योग्य] और (हिरण्यम्) सोने से भरा [होता है], (एते) यह सब (निष्काः) सुनहरे अलङ्कार (यजमानस्य) यजमान [विद्वानों के सत्कार करने वाले] के (लोके) घर में [रहते हैं] ॥१॥

भाषार्थः—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह महाधनी होकर सुखी रहता है ॥१॥

सूक्तम् ॥१००॥

१ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुविचारनिवारणोपदेशः—कुविचार के हटाने का उपदेश ॥

पर्यावर्ते दुःस्वप्न्यात् पापात् स्वप्नदभूत्याः ।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥१॥

भाषार्थः—(दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुए और (स्वप्न्यात्) स्वप्न में उठे हुए (पापात्) पाप से [प्राप्त] (अभूत्याः) अनैश्वर्यता [निर्धनता] से (पर्यावर्ते) मैं अलग हटता हूँ । (अहम्) मैं (ब्रह्मा) ब्रह्मा [ईश्वर] को [अपने] (अन्तरम्) भीतर, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न के कारण से होने वाले (शुचः) शोकों को (परा) दूर (कृण्वे) करता हूँ ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा में लवलीने होकर मन को ऐसा विश में करे कि स्वप्न में भी कुवासनायें न उठें ॥१॥

सूक्तम् ॥१०१॥

१ ॥ प्रजापतिदेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशोपदेशः—अविद्या के नाश का उपदेश ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।

सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥१॥

भाषार्थः—(यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न में (अदनामि) मैं खाता हूँ, [वह] (प्रातः) प्रातःकाल (न) नहीं (अधिगम्यते) मिलता है। (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (तत्) वह (दिवा) दिन में (नहि) नहीं (वृश्यते) दीखता है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे इन्द्रियों की चंचलता से स्वप्न में खाया अन्न शरीर-पोषक नहीं होता, वैसे ही अविद्याजन्य मुख इष्टसाधक नहीं होता ॥१॥

(अ. १०२) सूक्तम् ॥१०२॥

१ । मन्त्रोक्ता देवताः ॥ विराट् पुरस्ताद् बृहती छन्दः ॥

उच्चपदप्राप्त्युपदेशः—ऊँचे पद पाने का उपदेश ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।

मेक्षाम्यूर्ध्वेस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥१॥

भाषार्थः—(द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठन्) ठहरता हुआ (मेक्षामि) मैं चलता हूँ, (ईश्वराः) [कोई] बलवान् (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) न हानि करें ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करे ॥१॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥१०३॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

द्रोहत्यागोपदेशः—द्रोह के त्याग का उपदेश ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नैष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।

को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥१॥

भाषार्थः—(वस्यः) उत्तम फल (इच्छन्) चाहता हुआ (कः) प्रजापति [प्रजा पालक प्रकाशमान वा सुखदाता] (क्षत्रियः क्षत्रिय (नः) हमको (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) धिक्कारयोग्य (द्रुहः) डाह क्रिया से (उत् नेष्यति) उठावेगा । (कः) प्रजापति [मनुष्य] (यज्ञकामः) पूजनीय व्यवहार चाहने वाला और (कः) प्रजापति (उ) ही (पूर्तिकामः) पूर्ति [सिद्धि] चाहने वाला [होता है] । (कः) प्रजापति [मनुष्य] (देवेषु) उत्तम गुणों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वनुते) मांगता है ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य द्रोह छोड़कर पुरुषार्थ करते हुए उत्तम गुण प्राप्त करके सुख बढ़ाते रहें ॥१॥

सूक्तम् ॥१०४॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्रचारोपदेशः—वेद विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

कः पृथिनि धेनुं वरुणेन दत्ता अथर्वणे सुदुघा निग्वत्साम् ।

बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावत्स तन्वः कल्पयाति । १ ।

भाषार्थः—(कः) प्रकाशमान [प्रजापति मनुष्य] (बृहस्पतिना) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [परमेश्वर] के साथ (यथावत्सम्) इच्छानुसार [अपने] (तन्वः) शरीर की (सख्यम्) मित्रता का (जुषाणः) सेवन करता हुआ, (अथर्वणे) निश्चल स्वभाव वाले पुरुष को (वरुणेन) श्रेष्ठ परमात्मा करके (दत्ताम्) दी हुई (सुदुघाम्) अत्यन्त पूरण करनेवाली, (निग्वत्साम्) नित्य उपदेश करनेवाली, (पृथिनिम्) प्रश्न करने योग्य (धेनुम्) वाणी [वेदवाणी] को (कल्पयाति) समर्थ करे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य परमेश्वर की दी हुई कल्याणी वेदवाणी को ईश्वर-भक्ति के साथ संसार में फैलावें ॥१॥

सूक्तम् ॥१०५॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पवित्रजीवनोपदेशः—पवित्र जीवन का उपदेश ॥

अक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।

प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥१॥

भाषार्थः [हे विद्वान् !] (पौरुषेयात्) पुरुषवत् से (अक्रामन्) हटता हुआ, (दैव्यम्) दिव्य [परमेश्वरीय] (वचः) वचन (वृणानः) मानता हुआ तू (विश्वेभिः) सब (सखिभिः सह) सखाओं [साथियों] सहित (प्रणीतोः) उत्तम नीतियों [ब्रह्मचर्यं स्वाध्याय आदि मर्षादाओं] का (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से वर्ताव कर ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवें ॥१॥

सूक्तम् ॥१०६॥

१ ॥ अग्निर्वेवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अमृतत्वप्राप्त्युपदेशः—अमरपन पाने का उपदेश ॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।

ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (यत् किञ्चित्) जो कुछ भी [दुष्कर्म] (अस्मृति) विस्मरण [भूल, आगे पीछे के बिना विचार] से (चकृम) हमने किया है, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ! [अग्ने] (चरणे) आचरण में (उपारिम) हमने अपराध किया है । (प्रचेतः) हे महाविद्वान् ! (ततः) उससे (त्वम्) तू (नः) हमें (पाहि) बचा, (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) सखाओं को (शुभे) कल्याण के लिये (अमृतत्वम्) अनरपन अस्तु होवे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्यों से यदि आगा पीछा बिना विचारे अपराध हो जावे, उसका प्रायश्चित्त करके और आगे को अपराध त्याग कर दुष्कर्म करके कीर्तिमान् होवें ॥१॥

(१०६)

सूक्तम् ॥१०७॥

१ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परदुःखनाशोपदेशः—परस्पर दुःखनाश का उपदेश ॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।

आपः समुद्रिया धारास्तास्तं शूल्यमसिप्तसन् ॥१॥

भाषार्थः—(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त) सात [नित्य मिली हुई] (रश्मयः) किरण (दिवः) आकाश से (समुद्रियाः) अन्तरिक्ष में रहने वाले (धाराः) धारारूप (आपः) जलों को (अव तारयन्ति) उतारती हैं, (ताः) उन्होंने (ते) तेरी (शल्यम्) कील [क्लेश] को (अतिश्रसन्) बहा दिया है ॥१॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य की किरणें जल बरसा कर दुर्भिक्ष आदि पीड़ायें दूर करती हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर दुःख नाश करें ॥१॥

सूक्तम् ॥१०८॥

१-२ ॥ अग्निर्वैशता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यो न॑स्तायद् दि॒प्सति॑ यो न॑ आ॒विः स्वो॑ वि॒द्वानर॑णो वा नो अ॒ग्ने ।
प्र॒तीच्ये॒त्वर॑णी द॒त्वती॑ तान॒ मेघा॑म॒ग्ने वा॒स्तु भू॒म्नो अ॑प॒त्यम् ॥१॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (यः) जो कोई (नः) हमें (तायद्) छिपे छिपे, (यः) जो कोई (नः) हमें (आविः) खुले खुले, (दिप्सति) सताना चाहता है, (नः) हमें (विद्वान्) जानता हुआ (स्वः) अपना पुरुष, (वा) अथवा (अरणः) बाहिरी पुरुष । (प्रतीची) चढ़ाई करती हुई, (दत्वती) दमनशीला, (अरणी) शीघ्र-गामिनी वा मारने वाली [सेना] (तान्) उनपर (एतु) पहुँचे, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (एषाम्) इनका (मा) न तो (वास्तु) घर (मो) और न (अपत्यम्) बालक (भूव) रहे ॥१॥

भाषार्थः—राजा भीतरी और बाहिरी अर्धमियों का नाश करके धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥१॥

यो नः॑ सु॒प्तान् जाग्र॑तो वा॒भिदा॑सात् ति॒ष्ठतो॑ वा चर॑तो जा॒तवेदः॑ ।
वै॒श्वान॑रेण॒ स॒युजां॑ स॒जोषा॑स्तान् प्र॒तीचो॑ निर्दे॒ह जा॒तवेदः॑ ॥२॥

भाषार्थः—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले राजन् ! (यः) जो कोई पुरुष (सुप्तान्) सोते हुए, (वा) वा (जाग्रतः) जागते हुए, (तिष्ठतः) ठहरे हुए, (वा) वा (चरतः) चलते हुए (नः) हम को (अभिदासात्) सतावे । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध धन वाले राजन् ! (वैश्वानरेण) सब नरों के हितकारी (सयुजा) समानमित्र [परमेश्वर] के साथ (सजोषाः) प्रीति वाला तू (प्रतीचः) चढ़ाई करने वाले (तान्) उनको (निः) निरन्तर (बह) भस्म कर दे ॥२॥

भाषार्थः—राजा परमेश्वर के सहाय से आत्मबल बढ़ाकर सब डाकू उचककों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥२॥

सूक्तम् ॥१०६॥

१-७ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् ॥

व्यवहारसिद्धयुपदेशः—व्यवहार सिद्धि का उपदेश ॥

इदमुग्रायं बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।

घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

भाषार्थः—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (उग्राय) तेजस्वी (बभ्रवे) पोषक [परमेश्वर] को है, (यः) जो (अक्षेषु) व्यवहारों में (तनूवशी) शरीरों का वश में रखने वाला है । (घृतेन) प्रकाश के साथ (कलिम्) गिनने वाले [परमेश्वर] की (शिक्षामि) मैं सीखता हूँ, (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडाति) सुखी करे ॥१॥

भाषार्थः—मनुष्य सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर की उपासना करके उत्तम कर्मों के साथ सुख भोगें ॥१॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमं ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।

यथाभागं हव्यदाति जुषाणा मदन्ति देवा उभयांनि हव्या ॥२॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में व्यापक शक्तियों] के लिये और (अक्षेभ्यः) व्यवहारों [की सिद्धि] के लिये (पांसून्) धूलि [भूमिस्थलों] से (च) और (सिकताः) सींचने वाले (अपः) जलों से (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] (वह) पहुँचा । (देवाः) विद्वान् लोग (यथा-भागम्) भाग के अनुसार (हव्यदातिम्) ग्राह्य पदार्थों के दान का (जुषाणाः) सेवन करते हुए (उभयांनि) पूर्ण (हव्या) ग्राह्य पदार्थों को (मदन्ति) भोगते हैं ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य भूमिविद्या, जलविद्या आदि में निपुण होकर आत्म-पोषण और समाजपोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावे ॥२॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।

ता मे हस्तौ संसृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कित्वं रन्धयन्तु ॥३॥

भाषार्थः—(अप्सरसः) आकाश में व्यापक शक्तियाँ [वायु, जल, विजुली आदि] (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थों के आधार [भूलोक] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) सूर्य के बीच (सधमादम्) परस्पर आनन्द (भवन्ति) भोगती हैं (ताः) वे (मे) मेरे (हस्ती) दोनों हाथ (घृतेन) घृत [सार पदार्थ] से (सं सृजन्तु) संयुक्त करें, और (मे) मेरे (कितवम्) ज्ञान नाशक [उग, जुघारी] (सपत्नम्) वैरी को (रन्धयन्तु) नाश करें ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य वायु, जल, विजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुःख नाश करें ॥३॥

आदिनवं प्रतिदीप्ते घृतेनास्माँ अमि क्षर ।

वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥४॥

भाषार्थः—[हे परमात्मन् !] (प्रतिदीप्ते) प्रतिकूल व्यवहार करने वाले के नाश करने को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अस्मान् अमि) हमारे ऊपर (आदिनवम्) प्रथम नवीन वा स्तुति वाले [बोध] को (क्षर) छिड़क । (यः) जो (अस्मान्) हम से (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूल व्यवहार करता है, [उसे] (जहि) मार डाल, (वृक्षम् इव) जैसे वृक्ष को (अशन्या) बिजुली से ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य वैदिक ज्ञान से अपने विरोधी शत्रु वा अज्ञान का सर्वथा नाश करें ॥४॥

यो नो द्युवे धनमिदं चक्र यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।

स नो देवो हविर्दिदं जुषाणो गन्धर्वभिः सधमादं मदेम ॥५॥

भाषार्थः—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (नः) हमारे (द्युवे) आनन्द के लिये (इदम् धनम्) यह धन, और (यः) जिसने (अक्षाणाम्) व्यवहारों का (ग्लहनम्) ग्रहण (च) और (शेषणम्) विशेषण [ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन] (चकार) बनाया है । (सः) वह (देवः) व्यवहारकुशल [परमेश्वर] (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) दान [भक्तिदान] को (जुषाणः) स्वीकार करने वाला [हो, कि] (गन्धर्वभिः) विद्या वा पृथिवी के धारण करने वाले [मनुष्यों] के साथ (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदेम) हम भोगें ॥५॥

भाषार्थः—मनुष्य आदि गुरु परमेश्वर के अनुग्रह से सब व्यवहारों में कुशल होकर, विद्वानों के सत्संग से उन्नति करें ॥५॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यं१ क्षाः ।

तेभ्यो व इन्द्रवो हविषां विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

भाषार्थः—[हे विद्वानो !] (संवसवः) “सम्यक् धन वाले, वा मिल के रहने वाले” (इति) यह(वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम है, (हि) क्योंकि[तुम](उग्रंपश्याः) उग्रदर्शी [बड़े तेजस्वी] (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषक और (अक्षाः) व्यवहार कुशल (हो) । (इन्द्रवः) हे बड़े ऐश्वर्यवालो ! (तेभ्यः वः) उन तुम को (हविषा) आत्मदान से (विधेम) हम पूजें, (वयम्)हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥६॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों के सत्संग और सत्कार से अनेक धन प्राप्त करें ॥६॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूपिम ।

अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृदन्त्वीदृशे ॥७॥

भाषार्थः—(यत्) जिस से कि (नाथितः) प्रार्थी मैं (देवान्) विद्वानों को (हुवे) बुलाता हूं, (यत्) जिस से कि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य [आत्मनिग्रह, वेदाध्ययन आदि तप] में (ऊपिम) हमने निवास किया है । (यत्) जिससे कि (बभ्रून्) पालन करने वाले (अक्षान्) व्यवहारों को (आलभे) मैं यथावत् ग्रहण करता हूं, (ते) वे सब [विद्वान्] (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृदन्तु) सुखी करें ॥७॥

भाषार्थः—मनुष्य विद्वानों की संगति, ब्रह्मचर्य सेवन और उत्तम व्यवहारों से सुखी होवें ॥७॥

सुषतम् ॥११०॥

१-३ ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ १ गायत्री, २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोः कर्त्तव्योपदेशः—राजा और मन्त्री के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अग्ने इन्द्रंश्च दशुषे हतो वृत्रप्यप्रति । उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (च) और (अग्ने) हे तेजस्वी मन्त्री ! [आप दोनों] (दाशुषे) दानशील [प्रजागण] के लिये (वृत्राणि) रोकावटों को (अप्रति) वे रोक टोक (हतः) नाश करते हैं । (हि) क्योंकि (उभा) दोनों (वृत्रहन्तमा) रोकावटों के अत्यन्त नाश करने वाले हैं ॥१॥

भाषार्थः—प्रतापी राजा और विद्वान् मन्त्री शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करें ॥१॥

याभ्यामजं पन्त्स्वँ१ रग्र ए॒षयावा॑न्त॒स्थतु॑र्भु॒व॑नानि॒ विश्वा॑ ।

प्रच॑र्षणी॒ वृष॑णा॒ वज्र॑बाहू॒ अग्नि॑मिन्द्रं॒ वृत्र॑हणां॒ हुवेऽहम् ॥२॥

भाषार्थः—(याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (एव) ही उन्होंने [महात्माओं ने] (स्वः) स्वर्ग [मुख] को (अघ्रे) पहिले (अजयन्) जीता था [पाया था], (घी) जो दोनों (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (आतस्थतुः) ठहर गए हैं । [उन दोनों] (प्रचर्षणी) शीघ्र गामी वा अच्छे मनुष्यों वाले, (वृषणा) दूर, (वज्रबाहू) वज्र [लोह समान दृढ़] भुजाओं वाले, (वृत्रहणा) रोकावटे नाश करने वाले (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवाले राजा और (अग्निम्) तेजस्वी मन्त्री को (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूँ ॥२॥

भाषार्थः—जिस प्रकार प्रजागण पहिले से राजा और मन्त्री के प्रबन्ध में सुखी रहे हैं, वैसे ही सदा रहें ॥२॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॒ग्रभी॑च्च॒मसे॑न॒ बृह॑स्पतिः ।

इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय॒ सुन्व॑ते ॥३॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (त्वा) तुझे (देवः) प्रकाशमान, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमेश्वर ने (चमसेन) अन्न के साथ (उप अग्रभीत्) सहारा दिया है । तू (गीर्भिः) वाणियों [स्तुतियों] के साथ (यजमानाय) संयोग वियोग करने वाले (सुन्वते) तत्त्व मचन करने वाले पुरुष के लिये (नः) हम में (आ विश) प्रवेश कर ॥३॥

भाषार्थः—राजा को उचित है कि परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से विवेकी धर्मात्माओं का सहाय करे ॥३॥

सूक्तम् ॥१११॥

१ ॥ ईश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्र॑स्य॒ कुक्षि॑र॒सि सो॒म॒धानं॑ आ॒त्मा दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम् ।

इह॑ प्र॒जा ज॑नय॒ यास्त॑ आ॒सु या अ॒न्यत्र॑ह तास्तै॑ रमन्ताम् ॥१॥

भाषार्थः—[हे ईश्वर !] तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य का (कुक्षिः) कोख रूप, (सोमधानः) अमृत का आहार, (देवानाम्) दिव्य लोकों [सूर्य, पृथिवी आदि] का (उत्त) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (आत्मा) आत्मा [अन्तर्यामी] (असि) है ।

(इह) यहां पर (प्रजाः) प्रजाओं को (जनय) उत्पन्न कर, (याः) जो (ते) तेरे लिये [तेरी आज्ञाकारी] (आप्तु) इन [प्रजाओं] में, और (याः) जो (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [हों] (इह) यहां पर (ताः) वे सब (ते) तेरे लिये (रमन्ताम्) विहार करें ॥१॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य निकट और दूर स्थान में ईश्वर की आज्ञा मानते रहें ॥१॥

सुक्तम् ॥११२॥

१—२ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

इन्द्रियजयोपदेशः—इन्द्रियों के जय का उपदेश ॥

शुभं नी द्यावा पृथिवी अन्ति सुम्ने महि व्रते ।

आपः सप्त सुसुबुद्धे वीस्ता नो मुञ्च त्वंहसः ॥१॥

भाषार्थः—(शुभं) शोभायमान (द्यावा पृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (अन्ति सुम्ने) [अपनी] गतियों से सुख देने वाले और (महि व्रते) बड़े व्रत [नियम] वाले हैं । (देवीः) उत्तम गुणवाली (सप्त) सात (आपः) व्यापनशील इन्द्रियाँ [दो कान, दो नयने, दो आँखें और एक मुख] (सुसुबुः) [हमें] प्राप्त हुई हैं, (ताः) वे नः) हमें (हंसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥१॥

भाषार्थः—जैसे सूर्य और पृथिवी लोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चल कर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥१॥

(सप्त आपः) पदों का मिलान करो (सप्त सिन्धवः) पदों से—अ० ४ । ६ । २ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्याद् दथो वरुण्यदुत ।

अथो यमस्य पद्वींशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२॥

भाषार्थः—वे [व्यापनशील इन्द्रियाँ—म० १] (मा) मुझको (शपथ्याद्) शपथ सम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यत्) श्रेष्ठों में हुए [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पद्वींशाद्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य प्रमाद छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर सब प्रकार के दोषों से बचें ॥२॥

यह मन्त्र आ चुका है । अ० ६ । ६६ । २ ॥

सूक्तम् ॥११३॥

१ २ ॥ तृष्टिका देवता ॥ १ विराड् अनुष्टुप्; २ उष्णिक् ॥

तृष्णाविमोचनोपदेशः—तृष्णा त्याग का उपदेश ॥

तृष्टिके तृष्ट्वन्दन उद्भुं छिन्धि तृष्टिके ।

यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मे शेष्यावते ॥१॥

भाषार्थः—(तृष्टिके) हे कुत्सित तृष्णा ! (तृष्ट्वन्दने) हे लोलुपता की लता रूपा ! तू (अमूम्) पीड़ा को (उत् छिन्धि) काट डाल, (तृष्टिके) हे लोभ में टिकने वाली ! तू (यथा) जिससे (अमुष्मे) उस (शेष्यावते) शक्तिमान् पुरुष के लिये (कृत-द्विष्टा) द्वेषनाशिनी (असः) होवे [बैसा किया जावे] ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य पीड़ादायिनी तृष्णा को छोड़कर ईर्ष्या द्वेष नाश करने में समर्थ होवे । १॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यासि ।

परिवृक्ता यथासंस्पृशस्य वशेव ॥२॥

भाषार्थः—(तृष्टा) तू तृष्णा (तृष्टिका) लोभ में टिकने वाली (असि) है, (विषा) विषैली (विषातकी) विष से जीवन दुःखित करने वाली (असि) है । (यथा) जिससे तू (परिवृक्ता) परित्यक्ता (अससि) हो जावे, (इय) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष की (वशा) वशीभूत [प्रजा त्याज्य होती है, बैसा किया जावे] ॥२॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दे, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है ॥२॥

सूक्तम् ॥११४॥

१—२ ॥ अग्निः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राक्षसनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

आ नें ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद् ददे ।

आ ते मुखस्य संकाशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥१॥

भाषार्थः—[हे शत्रु !] (अहम्) मैंने (ते) तेरी (वक्षणाभ्यः) छाती के अक्षय्यों से [बल को] (आ ददे) ले लिया है, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से (आ ददे)

ले लिया है । (आ) और (ते) तेरे (मुखस्य) मुख के (संकाशात्) आकार से (ते) तेरे (सर्वम्) सब (वचः) ज्योति वा बल को (आ ददे) ले लिया है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य अधार्मिक दोषों और शत्रुओं को नाश करें ॥१॥

प्रेनो यन्तु व्याधयः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥२॥

भावार्थः—(इतः) यहां से (व्याधयः) सब रोग (प्र) बाहिर, (अनुध्याः) सब अनुताप (प्र) बाहिर और (अशस्तयः) सब अपकीर्तियां (प्रो) बाहिर ही (यन्तु) चली जाएं । (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) राक्षसों से युक्त [सेनाओं] को (हन्तु) मारे और (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (दुरस्यतीः) अनिष्ट चीतनेवाली [प्रजाओं] को (हन्तु) नाश करे ॥२॥

भावार्थः—राजा प्रजा में शान्ति रखने के लिये चोर डाकू आदि राक्षसों का नाश करे ॥२॥

सूक्तम् ॥११५॥

१—४ ॥ सविता जातवेदा वा देवता ॥ १, ४ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती ॥

दुर्लक्षणनाशोपदेशः—दुर्लक्षण के नाश का उपदेश ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।

अयस्मर्येनाङ्केन द्विपते त्वा संजामसि ॥१॥

भावार्थः—(पापि) हे पापी ! (लक्ष्मि) लक्षण [लक्ष्मी] ! (इतः) यहां से (प्र पत) चला जा, (इतः) यहां से (नश्य) छिप जा, (अमुतः) वहां से (प्र पत) चला जा । (अयस्मयेन) लोहे के (अङ्केन) कांटे से (त्वा) तुमको (द्विपते) बंदी में (आ संजामसि) हम चिपकाते हैं ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य दुर्लक्षणों का सर्वथा त्याग करे । दुर्लक्षणों से दुष्ट लोग महादुःख पाते हैं ॥१॥

या मां लक्ष्मीः पतयालूरजुंष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।

अत्रास्मात् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसुं नो रराणः ॥२॥

भावार्थः—(या) जो (पतयालूः) गिरानेवाला (अजुंष्टा) अप्रिय (लक्ष्मीः) लक्षण (मा) मुझपर (अभिचस्कन्द) आ चढ़ा है, (इव) जैसे, (वन्दना) बेल (वृक्षम्)

वृक्ष पर । (सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [परमेश्वर !] (हिरण्यहस्तः) तेज वा सुवर्णं हाथ में रखनेवाला, (नः) हमें (वसु) धन (रराणः) देता हुआ तू (इतः) यहाँ से, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे (दुष्टों में) (ताम्) उसको (घाः) धर ॥२॥

भाषार्थः—मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से अधर्मरूप दुर्लक्षणों और दुष्टों से बचकर शुभ गुण प्राप्त करें ॥२॥

एकशतं लक्ष्म्यो ३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुपोऽधि जाताः । तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिंमः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥३॥

भाषार्थः—(एकशतम्) एक सौ एक [अपरिमित, पापिष्ठ और माङ्गलिक] (लक्ष्म्यः) लक्षण (मर्त्यस्य) मनुष्य के (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः) जन्म से (अधि) अधिकार पूर्वक (जाताः) उत्पन्न हुए हैं । (तासाम्) उन में से (पापिष्ठाः) पापिष्ठ [लक्ष्णों] को (इतः) यहाँ से (निः) निश्चय करके (प्र हिंमः) हम निकाल देते हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (शिवाः) माङ्गलिक [लक्षण] (नि) नियम से (यच्छ) दे ॥३॥

भाषार्थः—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्मता है । जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे क्लेशों को मिटाकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥३॥

एता एना व्याकरं खिले गा विण्ठिता इव ।

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीयाः पापीस्ता अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थः—(एताः) इन [पुण्य लक्षणों] को और (एनाः) इन [पाप लक्षणों] को (व्याकरम्) मैंने स्पष्ट कर दिया है (इव) जैसे (खिले) बिना जुते स्थान [जंगल] में (विण्ठिताः) खड़ी हुई (गाः) गोश्रों को । (पुण्याः) पुण्य (लक्ष्मीः) लक्षण (रमन्ताम्) ठहरे रहें, और (पाः) जो (पापीः) पापी [लक्षण] हैं, (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है ॥४॥

भाषार्थः—मनुष्य भले और बुरे कर्मों के लक्षण समझकर भलों का स्वीकार और बुरों का त्याग करें ॥४॥

सूक्तम् ॥११६॥

१—२ ॥ प्रजापतिर्ब्रह्मा ॥ १ परोष्णिक्; २ आर्घ्यनुष्ठप्, ॥

रोगनिवारणोपदेशः—रोग निवारण का उपदेश ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे ।

नमः शीताय पूर्वकाम कृत्वने ॥१॥

भाषार्थः—(रूराय) घातक (च्यवनाय) पतित, (नोदनाय) डकेलने वाले, (धृष्णवे) डीठ [शत्रु] को (नमः) वज्र । (शीताय) शीत [समान] (पूर्वकामकृत्वने) पहिली कामनायें काटने वाले [बैरी] को (नमः) वज्र [होवे] ॥१॥

भाषार्थः—जैसे अति शीत खैती आदि को हानि करता है, वैसे हानि-कारक शत्रु को दण्ड देना चाहिये ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २५ । ४ । से करो ॥

यो अन्येद्युरुमयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्यैत्वव्रतः ॥२॥

भाषार्थः—(यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा और (उभयद्युः) दो अन्तरा [ज्वर समान] (अभ्येति) चढ़ता है, (अव्रतः) नियमहीन वह [रोग] (इमम्) इस (मण्डूकम्) मेंडक [समान ढरने वाले आत्मश्लाघी पुरुष] को (अभि एतु) चढ़े [ऐसे ज्वर समान शत्रु पर वज्र होवे—म० १] ॥२॥

भाषार्थः—जैसे ज्वर आदि रोग कुनियमियों को सताता है, वैसे धर्मात्माओं के दुःखदायी शत्रु लोग दण्डनीय हैं ॥२॥

सूक्तम् ॥११७॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

राजाधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः । मा त्वा के

चिद् वि यमन् वि न पाशिनोति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन् ! (मन्द्रैः) गम्भीरध्वनियों से वर्तमान (मयूररोमभिः) मोरों के रोम [समान चिकने, विचित्र रंग, दृढ़, बिजुली से युक्त रोमवस्त्र] वाले (हरिभिः) मनुष्यों और घोड़ों के साथ (आ याहि) तू आ । (त्वा) तुझको (के चित्) कोई भी (मा वि यमन्) कभी न रोकें (न) जैसे (पाशिनः) जाल-वाले [चिड़ीमार] (विम्) पक्षी को, तू (तान् अति) उनके ऊपर होकर (इहि) चन (धन्व इव) जैसे निजंत देव [के ऊपर से] ॥१॥

भाषार्थः—राजा प्रजा की रक्षा के लिये चतुर विज्ञानियों के बनाये हुए कवच आदि से सजे हुए सेना, अश्व, रथ आदि के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३ । १ । ४५, यजु०—२० । ५३, साम० पू० ३ । ६ । ४ ॥

सूक्तम् ॥११८॥

१ ॥ कवचसोमवरुणा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृते नानु वस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥१॥

भाषार्थः—[हे शूरवीर ! (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मों को (वर्मणा) कवच से (छादयामि) मैं [सेनापति] ढांकता हूँ, (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा [कोपाध्यक्ष] (त्वा) तुझको (अमृतेन) अमृत [मृत्यु निवारक, शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, अन्न, अमिष आदि] से (प्रनु) निरन्तर (वस्ताम्) ढके । (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष [चतुर मार्गदर्शक] (ते) तेरे लिये (उरोः) चौड़े से (वरीयः) अधिक चौड़ा [स्थान] (कृणोतु) करे, (जयन्तम्) विजयी (त्वा अनु) तेरे पीछे (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (मदन्तु) आनन्द पावें ॥१॥

भाषार्थः—सर्वाधीश मुख्य सेनापति अधिकारियों द्वारा योद्धाओं को समस्त आवश्यक सामग्री देकर उत्साहित करे, जिससे सब वीर आनन्द-ध्वनि करते हुए विजयी हों ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ७५ । १८, यजुः—१७ । ४६, साम० उ० १ । ३ । ८ ॥

॥ इति वंशमोऽनुवाकः ॥

॥ इति सप्तमं काण्डम् समाप्तम् ॥



